दक्षिण भारत का इतिहास

डॉ. हरि नारायण दुबे

शारदा पुस्तक भवन
इलाहाबाद
प्रथम संस्करण 2002

दक्षिण भारत का बृहद् इतिहास

(Advanced History of South India)

(ईसा की 7वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक)

लेखक

डॉ० हरि नारायण दुबे

एम० ए०, डी० फिल्

उपाचार्य

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप में 'दक्षिण भारत का वृहत इतिहास' का प्रथम संस्करण जिज्ञासु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे सुखद अनुभूति हो रही है। अध्येताओं की जिज्ञासाओं को ध्यान में रखकर इसमें यत्र-तत्र पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक गवेषणाओं के नवीनांश को प्रस्तुत किया गया हैं। इसके अतिरिक्त यथासंभव अद्यतन पुरातात्त्विक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक शोधों का समावेश भी किया गया है। ज्ञान एक सतत् विकासशील प्रक्रिया है, अस्तु, सर्वज्ञता एवं त्रुटिहीनता की बात नहीं की जा सकती। अतः विद्वान् पाठकों के ज्ञानात्मक सुझाव सदैव आमंत्रित एवं समादृत हैं। आशा है, पाठकगण इस ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे।

हरि नारायण दुबे

समर्पण

जिनकी प्रेरणा
ग्रन्थ-प्रणयन
का अजस्र-स्रोत
बनी
ब्रह्म स्वरूप
परम् पूज्य
गुरुदेव
प्रो० उदय नारायण
राय
को

आमुख

''श्लाघ्यः स एवं गुणवान् रागद्वेषवहिष्कृता ।

भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ।। ''

''प्राचीन वृत्तान्तों के निरूपण के सन्दर्भ में वस्तुतः वही (इतिहासकार) श्लाघ्य एवं निष्पक्ष माना जा सकता है, जिसकी दृष्टि न्यायाधीश की भाँति राग एवं द्वेष से विवर्जित है'' (राजतरंगिणी, 1, 7)।

एतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से दक्षिणापथ, भारतवर्ष के एक अभिन्न महत्वपूर्ण अंग के रूप में भारतीय मनीषा द्वारा सदा से ही समादृत है। महाभारत में दक्षिणापथ की ओर जाने वाले अनेक मार्गों की स्थिति का उल्लेख करते हुए इस तथ्य की प्राचीनता को स्वीकारा गया है ('एते गच्छन्ति वहवः पन्थानो दक्षिपथम्', आरण्यक पर्व, 58, 2) हमारी मातृभूमि के भौगोलिक अङ्गों की दृढ़ सम्पृक्तता की ओर संकेत करते हुए पुराणों में कहा गया है कि 'समुद्र के उत्तर एवं हिमालय के दक्षिण जो विशाल भूखण्ड है, वही भारतवर्ष है तथा इसमें रहने वाली जनता भारती-प्रजा के रूप में विश्रुत है –

''उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।

वर्षं यद् भारतं नाम यत्र यं भारती प्रजा।।''

(वायु पुराण, 45, 75)

प्राचीन भुवनकोश-सूचियों में उल्लिखित दक्षिणापथ के अनेक जनपद, जातीय-भूमियाँ, नदियाँ, पर्वत, कलाकेन्द्र, तीर्थ एवं नगर आदि हमारी मातृभूमि के चैतन्य-केन्द्र के साथ रागवद्ध थे। दक्षिणापथ-महात्म्य की व्याख्या करते हुए तत्वभेदि, वैदुष्य-मण्डित राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि ''महि मती के आगे का भू-प्रदेश दक्षिणापथ है, जिसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, क्रथकैशिक, शूर्पारक, केरल, कावेर, मुरल, वानवासक, चोल, दण्डक, पाण्ड्य, पल्लव, गांङ्ग, नासिक्य, कोंकण, कोल्लगिरि एवं वल्लर आदि जनपद हैं। विन्ध्य का दक्षिणापाद, महेन्द्र, मलय मेकल, पाल मञ्जर, सह्य एवं श्रीपर्वत आदि गिरिश्रृंखलाएँ इसमें तापी, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भीमरथी, वेणा, कृष्णवेश, वञ्जुरा, तुंगभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती एवं रावणगंगा आदि सरिताओं द्वारा यह भूरिसिंचित है। मलयोपत्यका में उत्पन्न होने वाले चन्दन, इलायची, कालीमिर्च, कर्पूर तथा दक्षिण पयोधि में पाई जाने वाली मणियाँ एवं मोती आदि दक्षिणापथ में सुलभ विविध पदार्थ एवं निधियाँ जगत्विख्यात हैं (सप्तदशोऽध्यायः, देशविभागः)। इन शब्दों में इस भू-भाग के गौरव के समीक्षक एवं कन्याकुमारी के छोर तक पर्यटन के श्रेय से विभूषित राजशेखर यहाँ अभिव्यञ्जित करते हैं कि यह भूखण्ड (दक्षिणापथ) भारतीय भूगोल एवं संस्कृति की एक महत्वपूर्ण इकाई थी।

युग-युगीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं परम्परा में पल्लवित दक्षिण भारत के गौरवमय इतिहास का सम्यक् अनुशीलन एवं अपेक्षित ज्ञान एक अनिवार्य स्थिति है, जिसकी ओर

विद्वानों का ध्यान उत्तरोत्तर अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा है। हर्ष की बात है कि हाल के वर्षों में भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में दक्षिण भारत के इतिहास के पठन-पाठन को अपेक्षित स्थान एवं महत्व प्रदान किया गया है। आँग्ल-भाषा में उत्कृष्ट ग्रन्थ तो पहले से ही चलते आ रहे थे परन्तु हिन्दी में इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थों का अभाव था। डॉ० हरिनारायण दुबे का यह प्रबन्ध इस रिक्ति की पूर्ति की दिशा में एक अभिनव प्रयास है। दक्षिणापथ के ऐतिहासिक वाङ्मय के समुपवृंहण में प्रशंसनीय योगदान के रूप में यह ग्राह्य है। प्रसादयुक्त भाषा में संरचित यह ग्रन्थ विश्वविद्यालय-स्तरीय छात्रों के लिये विशेष रूप से उपयोगी एवं मूल्यवान सिद्ध होगा तथा हिन्दी भाषा के प्रेमियों द्वारा भी समादृत होगा। इस अभिनन्दनीय ग्रन्थ-प्रणयन के निमित्त युवा पीढ़ी के जिज्ञासु डॉ० दुबे हमारे साधुवाद के भाजन हैं। आशा एवं विश्वास है कि अग्रतर सारस्वत साधना में वे इसी भाँति सतत् संलग्न रहेंगे–

"सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्"

उदय नारायण राय

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व, विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्राक्कथन

भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के संवर्द्धन में आर्य-द्रविड़ परम्पराओं का गङ्गा-यमुनी योग सर्वविदित है। संस्कृत भाषा ने उक्त परम्पराओं को जोड़ने में पुण्यसलिला सरस्वती की भूमिका प्रस्तुत की है। अस्तु, भारतीय इतिहास का अध्ययन दक्षिण भारतीय इतिहास के सम्यक् अनुशीलन किए विना अधूरा ही रह जाता है। स्वतंत्र भारत में राष्ट्रीय एकता की चेतना ने इस दिशा में कतिपय नये सोपान निर्मित किए हैं। फलतः राष्ट्रीय जीवन-धारा में गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों की तटीय परम्पराएं परस्पर मिश्रित होकर हमारी राष्ट्रीय अस्मिता एवं सांस्कृतिक एकता की प्रतीक हो गई हैं। इधर, राष्ट्रीय-चेतना से ओत-प्रोत अनेक इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की तथ्यपरक सूचनाओं को लिपिवद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु अधिकांश मानक ग्रन्थ आंग्ल-भाषा में होने के कारण वे सर्वजन सुलभ एवं सुग्राह्य नहीं हैं। इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ने प्रो० के० ए० नील कण्ठ शास्त्री की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। हिन्दी-भाषी लोगों की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर कुछ वर्ष पूर्व प्रो० रामशरण शर्मा ने 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्' नई दिल्ली की ओर से प्रो० जी० याजदानी के योग्यसंपादकत्व में संकलित एक नितांत प्रामाणिक पुस्तक 'दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि दक्कन' का हिन्दी-अनुवाद 'दक्कन का प्रचीन इतिहास' प्रकाशित कराया। उपर्युक्त दोनों पुस्तकें विषय-निरूपण एवं सूचनाओं की दृष्टि से निश्चयतः श्रेष्ठ एवं मानक ग्रन्थ हैं, परन्तु अपने पृथुल कलेवर तथा सूचना वाहुल्य के कारण सामान्य पाठकों की अवधारणा-क्षमता से किञ्चित परे हैं। अतः सरल एवं सुबोध हिन्दी-भाषा में नवीनतम् शोध-सामग्री तथा अन्य महत्वपूर्ण सूचनाओं का सम्यक् समाहार करते हुए दक्षिण भारत के इतिहास पर और भी ग्रन्थों का लेखन तथा प्रकाशन अभीष्ट माना जा रहा था। परन्तु पुस्तक इसी दिशा में जनाकांक्षाओं की सम्पूर्ति हेतु एक लघु प्रयास है।

विगत् दशक में भारत के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में राष्ट्रीय इतिहास एवं संस्कृति के व्यापक ज्ञान के आग्रह में लगातार वृद्धि हुई हैं। फलतः उत्तर भारतीय इतिहास के साथ-साथ दक्षिण भारतीय इतिहास के सम्यक् अनुशीलन पर विशेष आग्रह विकसित हुआ हैं। अधिकांश विश्वविद्यालयों के स्नातक एवं स्नातकोत्तरीय कक्षाओं के पाठ्य-विषयों में दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति को अनिवार्य अध्येय विषय निर्धारित किया गया है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत पुस्तक छात्रों एवं पाठकों को किञ्चित् तोष प्रदान कर सकी तो, यही मेरे प्रयास की सार्थकता होगी।

पूर्व-मध्यकाल में दक्षिण भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों द्वारा शासित था। प्रमुख राजवंशों में साम्राज्य-विस्तार की प्रवल महत्वकांक्षा विद्यमान थी। फलतः राज्यों में पारस्परिक तनाव एवं संघर्ष का वातावरण सहजतः बनता रहता था। प्रायः वड़े राज्यों के साथ छोटे-छोटे राज्य भी गुटवन्दी के शिकार हो जाते थे। प्रस्तुत पुस्तक में उक्त घटनाओं के जटिल गुम्फन को सुविचारित ऐतिहासिक कालानुक्रम में पिरोकर यथासम्भव सुग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया

है। इसके साथ ही दक्षिण भारतीय सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक अवस्थाओं पर प्रकाश डालते हुए, विभिन्न राजवंशों की साहित्यिक एवं कलात्मक उपलब्धियों पर विशद् प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारत में लगभग 700 ई० से 1500 ई० के मध्य साहित्य, कला, धर्म, आर्थिक विकास, कृषि, वाणिज्य एवं व्यापार आदि स्थितियों पर एक पृथक् अध्याय देकर तत्कालीन भारत एवं विश्व के अन्य देशों के बीच विकसित सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्पर्कों को दर्शाने का भी प्रयास किया गया है।

पुस्तक-लेखक में उपयोगी समस्त श्रद्धेय एवं सम्मान्य पूर्व रचनाकारों के प्रति में अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके ग्रन्थों अथवा विचारों को यथास्थान उपयोग में लाया गया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष (स्व०) प्रोफेसर गोवर्द्धन राय शर्मा का मैं विशेष आभार मानता हूँ, जिन्होंने मुझे विषय-दृष्टि प्रदान की है। भूतपूर्व विभागाध्यक्ष एवं कुलपति प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय से मुझे सतत् प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिलता रहा है, एतदर्थ मैं उनके प्रति सदा नतमस्तक हूँ। गुरुजनों में प्रो० अम्बादत्त पन्त, स्व० प्रो० के डी० वाजपेयी, प्रो० जसवन्त सिंह नेगी, प्रो० वी० एन० एस० यादव, प्रो० सिद्धेश्वरी नारायण राय, प्रो० शिवेश भट्टाचार्य, प्रो० विनोद चन्द्र श्रीवास्तव, प्रो० राधाकान्त वर्मा, प्रो० विद्याधर मिश्र, प्रो० रामकृष्ण द्विवेदी, प्रो० उदय प्रकाश अरोरा, प्रो० ओम प्रकाश के अनवरत प्रोत्साहन के बिना इस पुस्तक का लेखन-कार्य सम्भव नहीं हो पाता, अतः मैं सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष डॉ० उदय नारायण राय ने प्रस्तुत पुस्तक में 'आमुख' लिखकर मेरे ऊपर विशेष अनुग्रह किया है। एतदर्थ में अपने आचार्यप्रवर के प्रति विशेष ऋणी हूँ। मेरे लेखन-कार्य को उत्साहित करने वाले सहयोगियों में, सर्वश्री प्रो० धनेश्वर मण्डल, वृज विहारी मिश्र, गीता देवी, डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी, डॉ० ज्ञानेन्द्र कुमार राय, डॉ० रंजना वाजपेयी, डॉ० जगन्नाथ पाल, डॉ० ए० पी० ओझा, डॉ० अनामिका राय के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ। सहयोगी मित्रों में डॉ० पुष्पा तिवारी, सत्य प्रकाश मिश्र, डॉ० राजछत्र मिश्र, डॉ० सुरेश चन्द्र राय, डॉ० राजेन्द्र सिंह राज, डॉ० गंगासागर तिवारी, श्री अव्यक्त राय मिश्र, डॉ० रामनिहोर पाण्डेय, श्रीमती हीरामणि अग्रवाल, श्रीमती ममता चतुर्वेदी, श्रीमती गीता वागची, (कु०) कुलदीप दत्ता, (कु०) किरण वाला दीक्षित, श्री महन्थ प्रसाद तिवारी, श्री विमल चन्द्र शुक्ल, डॉ० वी० एन० राय आदि के सहयोग के प्रति मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ। डॉ० जय नरायण पाण्डे ने इस पुस्तक के लेखन में मेरी अनेक प्रकार से सहायता की है, अतः मैं उनके प्रति विशेष कृतज्ञ हूँ। आत्मीयजनों में सर्वश्री नवीन चन्द्र वाजपेयी (आई० ए० एस०) कमला प्रसाद पाण्डेय (आई० ए० एस०) यादवेन्द्र दत्त वनकटा (आई० ए० एस०) तथा श्री रवीन्द्र त्रिपाठी के उत्साहवर्द्धन के लिए मैं सदा आभारी हूँ।

मेरे जीवन पर सतत् आशीर्वाद की छाया रखने वाले संपूज्य पिता श्री पारस नाथ दुबे तथा परमश्रद्धेय अंग्रेज श्री सत्यनारायण दुबे के चरणों में मैं सतत् नतमस्तक हूँ। इस पुस्तक

की सम्पूर्ण योजना को सार्थक बनाने में मेरी धर्मपत्नी श्रीमती मिथिलेश दुबे ने आद्योपान्त सहयोग प्रदान किया है, एतदर्थ मैं उनके प्रति साधुवाद ज्ञापित करता हूँ।

पुस्तक के प्रकाशन में श्री दशरथ प्रसाद जायसवाल, प्रकाशक, शारदा पुस्तक भवन ने बड़ी आत्मीयता एवं उत्साह का परिचय दिया है, अतः वे साधुवाद के पात्र हैं।

अन्त में मर्मज्ञों से मेरा निवेदन है:

"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।
आवृणुध्वमतोदोषान् विवृणुध्वं गुणान् बुधाः।।"

महात्मा गांधी जन्म दिवस
02 अक्टूबर, 2001

हरि नारायण दुबे

1 दक्षिण भारत : भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिचय

दक्षिण भारत : भौगोलिक परिचय

सुप्रसिद्ध विचारक काण्ट का यह निर्वचन सर्वथा माननीय है कि इतिहास का वास्तविक आधार भूगोल है। किसी क्षेत्र अथवा देश की ऐतिहासिक गतिविधियाँ वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों से ही निर्धारित होती हैं। उत्तर भारत के ऐतिहासिक क्रियाकलापों के संचालन एवं नियन्त्रण में जो भूमिका नगाधिराज हिमालय की रही है उससे कथमपि कम महत्वपूर्ण भूमिका पश्चिमी एवं पूर्वी घाट की पहाड़ियों सहित विन्ध्यपर्वत श्रेणियों की नहीं है। दक्षिण भारत अपनी भौगोलिकश्वनावट में यूरोपस्थ दक्षिणी इटली की भाँति अपने में स्वतन्त्र भौगोलिक इकाई प्रतीत होती है। इसके उत्तरी भाग में विन्ध्य एवं सतपुड़ा की सघन कान्तार-श्रेणियाँ, पूर्व में बंगाल की खाड़ी, पश्चिम में अरब सागर एवं दक्षिण में हिन्द महासागर की प्राकृतिक अवस्थिति इसके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास को उत्तर भारत की अपेक्षा किंचित् भिन्न प्रकृति प्रदान करने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। परन्तु उपर्युक्त भौगोलिक अवस्थिति से दक्षिण एवं उत्तर भारत की सांस्कृतिक धारा में सहजतः विद्यमान एक रुपता में कोई अंतर नहीं आया। इसके प्रधान कारण रहे हैं विन्ध्य एवं सतपुड़ा पर्वतों के मध्य विद्यमान अनेक प्राचीन दुर्गम मार्ग, जिन्हें क्रमशः दोनों भागों के उत्साही विजेताओं, विचारकों व्यापारियों तथा प्रचारकों आदि ने समय-समय पर साहस के साथ उपयोग में लाया था। सम्पूर्ण भारत के विभिन्न भू-भागों एवं प्रदेशों को जोड़ने में प्राचीन भारतीय व्यापारिक मार्गों की भूमिका विशेष उल्लेखनीय है। उत्तर भारत को दक्षिण भारत से जोड़ने वाला प्रथम प्रमुख राजमार्ग प्रतिष्ठान से श्रावस्ती आता था। इस राजमार्ग पर पड़ने वाले प्रमुख व्यापारिक नगरों में उज्जयिनी, माहिष्मती, जोनद्ध, विदिशा, वनसमय, कौशाम्बी तथा साकेत आदि परिगणित किए जा सकते हैं। इसी मार्ग से कुशीनगर, पावा, वैशाली तथा पाटलिपुत्र भी जुड़ते थे। उक्त राजमार्ग की एक शाखा उज्जयिनी से दक्षिणी-पश्चिमी भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों, यथा—प्रतिष्ठान तथा भृगुकच्छ आदि को जोड़ती थी। भृगुकच्छ को जोड़ने वाले अनेक उपराजमार्ग तगर और इन्द्रगोप जैसे नगरों से जुड़े हुए थे। दूसरा महत्वपूर्ण राजमार्ग भृगुकच्छ से कौशाम्बी होता हुआ। ताम्रलिप्ति पहुँचता था, जिसके फलस्वरुप

दक्षिण-पश्चिम भारत एवं दक्षिणी-पूर्वी भारतीय भू-भाग जुड़ते थे। पेरिप्लस के अनुसार ईसा की प्रारम्भिक सदियों में भृगुकच्छ दक्षिणापथ के पश्चिमी-तट पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण वन्दरगाह था। विदेशी व्यापार की दृष्टि से दक्षिण भारत की स्थिति विशेष महत्वपूर्ण रही है। पश्चिम में यूरेशियाई देशों, भूमध्यसागर, अफ्रीका तथा पूर्व में इण्डोनेशिया एवं चीन के मध्य स्थित होने के कारण भृगुकच्छ, कोचीन, कोषिक्-कोड़, गोआ वम्वई, अरिकामेडु, महावलिपुरम और कावेरीपत्तनम् आदि वन्दरगाह दक्षिण भारत के विशेष विकसित केन्द्र वन गए थे।

दक्षिण भारत : भौतिक रचना

भारत के उत्तरी भाग में ऊँचे पर्वत तथा दक्षिण में विस्तृत पठारी भाग है। इन दोनों के मध्य विशाल समतल मैदान अवस्थित है। पठारी भाग के पूर्व तथा पश्चिम अवस्थित सागरों के सहारे संकरे उपजाऊ मैदान स्थित हैं। इस प्रकार दक्षिण भारत को उच्चावच की दृष्टि से हम दो प्राकृतिक भागों में बाँट सकते हैं—

1. दक्षिणी पठार
2. समुद्रतटीय मैदान

दक्षिण का पठार —भारत के उत्तरी विशाल मैदान के दक्षिण में त्रिभुजाकार पठारी प्रायद्वीप है। इसकी चौड़ाई दक्षिण की ओर क्रमशः कम होती गई है। यह भारत का सबसे प्राचीन भूखण्ड है, जो कठोर चट्टानों से निर्मित है। ऋतु अपक्षय से यह अव घिस-पिट कर वहुत नीचा हो गया है। इस पठारी क्षेत्र में अनेक छोटी-छोटी पहाड़ियाँ एवं ऊवड़-खावड़ भूमि विद्यमान हैं। इसकी औसतन ऊँचाई 300 से 900 मीटर के मध्य है। इस त्रिभुजाकार पठार का आधार उत्तर में तथा शीर्ष दक्षिण की ओर लम्वित है। इसके उत्तरी भाग में अरावली, विन्ध्याचल और सतपुड़ा की पहाड़ियाँ हैं। इसके पूर्व तथा पश्चिम में क्रमशः पूर्वी-घाट और पश्चिमी-घाट की पर्वत श्रेणियाँ विराजमान हैं। पश्चिमी-घाट उत्तर से दक्षिण एक समुन्नत दीवार के सदृश खड़ा है। इसका विस्तार लगभग 1500 किलोमीटर है तथा अरव सागर से इसकी दूरी यत्र-तत्र 30 किलोमीटर से लेकर 120 किलोमीटर तक परिमेय है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में इन घाटों के उत्तरी भाग को सह्याद्रि और दक्षिणी भाग को मलय पर्वत कहा गया है। इसमें उत्तर से दक्षिण क्रमशः थालघाट, भोरघाट तथा पालघाट के दर्रे हैं, जिनसे होकर पश्चिम-तट के लिए रेल-मार्ग जाते हैं। सह्याद्रि पर्वत-शिखरों को यथास्थान काट कर अव दर्रों के सहारे उन्हें यातायात के लिए सुगम वना लिया गया है। पूर्वी में घाट किञ्चित नीचा पश्चिमी घाट की अपेक्षा है और समुद्रतट से अपेक्षाकृत सन्निकट भी है। यह घाट वंगाल की खाड़ी के समानान्तर लगभग 80 किलोमीटर की दूरी रखते हुए उड़ीसा प्रान्त के वर्तमान गंजाम जनपद में महेन्द्रगिरी से प्रारम्भ होकर धुर दक्षिण में तिरुनेलवेलि जनपद के कुलक्काल क्षेत्र तक विस्तृत है। इसकी ऊँचाई कम है तथा जगह-जगह टूटने के कारण यह पठारी भूखण्ड यातायात के लिये अपेक्षाकृत सुगम भी है। इस पर वहने वाली अधिकांश नदियों का उद्गम पश्चिमी घाट की पहाड़ियों से जुड़ा हुआ है जो भू-भाग को काटती हुई वंगाल की खाड़ी में गिरती हैं।

महानदी, गोदावरी, कृष्णा, पन्ना तथा कावेरी नदियाँ इसी घाट को काटती हुई वहती हैं। नर्मदा और ताप्ती ही ऐसी दो नदियाँ हैं, जो इस पठारी भाग से निकल कर पश्चिमी-घाट को काटती हुई अरव सागर में गिरती हैं। इसके मुहाने अपेक्षाकृत चौड़े हैं, जिन्हें 'एश्चुअरी' कहा जाता है। उत्तर में मालवा तथा दक्षिण में दक्षिण का मुख्य पठार स्थित है। नर्मदा के उत्तर विन्ध्य-पर्वत की श्रेणियाँ हैं। मालवा का पठार क्रमशः उत्तर में फैलता हुआ राजस्थान के मरुस्थल से मिल जाता है। चम्वल, वेतवा तथा केन आदि नदियाँ इसी पठार से निकल कर क्रमशः उत्तर-पूर्व की ओर वहती हुई अंततः यमुना नदी में मिल जाती हैं।

दक्षिणी पठारी प्रदेश के उत्तरी भूभाग में महादेव और मैकाल की पर्वत श्रेणियाँ स्थित हैं, जो क्रमशः उत्तर में छोटा-नागपुर के पठार तक विस्तृत हैं। नर्मदा एवं ताप्ती नदियों के मध्य सतपुड़ा पर्वत-श्रेणियाँ हैं। चित्रकला के लिए विश्वविख्यात अजन्ता की पर्वत श्रेणियाँ ताप्ती नदी के दक्षिण में स्थित हैं। पश्चिमी घाट तथा पूर्वी घाट दक्षिण में नीलगिरी पर्वत से परस्पर जुड़ जाते हैं। नीलगिरि का सर्वोच्च शिखर दोदा वेटा, 2637 मीटर ऊँचा है। इस पर्वत पर स्थित 'उटकमण्ड' नामक सुरम्य नगर तमिलनाडु प्रदेश की ग्रीष्मकालीन राजधानी रही है। नीलगिरी के दक्षिण में अन्नलाई एवं कार्डेमम की पहाड़ियाँ हैं। कार्डेमम की पहाड़ियाँ इलायची-उत्पादन के लिए विश्वविख्यात हैं। दक्षिणी पठार अपनी खनिज एवं वन-सम्पदा के लिए विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिम की लावा-मिट्टी कपास-उत्पादन के लिए अतीव उपयुक्त है। शेष भाग में मिट्टी की परत गहरी न होने के कारण अधिक उपजाऊ नहीं है।

समुद्रतटीय मैदान —दक्षिण भारत के पठार भू-भाग के पूर्व और पश्चिम में अरव सागर (पश्चिमी समुद्र) एवं हिन्द महासागर (पूर्वी समुद्र) के किनारे-किनारे लम्वा एवं संकरा समुद्रतटी उपजाऊ मैदान उत्तर में कच्छ की खाड़ी से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक विस्तृत है। उत्तर में गुजरात के पास यह सवसे अधिक चौड़ा तथा शेष पश्चिमी समुद्र-तट पर यह अपेक्षाकृत संकरा है। इस तट का उत्तरी भाग, जो गुजरात के दक्षिण में हैं, कोंकण कहा जाता है। उसके दक्षिण में मालावार तट है। सम्पूर्ण पश्चिमी तट प्रायः सपाट है, अतः यहाँ उत्तम प्राकृतिक पतनों वन्दरगाहों का प्रायः अभाव है। अथापि इस तट पर सूर्पारक (सोपरा), कांदला, वम्वई, भृगुकच्छ (भड़ौच), कल्याणी (कल्याण), मारमागोआ, कोचीन आदि उत्तम प्राकृतिक पत्तन (वन्दरगाह) स्थित हैं। इस तट के मैदानी भू-भागों में अधिकतर काजू, ताड़, नारियल तथा सुपाड़ी की पैदावार होती है।

पूर्वी-समुद्रतटीय मैदान उत्तर में महानदी की घाटी से दक्षिण में कन्याकुमारी तक विस्तृत है। यह तटीय भू-भाग पश्चिमी-समुद्रतटीय मैदान की अपेक्षा अधिक चौड़ा है। इसका उत्तरी भाग उत्तरी सरकार तथा दक्षिणी भाग कारोमंडल तट के नाम से प्रसिद्ध है। इस तट पर महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी तथा वेगाई आदि नदियों के डेल्टे स्थित हैं। कावेरीपट्टिनम्, कोरकै तथा मद्रास इस तट के प्रसिद्ध वन्दरगाह हैं।

दक्षिण भारत : ऐतिहासिक परिचय

दक्षिण भारत की भौगोलिक सीमा विन्ध्य पर्वत और दक्षिण समुद्र के बीच अनुरेखित की जा सकती है जिसका उल्लेख भरतमुनि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में किया है (दक्षिणस्य समुद्रस्य तथा विन्ध्यस्य चान्तरे) वस्तुतः बहुशः प्रयुक्त 'दक्कन' शब्द संस्कत शब्द 'दक्षिण' का अपभ्रंश है, जिसे दक्षिण 'दिशा' के अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है। किसी अज्ञात नाविक द्वारा लिखित परिप्लस आफ द एरिथ्रियन सी प्रथम शती ई० में उक्त नाम को उद्धृत किया है। परन्तु प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों तथा अभिलेखों में दक्षिण भारत के लिए 'दक्कन' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता अपितु इसके लिए 'दक्षिणापथ' शब्द को प्रयुक्त किया गया है। महर्षि बाल्मीकि ने 'रामायण में महाराज दशरथ के सुविशाल साम्राज्य में उत्तरी भारत के प्रदेशों के अतिरिक्त सौराष्ट्र, सौवीर द्रविड़ तथा दक्षिणापथ के देशों को भी परिगणित किया है (द्रविड़ाः) सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्राः दक्षिणापथाः)। परन्तु उक्त ग्रन्थ में द्रविड़ देश को दक्षिणापथ के बाहर अलग प्रदेश घोषित किया गया है। इसी प्रकार महाभारत (सभा० 31;17) में सहदेव की दक्षिण भारत के दिग्विजय के संदर्भ में 'दक्षिणापथ' का स्पष्ट उल्लेख हुआ है तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणपथम् गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम्)। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तभं लेरव में प्रशस्तिकार हरिषेण ने 'दक्षिणापथं का उल्लेख किया है। लेकिन डा० हेमचन्द्र चौधरी की अवधारणा है कि उक्त प्रशस्तिकार का दक्षिणापथ से आशय संभवतः महानदी घाटी से कांची के मध्यवर्ती भू-क्षेत्रों से ही था। महाक्षत्रप रुद्रदामन के गिरनार-लेख (संभवतः 120 ई०) में सातवाहन नृपति सातकर्णि को 'दक्षिणापथमति' कहा गया है (यौधेयानां प्रंसह्योत्सादकेम दक्षिणापथपतेः सातकर्णेः)। बौद्ध जातकों में इसकी सीमा पश्चिमी-दक्षिणी सीमा विन्ध्य के समीपस्थ अवांन्तित्र क्षेत्र तक बताई गई है। राजशेखर ने उसने पूर्ववर्ती आचार्यों के भौगोलिक मतों के आलोक में अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **काव्य-मीमांसा** (93.25) में महिष्मती के दक्षिण अवस्थित भू-भाग को 'दक्षिणापथ' स्वीकार किया है (महिष्मत्यह परतो दक्षिणापथः)। किन्तु इसी ग्रन्थ में अन्यत्र अण में भौगोलिक ज्ञान का परिचय देते हुए उन्होंने 'दक्षिणापथ' के अन्तर्गत विन्ध्यपाद (विन्ध्यपर्वत के दक्षिणी भाग) से लेकर मलय पर्वत श्रेणियों तक विस्तृत विशाल भौगोलिक क्षेत्र को सम्मिलित किया है (विन्ध्य दक्षिणपाद महेन्द्र मलय में कलपाल मंजर सह्यश्रीपर्वतादयः पर्वताः। नर्मदा तापीपयोष्णी गोदावरी कावेरी भैमरथी वेपाकृष्ण वेपावंजुरातुङ्ग भद्राताम्रपर्ण्युत्पलाव तीरावणगङगाद्याः नद्यः। परवर्ती चालुक्य-अभिलेखों में धुर दक्षिण में स्थित रामेश्वरम् से लेकर नर्मदा तक फैले भू-क्षेत्र को 'दक्षिणापथम्' कहा गया है (सेतु नर्मदामध्ये दक्षिापथम्)।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में दक्षिण भारत के लिए दक्कन, दक्षिणापथम् तथा दक्षिण भारत जैसे अभियानों का प्रयोग किया गया है। अपनान्तर काल में दक्कन तथा 'दक्षिणापथ' शब्दों का भौगोलिक तात्पर्य विन्ध्यपर्वत के दक्षिण तथा कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों के उत्तर अवस्थित भू-क्षेत्रों को 'दक्षिणापथ' स्वीकार किया जाने लगा। वर्तमान दक्षिण भारतीय इतिहास के अनुशीलन में अव

विन्ध्यपर्वत श्रेणियों के दक्षिण अवस्थि. दक्षिणी समुद्रपर्यन्त विस्तृत त्रिभुजाकार प्रायद्वीपीय दक्षिण भारत की भौगोलिक सीमाओं को समाहित माना जाता है जिसमें मोटे तौर पर महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, पाण्डिचेरी, गोआ, आन्ध्रप्रदेश तथा उड़ीसा प्रान्त स्थित हैं।

दक्षिण भारतीय इतिहास का आद्योपान्त परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्याय तीन में किञ्चित विस्तार से विवृत है। तथापि प्राचीन भारतीय इतिहास के परिज्ञान में उक्त प्रायद्वीपीय भू-भाग के राजनीतिक पटल पर समय-समय पर उदित होने वाले प्रमुख राजवंशों यथा संगमयुगीन चेर, चोल, पाण्ड्य राजवंशों के अन्तिरिक आन्ध्र-सातवाहन, जक्ष्णाकु-वाकाटक में दिशासब रवारवेल, वनवासी का राजवंश, पल्लव, वातापि के चालुक्य प्रथम पाण्डय राजवंश वंशी के चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल, द्वितीय पाण्ड्य राजवंश, कल्याणी के चालुक्य, देवगिरि का यादव राजवंश सेउण के यादव, कालतीय राजवंश, पश्चिमी गंग राजवंश तथा होयसल राजवंश का अध्ययन किञ्चित् विस्तारपूर्वक प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुवर्ती अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है।

---

2 दक्षिण भारत : इतिहास अङ्कन के साक्ष्य

उत्तर भारतीय इतिहास की तरह दक्षिण भारतीय इतिहास के परिज्ञान में भी प्राचीन भारतीय साहित्यिक ग्रन्थ, पुरातात्त्विक साक्ष्य तथा विदेशी पर्यटकों द्वारा प्रदत्त विवरण विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। उत्तरी भारत अथवा प्रान्तीय आर्यावर्त्त-क्षेत्र में विरचित वैदिक एवं महाकाव्यीय वाङ्मय के अनुशीलन से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि कृषि-आधारित वैदिक संस्कृति का क्रमिक विस्तार पूर्वोत्तर भारत के साथ-साथ काल क्या माना जाय-साक्ष्याभाव में कुछ भी निश्चय के साथ नही कहा सकता है। उत्तर एवं दक्षिण भारत के बीच प्रारम्भिक संपर्क का इतिहास ऐतरेय ब्राह्मण (लगभग 800 ई० पू०) की रचना से पूर्वकालीन मानने में अनेक विप्रत्तिपन्नताएँ प्रकट होती हैं तथापि प्रस्तुत संदर्भ में कुछ दशक पूर्व एस० के० आयंगर ने यह मत अवश्य व्यक्त किया था कि ऋग्वेद में विवृत उस अंश को महत्वपूर्ण माना जा सकता है, जिसमें यह कहा गया है कि आर्य-संस्कृति से बहिष्कृत व्यक्ति को उस काल में दक्षिण की ओर आगमन करना पड़ता था। उनके अनुसार ऋग्वेदोक्त दक्षिणाभिगमन का तात्पर्य संभवतः दक्षिणापथाभिगमन प्रतीत होता है। परन्तु ऋक्, साम, यजु और अथर्व वेदों में किसी भी स्थल पर दक्षिण भारत में उपस्थित नदियों, पर्वतों, जंगलों, जनपदों एवं महत्वपूर्ण राज्यों आदि का उल्लेख प्राप्त नहीं है। अस्तु, आयंगर द्वारा 'दक्षिणापथ' से संदर्भित उपर्युक्त निष्कर्ष स्वीकार करने में अनेक असंगतियाँ प्रतीत होती हैं।

वैदिक ग्रन्थ ऐतरेय आरण्यक में एक स्थान पर 'चेरपादाः' का उल्लेख मिलता है, जहाँ के निवासियों को आर्य-संस्कृति एवं परम्पराओं का उल्लंघन-कर्त्ता कहा गया है। इसी प्रकार उक्त ब्राहमण[1] में दक्षिण भारत में स्थित 'विदर्भ' राज्य का वर्णन होने के साथ-साथ वहाँ के शासक 'भीम' का नामोल्लेख भी किया गया है। शतपथ ब्राह्मण[2] में एक स्थान पर 'रेवोत्तरस पाटवचाक्रस्थपित' को संदर्भित किया गया है, जिसे श्रृंजयों ने अपने क्षेत्र से भगा दिया था। कतिपय विद्वान् रेवोत्तरस को रेवा (नर्मदा) नदी के आस-पास स्थित भू-क्षेत्रों से जोड़ने का प्रयास करते हैं, परन्तु स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में

---

1 ऐतरेय ब्राह्मण, 7.34.

2. शतपथ ब्राह्मण, 12-9-3.1

उर्पयुक्त अवधारणा को अंतिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। **बृहदारण्यक उपनिषद्** में **'विदर्भ'** राज्य का उल्लेख करते हुए यहाँ के पारम्परिक शिक्षकों के 'कौण्डिल्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। **कौषीतकी उपनिषद** में एक स्थल पर 'दक्षिण-पर्वत' का उल्लेख मिलता है, जिसका समीकरण कतिपय विद्वानों द्वारा दक्षिण भारत में प्रसरित विन्ध्य पर्वत श्रेणियों से किया गया है।

महर्षि वाल्मीकि के **रामायण** में मलय, महेन्द्र-पर्वत-श्रेणियों, गोदावरी, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य, केरल तथा माहिषक प्रभृति जनपदों (राज्यों) को अनेक विवृत काननों तथा नदियों का उल्लेख मिलता है। महाभारत[1] में आख्यात 'अगस्त्याख्यान' द्वारा दक्षिण भारत में आर्य-संस्कृति के क्रमिक प्रसरण का विवरण प्रस्तुत किया गया है। महाभारत में दक्षिण भारतीय वहुमूल्य रत्नों, वस्तुओं, कृषि-उत्पादों तथा पशु-सम्पदाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। अवान्तर युगों में संकलित कतिपय पुराणों[2] में भी वैदिक ऋषि अगस्त्य द्वारा चलाए गए दक्षिण भारतीय प्रदेशों के आर्यीकरण का आख्यान महाभारतोक्त 'अगस्त्याख्यान' का उपवृंहण माना जा सकता है। पुराणों में अनेक स्थलों पर दक्षिण भारतीय नदियों, पर्वतों, जनों, काननों, तीर्थ-स्थलों तथा राज्यों (जनपदों) आदि का विशद् उल्लेख मिलता है।

महान संस्कृत-वैय्याकरण **पाणिनी** संभवत: दक्षिण भारत के कुछ राज्यों से परिचित थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ **'अष्टाध्यायी' में, जो विशेष रुप से पाँचवी शताब्दी लगभग सामुद्रिक तटवर्ती-क्षेत्र) एवं अश्मक (गोदावरी का निकटवर्ती-क्षेत्र) जनपदों को उद्‌घृत किया है। पाणिनि ने एक स्थल पर स्पष्ट 'दक्षिणात्य' शब्द का प्रयोग रुप से किया है, जिसका तात्पर्य 'दक्षिणापथ' से सम्बन्धित प्रतीत होता है। ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त 'अश्मक' राज्य को बौद्ध-ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय' में षोडश् महाजनपद राज्यों में परिगणित किया गया है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के लगभग विरचित बौधायन धर्मसूत्र** (1.1.2-15-16) में कलिंग-राज्य के साथ-साथ दक्षिण भारत में प्रचलित प्रमुख पाँच रीति-रिवाजों को भी आख्यात किया गया है। (यथैतदनुपेतेन सहभोजनंस्त्रिया सहभोजनंपर्युषितभोजनंमातुलपितृष्वसुदुहितृगमनमिति)। ई० पू० चतुर्थ शती में अष्टाध्यायी के वार्त्तिककार **कात्यायन** ने **'वार्तिक'** में धुरदक्षिण भारतीय चोल, पाण्ड्य एवं केरल राज्यों के अतिरिक्त महाराष्ट्र प्रदेश में स्थित नासिक आदि केन्द्रों का उल्लेख किया है।

संगम साहित्य : संक्षिप्त परिचय :

सुदुर दक्षिण भारत के प्रारम्भिक जन जीवन, धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं तथा राजनैतिक और आर्थिक जीवन पर प्राथमिक विशद् प्रकाश संगम-साहित्य से पड़ता है। **'संगम'** का तात्पर्य सुरदक्षिण भारत में पाण्ड्य नृपतियों द्वारा गठित विद्वत्परिषद विद्वत-गोष्ठी अथवा लेखक संघ आदि माना जाता है, जिसमें धुर दक्षिण भारतीय प्राचीन परम्पराओं .को काव्य-माला में पिरोकर तत्युगीन विद्वान् कवियों रचनाकारों एवं

1. महाभारत, 3.104. 1-115
2. पद्म पु०, 1.19.47-159 तथा स्कन्द पु० 4.5.53-68 : 6.33.5-43

आचार्यों ने लिपिवद्ध साहित्यिक स्वरुप प्रदान किया था। यद्यपि संगम-साहित्य में तत्कालीन राज्य-शासन शासनतंत्र के गठन तथा राजनीतिक जीवन के सही कालक्रम आदि पर यथेष्ट सूचनाओं का आभाव मिलता है, तथापि उनमें सामाजार्थिक तथा धार्मिक दशा का किंचिद् वोध अवश्य प्राप्त होता है। संगम-कवियों ने अपने समय की सामाजिक एवं अन्य गतिविधियों पर विपुल सामग्री प्रस्तुत की होगी, परन्तु दुर्भाग्यवश आज हमें उस विशाल साहित्यिक भण्डार का अल्पांश ही उपलब्ध है। पाण्ड्य नृपतियों के संरक्षण में संजन्म किए गए उपर्युक्त कवियों की कुल तीन संगमों का पता चलता है। मदुरा में संचालित इस प्रकार का एक संगम पर्याप्त ख्याति-प्राप्त तथा समुन्नत था। आठवीं शताब्दी ई० के सुप्रसिद्ध रचनाकार इरैयनार अगप्पोरुल द्वारा विरचित भाष्य की भूमिका से उक्त तथ्य की संपुष्टि होती है। संगमकालीन तमिल-कवियों के उपर्युक्त तीनों संगम प्रायः लंबे अन्तराल के साथ दीर्घकाल तक संचालित रहे। उक्त भाष्य गन्थ में इन संगमों की संपूर्ण कालावधि 9990 वर्ष आख्यात है। निस्सन्देह यह अवधि काव्यतन्त्र कल्पनिर्धारित प्रतीत होती है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि तमिल-संगमों की परम्परा न केवल प्राचीनकालिक थी, अपितु दीर्घकालीन भी थी। तीनों संगमों में संकलित कुल रचनाओं की संख्या 2289 है, जिन्हें मोटे रूप से निम्नलिखित संकलनों में संकलित किया गया है।

(1) नट्रिणै, (2) कुरंदोगै, (3) ऐंगुरुनुरु, (4) पदिट्रपत्तु, (5) पारिपाडल (6) कलित्तोगै, (7) अहनानुरु, (8) पुरनानरु। प्रो० **नीलकण्ठ शास्त्री** ने इन संग्रहग्रन्थों के अतिरिक्त एक नवें संग्रह-ग्रन्थ की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है, जिसका नाम है—पत्तुप्पाटु। इनमें संकलित कतिपय कविताएँ अत्यन्त छोटी, मात्र तीन पंक्तियों की तथा कुछ वड़ी लम्वी, लगभग सौ पंक्तियों तक की प्राप्य हैं। सम्पूर्ण संग्रह में कवियों एवं कवियित्रियों, जिनकी संख्या 473 है, के अतिरिक्त 102 अज्ञातनामा रचनाओं को भी समाहित किया गया है। सम्पादकों ने प्रायः प्रत्येक कविता की पाद-टिप्पणी में उसके रचयिता का नाम, रचना अवसर तथा अन्य वाञ्छित विवरण को भी प्रस्तुत किया है। इसी काल-खण्ड में 'तोलकप्पियर' ने तमिल-व्याकरण पर 'तोलकप्पियम्' नामक मानक-ग्रन्थ की रचना की थी।

इरैयनार अगप्पोरुल द्वारा प्रदत्त उक्त विवरण के अनुसार इन तमिल संगमों के माध्यम से प्रस्तुत विशाल साहित्यिक भण्डार को 8,598 कवियों ने अपनी रचनाओं से समृद्ध किया था। इन्हें तत्कालीन राज्यों से संरक्षण प्राप्त था। उपर्युक्त संगमों की कुल 197 पाण्ड्य शासकों में अपना राज्याश्रय प्रदान किया था। इरैयनार अग्पोरुल द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त विवरण पूर्व प्रामाणिक तो नहीं माना जाता है, तथापि उसके द्वारा प्रस्तुत कतिपय शासकों एवं रचनाकारों, यथा-कदुन्गोन एवं उग्रप्पेरुवल्लुदी प्रभृति के नाम परवर्ती ग्रन्थों तथा अभिलेखों में यत्र-तत्र उद्धृत अवश्य मिलते हैं। अस्तु, उक्त विवरण में परदत्त कतिपय महत्वपूर्ण ऐतिहासिक, तथ्यों को समग्रतः असमीचीन भी नहीं माना जा सकता है। प्रस्तुत संदर्भ में नीलकण्ठ शास्त्री का यह मत यथोचित माना जा सकता है कि संगमयुगीन संग्रह-ग्रन्थों में दिए गए पाद-टिप्पणियों में उद्धृत कवियों राजाओं अथवा संरक्षक सरदारों के नामों की समसामयिकता के ऐतिहासिक विश्लेषण से पता चलता है कि प्रमुख संगम-साहित्यिक अधिक-से-अधिक चार-पाँच पीढ़ियों की रचना रही

होगी सामान्यतया इसमें 120 अथवा 150 वर्षों की सुदरक्षण मेजिक गतिविधियों को दर्शाया गया है। शास्त्री जी की यह धारणा विचारणीय है कि इन रचनाओं के आधार पर हम केवल अधिक से अधिक चेर-राजवंश की वंशावली का ही अविच्छिन्न इतिहास संरचित कर सकते हैं। शेष दो राजवंशो-चोल एवं पाण्ड्य वंशावलियों का अक्रमवद्ध इतिहास मात्र उनके बीचं हुए वैवाहिक-सम्बन्धों के आधार पर ही ज्ञात किया जा सकता है। ध्यातव्य है कि संगम-रचनाओं में यत्र-तत्र उक्त राजवंशों के कतिपय महत्वपूर्ण नरेशों का ही नामोल्लेख मिल पाता है। संगमयुगीन तमिल कवियों ने चेर, चोल एवं पाण्ड्य राजवंशों को 'मुकुटाधारी' तथा अन्या छोटे-छोटे राजाओं को उनके अधीन सामंत शासक जैसे घोषित किया है। इन अधीनस्थ राजाओं के पास अपनी पृथक् सेना होती थी, जो आवश्यकतानुसार अपने अधिराट् की तरफ से युद्ध के समय शत्रु-सेना के साथ लड़ा करती थी। इनमें से कम से कम सात प्रमुख सामंतों (वल्लाल) को, जो युद्ध-काल के अतिरिक्त शेष समय लगभग स्वतंत्र शासकीय स्वतंत्र जीवन जीते थे, कला, साहित्य एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को संरक्षण प्रदान करने के कारण संगमकालीन कवियों द्वारा विशेष मान्यता प्राप्त हुई थी।

संगमयुगीन तमिल-भाषा पर्याप्त प्रौढ़ समुन्नत है, जिसमें समयान्तर के साथ संस्कृत-मूल के अनेक शब्दों को विधिवत् पचाया गया है। कविताएँ साहित्यिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से शक्तिशाली होने के साथ-साथ अपने समय की सामाजिक जीवन धारा की यथेष्ठ संवाहिका है । अधिकांश विद्वानों ने संगमकालीन साहित्य की रचना-तिथि 100 ई० से 300 ई० के मध्य प्रस्तावित किया है। इस प्रकार सुदूर प्राचीन दक्षिण भारतीय जनजीवन की विविध सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परम्पराओं एवं तत्युगीन ऐतिहासिक अंकन में संगम-साहित्य को विशेष महत्वपूर्ण साहित्यिक साक्ष्य माना जा सकता है।

दक्षिण भारत के ऐतिहासिक अनुशीलन में संगम साहित्य के अतिरिक्त तमिल एवं संस्कृत भाषाओं में विरचित कतिपय महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। सुप्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ **'लोक विभाग'** से पल्लव नरेश सिंहवर्मन् के शासनकाल की सूचनाएँ प्राप्त हैं। सिंहली बौद्ध-काव्य **'महावंश'** भी पल्लव-इतिहास के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालता है। महाकवि दण्डिन्-प्रणीत **'अवन्ति सुन्दरी-कथासागर'** से पल्लव शासक सिंहविष्णु तथा समकालीन कतिपय अन्य राजाओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। विद्वान् पल्लव नृपति महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने स्वयं **'मत्तविलासप्रहसन'** ग्रन्थ की रचना करके अपने युग की सामाजिक धार्मिक एवं अन्य सांस्कृतिक स्थितियों को आलोकित किया है। संभवतः पल्लव-शासनकाल में ही विरचित **''नन्दिक्कलम्बकम्'** से नन्दिवर्मन् तृतीय तथा उसकी राजधानी काञ्ची की समृद्धि एवं ऐश्वर्य पर प्रकाश पड़ता है।

चोल-राजवंश के प्रारम्भिक इतिहास की रुपरेखा संगम-साहित्य में न्यूनाधिक विवृत है। परवर्ती महान् चोलराजवंश के ऐतिहासिक परिज्ञान में **'पेरिय पुराणम्', कलिंगत्तुपुराणि, 'चोलवंशचरितम्', वीर शोलियम्', दिव्यसूरिचरित, 'कोंगुदेश राजाक्कलचरितम्' तथा 'गुरु परापरै'** आदि ग्रन्थ विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं। इसी प्रकार पाण्ड्यवंशीय इतिहास के निर्माण में तत्कालीन स्थानीय अनुश्रुति-संग्रह-ग्रन्थों की

उपादेयता निर्विवाद है । संकलित **स्थल-पुराणों** में पाण्ड्य इतिहास पर विशद् प्रकाश डाला गया है, परन्तु अन्य साक्ष्यों से सम्यक् सम्पुष्टि के अभाव में इन वर्णनों की ऐतिहासिकता प्रायः असंदिग्ध नहीं मानी जा सकती है । इन्हीं स्थल-पुराणों में प्रमुख **'तिरुविलेमाडल'** नामक पुराण में सात पाण्ड्य शासकों का इतिवृत्त आख्यात है। **'पाडिक कौवे'** में कतिपय पाण्ड्य नृपतियों की वीरता एवं समकालीन नरेशों के साथ हुए उनके युद्धों का विवरण प्राप्य है । **'बेलुजोतिवारि वंशावली'** नामक ग्रन्थ पाण्ड्य-वंश के इतिहास-ज्ञान में विशेष सहायक एवं महत्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करता है । मदुरा में रचित मध्ययुगीन काव्य **'मधुराविजय'** से तत्युगीन पाण्ड्य-शासन-काल की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दशा का बोध होता है ।

महाकवि विल्हण प्रणीत **'विक्रमाङ्कदेव-चरित'** से पश्चिमी चालुक्य राजवंशकालीन दक्कन के इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है । रन्न रचित कन्नड़ महाकाव्य **'गदायुद्ध'** महाकवि पम्प कृत **'पम्प भारत'** महत्वपूर्ण ग्रंथ माने जाते हैं, जिनसे चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों की ऐतिहासिक गतिविधियों पर प्रकाश पड़ता है । इसी प्रकार सोमेश्वर तृतीय का **'मानसोल्लास'** तथा जिनसेन द्वारा लिखित **'आदि पुराण'** भी उल्लेखनीय ग्रन्थ है । जैनाचार्य गुणभद्र-प्रणीत **'उत्तर पुराण'** से कतिपय राष्ट्रकूट नरेशों के इतिवृत्त की सूचना मिलती है । हेमाद्रि के **'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि'** से देवगिरि के यादव-राजवंश के इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण वातें ज्ञात हो सकी हैं । इसी प्रकार मेरुतुंग-विरचित **'प्रबन्धचिन्तामणि'** ज्ञानेश्वर द्वारा प्रणीत 'भगवद् गीता' पर मराठी-भाष्य', जिनप्रभासूरिकृत **'नासिक कल्प'** आदि ग्रन्थों से भी उपर्युक्त राजवंश की ऐतिहासिक सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं ।

पुरातात्त्विक साक्ष्य :

दक्षिण भारतीय इतिहास की संरचना एवं परिज्ञान में पुरातात्तिक साक्ष्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । अन्वेषणों एवं सर्वेक्षणों से प्राप्त प्राचीन स्मारकावशेषों, सिक्कों तथा अभिलेखों से यहाँ के इतिहास एवं संस्कृति के विविध पक्ष आलोकित हुए हैं ।

अभिलेख :

प्राचीन भारतीय इतिहास के अङ्कन में अभिलेखों की महत्ता असाधारण है । इनसे एक ओर साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों की सम्पुष्टि तो होती ही है, उससे भी अधिक इन्हें महत्वपूर्ण तव पाया जाता है जव इनसे अनेक अज्ञात तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है । प्राचीन भारत में ऐसे अनेक नरेश एवं राजवंशों का इतिहास एकमात्र अभिलेखित साक्ष्यों से ही ज्ञात हो पाया है । दक्षिण भारत के विभिन्न भू अंचलों से प्राप्त अभिलेखों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

(अ) शिला लेख

(ब) ताम्रपत्र लेख

(स) मुद्रा लेख

शिला लेख :

भारत भूमि में शिलालेखों की उत्कीर्ण कराने की प्रथा ईसापूर्व तृतीय शताब्दी से विशेष लोकप्रिय हुई। अस्तु, प्राचीनता तथा विशद् ऐतिहासिक सूचनाओं की दृष्टि से शिलालेखों की महत्ता अन्यतम है। इन शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है। सम्राट् अशोक द्वारा खुदवाये गए अनेक शिलालेख दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों से प्राप्त हुए हैं इनमें सिद्धपुर, ब्रह्मगिरि, मास्की, अभिलेख विशेष उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों के प्राप्ति-स्थलों से यह प्रमाणित होताहै कि अशोक के विशाल भारतीय साम्राज्य में दक्षिण भारत के महाराष्ट्र आन्ध्रप्रदेश, उड़ीसा तथा कर्नाटक प्रदेश सम्मिलित थे। चतुर्दश शिलालेखों के दूसरे लेख में अशोक ने अपने धुर दक्षिण भारतीय सीमा के राज्यों का उल्लेख करते हुए चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र तथा सतिय पुत (सत्य पुत्र) को अपने साम्राज्य की सीमा पर उपस्थित बताया है। उसने उक्त शिला लेख में इस बात पर संतोष व्यक्त किया है कि यद्यपि वे राज्य मौर्य प्रशासन के अन्तर्गत न होकर स्वतंत्र राज्य हैं तथापि इन सब राज्यों में देवानांप्रिय (अशोक) के धर्मानुशासन का पालन किया जाता है। अशोक कालीन उक्त चोड राज्य सुदूर दक्षिण भारत के पूर्वी भाग में अवस्थित था। वर्तमान तंजोर तथा त्रिचनापल्ली जिलों के उत्तम भू-भाग राज्य में समाहित थे। इस राज्य की राजधानी उरैयू (उरगपुर) थी। इस राज्य की भूमि कावेरी नदी से सिञ्चित थी। इसी नदी के मुहाने पर चोड देश का प्रमुख बन्दरगाह 'कावेरी पट्टम्' स्थित था। टालमी ने चोड राज्यों का वर्णन किया है। इनमें एक राज्य को उसने सोरटेई (Sorectai) नाम दिया है जिसकी राजधानी ओर्थुरा (Orthoura) थी। जनरल कनिंघम ने ओथुरा एवं उरैयूर को एक ही स्वीकार किया है। टालेमी ने दूसरे चोड़ राज्य सोरई (Sorai) की राजधानी आर्केटस (Arlatps) का उल्लेख किया है, जिसकी पहचान अर्काट से की जाती है। चोड राज्य के दक्षिण में पाण्डय राज्य स्थित था, जिसमें वर्तमान मदुरा तथा टिनेवली जनपद-क्षेत्र सम्मिलित माने जा सकते हैं। इसकी राजधानी मदुरा थी। टालमी ने इस राज्य को पान्डिनोई (Pandinoi) कहा है। शेष दो दक्षिणी राज्य पुत्त नामान्त के रत्नपुत्र तथा सतियपुत्र थे। डॉ० डी. आर. भण्डारकर इन दोनों राज्यों के आदिम कबीलों का आरम्भिक निवास उत्तर भारत में मानते हुए यह प्रस्तावित करते हैं कि यही कबीले प्रायः मौर्य काल में सुदूर दक्षिणी भारत में जाकर बस गए थे। टालमी ने दक्षिण भारत के चार राज्यों का उल्लेख करते हुए उनका नाम—लिभिराइक, एड़ओड, पांडिओन तथा सोरतई बताया है। ऊपर हमने इनमें से दो राज्यों पाडेय तथा चोड़ की पहचान तथा उनकी भौगोलिक स्थिति का अवलोकन किया है लिमीराइक (दमीर-आइक) राज्य का अधिकांश भाग के राजपुत्र राज्य में सम्मिलित था। दक्षिण कनाड़ा, कोड्गू (कुर्ग), मालबार, कर्नाटक का उत्तरी पश्चिमी भाग तथा संभवतः तिरुवांकुर का धुर उत्तरी भाग भी केरलपुत्र राज्य के अंग प्रतीत होते हैं। टालमी द्वारा उल्लिखित 'एडओई' राज्य की पहचान किञ्चित अधिक विवादास्पद है। डॉ० भण्डारकर ने 'एडओई' का रूपान्तर 'सेडओई' करते हुए इसे सतियपुत्र राज्य से समीकृत करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार यदि यह पहचान सही मान लिया जाय तो वर्तमान तिरुवांकुर क्षेत्र को सतियपुत्र राज्य-क्षेत्र मानने में कोई विप्रतिपन्नता नहीं प्रतीत होती है।

उपर्युक्त अशोक कालीन शिलालेखों की भाषा पाली (जानपद भाषा) थी। अशोक के उपरान्त दक्षिणापथ में उदित हुए सातवाहनों ने भी अपने पूर्ववर्ती शासकों द्वारा स्वीकृत जानपदीय भाषा को स्वीकार कर लिया गया है। अस्तु, सातवाहनों के अभिलेखों की भाषा 'प्राकृत' है।

यह सच है कि आन्ध्र सातवाहन राजवंश की विपुल सूचना पुराणों में विवृत है तथापि इस राजवंश की प्रामाणिक तिथि, नरेशों की उपलब्धियों, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा अन्य जीवन धाराओं के सम्यक परिज्ञान में इस राजवंश के विभिन्न प्रकार के अभिलेख बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनमें राजा कृष्ण के समय का नासिक-गुफा लेख, सातकर्णि के समय का सांची स्तूप के दक्षिण तोरण का लेख, नागनिका का नाणेघाट की गुफा का लेख, नाणेघाट की गुफा में प्रतिमा-लेख, नासिक की गुफा में मटपालिका का लेख, नासिक की गुफा में गौतमीपुत्र सातकार्णे (संवत्सर 18)का लेख, कार्ले की गुफा में गौतमीपुत्र सातकार्णि (संवत्सर 18)का लेख, नासिक की गुफा में (संवत्सर 24)गौतमीपुत्र सातकर्णि का लेख, नासिक की गुफा में (संवत्सर 2) वासिष्ठीपुत्र पुलभावि का लेख, कार्ले की गुफा में (संवत्सर 5)वासिष्ठीपुत्र पुलभावि का लेख, नासिक की गुफा का (संवत्सर 6) का वासिष्ठीपुत्र पुलभावि का लेख, कार्ले की गुफा में (संवत्सर 7)का वासिष्ठीपुत्र पुलभावि का लेख, नासिक की गुफा में (संवत्सर 19)का वासिष्ठीपुत्र पुलभावि का लेख, नासिक की गुफा में (संवत्सर 19 एवं 22)का वासिष्ठीपुत्र पुलभावि का लेख, कार्ले की गुफा में वासिष्ठीपुत्र पुलभावि के समय (संवत्सर 24)का लेख, अमरावती स्तूप में वासिष्ठीपुत्र पुलभावि के समय का शिलालेख, वनवासी में वासिष्ठीपुत्र पुलभावि का लेख, नाणेघाट में (संवत्सर 13)का सातकर्णि के समय का लेख, अमरावती में शिवमकसद का खंडित लेख, कन्हेरी की गुफा में वासिष्ठीपुत्र सातकर्णि का लेख, नासिक की गुफा का यज्ञ सातकर्णि के समय का (संवत्सर 7)लेख, कान्हेरी की गुफा का (संवत्सर 16)यज्ञ सातकर्णि के समय का लेख, नागार्जुनकोड में गौतमीपुत्र विजय सातकर्णि का स्तंभ लेख (संवत्सर 6), कोडवालि में चंडस्वाति के समय का (संवत्सर 11)प्रस्तर लेख, अडोणी तालुके में पुलुभावि के काल् (संवत्सर 8) का लेख तथा मलवाल्लि तथा कन्हेरी गुफा से प्राप्त चुटुकुलानंद सातकर्णि के अभिलेख एवं वनवासी मिले हरितिपुत्र चुटुकुलानंद का (संवत्सर 12)का शिलालेख आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों से आन्ध्र-सातवाहन युगीन इतिहास एवं संस्कृति का सम्यक परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

गुप्तयुगीन दक्षिण भारतीय वाकाटक राजवंश का इतिहास पुराणों से अधिक उनके अभिलेखों से ज्ञात हो सका है। उनके द्वारा उत्कीर्ण कराये गए अनेक अभिलेख तथा दानपत्र प्रकाश में आए हैं। प्रमुख वाकाटक अभिलेखों में प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र, प्रवरसेन द्वितीय केकाल का रिद्धपुर ताम्रपत्र, प्रवरसेन द्वितीय की रामक-प्रशस्ति तथा हरिषेण का अजन्ता गुहाभिलेख आदि हैं। इनमें रिद्धपुर तथा पूना ताम्रपत्रों मे वाकाटक गुप्त संवधों का परिज्ञान होता है। इनसे वाकाटक राजरानी प्रभावती गुप्ता के कृतित्व एवं व्यक्तित्व के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार अजन्ता गुहाभिलेख से ज्ञात होता है कि इस वंश का संस्थापक नरेश विन्ध्य शक्ति था। इन लेखों से वाकाटक नरेशों की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का भी

परिचय मिलता है। दक्कन में सातवाहनों के उत्तराधिकारी राजवंशों का ऐतिहासिक ज्ञान इन राजवंशों द्वारा जारी अभिलेखों से उजागर हुआ है। उदाहरण के लिए विष्णुकुण्डिन राजवंश के लिए त्रिकुल्लन दानपत्र, रामतीर्थम् दानापत्र तथा पोलमुरु दानपत्र तथा वृहत्फलायन राजवंशीय इतिहास के लिए कोण्डपुण्डी दानपत्र विशेष उल्लेखनीय अभिलेखिक साक्ष्य है। सुप्रसिद्ध कदम्ब राजवंश के इतिहास पर मयूरशर्मन् का चन्द्रवल्ली अभिलेख तथा शान्तिवर्मन का तालगुण्ड अभिलेख विशेष उपयोगी साक्ष्य सिद्ध हुए हैं। पश्चिमी गंग राजवंश की अनेक ऐतिहासिक सूचना हमें माधव के पेनगोण्डा अभिलेख से ज्ञात होती है।

कर्नाटक के वातापि के चालुक्य राजवंशीय इतिवृत्त के लिए इस राजवंशों द्वारा लिखवाए गए कई अभिलेख बड़े प्रामाणिक तथा उपयोगी साक्ष्य सिद्ध हुए हैं। इनमें पुल केशिन द्वितीय के ऐहोल अभिलेख, ब्राह्मी अभिलेख, महाकूट स्तम्भलेख, हैदरावाद दानपत्र-लेख आदि अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। महाकवि रविकीर्ति द्वारा प्रणीत दक्षिणी भारतीय ब्राह्मी लिपि तथा श्रेष्ठ श्रेण्य संस्कृत भाषा में निवद्ध ऐहोले का प्रशासी अभिलेख 634 ई० (शक संवत् 556) में उत्कीर्ण कराया गया था। इसमें पुलकेशिन् द्वितीय के पूर्ण हुए वातापि नरेशों के राजनीतिक इतिवृत्त को समाहित करने के अतिरिक्त पुलकेशिन द्वितीय की राजनीतिक उपलब्धियों तथा समसामयिक राजवंशों के साथ उसमें संवन्धों को प्रकाशित किया गया है। इसी अभिलेख से यह महत्त्वपर्ण ऐतिहासिक सूचना मिलती है कि उत्तरापथेश्वर हर्षवर्द्धन एवं पुलकेशिन् द्वितीय के मध्य नर्मदा के आस-पास घोर संघर्ष हुआ था जिसमें हर्षवर्द्धन संभवतः पराजित हो गया था। (भयविगलित हर्षो येन चाकारि हर्षः)। बादामी अभिलेख उक्त दुर्ग के एक शिलाखण्ड पर अंकित है। इसकें चालुक्य शासक वल्लभेश्वर (संभवतः पुलकेशिन प्रथम) को उक्त दुर्ग का निर्माता कहा गया है। इस पर शक संवत 465 (543 ई०) तिथि भी अंकित है। महाकूट (वीजापुर जनपद में) स्थान से प्राप्त महाकूट-स्तम्भ अभिलेख (602 ई०) में चालूक्य नरेश कीतिवर्मा की राजनीतिक उपलब्धियों को आलोकित किया गया है। वातापि नरेश पुलकेशिन द्वितीय के तीसरे शासन वर्ष में (शक संवत 534 (612 ई०) उत्कीर्णित हैदरावाद दानपत्र लेख से पता चलता है कि उसने 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की थी। पुलकेशिन द्वितीय के अनुवर्ती शासकों ने भी समय-समय पर अनेक दानपत्र जारी किए थे। इनमें तलर्मच्चि, कर्नूल, रायगढ़ तथा नौसरी प्रभृति स्थानों से प्राप्त दान पत्रों से उक्त राजवंश की अनेक ऐतिहासिक सूचनाऐं ज्ञात होती हैं।

तमिलनाडु प्रदेश में अवस्थित कांची के पल्लव राजवंशीय ऐतिहासिक ज्ञान में इस राजवंश के नरेशों तथा मुद्रा-लेखों से वड़ी सहायता प्राप्त हुई है। इस कार्य की अभिलेखिक सामग्री न केवल प्रचुर है अपितु दक्षिण भारतीय अनेक ऐतिहासिक रुप सांस्कृतिक ज्ञान की कुंजी भी है। इनके प्रमुख अभिलेख हैं शिवस्कन्दवर्णन् का मैडवोलु दानपत्र, हिरहड गल्लि दानपत्र, चारुदेवी का वृटिश संग्रहालय दानपत्र, विजय स्कंद वर्मन् द्वितीय का ओमंगोडु दानपत्र, सिंहवर्मन का पीकर दानपत्र, मङ्गलूर दानपत्र, महाराज विष्णुशोणवर्मन् का उरुवपल्ली दानपत्र, नन्दिवर्मन् का उदयेन्दिरम दानपत्र, पेनगोण्डदानपत्र, महेन्दूवर्मन का शीचमंगलम् गुफालेरण, महेन्द्र पोतराज का वल्लभ्

गुफा लेरण, गुणभार का महेन्दरवाडि अभिलेख, विचित्रवित्त (महेन्द्रवर्णन प्रथम) का मंडगपट्ट अभिलेख, नरेन्द्र का दलवानूर गुफा-लेख, महेन्द्रविक्रम का पल्लवरम्-लेख, नरसिंहवर्मन् कालीन धर्मराजराथ के अभिलेख, गणेशमन्दिर पर परमेश्वरवर्मन प्रथम का अभिलेख, अतिरणचण्ड (नन्दिवर्मन्) का शिलुवङ्कुप्पम लेख, परेमश्वरवर्मन, प्रथम का कूरम दानपत्र, राजसिंह का पन्नमलै अभिलेख, राजसिंहश्वर मंदिर-अभिलेख, रङ्गपटाक परमेश्वर वर्मन् द्वितीय का वीरट्टानेश्वर मंदिर अभिलेख, वैकुण्ठ पेरुमल अभिलेख, नन्दिविक्रमवर्मन का वीरनट्टानेशार मन्दिर अभिलेख, स्तम्वेश्वर मन्दिर-लेख, नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल का उदयेन्दिरम् दानपत्र, नन्दिवर्मन्, मल्लवकेलण का कशाकुशि दानपत्र, नन्दिवर्मन् का पट्टटयमङ्गलम् दानपत्र, अदिवराह मन्दिर का अभिलेख, राजसिंह का वहुत शिन्नमनूर दानपत्र, जटिलवर्मन का मद्रास संग्राहलय दानपत्र, दन्तिवर्मन का तिरुपलनरै अभिलेख, विजयनन्दिवर्णन् तृतीय का वेलूरपाल्यम् दानपत्र, तथा नृपतुङ्गवर्मन के समय का बाहूर दानपत्र आदि। अधिकांश पल्लव अभिलेखों में संस्कृत तथा तमिल भाषाओं का प्रयोग किया गया है। इनकी पर दक्षिणी द्रविड अथवा ग्रन्थ लिपि का प्रयोग भी उल्लेखनीय है जिनका बहुशः प्रयोग दक्षिण भारत में छठी शताब्दी ई० से देखा जा सकता है पल्लव युगीन इतिहास के परिज्ञान में कतिपय पड़ोसी राजवंशों के अभिलेख भी बड़े उपयोगी हैं। इनमें विक्रमादित्य कागदपत्र दानपत्र, गोविन्द तृतीय का तुंगभद्रा-दानपत्र, राजेन्द्र चौल का तिरुपालंगाड दानपत्र, वाणवंशीय पृथ्वीपति द्वितीय का उद्यीन्दिरम् दानपत्र तथा कौर्तिवर्मन, द्वितीय का कैन्दूर दानपत्र आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

दक्कन के महान् राष्ट्रकूट राजवंशीय इतिहास के अंक में इस वंश के नृपतियों द्वारा समय-समय पर लिखवाए गए बहुसंख्यक अभिलेख बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्रमुख राष्ट्रकूट अभिलेखों में, गोविन्द तृतीय का पैठण ताम्रपत्र-लेख (शक संवत् 716 (794 ई०) , रद्याणपुर ताम्रपत्र लेख तथा पटिण (नेसरिका) ताम्रपत्र-लेख (शक संवत् 727 (805 ई०), अमोघ वर्ण प्रथम का संजान ताम्रपत्र-लेख (शक संवत् 793 (871 ई०) गोविन्द चतुर्थ सुवर्ण वर्ष का सांगली ताम्रपत्र-लेख (शक संवत् 855 (933 ई०), कृष्ण तृतीय के समय का चिचनी ताम्रपत्र-लेख (939/67 ई०) तथा कृष्ण तृतीय का कन्धार प्रस्तर-स्तंभ अभिलेख तथा ध्रुववर्ण ध्रुवराज का मोर राज संग्रहालय दानपत्र आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

आन्ध्र प्रदेश के वेंगी के चालुक्यों की ऐतिहासिक सूचना प्रदान करने में विष्णुवर्द्धन के समय का सतारा अभिलेख (617/18 ई०), तिम्मरपुरम् तथा चिपुरल्मि से प्राप्त दानपत्र-लेख, अय्यण महादेवी का वेजवाड़ा दानपत्र (762 ई०) अम्म द्वितीय विजयादित्य (945/70 ई०) का येलिवररु ताम्रपत्र-अभिलेख आदि बड़े उपयोगी साक्ष्य प्रदान करते हैं।

कल्याणी के चालूक्य अथवा पश्चिमी चालुक्यों के इतिहास-अंकन में इस काल में लिखे गए अभिलेखों का महत्त्व अन्यतम् है। इनमें तैलण द्वितीय का सोगाल-लेख, नीलगुण्ड तथा सोनदत्ती से प्राप्त अभिलेख, सत्याश्रय के समय का होत्तूर, खोरपाटन अभिलेख, विक्रमादित्य के काल का कौथेम दानपत्र, जयसिंह द्वितीय का मिरज दानपत्र-लेख, सोमेश्वर प्रथम के समय का मुदी अभिलेख, सोमेश्वर द्वितीय का गयाखाड

अभिलेख विक्रमादित्य षष्ठ के समय का गदग, नीलगुण्ड, सोरब, सुदी, शिकारपुर तथा अर्सिकरी से प्राप्त विविध लेख, सोमेश्वर तृतीय का शिकारपुर अभिलेख एवं सोमेश्वर चतुर्थ के समय का भिज्जुगी तथा कुरगोद अभिलेख से इस राजवंश के ऐतिहासिक अनुशीलन में बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

सुदुर दक्षिण भारत में उपस्थित चोल राजवंश की कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाएं इस काल मेंजारी किए गए दानपत्रों, मुद्राभिलेखों तथा मंदिर सांम-लेखों से मिलती हैं। चोलकालीन अनेक दानपत्र प्रकाश में आ चुके हैं। विजयालय कुल के आमिरस्य प्रथम के विषय में हमें तत्कालीन तक्कोलम तिरुअल्लकुरम तथा तिलोत्तम अभिलेखों से सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार चोलशासक परान्तक प्रथम के समय के भिलयुत्तरगरु, तोण्डैमान, तिरुवोरैयूर तथा उत्तरमल्लूर आदि लेख अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि संगम काल के अंत और विजयालय राजवंश के अभ्युदय के मध्यवर्ती काल की ऐतिहासिक सूचनाएँ हमें किसी भी साक्ष्य से उपलब्ध नही हो सकी है। इस अन्तराल पर चोल-अभिलेखों से भी कोई विशेष सूचना नही मिल सकी है। किन्तु विजयालय के उपरान्त चोल राजसिंहासन पर आसीन होने वाले नरेशों ने अपने-अपने शासन काल में अनेक ताम्रशासन तथा शिला-अभिलेख उत्कीर्ण करवाकर तत्युगीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं को ऐतिहासिक अभरण प्रदान किया है। उक्त राजवंश के एक प्रतापी शासक राजराज प्रथम ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना के साथ-साथ अपने युग को नवीन निर्माणात्मक मोड़ प्रदान किया था। उसके शासन में आने के पूर्व के वर्षों में 'स्मृतियों' और 'धर्मशास्त्रों' द्वारा 'शासनम्'और 'दान' से संवन्धित अभिलेखों के लिए मान्य उन मानदण्डों के अनुपालन का आग्रह चला आ रहा था, जिसमें राजा की उपाधियों, विविध नामों तथा संगानुकूल उसके तथा उसके पूर्ववर्ती नृपतियों के विषय में ज्ञातव्य विशिष्ट वातों का ही उल्लेख किए जाने की परंपरा थी। प्रायः इस प्रकार के उल्लेख ताम्रपत्रों पर ही उत्कीर्ण कराये जाते थे तथा इसकी रचना में लेख की वैयक्तिक कल्पनाशीलता तथा ऐतिहासिक घटनाओं के अनुलेखन में उसकी सूझवूझ ही प्रधानता रखती थी। चोलनरेश राजराज प्रथम ने प्रस्तर पर ऐतिहासिक सूचनाओं को जनता की भाषा यथातथ्य खुदवाने और उन्हें लम्वी उपाधि तक सुरक्षित रखने की नए सिरे से विधान प्रदान किया। इसी परम्परा को राजराज प्रथम के अनुवर्ती चोल नरेशों ने भी संचालित किया। यही कारण है कि विजयालाभ राजवंश विशेषकर राजराज प्रथम तथा उसके वाद के चोल नरेशों के शासनकाल की ऐतिहासिक सूचनाएँ हमें सर्वाधिक ज्ञात हो सकी हैं। इसी प्रकार राजराज प्रथम ने संपूर्ण चोलसाम्राज्य की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाओं को अभिलेखों के माध्यम से सुरक्षित करने का विधान दिया था। इन अभिलेखों में मुख्य रुप से तमिल, संस्कृत, तमिल, और कन्नड तथा वट्टे-लट्टु तथा ग्रन्थ आदि लिपियों का प्रयोग हुआ है।

चोलयुगीन लेख न केवल संशयी में अधिक हैं अपितु उनमें तत्युगीन दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की अनेक महत्वपर्ण सूचनाएँ भी निवद्ध है। छोटे-छोटे लेख अथवा दानपत्र भूमिदानों भू-राजस्वप्रशासन अथवा मन्दिरों की व्यवस्था आदि को उजागर करते हैं। मन्दिर की भितियों अथवा स्तंभों पर उत्कीर्ण लेखों से चोलराजवंशावली पर प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार उत्तर मल्लूर आदि दानपत्रों से

तत्कालीन ग्राम-शासन का परिज्ञान होता है। यूँ तो चोल अभिलेखों की संख्या बहुत अधिक है तथापि इनमें कुछ विशेष उल्लेखनीय है। आदित्य प्रथम के काल पर तक्कोलम, तिरुकल्लकुरम और तिलोत्तम अभिलेख परान्तक प्रथम के विषय में किलयुक्तगुध, तिरुवरैंचूर, तोण्डैमान एवं उत्तरमल्लूर तथा राजराज प्रथम के कालपरे तंजोर लेख, बृहद, लीडेन दानपत्र, भेलपाडि लेख तथा तिरुवालंगाशु दानपत्र, वीरराजेन्द्र के कन्याकुमारी लेख एवं राजेन्द्र तृतीय के तिरुवेन्दिपुरम् लेख बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। तिरुवेन्दिपुरम् अभिलेख अपने कथ्य में विशेष ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक माना जाता है क्योंकि इसमें चोल वंश के उत्कर्ष एवं पराभव दोनों का यथातथ्य उल्लेख मिलता है। चोलों के समकालीन छोटे-छोटे राजवंशों अथवा सामन्तों यथा वैडुम्ब कदम्ब वाण, नोलेम्ब आदि के अभिलेखों से भी तत्कालीन ऐतिहासिक की जानकारी प्राप्त होर्त है।

मुद्रा अभिलेखों की ही तरह दक्षिण भारतीय राजाओं द्वारा प्रचलित सिक्कों की धातुओं, उन पर अंकित तिथियों, डिजाइनों तथा विविधताओं से अनेक महत्पूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। यद्यपि उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण भारत में सिक्कों के ढेर बहुत कम मिले हैं, तथापि वे इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि उत्तर एवं दक्षिण भारत में व्यापारिक सम्पर्क दृढ़ थे तथा दक्षिण भारत में भी सर्वाधिक प्राचीन आहत-सिक्के (Punchmarked coins) ही प्रचलित थे। इस कोटि के सिक्कों का विशाल भण्डार आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जनपद स्थित अमरावती से प्राप्त हुआ है। उत्तर भारतीय आहतसिक्कों की ही तरह ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में दक्कन एवं रोम के बीच विकसित व्यापार के फलस्वरुप रोमन सोने तथा चाँदी के सिक्के प्रचुर मात्रा में दक्षिण भारत आने लगे थे। यद्यपि रैप्सन प्रभृति विद्वानों की धारणा है कि दक्षिण भारत में रोमन सोने एवं चाँदी के सिक्कों के बहुश: प्रचलन के फलस्वरुप यहाँ सिक्के कम ढाले गए, परन्तु उनका यह मत विशेष समीचीन नहीं प्रतीय होता है, क्योंकि रोमन सिक्कों के प्रभाव अथवा अनुकरण पर दक्षिण भारत में सिक्कों को ढाला ही नहीं गया था।

आन्ध्र-सातवाहन, वंशीय नृपतिगणों में गौतमीपुत्र शातकर्णि, वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि, वाशिष्ठीपुत्र शातकर्णि आदि ने पोटीन, सीसे, चांदी एवं ताँबे के सिक्कों का प्रचलन किया था। नासिक के निकट स्थित जोगलथम्बी नामक स्थल से मिले शक-सातवाहन सिक्कों के ढेर से ज्ञात होता है कि अधिकांश सिक्कों का निर्माण एवं प्रचलन प्रतापी शासक गौतमीपुत्र शातकर्णि तथा वशिष्ठीपुत्र पुलमावि के शासनकाल में हुआ। यज्ञश्री शातकर्णि द्वारा चलाये गये सिक्कों पर मस्तूल-युक्त जहाज तथा उज्जयिनी-चिन्ह अंकित हैं, जिससे तत्कालीन भारतीय सामुद्रिक-व्यापार का पता चलता है।

आन्ध्र-सातवाहन राजवंश के अनन्तर दक्कन की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने वाले शक्तिशाली राजवंश वाकाटक एवं राष्ट्रकूट राजाओं के सिक्के अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सके हैं। आन्ध्र प्रदेश के इक्ष्वाकु नरेशों द्वारा हस्तिचिन्हांकित सीसे के सिक्के अवश्य मिले हैं, परन्तु निर्माण-तकनीक में वे सातवाहन मुद्रा-प्रणाली की ही अनुकृति लगते हैं। लगभग तीन सौ वर्षों तक वाकाटकों एवं शक्तिशाली राष्ट्रकूटों द्वारा दक्कन प्रदेश शासित रहा, परन्तु इस अवधि में शासकों ने

सिक्कों का प्रचलन क्यों नहीं किया ? यह विचारणीय विषय है। राष्ट्रकूट-लेखों में सुवर्ण, द्रम्म, कलंजु, गद्याणक, कासु आदि शब्द सिक्कों की अवस्थिति के वोधक अवश्य हैं, परन्तु अभी तक इनकी प्राप्ति नहीं की जा सकी है। कुछ दशक पूर्व एम० एल० कृष्ण ने कतिपय (कुल चार) लेख-रहित 2 ग्राम-वजन के सोने के सिक्कों को, जो दक्कन से प्राप्त हुए हैं, किसी राष्ट्रकूट शासक द्वारा प्रचलित स्वीकार किया था। परन्तु राष्ट्रकूटों के सिक्कों की प्राप्ति के अभाव में उपर्युक्त मत को स्वीकार करने में वड़ी कठिनाई प्रतीत होती है।

वातापि के चालुक्यों की तुलना में वेंगी एवं कल्याणी के चालुक्यों के सिक्के अधिक मिले हैं। इनके सिक्कों के मुख-भाग पर वाराह-लांछन अंकित किया गया है। कल्याणी के चालुक्यों-नृपति जयसिंह, जगदैकमल्ल, सोमेश्वर प्रथम और तैलप तृतीय के द्वारा प्रचलित सोने के सिक्कों की प्राप्ति से दक्कन की तत्कालीन आर्थिक प्रगति का पता चलता है। ई० जै० रैप्पसन ने ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी में प्रचलित पल्लवों के ताँवे के सिक्कों की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। इनके पृष्ठ-भाग पर सामुद्रिक-जहाज का लांछन अंकित है, जिसे सातवाहन नरेश यज्ञश्री शातकर्णि के सिक्कों की अनुकृति माना जाता है। छठीं-सातवीं एवं आठवीं शतियों में प्रचलित सिंह राजकीय लांछन से युक्त सोने एवं चाँदी के अनेक सिक्के उनके साम्राज्यीय गौरव के प्रतीक हैं।

दक्षिण भारतीय राजवंशों में विविध लांछनों एवं डिजाइनों से मण्डित बहुशः चोल-शासकों के सिक्के उपलब्ध हुए हैं। ये सोने, चाँदी, ताँवे तथा पीतल आदि धातुओं से वनाए गए हैं। इनमें अधिकांश सिक्कों के मुख-भाग पर सिंह तथा उसके दोनों ओर क्रमशः पाण्ड्यों एवं चेरों के राजकीय चिन्ह 'मत्स्य' एवं 'धनुष' अंकित हैं। इसके अतिरिक्त चोलों की समुन्नत साम्राज्य-शक्ति के प्रतीक दूसरी कोटि के सिक्कों के मुख-भाग पर पुरुषाकृति अंकित है तथा उसके अलग-वगल हस्ति एवं मछली के अंकनों का अभाव है। सोने के सिक्कों का सर्वप्रथम प्रचलन उत्तम चोल ने किया था, जिसे अधिक समुन्नत डिजाइन प्रदान करते हुए कालान्तर में राजराज चोल, राजेन्द्र चोल तथा कुलोतुंग आदि ने उन पर अपनी वीरोचित उपाधियों को अंकित कराया था। पाण्ड्य शासकों ने सोने एवं चाँदी के सिक्कों का प्रचलन सम्भवतः अत्यल्प ही किया था, परन्तु उनके लोकप्रिय ताँवे के सिक्कों के ढेर वहुतायत में प्राप्त हुए हैं। उनके सिक्कों पर अधिकांशतया राजकीय लांछन 'मत्स्य' है, परन्तु कहीं-कहीं हाथी तथा वैल भी अंकित मिलते हैं।

अभिलेखों एवं सिक्कों की ही भाँति दक्षिण भारतीय प्राचीन धातु तथा प्रस्तरमूर्तियों, स्मारकों तथा दुर्गादि अवशेषों से भी तत्कालीन इतिहास कर परिज्ञान होता है। सातवाहन युग से लेकर पन्द्रहवीं शती तक प्रादुर्भूत अधिकांश दक्षिणभारतीय राजवंशों एवं शासकों द्वारा निर्मित दुर्गों, नगरों,भवनों, मन्दिरों, मूर्तियों, उपकरणों आदि से तत्युगीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं आर्थिक जीवन की कहानी प्रस्तुत होती है। बौद्ध, जैन तथा हिन्दु शैलकृत-विहार, चैत्यगृह तथा गुहा-मन्दिर एवं उनकी भित्तियों पर चित्रांकित तत्कालीन जनजीवन-वृत इतिहास के अलिखित पृष्ठ प्रतीत होते हैं। ऐलोरा, अजन्ता, एलीफेण्टा, कोण्डाना, पीतलखोरा,

वातापि, भाजा, कार्ली आदि शैलकृत-कृतियाँ इसके प्रतिपादक साक्ष्य हैं । इसी प्रकार कोणार्क, पुरी, भुवनेश्वर, ऐहोल, काँची, थंजाउर, उरैयूर, हलेविड तथा गंगैकोंडचोलपुरम् के भव्य एवं विशाल मन्दिर अपने युग के ऐतिहासिक अंकन एवं सांस्कृतिक समाहार का जीवन साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं ।

विदेशी विवरण

दक्षिण भारतीय इतिहास के अंकन में साहित्यिक ग्रंथों तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों से कथमपि कम महत्व विदेशी विवरणों का नहीं तीसरी शताब्दी ई० पू० के महान शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल के सीरिया यूनानी-लेखक मेगस्थनीज ने 'इण्डिका' में सुदूर दक्षिण भारत में स्थित पाण्ड्य-राज्य का उल्लेख किया है । उसके अनुसार वहाँ उस समय हेराक्लीज की पुत्री 'पाण्ड्या' एक सक्षम के रुप में लोकविश्रुत थी । इसी प्रकार स्ट्रैवो, प्लिनी तथा टालमी प्रभृति विदेशी लेखकों के विवरणों से दक्षिण भारत एवं भूमध्यसागर के तटीय प्रदेशों तथा रोम के वीच विकसित व्यापारिक एवं वाणिज्यिक सम्बन्धों का पता चलता है ।

यूनानी लेखकों के अतिरिक्त चीनी लेखकों ने भी तत्कालीन दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर प्रचुर प्रकाश डाला है । चौथी शताब्दी ई० में भारतवर्ष की यात्रा पर आए चीनी पर्यटक फाह्यान ने तुश्सिन अर्थात् दक्षिणापथ का उल्लेख किया है । सातवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में भारत की लम्बी अवधि तक यात्रा करने वाले चीनी विद्वान् ह्वेनसाँग ने वातापि, कांची तथा महावलिपुरम् में न केवल कई महीने तक निवास किया था, अपितु तत्कालीन दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत किया है । उक्त चीनी पर्यटक द्वारा प्रदत्त विवरण से उत्तरापथेश्वर हर्ष, दक्षिणापथेश्वर पुलकेशिन द्वितीय तथा कांची-नरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम आदि कई महान् नृपतियों के शासन-काल की अनेक अलिखित एवं अज्ञात महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं । सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चीनी यात्री ईत्सिग ने भारत की यात्रा की थी । यद्यपि उसने दक्षिण भारत की यात्रा तो नहीं की थी तथापि 'साठ वौद्ध-भिक्षुओं के जीवन-चरित' लिखते समय उसने प्रसंगानुकूल तत्कालीन दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की भी कतिपय सूचनाएँ अवपश्य प्रदान की है । पूर्व-मध्यकाल में कई दक्षिण भारतीय राजवंशों का तत्कालीन चीन तथा अरव देशों के साथ व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क सुदृढ़ था । प्रायः इनके मध्य दौत्य-मण्डलों का भी आवागमन होता रहता था । चीनी लेखक मत्वालिन ने चालुक्य नरेश विनयादित्य तथा विजयादित्य एवं चीन देश के शासक के साथ स्थापित वाणिज्य एवं सांस्कृतिक सम्पर्क का विवरण प्रस्तुत किया है । 8 वीं शताब्दी प्रारम्भिक वर्षों में पल्लव शासक नरसिंहवर्मन् द्वितीय के शासन-काल में तत्कालीन चीनी नरेश ने एक दूत-मंडल पल्लव राजधानी काँची में भेजा था । इसके प्रत्युत्तर में अल पल्लव नरेश ने भी भारतीय दौत्य-मण्डल को चीन भेजा था । चीनी-लेखकों ने इस प्रकार के अनेक दौत्यमण्डलों के पारस्परिक आवागमन का उल्लेख किया है । 13 वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में चीनी-लेखक चाऊ-जू-कुआ ने सुप्रसिद्ध चू-फान-चीन नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें दक्षिण भारत एवं चीन के वीच स्थापित पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है ।

मध्यकालीन दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अनेक अकथ वृत्तान्त मुस्लिम-इतिहासकारों की लेखनी से ही परिज्ञात हो सके हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय लेखक इब्नरवुर्ददवा, तबरी, इब्न अलफकी, अबूजैद, इब्नबतूता, अबुलफेदा, जियाउद्दीन बरनी, इसामी, अमीर खुसरो, फरिस्ता एवं वस्साफ आदि हैं। इन लेखकों ने भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना तथा प्रमुख हिन्दु राज्यों की पतनोन्मुख दशा पर प्रकाश डाला है। उपर्युक्त लेखकों द्वारा प्रदत्त दक्षिण भारतीय आर्थिक एवं सामाजिक दशा-सम्बन्धी विवरण तो विशेष उपयोगी हैं, परन्तु तत्युगीन राजनीतिक सूचनाओं को देने में वे प्रायः एकांगी तथा अतिरंजित हो गए हैं। अपने आश्रयदाता की सफलताओं को बढ़ा-चढ़ाकर लिखने के अतिरिक्त उनकी दृष्टि ऐतिहासिक वस्तुस्थिति से बहुत कुछ परे मानी जा सकती है। विदेशी लेखकों के अनुक्रम में यूरोपवासी मार्कोपोलो की सुदूर दक्षिण भारतीय पाण्ड्य-राज्य के विषय में प्रदत्त सूचना भी बहुत कुछ ऐतिहासिक यथार्थों से सम्पृक्त मानी जा सकती है।

---

3 दक्षिण भारत : आरम्भिक इतिहास

प्रस्तर युग (Stone Age)

निम्नपुरापाषाण काल (Lower Palaeolithic) —पुरातात्विक सर्वेक्षण एवं उल्लेखननों के फलस्वरुप भारत के दक्षिणी प्रायद्वीपीय भाग में अनेक स्थलों से प्रस्तरयुगीन उपकरण प्राप्त हुए हैं। मानव-संस्कृति के प्रथम सोपाननिम्नपुरापाषाण-काल (Lower Palaeolithic) से संबंधित कतिपय उपकरण आन्ध्र, कर्नाटक तथा तमिलनाडु प्रदेशों के विभिन्न क्षेत्रों से उपलब्ध हुए हैं। उत्तरी भारत में विकसित 'सोहन-संस्कृति' से किञ्चित् भिन्न यहाँ 'हस्त-परशु' (Hand Axe) प्रस्तर-संस्कृति का विकास हुआ था। उपर्युक्त दोनों प्रस्तर-युगीन संस्कृतियों में कालानुक्रम की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं किया जा सकता है, परन्तु उनके उपकरण प्रकारों तथा निर्माण शैलियों में अन्तर अवश्य मिलता है। 'सोहन-संस्कृति' के उपकरणों में 'वटिकाश्म -प्रस्तर-उपकरण' (Pebble tools) की प्रधानता मिलती है। परन्तु 'हस्त-परशु-संस्कृति' में 'हस्त-कुठारों (Hand Axes) एवं विदारकों (Cleavers) के निर्माण पर अधिक आग्रह था। इन उपकरणों की आकृति बेडौल, भद्दी, भारी तथा अतीलियन-अश्यूलियन प्रकार की है। हस्त-परशु-संस्कृति के उपकरण दक्षिण भारत में करीपुड़ी, गिद्दलूर (आन्ध्र प्रदेश), मालप्रभा एवं चन्द्रप्रभा-घाटी (कर्नाटक प्रदेश, कृष्णा नदी की दोनों सहायक नदियाँ), अत्तिरंपक्कम्, वादमदुराई तथा मानाजनकारन (तमिलनाडु प्रदेश) आदि क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं।

मध्य-पुरापाषाण-काल (Middle Palaeolithic) —दक्षिण भारत में निम्न-पुरापाषाण काल के अनुक्रम में ही मध्य-पुरापाषाण काल का विकास हुआ। इस काल के मानव ने उपकरण-निर्माण की सामग्री के चुनाव में परिवर्तन कर लिया। अव वे उत्तम कोटि के क्वार्टजाइट के साथ-साथ जैस्पर, चर्ट आदि पत्थरों को चुनने लगे। इस काल के प्रमुख उपकरण थे—खुरचनी (Scrapper), वेधक (Bores) तथा फलक सदृश शल्क (Blade Like Thick Flakers) आदि। कतिपय स्थलों से एकाध लघु आकार के अश्यूलियन 'हस्त-हरशु' उपकरण भी मिले हैं। जहाँ तक उपकरणों के निर्माण-तकनीक का सम्वन्ध है, उन पर लवाल्वाई-तकनीक का अधिक उपयोग तथा क्रोड़-उपकरणों के स्थान पर अधिकतर शल्क-निर्माण की प्रधानता देखने को मिलती

है । प्रायद्वीपीय भारत में मध्य-पुरापाषाण संस्कृति उत्तर भारत की अपेक्षा संभवतः अधिक विस्तृत थी । इसके अनेक कारण थे । इस क्षेत्र में उपकरण निर्माण के लिए उपयुक्त पत्थरों की प्रचुरता तथा जीविकोपार्जन-हेतु प्राकृतिक संसाधनों की सहज उपलब्धता एतदर्थ सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण प्रतीत होते हैं ।

उच्चपुरापाषाण-काल (Upper Plaeolithic) —उच्चपुरापाषाण काल उपकरण-निर्माण के क्षेत्र में तकनीकी विकास की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है । इस काल में विधिवत् तैयार किए गए कोरों (Cores) से समन्त-अन्त वाले फलकों का निर्माण किया जाने लगा। युगानुरुप परिस्थितियों के अनुकूल सुडौल ब्लेड प्रस्तर-उपकरणों का निर्माण एवं उनका उपयोग होने लगा । इस काल के उपकरण पैठण, कांडली, मार्वे (महाराष्ट्र), गिद्दूले, रेनीगुंटा, कडप्पा, प्रकाशम् (आन्ध्र प्रदेश), अत्तिरम्पक्कम् एवं गुडियम् (तमिलनाडु प्रदेश) तथा शोरापुर-दोआब (कर्नाटक प्रदेश) आदि से प्राप्त हुए हैं । उच्चपुरापाषाण-काल की तिथि सामान्यतः 17,000 ई० पू० से 8,000 ई० पू० के मध्य मानी जाती है ।

मध्यपाषाण-काल (Mesolithic) —मध्यपाषाण-काल, उच्चपुरापाषाणकाल तथा नवपाषाण-काल के मध्य माना जाता है । इस काल-खण्ड को लघुपाषाण काल (Microlithic) तथा उत्तरपाषाण-काल (Late Stone Age) भी कहा जाता है । प्रो० **राधाकान्त वर्मा** ने इस काल में भारतीय जलवायु में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है, जिसका तत्कालीन मानव-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा था । आपके अनुसार इस काल में अत्यधिक वर्षा के कारण पहाड़ी एवं पठारी क्षेत्रों में घने जंगलों का उदय हुआ तथा मैदानी-भाग हरे-भरे हो गए । फलतः इस युग के मानव अपेक्षाकृत लघु आकार के प्रस्तर-उपकरणों का प्रयोग करने लगे । उपकरणों के निर्माण-हेतु सिक्थ-स्फटिक, चर्ट, चकमक, सुलेमानी आदि आदि उत्तम कोटि के पत्थरों का उपयोग होने लगा । ये उपकरण निपीडप्रविधि (Pressure Techique) द्वारा निर्मित किए गये । उपकरणों में दन्तुरित-फलक (Backed and serrated), उत्कीर्णक, छिद्रक तथा कई प्रकार के स्क्रेपर आदि उल्लेखनीय हैं । दक्षिण भारत में इस कोटि के उपकरण मार्वे, कांड्री, पटणे (महाराष्ट्र), नागार्जुनकोंड (आन्ध्र प्रदेश), संगनकल्लू, जलहल्लि (कर्नाटक), पटणे (महाराष्ट्र), नागार्जुनकोंड (आन्ध्र प्रदेश), संगनकल्लू, जलहल्लि (कर्नाटक), टेरी-टीला तथा अत्तिरम्पक्कम् आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं । सामान्यतः मध्यपाषाण-काल की तिथि 8;000 ई० पू० से 2;000 ई० पू० के मध्य मानी गई है ।

नव (उत्तर) पाषाण-काल (Neolithic) —नवपाषाण-काल प्रस्तरयुगीन सस्कृतियों का सर्वोच्च विकसित काल है । इस काल में मनुष्य खाद्य-पदार्थों के संचय से ऊपर उठकर स्वयं उनका उत्पादन करने लगा । इसी काल में उसने 'श्रम' के वास्तविक महत्व को जाना, जिसके फलस्वरुप तकनीकी एवं आर्थिक विकास की नींव पड़ी । श्रम को अधिक उपयोगी बनाने के लिए अनेक धृष्ट तथा ओपयुक्त प्रस्तर-उपकरणों का निर्माण किया जाने लगा । कर्नाटक प्रदेश के रायचुर जनपद में स्थित लिगसुर पुरास्थल से इस कोटि के उपकरण प्राप्त हुए हैं ।

नवपाषाण काल में श्रम के विकास के फलस्वरूप कृषि-कर्म तथा पशु-पालन आदि क्रान्तिकारी कार्य शुरु हुए। इस युग में मानव अव झोपड़ियों का निर्माण कर स्थायी निवास वनाने लगा तथा घर-गृहस्थी के उपयोग के लिए मृद्भाण्डों का निर्माण करने लगा। इसकाल के लोग पुरुषों के शवाधान गड्ढ़ों में तथा वच्चों के मिट्टी के विशालकाय कलशों में करते थे इतना ही नहीं दैनिक जीवन में लघु-प्रस्तर-उपकरणों के साथ-साथ हड्डी के वने उपकरणों का भी प्रयोग प्रारम्भ हो गया।

दक्षिण भारत में नवपाषाणकालीन उपकरण नागार्जुनकोंड, उतनूर, (आन्ध्रप्रदेश), व्रह्मगिरी, पिकलीहाल, मास्की, संगनकल्लू, टी-नरसीपुर, हल्लूर, हेम्मिगे, टेक्कलकोटा (कर्नाटक प्रदेश) तथा पैय्यप्पल्ली (तमिलनाडु) आदि पुरास्थलों से उपलब्ध हुए हैं। प्रायद्वीपीय भारत में नवपाषाणकालीन मानव प्रायः घाटियों के भीतर, पहाड़ी झरनों के निकट, पहाड़ी-ढलानों पर अथवा नदियों के तट पर वसने लगा था।

ताम्रप्रस्तर-संस्कृतियाँ (Chalcolithic Cultures) —नवपाषाण-काल के उपरान्त मानव प्रस्तर-उपकरणों के साथ-साथ ताँवे और काँसे के उपकरणों का भी प्रयोग करने लगा। प्रायद्वीपीय भाग में कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के मध्यवर्ती रायचूर-दोआव में ताम्रप्रस्तर-संस्कृति का विशेष समुन्नयन हुआ। इस काल के उपकरण मास्की, व्रह्मगिरी, उतनूर, पिकलीहाल, संगनकल्लू, पैय्यमपल्ली, हेम्मिगे, कोडेकल, नागार्जुनकोंड आदि स्थलों से प्राप्त हुए हैं। इन स्थानों से उपर्युक्त उपकरणों के साथ-साथ चाकनिर्मित-मृदभाण्ड भी मिले हैं। उपर्युक्त ताम्रप्रस्तर-संस्कृतियों की तिथियाँ सामान्यतः 2;300 ई० पू० से 900 ई० पू० तक प्राप्त हुई हैं। इस काल में पशु पालन की वृद्धि हुई, जिनमें लम्वे एवं सींगदार पशु प्रमुख थे। दक्षिण भारत में उत्तर भारत की अपेक्षा ताँवा कम उपलब्ध था, अतः वहाँ उपर्युक्त उपकरण कम संख्या में मिले हैं।

महापाषाणिक संस्कृति (Megalithic Culture) —दक्षिण भारतीय प्रायद्वीपीय भूभाग के आन्ध्र, कर्नाटक, केरल तथा तामिलनाडु प्रान्तों के अनेक स्थानों से महापाषाणिक-संस्कृति के अवशेष मिले हैं। अनगढ़ अथवा तराशे गए विशाल शैल-खंडों द्वारा निर्मित ये अवशेष सम्भवतः मृत-व्यक्ति के स्मारक थे। दक्षिण भारत की महापाषाणिक समाधियों में लोहे के वने हुए उपकरण भी प्राप्त हुए हैं। कुछ वर्ष पूर्व हल्लूर नामक स्थल से महापाषाणिक समाधियों से लोहे तीर एवं भाले मिले हैं। हल्लूर से दो रेडियो कार्वन-तिथियाँ प्राप्त हो चुकी हैं, जिनके आधार पर इस क्षेत्र में लौहउपकरणों के प्रयोग की आरम्भिक तिथि लगभग 1000 ई० पू० प्रतिपादित की गई है।

दक्षिण भारत : ऐतिहासिक युग

प्राक् नन्द-मौर्य काल —प्राचीन भारतीय वाङ्मय एवं अभिलेखों में वहुशः प्रयुक्त 'दक्षिणापथ' (दक्कन) तथा धुर दक्षिण भारत के प्रारम्भिक इतिहास की कोई स्पष्ट सूचना आद्य-वैदिक साहित्य में नहीं मिलती है। ऐतरेय व्राह्मण' में एक स्थल पर 'दक्षिणदिश्' का उल्लेख आया है, जिसे 'कुरुपांचाल' जनपद से दक्षिण का प्रदेश

(भू-भाग) माना गया है। महाभारत में पांचाल राज्य के दक्षिण में चम्बल नदी के प्रवाह का वर्णन मिलता है। अत: चम्बल नदी के दक्षिण पड़ने वाले प्रदेश को ऐतरेय ब्राह्मण' द्वारा कथित 'दक्षिणदिश्' माना जा सकता है। महाभारत एवं पौराणिक परम्पराओं के अनुसार 'दक्षिणदिश्' क्षेत्र पर पहले सात्वतवंशी भोज नरेशों का राज्य था। ऋग्वेद [1] में सात्वतवंश को 'दास' तथा यादवों की शाखा कहा गया है। वैदिक साहित्य में यदुवों (यादवों) एवं तुर्वसों को विदेशी जाति बताते हुए उन्हें इन्द्र द्वारा समुद्र-मार्ग से भारत में ले आने एवं बसाने का उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख के आधार पर आर० पी० चन्द[1] की धारणा है कि 'यदु' जाति के लोग संभवत: पश्चिम एशिया की अल्पाइन जाति के थे तथा वे नार्डिग आर्यों (Nordic Aryans) से सर्वथा पृथक् संस्कृति के पोषक थे। सुधाकर चट्टोपाध्याय[3] का अनुमान है कि यदि सात्ववंशज के लोग 'यदु वंश' की शाखा से सम्बद्ध थे, तो उन्हें भी विदेशी माना जा सकता है।

महाभारत एवं कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में सात्वत-वंशी भोज नरेशों को 'वर्धा तथा गोदावरी' की घाटी-क्षेत्रों से सम्बन्धित बताया गया है। ब्राह्मण साहित्य में भीम नामक एक पराक्रमी व्यक्ति का उल्लेख मिलता है, जो विदर्भ देश का राजा था। विदर्भ देश वर्धाघाटी में स्थित था। अत: ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित भोज को दक्कन-क्षेत्र के उपर्युक्त प्रदेश का राजा माना जा सकता है। हेमचन्द्र राय चौधरी ने इस प्रसंग में विदर्भ देश की राजधानी 'कुंडिनपुर' की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है, जहाँ के आचार्यों को बृहदारण्यक उपनिषद् में 'कौण्डिन्य' कहा गया है।

अशोक के शिलालेखों में केरलपुत्र के राजाओं को 'निच' कहा गया है। निच (नीच्यों) का उल्लेख 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी आया है। सम्भवत: उक्त ब्राह्मण के संकलनकाल तक आर्यों को केरल देश के 'निच' राजाओं के विषय में जानकारी हो चुकी थी। उपर्युक्त ब्राह्मण-ग्रन्थ में कतिपय 'दस्यु' जातियों का विवरण मिलता है, जो आर्य संस्कृति से पृथक थी। उनमें आंध्र, पुण्ड्रा, पुलिन्द, शबर तथा मूतिव जातियाँ प्रमुख थीं, जो नर्मदा, गोदावरी तथा कृष्णा नदियों की घाटियों में विद्यमान थीं। इनके अतिरिक्त धुर दक्षिणी प्रायद्वीपीय भाग में अनेक द्रविड़-भाषी जातियां भी थीं, जिनके संभाव्य मूलस्थान भूमध्यसागर के तटवर्ती देंश थे। इन जातियों पर आर्य-संस्कृति का प्रभाव बहुत बाद में पड़ा।

सूत्र-साहित्य (लगभग चौथी शती ई० पू०) में प्रायद्वीपीय भीतर के पर्वतों, नदियों, महत्त्वपूर्ण स्थलों तथा जातियों का विशद् उल्लेख मिलता है। बौधायन धर्म-सूत्र, सुत्तनिपात तथा विनय-पिटक आदिग्रन्थों में अनेकत्र 'दक्षिणापथ' का उल्लेख मिलता है। पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' में 'दक्षिणात्य' शब्द दक्कन का परिचायक है। बौद्धपयिक-ग्रन्थों में वहाँ की कई जातियों का नामोल्लेख है, यथाअस्सक (अश्मक), मूलक, अन्धक (आन्ध) आदि। जैन-ग्रंथ 'उत्तरायणसूत्र' पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' तथा 'महागोविंद सुत्तंत' में 'कलिङ्ग देश का वर्णन मिलता है। बौद्ध जातकों में कण्णपेणा

---

1. ऋग्वेद 10.62.10.
2. आर० पी० चन्द, इण्डोआर्यन रेसेज, पृ० 18-19.
3. सुधाकर चट्टोपाध्याय, सम अर्ली डायनेस्टीज ऑव साउथ इण्डिया, पृ०, 8.

(कृष्णा) नदी-घाटी में तमिलों (दमिलरट्ठ) का उल्लेख है। जैन-ग्रंथ 'भगवतीसूत्र' में अनेक दक्षिण भारतीय प्रदेशों (जनपदों) का नामोल्लेख किया गया है।

मेगस्थनीजकृत 'इण्डिका' में 'तगवेन' (तुंगभद्रा) नदी तथा 'पंडे' (पाण्ड्य) राज्य का विवरण दिया गया है। पिल्नी ने दक्षिण भारतीय जनपद राज्यों का उल्लेख करते हुए वहाँ की जातियों का नामोल्लेख भी किया है। उनमें अस्मगि (अश्मक) कलिंगै (कलिंग), आंद्रे (आन्ध्र) उवैरै, मोलिंदै, मोदिंबे (मूतिव जातियाँ) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। नन्दों एवं मौर्यों के आगमन के पूर्व दक्षिण प्रायद्वीपीय भारत अनेक छोटे-छोटे जनपदों में विभक्त था। जनपदों में प्रायः एक ही जनविशेष के लोग संगठित एवं राजनीतिक संघ वनाकर रहते थे। कालान्तर में शक्ति-विस्तार की भावना तथा पारस्परिक वैमनस्य की वृद्धि के फलस्वरुप उनमें से कई महाजनपद बड़े राज्य वन गए। जैनग्रन्थ 'भगवतीसूत्र' में दक्षिण भारत के कतिपय महाजन-पद राज्यों का उल्लेख किया गया है। ज्ञातव्य है कि ईसा पूर्व चौथी एवं तीसरी शताब्दियों में नन्द मौर्यवंशी नरेशों ने प्रायद्वीपीय भारत के अधिकांश भू-भाग को जीतकर उन्हें विशाल मगध साम्राज्य का अंग वना लिया था।

नन्द-मौर्य-काल —पुराणों के अनुसार महापद्म नन्द ने क्षत्रियों का विनाश (सर्व-क्षत्रान्तक) करके सम्पूर्ण पृथ्वी (भारत) पर अपना एकच्छत्र राज्य स्थापित किया था। कलिंग नरेश खारवेल के 'हाथीगुम्फा-अभिलेख' से ज्ञात होता है कि मगधाधिप-महापदम् नन्द राजा ने कलिंग (उड़ीसा) को जीतकर वहाँ से जैन तीर्थंकर की एक वहुमूल्य प्रतिमा अपहृत कर लिया तथा उसे अपनी राजधानी पाटलिपुत्र उठा ले गया था (नन्दराजनीतं चे कलिंगगजिनं संनिवेश.......अंगमगध वसुं च नयति)। उपर्युक्त अभिलेख से नन्द (महापद्मनन्द) के दक्षिण भारतीय अभियान की पुष्टि होती है। हैदरावाद से प्राप्त 11 वीं शती के एक अभिलेख से विदित होता है कि दक्षिण भारत में 'नन्द-संवत्' प्रचलित था। इसी प्रकार गोदावरी नदी के तट पर 'नौनंददेहरा' (नान्देड़) नामक एक नगर-वस्ती भी थी, जो संभवतः महापद्मनन्द के नाम पर ही वसायी गयी थी। 13 वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में उत्कीर्ण एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुन्तल (कर्नाटक प्रदेश का एक उत्तरी जनपद) प्रदेश पर क्रमशः नन्दों तथा मौर्यों ने राज्य किया था। 'कथा-सरित्सागर' में उल्लिखित है कि दक्षिण कोसल राज्य पर नन्द नरेशों का आधिपत्य था। जैन-ग्रंथ 'परिशिष्टपर्वन्' में समुद्रपर्यन्त विस्तृत विशाल नन्द-राज्य का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महापद्म नन्द के शासनकाल में दक्कन तथा गोदावरी नदी तक दक्षिण भारतीय भू-भाग विशाल मगध साम्राज्य का अंग था।

महापद्मनन्द की मृत्यु (लगभग 250 ई० पू०) के उपरान्त क्रमशः कमजोर नन्द राजाओं के शासनकाल में दक्षिण भारतीय राज्य पुनः स्वतंत्र हो गए। 322 ई० पू० के लगभग मगध के राजसिंहासन पर चन्द्रगुप्त मौर्य के आसीन होने पर उपर्युक्त दक्षिणी राज्यों की स्वतन्त्रता पुनः वाधित हुई। प्लूटार्क लिखता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने छः लाख सैनिकों को अपने साथ लेकर सम्पूर्ण भारत को जीत लिया। उसके दक्षिण भारतीय अभियान की सूचना जैनग्रंथ परिशिष्टपर्वन, मुद्रा-राक्षस, पुराणों तथा महावंश-टीका

आदि में भी इङ्गित है। जैन-साहित्य तथा कतिपय परवर्ती अभिलेखों में चन्द्रगुप्तमौर्य का आध्यात्मिक सम्बन्ध कर्नाटक प्रदेश में स्थित 'श्रवण-वेलगोला' के साथ वर्णित है। इस प्रसङ्ग में लुई राईस का मत है कि चन्द्रगुप्तमौर्य ने कर्नाटक के उपर्युक्त क्षेत्र को जीतकर मगध साम्राज्य में मिला लिया था। तमिल संगम-साहित्य में मौर्यों के दक्षिण भारतीय अभियानों एवं विजयों का उल्लेख मिलता है। **एस० के० आयंगर** के अनुसार मौर्यों के दक्षिण भारतीय अधिकांश आक्रमण सम्भवतः महाराज विन्दुसार के शासनकाल में हुए। **डी० डी० कोसम्बी**[1] के अनुसार चन्द्रगुप्त तथा उसके पुत्र विन्दुसार की सेना प्रायद्वीपीय भारत में जहाँ तक जा सकती थी, वहाँ तक उसे पदाक्रान्त कर दिया था। उनका अनुमान है कि ये सैन्य-अभियान कर्नाटक प्रदेश के दक्षिणी छोर तक ही हो पाए थे, क्योंकि वायनाड की सघन एवं दुर्गम जंगली पहाड़ियाँ उनके और आगे बढ़ने में बाधक सिद्ध हुईं। मौर्यों के दक्षिण भारतीय अभियान की ऐतिहासिक गुत्थी आज भी उलझी हुई है।

अशोक के अभिलेखों में उसके कलिंग-विजय-अभियान का स्पष्ट वर्णन मिलता है। कलिंग (उड़ीसा) देश के अतिरिक्त अन्य किसी दक्षिण भारतीय प्रदेश पर उसके सैन्य-अभियान का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। रैप्सन का मत है कि दक्कन का अधिकांश भाग अशोक की साम्राज्य सीमा से वाहर था। परन्तु उसके शिलालेख-5 उल्लेखों के आधार पर अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि दक्कन के पठारी भू-भाग पर अशोक का अधिकार था। वहाँ उसने न्यायालय की देखरेख के लिए धम्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। रायचुर-दोआव में स्थित मास्की तथा कतिपय अन्य स्थलों से प्राप्त उसके शिलालेख उपर्युक्त भू-क्षेत्रों पर उसके अधिकार की पुष्टि करते हैं। अशोक के शिलालेख कर्नूल जनपद में स्थित येरागुड़ि स्थान में भी प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार कर्नाटक प्रदेश में उसके अभिलेख सिद्दपुर एवं जतिग-रामेश्वर तथा चित्तलदुर्ग जनपद में ब्रह्मगिरि से भी उपलब्ध हुए हैं।

नन्दों एवं मौर्यों के दक्षिण भारतीय अभियानों तथा वहाँ उत्तर भारतीय प्रभुत्व की स्थापना के फलस्वरुप दक्षिणभारत में अनेक सांस्कृतिक परिवर्तन हुए। इन साम्राज्य-शक्तियों के आधिपत्य ने धीरे-धीरे वहाँ के कवीलवाई जनसमुदायों का विघटन करके व्यक्तिगत सम्पत्ति-संचय एवं कृषक-समुदाय में उनके विलय को जन्म दिया। उत्तर भारत की कृषि प्रधान संस्कृति के प्रसरण के कारण ही वहाँ कृषक जाति-समुदाय का उदय हुआ, जिनमें श्रमिकों की प्रधानता थी। इन्हें नवोदित सामाजिक-संरचना में शूद्र-वर्ग में रखने की परम्परा विकसित हुई। दक्षिण भारतीय कृषकों ने उत्तर भारतीय कृषि प्रभावों से अव-झूम खेती अथवा अन्नसंकलन के स्थान पर पहली वार हल की खेती प्रारम्भ की। कृषि-उत्पादन के विकास के साथ-साथ वहाँ की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संरचना में ब्राह्मणों का वर्चस्व भी वढ़ता गया। आगे चलकर ईसा चौथी शताब्दी तथा तदनन्तर असंख्य दानपत्र ब्राह्मणों के अग्रहार-दान से सम्वन्धित मिलते हैं, जिन पर उनके व्यक्तिगत अधिकार स्थापित थे। अधिकांशतः ब्राह्मण पुरोहितों ने ही प्रायद्वीपीय भारत की कवीलाई अथवा स्थानीय

---

1. डी० डी० कौसम्वी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ० 175.

कृषक जाति की प्रथाओं को तथा उनकी आदिम अनुश्रुतियों को विशिष्ट किन्तु परिवर्तित स्वरुप देकर सुरक्षित रखने का दायित्व भी निभाया था।

मौर्योत्तर-दक्षिण कालीन भारतीय राज्य—मौर्य-साम्राज्य के पतनोपरान्त जिस प्रकार उत्तर भारत में नये राज्यों का उदय हुआ, उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी कतिपय शक्तिशाली राजवंशों का प्रभुत्व बढ़ गया। ई० पू० प्रथम शती के मध्य में कलिंग (उड़ीसा) में चेदि वंशोत्पन्न खारवेल का राज्य तथा महाराष्ट्र एवं आन्ध्र प्रदेशों के सम्मिलित भू-भाग पर आन्ध्र-सातवाहनों का राज्य पर्याप्त शक्तिशाली हो चुका था।

चेदि नरेश खारवेल का शासनकाल—उड़ीसा स्थित हाथीगुम्फा में ई० पू० प्रथम शती के मध्य अंकित कराया गया महाराज खारवेल का अभिलेख उसे चेदिवंश की प्रतिष्ठा को वढ़ाने वाला वताता है (चेतिराजवसनवधनेन)। यह अतिखण्डित, लम्वा तथा प्रशस्ति-अभिलेख है जिसमें कलिंगाधिपति खारवेल की उपलब्धियों का विशद् उल्लेख किया गया है। वह महापराक्रमी तथा विजेता था। उसने अपने समकालीन दक्कन के शासक शातकर्णि का परवाह किए विना (अचितयिता) अपनी सेना को पश्चिम दिशा की ओर भेज दिया। इस अभियान में खारवेल कितना सफल रहा—साक्ष्याभाव में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उपर्युक्त अभिलेख में उसने अपने सफल अभियानों में पश्चिम दिशा की ओर किए गए प्रस्थान को भी सम्मिलित किया है। इसी प्रकार उसने उत्तर में गोरथगिरि तथा राजगृह को जीत कर मगध पर अधिकार कर लिया था। उससे भयाक्रान्त पश्चिमोत्तर यूनानी रजा दिमित या डिमित (डेमिट्रियस) मथुरा की ओर भाग गया (मधुरं अपयातो यवनराज दि (डि) मित)। उसका अभियान सुदूर दक्षिण भारतीय पाण्ड्य राज्य की सीमाओं तक वर्णित है (**पंचमे च दानी वसे-नन्दराज-ति-वस-सत-ओ (छा) टि त तनसुलियवाटा पणांडि नगरं पवेस (य)-ति**)।

हाथीगुफा-अभिलेख में खारवेल द्वारा नन्दनरेश (महापद्मनन्द) द्वारा वहुत पहले सिंचाई के लिये वनवायी गई प्रणाली (नहर) के जीर्णोद्धार का भी उल्लेख है। किन्तु मौर्यनृपतियों का उल्लेख इसमें किसी भी प्रसङ्ग में नहीं हुआ। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि मौर्यों का उल्लेख अभिलेख के उस अंश में आया हो जो अव खण्डित तथा दुष्पाठ्य है। दूसरा यह कि अशोक द्वारा कलिंगवासियों पर किए गए आक्रमण की पीड़ा खारवेल को भी सालती रही होगी। इस नरेश ने कलिंग के यश को तो अपनी विजयों से वढ़ाया ही, साथ ही साथ अपने लोक-कल्याणकारी कार्यों से उनकी सुख-समृद्धि में भी पर्याप्त वृद्धि की थी। मंचपुरी गुफा के एक लेख के अनुसार खारवेल की मृत्यु के वाद सम्भवतः कुदेपसिरि कलिंगाधिपति हुआ। उसे महामेघवाहन तथा ऐर महाराज भी कहा गया है। कुदेप सिरि की मृत्यु के वाद कलिंग के इतिहास की जानकारी अत्यल्प है।

आन्ध्र-सातवाहन काल—उत्तरी दक्कन में ई० पू० प्रथम शती के मध्यकाल में, आन्ध्र-सातवाहन राज्य की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। सातवाहनों को आन्ध्र राजवंशीय कहे जाने का प्रमुख कारण उनका अपने मूल क्षेत्र पूर्वी-तट पर कृष्णा तथा गोदावरी

नदियों के मुहाने से जुड़ा होना प्रतीत होता है। इसी क्षेत्र से क्रमश: गोदावरी नदी के उद्‌गम की ओर अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर वे क्रमश: अपनी शक्ति के विस्तार में लगे रहे और अन्तत: मौर्यों के पतन से उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर उन्होंने पश्चिमी दक्कन में अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। उनके राजनीतिक क्रियाकलापों का केन्द्र महाराष्ट्र प्रान्त में स्थित प्रतिष्ठान नगर था।

प्रारम्भिक सातवाहन शासक मौर्यों के शासनकाल में संभवत: उनके अधीन सामन्त थे। मौर्यों के बाद शुंगों तथा कण्वों के शासनकाल में भी वे सामन्त शासक ही बने रहे। ज्ञातव्य है कि ई० पू० 75, अंतिम शुंग शासन के मंत्री वासुदेव ने अपने स्वामी की हत्या करके मगध पर कण्व वंश की नींव डाली। इस राजवंश में क्रमश: कुल चार शासक हुए—वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण तथा सुशर्मन। अन्तिम कण्व नरेश सुशर्मन के शासनकाल में, दक्कन में, आन्ध्र-सातवाहन शासक सिमुक पर्याप्त शक्तिशाली हो चुका था। पुराणों के अनुसार उसने शुंगों की अवशिष्ट शक्ति को नष्ट करके अपने स्वामी कण्व सुशर्मन का वध कर दिया था स्वयं स्वतंत्र राजा बन गया। (काण्वायनस्ततो भृत्य: सुशर्माणं प्रसाह्यतम्। शुंगानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा तु बलीयश:। सिन्धुको आन्ध्रजातीय: प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्)। आन्ध्र नाम प्राय: गोदावरी एवं कृष्णा नदियों की निचली घाटी के तेलगु भाषा-भाषी लोगों के लिए अधिक समीचीन माना जा सकता है। तथापि सातवाहन कालीन अभिलेखों में आन्ध्रों को सातवाहन नाम से ही संबोधित किया गया है। उनके राज्य की दक्षिणी सीमा वर्त्तमान कर्नाटक प्रदेश तक विस्तृत थी। इस प्रदेश के बेल्लारी जनपद के सन्निकट स्थित 'सातवाहनिहार' सातवाहनों द्वारा शासित क्षेत्र बताया गया है।

आन्ध्र-सातवाहन राजवंश की स्थापना सिमुक ने की, परन्तु इसे शक्तिशाली स्वतंत्र साम्राज्य-शक्ति के रुप में प्रतिष्ठित करने का वास्तविक श्रेय उसके आत्मज अथवा भ्रातृज शातकर्णि प्रथम को ही दिया जाता है। शातकर्णि प्रथम ने अपने राज्य की सीमाओं को राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञों के अनुष्टानों के बहाने विस्तृत करना प्रारम्भ किया। पश्चिमी दक्कन के शक्तिशाली महारथि राजाओं एवं सरदारों से उसने मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। शीघ्र ही उसने पश्चिमी मालवा और उसके दक्षिण में स्थित विदर्भ (बरार) आदि सुदूर दक्षिणी भागों को जीतकर **'दक्षिणपथपति'** की उपाधि धारण की। उसकी मृत्यु के उपरान्त अपने नाबालिग पुत्र शक्ति श्री और वेद् श्री की संरक्षिका बनकर उसकी सुयोग्य विधवा पत्नी नायनिका ने कुछ वर्षों तक शासन किया। नायनिका के शासन काल से सातवाहन राजवंश का इतिहास धूमिल पड़ने लगा तथा गौतमीपुत्र शातकर्णि (106-130 ई०) के राज्यारोहण तक लगभग यही स्थिति बनी रही। शातकर्णि प्रथम की मृत्यु के अनन्तर सातवाहन-साम्राज्य को क्रमश: योनानियों, शकों एवं सीथियनों के आक्रमणों से गुजरना पड़ा। परन्तु इस अन्तराल में हुए कतिपय उल्लेखनीय सातवाहन शासकों तथा-शातकर्णि द्वितीय, लम्बोदर, आपीलक, कुन्तल शातकर्णि तथा हाल आदि से किसी न किसी प्रकार अपनी स्वतन्त्र सत्ता को सुरक्षित रखा था। हाल को इस वंश के अग्रिम एवं विशेष महत्वपूर्ण शासकों में परिगणित किया जाता है। उसने 'गाथा सप्तशती' (गाथा सत्तसई) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी।

विदेशी आक्रमणों एवं आन्तरिक स्थितियों से अव्यवस्थित सातवाहन राज्यलक्ष्मी की पुनर्प्रतिष्ठा-स्थापना महान् शासक गौतमीपुत्र शातकर्णि के समय में हुई । दक्कन की इस समय (106/130 ई०) की राजनीति में शकों एवं सातवानों की शक्ति का कई वार परीक्षण हुआ । शक शासक नहयान ने अव तक सातवाहन राज्य को वड़ी क्षति पहुँचाई थी । गौतमीपुत्र शातकर्णि की माता गौतमी वलश्री की नासिक-प्रशस्ति में शातकर्णि को शकों, यवनों एवं पह्लवों का नष्टकर्ता (सकयन पल्हवनिसूदनस) और क्षहरात वंश का विनाशक (खखरातवसनिरवसेस करस) तथा सातवाहन राजवंश की गरिमा एवं यश का प्रतिष्ठापक (सातवाहनकुलयसपतिथापनकरस) उद्घोषित किया गया है । उसने अपने सफल अभियानों द्वारा 124-125 ई० के लगभग क्षहरात वंशीय शकनृपति नहपान को पराजित करके उसके द्वारा विजित अधिकांश राज्यों को अपहृत कर लिया । उसके द्वारा शकों से छीने गए राज्यों में गुजरात, सौराष्ट्र, पश्चिमी राजपूताना, मालवा, वरार तथा उत्तरी कोंकण प्रमुख थे । इसके अतिरिक्त नासिकप्रशस्ति में उसकी सामरिक उपलब्धियों में असिक, असक,मुलक, सुरठ, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ, आकार, अवन्ति, विन्ध्य, अछवत, परियात्र, सह्य, कन्हगिरि, मच, सिरिटन, मलय, महेन्द्र, सेतगिरि, तथा चकोर आदि राज्यों को भी परिगणित किया गया है । इस प्रकार उसने अपने समकालीन ढक्कन की लगभग सभी महत्वपूर्ण शक्तियों पर अपनी प्रभुता स्थापित करने का प्रयास किया । उसका शासनकाल विशेष रचनात्मक था । उसके महान् प्रजापालक तथा सहिष्णु शासक विवृत किया गया है (पोरजन निविसेंस समुदु खसुखस) ।

अपने शासन काल में अन्तिम दिनों में गौतमीपुत्र शातकर्णि सम्भवत: अपाहिज हो गया, जिसके फलस्वरुप शकों ने पुन: अपने पूर्वाधीन क्षेत्रों को उससे वलात् अपहृत कर लिया । 130 ई० में उसकी मृत्यु हो गई, फलत: उसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलमावि (130/159 ई०) सिंहासनासीन हुआ। अपने पिता की भांति पुलभावी भी महापराक्रमी हुआ । उसके साम्राज्य में महाराष्ट्र का अधिकांश भू-क्षेत्र, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश के भू-भाग सम्मिलित थे । उसकी राजधानी गोदावरी के तट पर वर्त्तमान औरंगावाद जनपद में स्थित प्रतिष्ठान या पैठन थी । उपर्युक्त नरेशों के शासन काल में ही वैजयन्ती (उत्तरी कनारा) एवं अमरावती (गुण्टूर जनपद) प्रमुख नगरियाँ वनीं । पुलमावि के शासनकाल में सातवाहनों ने नौ-सेना तथा सामुदायिक व्यापार के क्षेत्र में विशेष प्रगति की । अमरावती स्तूप के वृहदीकरण तथा नवगलगढ़ एवं वैजयन्ती आदि दुर्गों एवं नगरों में विकसित आशातीत आर्थिक एवं व्यापारिक गतिविधियों से पता चलता है कि पुलमावि का शासनकाल सातवाहनों के आर्थिक समुन्नयन का काल था । पुलमाव के सम्भवत: भाई तथा उत्तराधिकारी वासिष्ठी-पुत्र शातकर्णि ने शक-क्षत्रपों से मैत्री-सम्वन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से तत्कालीन महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम की पुत्री से विवाह किया। परन्तु महत्वाकांक्षी क्षत्रपशासक रुद्रदामन ने कालान्तर में अपने सम्वन्धी एवं दामाद को पराजित करके सातवाहन-शाशित अधिकांश भू-भाग को अपने अधीन कर लिया । वासिष्ठी-पुत्र शातकर्णि के अनन्तर चार या पाँच सातवाहन शासक और हुए परन्तु वे सव शक-क्षत्रपों के सम्मुख सिर ऊँचा न कर सके । इस राजवंश का अन्तिम महान् शासक यज्ञश्री शातकर्णि (164/203 ई०) हुआ, जिसने शकों को

पराजित करके महाराष्ट्र, उत्तरी कोंकण तथा आन्ध्र प्रदेश पर पूर्ण सम्मान के साथ शासन किया।

यज्ञश्री शातकर्णि के उपरान्त क्रमशः दुर्बल सातवाहन शासकों का शासन कुछ काल तक बना रहा। आन्तरिक दुर्बलताओं तथा बाह्य आक्रमणों के फलस्वरुप यह महान् साम्राज्य तीसरी सदी के मध्यकाल तक आते-आते अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। इसी समय दक्षिण-भारत एवं दक्कन में वाकाटक राजवंश का उत्थान प्रारम्भ हुआ फलतः सातवाहन राजवंश का क्रमशः पतन हो गया।

---

4 संगम युग : साहित्य एवं समाज

सामान्य परिचय

प्रायद्वीपीय भारत का धुर दक्षिणी भाग जिसे 'तमिलकम् प्रदेश' कहा जाता था, 'कृष्णा' एवं तुंगभद्रा' नदियों के मध्य स्थित था। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से वहुत पहले, (लगभग 500 ई० पू० के लगभग), वहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। इनमें चेर, चोल तथा पाण्ड्य राज्य विशेष उल्लेखनीय हैं। उपलब्ध साक्ष्यों से संकेत मिलता है कि ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी में सर्वतन्त्र राज्य थे। अशोक के शिलालेखों (शिला लेख, 2,5 तथा 13)में उन्हें दक्षिणी वाह्य सीमावर्ती राज्यों में परिगणित किया गया है। इन राज्यों के साथ उसके मैत्रीपूर्ण राजनयिक सम्वन्ध थे। शिलालेखों के पूर्व मेगस्थनीज तथा कौटिल्य ने भी उपर्युक्त राज्यों का उल्लेख किया है। हाथीगुम्फा-अभिलेख के अनुसार कलिंग-नरेश खारवेल ने अपने शासन के ग्यारहवें वर्ष (ई० पू० 165)में, तमिल राज्यों के प्राचीन संघ (त्रमिरदेश संघातकम्) को विनष्ट किया था। परन्तु उपर्युक्त उल्लेखों से इन राज्यों के इतिहास की विशेष जानकारी नहीं हो पाती।

तमिल देश के इतिहास पर सर्वाधिक प्रकाश ईसा की तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दियों में संकलित संगम-साहित्य से पड़ता है। यद्यपि उनमें प्राचीन चेर, चोल तथा पाण्ड्य राज्यों के राजनीतिक गतिविधियों के कालानुक्रम आदि की यथेष्ट सूचनाओं का अभाव है, तथापि-तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है।

संगम का तात्पर्य

'संगमम' अथवा 'संघम्' प्राचीन तमिल शब्द है, जिसे सामान्यतया 'गोष्ठी परिषद्' अथवा 'संस्थान' आदि अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। **रामशरण शर्मा**[2] का मत है कि 'संगम तमिल कवियों तथा विद्वानों की सुव्यवस्थित परिषदें थीं जिनमें मुख्यत: वुद्धिजीवी ब्राह्मण-कवियों का वर्चस्व था। इन परिषदों अथवा संगमों (संघों) का गठन

---

1. 'निचचोड पड अव तंवपणिय.......।' अशोक का चतुर्दश शिला-लेख, (शहवाजगढ़ी)
2. राम शरण शर्मा, ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० 124-125.

सर्वप्रथम पाण्ड्य राजाओं के राजकीय संरक्षण में किया गया था। संगम से सम्वद्ध वुद्धिजीवी सदस्यों (कवियों) को पाण्ड्य शासकगण सम्मान के साथ-साथ समय-समय पर प्रचुर पारितोषिक राशि भी प्रदान किया करते थे। उक्त साहित्य से ज्ञात होता है कि प्रतापी चोल शासक करिकाल ने ऐसे ही एक कवि को 16,00,000 स्वर्ण-मुद्रायें प्रदान किया था। रत्न एवं मुद्रा दानों के अतिरिक्त संगम कालीन कवियों को समय-समय पर भू-खण्डों, अश्वों, मजों तथा रथों आदि उपहारों से भी सम्मानित किया जाता था।

तमिल साहित्य का प्राचीनतम् उपलब्ध अंग संगम-साहित्य है। यह साहित्य संप्रति मुख्य रुप से 9 संग्रह-ग्रन्थों में संकलित मिलता है, जिनके नाम हैं—(1) नट्रिणै (2) कुरंदोगै (3) ऐंगुरुनूर (4) पदिट्रपत्तु (5) परिपाडल (6) कलित्तोगै (7) अहनानुरु (8) पुरनानुरु तथा (9) पत्तुप्पाट्टु। इन संग्रहों में 2279 कविताओं तथा 102 अनाम लेखों को संकलित किया गया है। इनकी रचना अधिकांशतया विद्वान् कवियों तथा कवियित्रियों ने की है जिनकी संख्या 473 के आस-पास आख्यात है। कविताओं की न्यूनतम पंक्तियाँ पाँच तथा अधिकतम् आठ सौ तक मिलती हैं। इन कविताओं के पादतल में प्राय: कवि का नाम, रचना-अवसर तथा स्थान विशेष को भी निर्दिष्ट किया गया है। **नीलकण्ठ शास्त्री** की धारणा है कि पाद-टिप्पणी संभवत: संपादकों ने तैयार की थी। इस युग की एक अन्य उल्लेखनीय कृति 'तोलकप्पियम्' है जिसे परम्परानुसार अगस्त्य के विशिष्ट द्वादश शिष्यों में प्रमुख **'तोल्काप्पियर'** ने प्रणीत किया था। उपर्युक्त अष्ट अथवा नौ संग्रह-ग्रन्थों में संकलित साहित्य से ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में विकसित तमिल समाज, संस्कृति तथा साहित्य का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संगम-युग प्राथमिक चरणों में ही तमिल वाङ्मय का विशाल भण्डार तैयार किया, जिन्हें 197 पाण्ड्य शासकों का राजकीय संरक्षण प्राप्त था **प्रो० शर्मा** ने अपने ऐतिहासिक विश्लेषणों के आधार पर संगम-साहित्य की प्रारम्भिक तिथि को, ईशा की प्रारम्भिक शती के आस-पास प्रस्तावित किया है। विगत दशकों में पुरातात्त्विक खोजों में मदुराई क्षेत्र प्रारम्भिक तमिल तथा स्फुट प्राकृत शब्दों का प्रयोग मिलताहै। इन अभिलेखों की तिथि ई० पू० की द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी प्रतिपादित की गई है। अस्तु, संगम-साहित्य का आरम्भिक विकास ईसा की प्रथम शती से तृतीय शती के मध्य मानना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है।

राजनीतिक इतिहास

चेर राज्य —'ऐतरेय ब्राह्मण' में उल्लिखित 'चेरपादा:' शब्द को चेरों के विषय में प्राथमिक उल्लेख माना जा सकता है। **'रामायण'** तथा **'महाभारत'** में चोलों एवं पाण्ड्यों के साथ चेरों (केरलों) का भी वर्णन मिलता है। कात्यायनकृत 'वार्तिक' में भी केरलों को उद्धृत किया गया है। अशोक के शिलालेखों में चोल, पाण्ड्य आदि धुर दक्षिणी मौर्य-साम्राज्य के वाह्य राज्यों में केरल राज्य को भी परिगणित किया गया है। कालिदास-विरचित 'रघुवंश'[1] में केरल प्रदेश का विशद् वर्णन मिलता है। भूमोत्सृष्ट

1. नीलकण्ठ शास्त्री, दक्षिण भारत का इतिहास, पृ० 373.
2. रामशरण शर्मा, ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० 125.
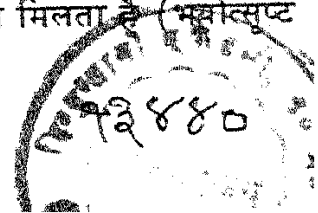
विभूषाणां तेन केरलयोषिताम्) । उपर्युक्त साक्ष्यों के अतिरिक्त संगम-साहित्य में चेर (केरल) राज्य की सर्वाधिक सूचनाएँ सुरक्षित हैं। प्राचीन चेर राज्य में वर्तमान कोंकण, मालावार का तटीय क्षेत्र तथा उत्तरी त्रावन्कोर एवं कोचीन जनपद के भूखण्ड सम्मिलित थे । संगमग्रन्थों में इस राज्य की राजधानी वंजि तथा तोंडी, दोनों का उल्लेख किया गया है।

प्रमुख शासक

उदियनजेरल—चेर राज्य का प्रथम महत्त्वपूर्ण शासक उदियनजेरल था, जिसने ईसा की द्वितीय के उत्तरार्द्ध में सम्भवतः चेर राज्य को संगठित किया था।

नेदुनजेरल आदन—नेदुनजेरल आदन चेर शासक उदियनजेरल का पुत्र था। संगम-साहित्य से ज्ञात होता हैकि राजसिंहासन पर आसीन होने के कुछ समय वाद उसने अपने किसी पड़ोसी शत्रु-राज्य पर आक्रमण करके उसके राज्य को अपहृत कर लिया तथा वहाँ के कतिपय यवन-व्यापारियों को वन्दी भी वना लिया । वाद में उसने उक्त वन्दी विदेशी-व्यापारियों से विपुल धन प्राप्त कर उन्हें मुक्त कर दिया । ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में धुर दक्षिणी प्रदेशों के साथ वैदेशिक व्यापार पर्याप्त विकसित था । चेर शासक आदन महान् योद्धा था तथा अपने वीर सैनिकों के साथ रहना उसे बड़ा प्रिय था । उसके पास शक्तिशाली नौ सेना थी जिसके बल पर उसने मालावार तट- के अनेक छोटे-छोटे राज्यों को जोतकर वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

संगम-साहित्य में पश्चिमी तट पर काठियावाड़ से लेकर कर्नाटक प्रदेश में स्थित मंगलौर तक 'कदम्वु' जाति के लोगों के प्रभुत्व का उल्लेख मिलता है । वे यहाँ पर आने वाले व्यापारियों को प्रायः लूट लेते थे । राजा आदन ने उनको पराजित कर उपर्युक्त तटवर्ती क्षेत्र में शान्ति स्थापित की । **एस० कृष्णस्वामी आयंगर के** अनुसार 'कदम्वु' कवीले के लोग ही सम्भवतः 'कदम्वों' के पूर्वज थे । आदन ने अपने सामरिक अभियानों से तत्कालीन सात छत्रधारी राजाओं पर विजय प्राप्त की। आदन ने अपने प्रवल प्रतिद्वन्दी चोल नरेश 'उरूवप्प-हरेर इलैयन' के विरुद्ध दीर्घकालीन संघर्ष संचालित किया । उक्त-साहित्य से पता चलता है कि इस संघर्ष में अंततः दोनों राजाओं की हत्या हुई तथा उनकी रानियाँ अंततः सती हो गईं । आदन का शासन लगभग 55 वर्ष रहा तथा उसने 'अधिराज' एवं 'श्रमयवरम्वन' उपाधियाँ धारण की थी।

पल्यानैशेल्केलु कुट्टवन—आदन की मृत्यु के उपरान्त उसका भाई कुट्टवन राजा हुआ । संगम साहित्य में उसे अगप्पा दुर्ग तथा कोंगु प्रदेश का विजेता कहा गया है। उसकी सेना में हाथियों की संख्या अधिक थी । उसने चेर राज्य के शत्रु सामन्त शासकों को जीत कर अपने राज्य की सीमा वढ़ा ली तथा 'अधिराज' की उपाधि धारण की।

कलगायमाला—कट्टवन के अनन्तर वादन के ज्येष्ठ पुत्र कलगायमाला होने लगा था, जिसका अधिकांश भाग उपर्युक्त संग्रहों में समाहित नहीं है । आज जो कुछ

1. रघुवंश, 4-54.

संग्रहीत एवं उपलब्ध है वह उत्तरयुगीन संगम साहित्य का श्रेष्ठतम अंश है, जिसे पाण्डड्य शासकों ने अपने संरक्षण में मदुरा स्थितसंगमों के माध्यम से सुरक्षित करवाया था। **नीलकण्ठ शास्त्री** ने उपर्युक्त साहित्यिक आन्दोलन की संभावित तिथि 100 ई० से 300 ई० के मध्य माना है। इसके अंतिम चरण में विरचित प्रमुख ग्रन्थों में क्रमशः **तोलकाप्पियम्, कलित्तोगई तथा परिपाडल** विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार चौथी तथा पाँचवीं शती के अनन्तर तथा 9 वीं शती के मध्यवर्ती काल में संगम युगीन तमिल साहित्यिक परम्पराओं पर संस्कृत साहित्य का क्रमिक प्रभाव महत्वपूर्ण है। इस युग के तमिल-ग्रन्थों में नीति, दर्शन, धर्म आदि विषयों के समाहार के अतिरिक्त उपदेशात्मक साहित्य तक के संकलन पर विशेष वल दिया गया। लगभग 13 वीं सदी से इन ग्रन्थों का अधिकांश **अष्टादश किल्काणक्कु** नाम से वर्गीकृत हैं जिन्हें यह नाम उनके छोटे-छोटे के कारण दिया गया था तथा जो सामान्यतया वेणवा के रुप में रचे गए हैं इस कोटि के ग्रन्थों में कुड़ल, मुदुमोलिक् कांजी-कर्नापदु, एन्ना नारापदु, एन्दिनेई-ऐम्बदु, नालडी आदि उल्लेखनीय हैं।

संगमों की संख्या

संगमों की कुल संख्या कितनी थी—निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तमिल अनुश्रुतियों से पता चलता है कि पाण्डड्य शासकों के राज्यकाल में कम से कम **तीन संगमों** का गठन राजधानी मदुरा तथा कपाटपुरम् नगरों में किया गया था।

प्रथम संगम—प्रथम संगम के प्रमुख आचार्य अगत्तियनार (अगस्त्य ऋषि) थे, जिन्हें दक्षिण भारतीय प्रायद्वीपीय भू-भाग में कृषिप्रधान आर्यसंस्कृति के प्रसार का श्रेय दिया जाता है। प्रथम संगम के अन्य प्रमुख काव्याचार्यों में कुन्नमेरिन्द, मुरुगवल, तिरिपुरमेरिथ मुरञ्जियुर, मुदिनागरायर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम संगम की स्थापना पाण्ड्य राजधानी मदुरा में हुई थी। इसके कुल 89 पाण्ड्य शासकों संगम ने संरक्षण प्रदान किया तथा इसमें 4,499 कवियों की रचनायें प्रेषित हुई थी। संगम-साहित्य में इसकी अवधि 4400 व्रर्ष बताई गई है, जो निर्विवाद रुप से अतिरंजित उल्लेख कहा जा सकता है। इसी अवधि में **परिपाडल-मुदुनारै, अकत्तियम्, मुदुकुरूकु तथा कलिरियाविरै** आदि काव्य-ग्रन्थों का संकलन प्रकाशित हुआ था। सम्प्रति ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

द्वितीय संगम—प्रथम संगम का अन्त संभवतः प्राचीन नगरी के समुद्र में समा जाने के फलस्वरुप हुआ। पाण्ड्य शासकों ने द्वितीय संगम की स्थापना 'कपाटपुरम्, अथवा 'अलवै' नगर में की। इस संगम की अध्यक्षता क्रमशः अगस्त्य तथा तोल्कापियर ने की। इसमें सम्मिलित सम्मान्य सदस्यों की संख्या 49 बताई गई है तथा इसे कुल 59 पाण्ड्य-नृपतियों का संरक्षण प्राप्त हुआ। इसकी कार्य-अवधि 3,700 वर्ष आख्यात है, जिसे अतिरंजित उल्लेख समझना तर्कसंगत है। द्वितीय संगम में कुल 37,000 कविताओं (कवियों) के प्रकाशन का अनुमोदन किया गया था। इस काल के कतिपय महत्वपूर्ण प्रकाशित ग्रन्थों में **अगत्तियम्, मापुरानम्, कलि, व्यालमालै** तथा कुरुक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

तृतीय संगम —उत्तरी मदुरा नगरी की महत्ता-वृद्धि के साथ वहाँ तृतीय संगम की स्थापना की गयी। यहाँ स्थापित संगम की कार्य-अवधि कुल 1,850 वर्ष बताई गई है, जिसमें 449 कवियों का सक्रिय योगदान आख्यात मिलता है। इसकी अध्यक्षता नक्कीरर नामक महाकवि ने की थी। तृतीय संगम के यशस्वी ग्रन्थों में **नूत्रैम्बत्थ, वरि, परिपाडल, नेद्रुकथोकै, नत्रिनै, कुत्थ परिसै** तथा **पदित्रुपत्तु** विशेष उल्लेखनीय हैं। इस युग के अनेक ग्रन्थ अब अप्राप्य हैं परन्तु अद्यतन जो भी संगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं, इसी के हैं।

संगम युग तिथि-निर्धारण :

संगम-साहित्य का रचनाकाल विवादास्पद है। यह साहित्य मूलतः तमिल तथा आर्य दो भिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक योग से विकसित हुआ है। परन्तु इसका प्रारम्भ किस काल में हुआ, ज्ञात नहीं है। इन संस्कृतियों के योग से उद्भूत उपर्युक्त युगनिर्माणकारी साहित्यिक रचनायें, जो ज्ञात अथवा सम्प्रति उपलब्ध हैं, निश्चित रूप से वाद की हैं। **नीलकण्ठ शास्त्री**[1] ने इन परवर्ती ग्रन्थों का रचनाकाल 100 ई० से 300 ई० के मध्य प्रतिपादित किया है। **श्री निवास आयंगर** की धारणा है कि संगम-साहित्य 500 ई० पू० से 500 ई० के अन्तराल में विरचित हुआ। आयंगर के इस मत से अधिकांश विद्वान् सहमत नहीं है **राम शरण शर्मा**[2] के अनुसार संगम-साहित्य की संरचना तथा उसका संकलन-काल ईसा की लगभग तीसरी से छठीं शताब्दियों के मध्य रखा जा सकता है। उन्होंने 8 वीं शताब्दी के मध्य विरचित एक तमिल-भाष्य के कतिपय उल्लेखों को अतिरंजित तथा अविश्वसनीय बताया है। इस भाष्य में कहा गया है कि संगम-युग 9,990 वर्ष तक चला। इसे 8,593 कवियों ने अपनी रचनाओं से गौरवान्वित (तन्तु-मुकुटधर) सिंहासन पर बैठा। उसके शासनकाल की घटनाओं का अत्यल्प उल्लेख मिलता है। संगम-साहित्य से ज्ञात होता है कि उसने अपने समकालीन शक्तिशाली सामन्त शासक 'अदिगैमन' को पराजित किया, जिसे, तगदूर के 'अजि' प्रदेश का राजा बताया गया है। उसके सैन्य-अभियानों में 'तुलु' प्रदेश के नन्नानों की विजय भी उल्लेखनीय है। उसने भी अपने पूर्ववर्ती शासकों की भाँति 'अधिराज' की उपाधि धारण की थी।

शेनगुट्टुवन अथवा धर्मपरायण कुट्टुवन —180 के आस-पास आदन का कनिष्ठ पुत्र शेनगुट्टुवन राजगद्दी पर बैठा। वह महापराक्रमी तथा योग्य शासक था। उसे दुर्ग-भेदन, गज-संचालन, घुड़सवारी तथा सैन्यसंचालन का पूर्ण अनुभव प्राप्त था। संगमयुगीन कवियों में अग्रणी 'परणर' ने उसकी उपलब्धियों का यशोगान किया है। उसके पास शक्तिशाली नौसेना थी जिसकी सहायता से उसने मोहुर प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी। परवर्ती संगम-अनुश्रुतियों में उसकी उपलब्धियों की अतिरंजित रुपरेखा प्रस्तुत की गई है। परन्तु उपर्युक्त साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर उसे चेर राज्य का महान् योद्धा तथा कला एवं साहित्य का संरक्षक माना जा सकता है। **नीलकण्ठ शास्त्री** का मत है कि संगम-साहित्य का वर्णित उसके एक विरुद् से परिलक्षित होता है कि उसने समुद्र-तट के दस्युओं का दमन करके वहाँ के निवासियों को सुरक्षित किया था।

संगम-साहित्य में प्रदत्त विवरणों से ज्ञात होता है कि उसने दक्षिणी प्रायद्वीपीय

भाग में सर्वप्रथम 'पत्तिनी' (कण्णगी) पूजा का शुभारम्भ किया। इस नव्यधार्मिक पूजा परम्परा की अधिष्ठात्री 'कण्णगी' पति-व्रत-धर्म की प्रतीक देवी के रुप में पूज्य हुई। दक्षिणी भारतीय अन्यान्य राज्यों यथा, चोल, पाण्ड्य आदि में भी 'पत्तिनीपूजा' लोक-प्रिय हो गई थी। शेनगुट्टुवन ने सती 'कण्णगी' की स्मृति में एक भव्य मन्दिर तथा प्रतिमा निर्मित कराकर उसे पारम्परिक पूजा में सम्मिलित कर लिया। उसका शासनकाल लगभग 55 वर्ष रहा। उसने भी 'अधिराज' की उपाधि धारण की थी।

पेरुञ्जेरल इरंपोरई —शेनगुग्टुवन के अनन्तर उसका पुत्र पेरुञ्जेरल इरंपोरई राजा हुआ। अपने प्रारम्भिक सैन्य-अभियानों में उसने पोत्ति के चोलशासक तथा वलैयनमारन को परास्त करके उनके पाँच सुदृढ़ महत्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार कर लिया। उसने अपने पराक्रम से तत्कालीन पाण्ड्य शासक को हराकर उससे विपुल सम्पत्ति छीन ली तथा राजधानी वंजि के वैभव में वृद्धि भी की थी।

शेनगुट्टुवन ने समकालीन प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के क्रम में तगडूर (सामेल जनपद का धर्मपुर) के राजा 'अडिगयमान' को जीत कर स्थापित हो गया। राजा अडिगयमान ने प्रायद्वीपीय धुर दक्षिणी भूभाग में सर्वप्रथम गन्ने की खेती की शुरुआत की। शेनगुट्टुवन ने 'अधिराज' की उपाधि धारण की थी।

सेइयै —शेनगुट्टुवन के उपरान्त सेइयै चेर-सिंहासन पर बैठा। संगम-साक्ष्यों से विदित होता है कि 210 ई० के आस-पास उसने अपने प्रतिद्वन्दी चोल तथा पाण्ड्य शक्तियों के साथ युद्धाभियान किया। उसके शासकनकाल की अन्य घटनाओं का विवरण उपलब्ध नहीं है।

अट्टुकोतपुत्तु चेरल आदन —सेइयै के पश्चात् अट्टुकोतपुत्तु चेरल आदन राजा हुआ। संभवतः उसकी राजधानी तोंडी थी। संगमयुगीन परम्परा के अनुसार उसने दण्डकारण्य की उन जनजातियों को परास्त किया, जो प्रायः चेर राज्य के पर्वतीय जनजीवन में अशान्ति, लूटपाट तथा सम्पत्ति का अपहरण किया करती थी। उसने अपने राज्य की असंख्य भेंड़-वकरियों को उपर्युक्त जनजातियों से अपहृत करके उनसे उत्तरीपूर्वी सीमा को सुरक्षित किया।

अन्य नृपतिगण —संगमसाहित्य में उपर्युक्त नरेशों के अतिरिक्त कतिपय अन्य चेर शासकों का भी उल्लेख मिलता है। संभवतः वे उदियंजेरल वंश से पृथक् शाखा के शासकगण थे तथा वे अधीनस्थ सामान्त थे। इनमें अंदुवन, शेलवक्कडुंगी वलि आदन, ऐ, पारि तथा वलिआदन आदि विशेष उल्लेखनीय है। ये शासक संभवतः छोटे-छोटे प्रेदेशों, भू-भागों अथवा जनपदों के स्वतन्त्र अथवा सामन्त शासक थे। इन राजाओं के विषय में अन्य ऐतिहासिक सूचनाओं का नितान्त अभाव है।

चोल राज्य

चोल राज्य (चोलमण्डलम्) वर्तमान कावेरी नदी-घाटी, कोरोमण्डल, त्रिचिरापल्ली एवं तंजोर के भू-क्षेत्रों से परिवेष्ठित था। **नीलकण्ठ शास्त्री** इस राज्य की सीमा पूर्वीसमुद्रतट के पेन्नार नदी से लेकर पश्चिम में कुर्ग क्षेत्र तक मानते हैं। इसमें

संभवत: तोंडमंडम्, प्रेश भी सम्मिलित था। इसकी प्रारम्भिक राजधानी उत्तरी मनलूर नगरीथी। रन्तु कालान्तर में उरैयूर (उरगपुर, त्रिचनापली के निकट) इसकी राजधानी बनायी गई। चोलों का प्रारम्भिक उल्लेख पाणिनी-कृत अष्टाध्यायी, कात्यायनकृत वार्तिक, महाभारत, अशोक के शिलालेख (धौली, शिला लेख—2), महावंश, संगम-साहित्य, पुराण तथा पेरिप्लस के लेखों आदि में मिलता है। टालमी दो चोल-राज्यों का उल्लेख किया है जिसमें उत्तरी चोल राज्य अर्काट (Arkatos) तथा दक्षिणी चोल राज्य उरैयूर (उरगपुर अथवा ओरथौरा) केन्द्रों से शासित था। **टी० वी० महालिंगम** के अनुसार टालेमी द्वारा उद्धृत अर्काट (Arkatos) की पहचान आधुनिक आरक्काडु (तंजोर जनपद) स्थल से की जा सकती है। इसी प्रकार उन्होंने उरैयूर नगर का समीकरण नेगपतम् नामक स्थान से किया है, जो सम्प्रति कावेरी नदी के मुहाने से लगभग 60 किलोमीटर दूर स्थित एक सुन्दर नगर है। संगमयुगीन चोल राजवंश का प्रथम शासक **'उरवप्पहर्रे इलनजेतसेन्नि'** था। उसने राजधानी उरैयूर (उरगपुर) की स्थापना की थी। सम्भवत: उस समय चोल राज्य में 'तोन्डमंडम्' क्षेत्र (वर्तमान कांजीवरम् तथा तिरुपात जनपद-क्षेत्र) सम्मिलित नहीं था। उसने वेलिर (Velir) वंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य को सुरक्षित किया। संगम-साहित्य के काव्यात्मक उल्लेखों में कई चोल शासकों का वर्णन मिलता है, परन्तु उसके विषय में अन्य ऐतिहासिक सूचनाओं तथा नितान्त अभाव है।

उपर्युक्त प्रारम्भिक चोल नरेशों में सर्वाधिक शक्तिशाली तथा महत्त्वपूर्ण शासक करिकाल था। वह उरवप्पहर्रेइलनजेतसेन्नि का पुत्र तथा महान् योद्धा था। उसका बाल्यकाल विषम परिस्थितियों में बीता क्योंकि उसके राज्यारोहण के पूर्व ही उसके पिता की मृत्यु हो चुकी थी। प्राण-रक्षा के लिए उसने करुर नगर में शरण ले ली। कतिपय विद्वान् उसके नाम की व्याख्या करते हुए यह प्रस्तावित करते हैं कि संभवत: वह बचपन में अग्नि से जल जाने के कारण लंगड़ा हो गया था। करिकाल शब्द की उक्त व्याख्या के अतिरिक्त अन्यान्य विद्वानों ने इसका तात्पर्य कलि को समाप्त करने वाला, शत्रु-रुपी गज के लिए कालवत् अथवा काली टांग वाला लगाया है। इनमें कौन सा अर्थ यथेष्ट है, कुछ नहीं कहा जा सकता है। परन्तु संगम-साहित्य में वर्णित उसकी सामरिक सफलताओं की यशोगाथा के आलोक में 'करिकाल' का तात्पर्य करि (गज) के समान शत्रुओं के लिए काल के समान पराक्रमी लगना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। सुप्रसिद्ध संगम-संग्रह 'पटियनप्पालै' नामक ग्रन्थ में उसकी सफलातों का काव्यात्मक उल्लेख मिलता 'पत्तु पातु' नामक लम्बी संगम कविता में उसके द्वारा बलपूर्वक चोलराजसिंहासन के अधिग्रहण तथा राजधानी 'कावेरिप्पत्तिनम्' पर अधिकार-स्थापना का वर्णन मिलता है।

करिकाल एक महान् साम्राज्य विस्तारवादी नरेश था। उसने वण्णि (तंजोरनगर से 24 किमी० पूर्व में स्थित वर्तमान कोविल वेण्णि) के सरांगण में दो महत्त्वपूर्ण संग्राम जीता। इन युद्धों में उसको अपने शत्रु राज्यों—पाण्ड्यों, चेरों तथा उनके समर्थक अन्य सामन्त शासकों के विरुद्ध विजय प्राप्त हुई थी। संगम-साहित्य में उसके इन युद्धों का अतिरंजित परन्तु रोचक वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है। इन युद्धों के फलस्वरुप उसने वेलरि, चेर, पाण्ड्य तथा अनेक धुर दक्षिणी शासकों को पराजित करके

चोल-राज्य की श्रीवृद्धि की। उसका दूसरा उल्लेखनीय युद्ध 'वाहैप्परन्दलै' नामक स्थल पर पेन्नार-घाटी के नौ छोटे-छोटे शासकों की संघशक्तियों के विरुद्ध हुआ। उसने उक्त संघ-शक्तियों को पराजित कर विपुल सम्पत्ति तथा रत्नादि के अतिरिक्त अनेक राजछत्रों को अपहृत कर लिया था। इतना ही नहीं, उसने इस अभियान में पेन्नार नदी के निचले कांठे में रहने वाली 'अरुलावर' जनजाति को भी पराजित किया। 'पट्टिनप्पालै' ग्रन्थ में उसके द्वारा विजित राज्यों में एयिनार, ओलियार, अरुल्लावर तथा वडवर आदि को सम्मिलित किया गया है। **टी० वी० महालिंगम** का मत है कि इनमें एयिनार, ओलियार तथा अरुल्लावर 'तोण्डमंडलम्' की लड़ाकू जनजातियाँ थीं था वडवर संभवतः तमिल प्रदेश के वाहर रहने वाली जनजाति थी।

करिकाल ने अपने बाहुवल से संपूर्ण तमिल देश को अपने अधीन कर लिया। 'शिल्प्पदिकारम्' ग्रन्थ के अनुसार उसने उत्तरी भारत के मगध, अवन्ति तथा वज्र राज्यों के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किया था। **एस० के० आयंगर** ने इस उल्लेख को न केवल प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक सत्य माना है, अपितु वज्र देश को बुन्देलखण्ड से समीकृत भी किया है। उसकी अन्य विजयों में श्रीलंका (सिंहल) की विजय भी विशेष उल्लेखनीय है। संगम-साहित्य के विवरणों से ज्ञात होता है कि उसने कावेरी नदी के मुहाने पर 'पुहार' पत्तन (नगर) का निर्माण कराकर वहाँ से लाये गये वन्दियों को इस नगर में बसाया था। उसके पास शक्तिशाली नौसेना थी। करिकाल को संगम-युग का सबसे महान् तथा पराक्रमी शासक माना जाता है। **टी० वी० महालिंगम** के अनुसार उसका शासन-काल 140 ई० से 190 ई० के मध्य प्रस्तावित किया जा सकता है। उसने अपने शासन-काल में अनेक उद्योग-धन्धों के विकास तथा वाणिज्य एवं व्यापार की वृद्धि में विशेष योगदान किया। 'पट्टिनप्पालै' के रचनाकार ने उसके शासनकाल में विकसित, कृषि-उद्योग तथा वाणिज्यादि की अभिवृद्धि का विस्तृत उल्लेख किया है। उसके शासन-काल में पठारी एवं जंगली क्षेत्रों में सफाई करके कृषि-कर्मयोग्य भूमि को तैयार किया गया तथा वहाँ सिंचाई के लिए तालावों का निर्माण कराया गया। अपनी सफलताओं के परिप्रेक्ष्य में उसने विविध यज्ञों का आयोजन भी किया। उसकी उपर्युक्त उपलब्धियों के यशोगान में अनेक प्रशस्तियाँ लिखी गयीं। 11 वीं तथा 12वीं शताब्दियों के कतिपय अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों में उसका गुणगान मिलता है।

करिकाल की मृत्यु के पश्चात् चोल-राजसिंहासन के लिए **नलन्गिल्लित** तथा **नेडुंजेलि** राजकुमारों के बीच दीर्घकालीन युद्ध छिड़ गया। इस गृह-युद्ध की विभीषिका का काव्यात्मक वर्णन **कोवुर किलार** तथा अन्य संगम-युगीन कवियों ने किया है। **एस० के० आयंगर** के अनुसार करिकाल के उपरान्त उसका पुत्र अथवा पौत्र **नेडमुडकिल्लित** सिंहासन पर वैठा। उसने चोल राज्य के प्रतिद्वन्द्वी चेरों तथा पाण्ड्यों को 'कारिचारु' स्थान पर पराजित किया। उसके शासनकाल में 'कावेरीपट्टिनम्' का विनाश हुआ। नेडमुडकिल्लि के उपरान्त पल्लवों एवं पाण्ड्यों ने समय-समय पर अपनी शक्ति एवं प्रभुता की वृद्धि करके चोलों की अवशिष्ट शक्ति को गरिमाहीन कर दिया। ईसा की तृतीय शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के अन्तराल का चोल इतिहास लगभग अज्ञात एवं अस्पष्ट है। परन्तु 9 वीं शताब्दी ई० के मध्य चोल शासक विजयालय के कुशल नेतृत्व में उपर्युक्त राज्य दक्षिणी भारत में पुनः एक शक्ति केन्द्र के रुप में उदित हुआ।

पाण्ड्य राज्य

पाण्ड्य देश का प्राथमिक उल्लेख पाणनिकृत 'अष्टाध्यायी' (4-1-171) में मिलता है। वैय्याकरण कात्यायन के 'वार्तिक' तथा मेगस्थनीज की 'इण्डिका' में भी इस देश का विवरण मिलता है। एरियन उद्धृत मेगस्थनीज के उल्लेखों के अनुसार इस राज्य में उसके समय हेराक्लीज की पुत्री 'पण्डे' (पंडिया) शासिका थी। पाण्ड्य देश में उस समय कुछ 365 गाँव थे, जो प्रशासिका को नियमित कर तथा भेंट आदि प्रदान करते थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पाण्ड्य देश की राजधानी मदुरा (मदुरई) नगरी का उल्लेख आया है जो अपने वहुमुल्य मोतियों एवं उत्तम कोटि के वस्त्रों के उत्पादन तथा व्यापार-कर्म के लिए प्रसिद्ध थी। अशोक के शिलालेखों (शिला लेख 2 एवं 13) में पाण्ड्य राज्य को उसके राज्य की दक्षिणी सीमा के वाहर परिगणित किया गया है, जिस के साथ उसके मैत्रीपूर्ण राजनयिक सम्वन्ध थे। हाथीगुम्फा-अभिलेख में खारवेल द्वारा पाण्ड्यों के पराजय तथा वहाँ से हाथी, घोड़ा तथा विविध प्रकार के रत्नों को अपहृत कर कलिंग देश में लाने की सूचना दी गई है (.......हय हथि रतन मानिक) पडराजा........मानि रतनानि आहारापयति)। टालेमी ने इसे पाँडियोन (Pomdion) कहा है, तथा इसकी राजधानी मोदुरा (Modura) वताया है। रमेश चन्द्र मजूमदार[1] ने पेरिप्लस ऑव द इरिथ्रियन सी' के साक्ष्य को उद्धृत किया है, जिसमें पाण्ड्य राज्य की सीमा दक्षिण में कोमारी (कन्याकुमारी) से लेकर कारकै तक के भू-भागों को सम्मिलित किया गया है। सम्भवतः प्रथम शताब्दी ई० में इस राज्य में ट्रावन्कोर जनपद-क्षेत्र भी सम्मिलित था। इसकी प्रारम्भिक राजधानी 'तिरुनेलवेलि' जनपद में ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर स्थित कोल्कई थी। वाद में मदुरा उस राज्य की राजधानी हुई। स्ट्रवो ने आगस्टस-सीजर के दरवार में किसी पाण्ड्य शासक द्वारा भेजे गये राजदूत का उल्लेख किया है। विद्वानों का अनुमान है कि उक्त पांड्य नरेश संभवतः संगमयुगीन धुर दक्षिण भारतीय कोई पाण्ड्य शासक ही रहा होगा। इस राज्य में ताम्रपर्णी, वैगाई तथा कृतमाला नदियाँ वहती थी। संगम युगीन पाण्ड्य राज्य में मदुरई, रामनाथपुरम्, तिरुनेलवेलि, तिरुचिरापल्ली (त्रिचनापल्ली) तथा ट्रान्कोर जनपदों के भू-क्षेत्र समाविष्ट थे।

प्राप्त अनुश्रुतियों एवं अन्यान्य साहित्यिक साक्ष्यों में **वदिमवलनवनिन्न** नामक प्रथमिक पाण्ड्य शासक का उल्लेख हुआ है। तमिल-व्याकरणग्रन्थ 'तोल्काप्पियम्' की एक टीका में उद्धृत मर्किथि (Markithi) नामक मदुरा के शासक का समीकरण अधिकांश विद्वान् इसी शासक से करते हैं। शासकों के इस क्रम में मुदुकुडुमिपेरूवलुदि विशेष उल्लेखनीय हैं, जिसे महापराक्रमी, यज्ञकर्त्ता तथा कवियों का आश्रयदाता कहा गया है। अन्य प्राथमिक पाण्ड्यराजाओं में **मदिवननपोरकै** और इलमेरुव आदि के नाम भी अनुश्रुतियों में सुरक्षित हैं।

मान्गुडिमरुदन अथवा मान्नगुडिकिलार एवं नक्कीरर आदि संगम-युग के कवियों कतिपय पाण्ड्य शासकों की प्रशस्तियाँ लिखी हैं, जिन्हें 'पुत्तुपातु' में संकलित किया गया है। मान्गुडिमरुदन द्वारा विरचित-'मदुरैकांजी' तथा अन्य काव्यों में पाण्ड्य नरेशों यथा-नेण्डुडियोन, पल्शालइमुदुकडुमी तथा नेडुं-जेलियन आदि के विषय में ऐतिहासिक सूचनाएँ मिलती हैं। इनमें प्रथम राजा नेडियोन की उपलब्धियों का उल्लेख

वेलविक्कुडि एवं निन्नपनूर-ताम्रपत्रों में अवश्य मिलता है, परन्तु अन्य साक्ष्यों के अभाव में ये सूचनायें सम्यक् संपुष्ट नहीं हो सकी हैं। संगमसाहित्य एवं अनुश्रुतियों से पता चलता है कि उसने सर्वप्रथम पहरुली नदी का नामकरण किया तथा दक्षिण में सागर-पूजा की परम्परा भी प्रारम्भ की।

नेडियोन के उपरान्त पाण्ड्य में **पल्शालइमुदुकुडुमी** नामक नरेश सिंहासन पर बैठा। वेलविक्कुडिदानपत्र में उसे प्रथम पाण्ड्य राजा कहा गया है। 'पल्शालै' (यज्ञशालाओं का निर्माता) सम्भवतः उसका उपाधिनाम था। अनके संगमयुगीन काव्य-प्रशस्तियाँ इसी नरेश के गुणगान हेतु रची गई थीं। इनमें उसकी वीरता, धार्मिकता (यज्ञकर्त्ता) आदि गुणों के काव्यात्मक वर्णनों के अतिरिक्त शत्रुकुलों के साथ की गई उसकी क्रूरता तथा नृशंसता का भी उल्लेख मिलता है।

संगम-युग का सबसे अधिक उल्लेखनीय पाण्ड्यशासक नेडुं-जेलियन था। राज्यारोहण के समय वह नवयुवक ही था, परन्तु सैन्य-संचालन एवं प्रशासकीय कार्यों में उसे पूर्ण -दक्षता प्राप्त थी। उसकी आयु एवं अनुभव की कमी का लाभ उठाकर उसके प्रतिद्वन्द्वी चोलों तथा चेरों ने पाँच अन्य मित्र सामन्त शासकों के साथ एक संयुक्त-मोर्चो बनाकर पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण कर दिया। वीर नेडुं-जेलियन ने अपनी सेना लेकर तलैयालंगानम् नामक स्थल पर उपर्युक्त मोर्चे का सामना किया। उसने प्रतिद्वन्द्वी सेना को पराजित कर उन्हें चोल राज्य की सीमा तक खदेड़ दिया तथा चेर शासक 'शेय' को वन्दी बना लिया। उपयुक्त संघ-शक्ति को विफल कर उसने पाण्ड्य राज्य को न केवल सुरक्षित किया, अपितु धुर दक्षिणी भारतीय राज्यों पर अपनी शक्ति एवं प्रभुता की स्थापना भी की। उसकी इस विय का यशोगान तत्कालीन संगम-साहित्य के अतिरिक्त 10 वीं शती तक के अभिलेखों में भी उपलब्ध है। उसने अपने सामरिक अभियानों के फलस्वरुप कोंगु राज्य के शासक 'अलियन' एवं निडुरप्रदेश के राजा 'एव्वि' को भी जीत लिया। इसी क्रम में उसने मिललै तथा मल्लुर क्षेत्रों को भी वहाँ के सामन्त शासकों को पराजित कर अपहृत कर लिया। उसकी शासकीय योग्यता तथा वीरता का विवरण 'मदुरैकांजी' नामक संगम-काव्य में वर्णित है। उसकी सेना में मोती तथा मछली-संग्रह करने में निपुण समुद्रतट की पाण्ड्य जनजातियों को विशेष महत्ता प्रदान की गई थी।

नेडुंजेलियन स्वयं कवि तथा कवियों का महान् प्रशंसक था। उसके समकालीन नक्कीरर, कल्लादनार तथा मागुंडिमरुदन आदि कवियों ने उसकी महानता एवं उपलब्धियों का काव्यात्मक वर्णन किया है। 'मदुरैकाजी' में उसके शासनकाल में राजधानी मदुरा के गौरव एवं वैभव का विस्तृत वृत्तान्त मिलता है। उसने अपने शासनकाल में अनेक यज्ञों का विधान तथा व्यापारियों एवं कृषकों के कल्याण के लिये अनेक नई योजनायें कार्यान्वित किया। संगम-साहित्य में नेडुंजेलियन नाम के कई शासकों का उल्लेख मिलता है, परन्तु सम्भवतः वे नितान्त गौण शासक रहे होंगे। उपर्युक्त नरेश को उन सबसे पृथक् समझने के लिए कहीं-कहीं उसे तलैयालंगानतुच्चेरुवेन अर्थात् तलैयालंगानम्-युद्ध का विजेता भी कहा गया है। 'शिलप्पदिकारम्' काव्य में

1. रमेशचन्द्र मजूमदार, कलासिकल एकाउण्ट्स ऑव इन्डिया, पृ० 456-57.

वर्णित कण्णगी के निर्दोष पति 'कोवलौन' को उसके ही शासनकाल में मृत्युदण्ड प्रदान किया गया था। परन्तु जब उसे घटना की वास्तविकता एवं सत्य का पता चला तब उसने निर्दोष-व्यक्ति को प्राणदण्ड देने के प्रायश्चित में अपना प्राणत्याग कर दिया।

नेडुंजेलियन के शासनकाल में ही उसका अनुज **वेरिवरशेलिय कोरकै** में प्रान्तीय शासक नियुक्त हो चुका था। अपने अंग्रेज की मृत्यु के बाद वह मदुरा का भी शासक हो गया। उसने पतिव्रता 'सती कण्णगी' के सम्मान में एक विशाल उत्सव का आयोजन किया। मदुरा का शासक बनने पर उसने संभवतः 'नवभरन' की उपाधि धारण की।

संगम-ग्रन्थ पत्तपात्तु में 'शिरुपाण-आतरुप्पडै' शीर्षक से नत्तत्तनारा की कविताएँ संकलित की गई हैं। उसकी कविता का नायक **नल्लियक्कोडन** है, जिसे संगम-युग (275 ई०) का अंतिम शासक बताया गया है। नत्तत्तनार के अनुसार अब वंजी, उरैयूर तथा मदुरा आदि राजधानियों के महान् शासकों की परम्परा लगभग समाप्तप्राय थी। अतः ईसा की तीसरी शती तक चेरों, चोलों तथा पाण्ड्यों की संगमयुगीन ऐतिहासिक गतिविधियाँ पतनोन्मुखी मानी जा सकती है।

---

5 संगम साहित्य में वर्णित समाजार्थिक जीवन

संगम-साहित्य एवं समाज

संगम-कालीन ने देश-काल के अनुसार विभिन्न अवसरों पर अपनी कविताओं का सृजन किया था। इसकी एक दीर्घकालीन साहित्यिक परम्परा थी। कालान्तर में इन रचनाओं को संकलित तथा प्रकाशित करने के लिए तमिल देश में ईसा पूर्व द्वितीय-तृतीय शताब्दियों के आस-पास कतिपय संगम अथवा संघम् (संघाटम्) की स्थापना की गई। इन संगमों (परिषदों) की स्थापना के फलस्वरुप धुर दक्षिण भारत में स्फुट तमिल-कविताओं के विधिवत् संकलन का कार्य प्रारम्भ हुआ। विभिन्न कालों एवं अवसरों को समाविष्ट करने के कारण संगमयुगीन साहित्य में प्रायद्वीपीय तमिल देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा अन्य सांस्कृतिक परम्पराओं को यथासम्भव आत्मसात् किया गया है, जिनके आधार पर तत्कालीन तमिल समाज एवं संस्कृति की प्राचीन परम्पराओं का परिज्ञान होता है। यहाँ इस बात का स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि सम्प्रति उपलब्ध संगम-साहित्य, संगम-युग के उत्तरार्द्ध में स्थापित तृतीय संगम के माध्यम से ही संग्रहीत एवं संकलित किया गया। इस युग के पूवार्द्ध में असंख्य तमिल साहित्य संग्रहीत एवं संकलित किया गया। इस युग के पूर्वाद्ध की असंख्य तमिल रचनायें, जो अपने युग की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की वाहिका थीं, अब अप्राप्य हैं। संगम युगीन साहित्यिक परम्पराएँ, वेदों की भाँति, विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। इनमें उत्तर भारतीय आर्य संस्कृति के संपर्क में आने के फलस्वरुप दक्षिण भारतीय आद्य तमिल संस्कृति में उद्‌भूत नवीन सांस्कृतिक धाराओं एवं उनके प्रभावों को दिग्दर्शित एवं यथासम्भव आत्मसात किया गया है। निश्चयतः धुरप्रायद्वीपीय भारत की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संरचना तथा ऐतिहासिक ज्ञान में संगम-साहित्य कई दृष्टि से महत्तम स्थान रखता है।

सामाजिक वर्गभेद

संगम युग का तमिल समाज अनेक वर्गों में विभक्त था। उत्तर-भारतीय चार वर्णों में सामाजिक विभाजन की कोई रुप रेखा इस काल के तमिल समाज में परिलक्षित नहीं होती तथा वहाँ चातुर्वर्ण-व्यवस्था के स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलते हैं। संगम-साहित्य से यह अवश्य ज्ञात होता है कि वहाँ विभिन्न वर्गों में विभाजित समाज अस्तित्व में आ चुका

था । इस युग में तमिल देश में ब्राह्मण-पुरोहितों का एक नवीन वर्ग उदित हो चुका था । वर्ग के रुप में क्षत्रियों एवं वैश्यों का उल्लेख उपर्युक्त साहित्य में उल्लिखित तो नही है, परन्तु तत्कालीन समाज में कम से कम सैनिक वर्ग का स्पष्ट उल्लेख अवश्य मिलता है । सेना के नायकों को औपचारिक राजकीय **आयजनों** के द्वारा 'एनाडि' (Enadi) की उपाधि दी जाती थी तथा समाज में उन्हें उच्च एवं सम्मानित वर्ग में परिगणित किया जाता था। इसी प्रकार चोल एवं पाण्ड्य राज्यों में सम्पन्न कृषकों 'वल्लाओं (Vallalas) को सेना तथा सरकारी उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था। ऐसे उच्चपदस्थ वल्लालों को तत्कालीन समाज में एक पृथक् वर्ग के रुप में मान्यता प्राप्त थी । वल्लालों में भी दो सामाजिक स्तर प्रतिभासित होते हैं । प्रथम वर्ग में सम्पन्न, जमींदार तथा कृषकगण (वल्लाल) थे, जिन्हें संगम कालीन समाज में सम्भ्रान्त तथा शासक वर्गों में परिगणित किया गया है । दूसरा वर्ग अपेक्षाकृत कमजोर, गरीव, भू-स्वामित्वहीन सर्वहारा वल्लालों का था, जिनकी सामाजिक स्थिति शूद्रों से कथमपि भिन्न नहीं थी । इस प्रकार संगम कालीन समाज में मोटे तौर पर निम्नलिखित पाँच प्रमुख वर्गों को इङ्गित किया जा सकता है—1. ब्राह्मण (पुरोहित वर्ग), 2. अरसर (शासक वर्ग), 3. वेनिगर (वाणिक् वर्ग), 4. वल्लाल (बड़े कृषक तथा शासक वर्ग) तथा 5. वेल्लालर (मजदूर कृषक वर्ग) ।

ब्राह्मण वर्ग —संगम युग के पूर्व तमिल समाज में ब्राह्मणों (पुरोहित वर्ग) का अस्तित्व नहीं था। तमिल देश में सर्वप्रथम संगम युग में ही वैदिक परम्परा के पोषक ब्राह्मण-पुरोहितों का आविर्भाव हुआ । संगम-साहित्य से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में उनका वड़ा सम्मानजनक स्थान था । ब्राह्मणों को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचाना तथा उन्हें सम्मान देना, इस काल के राजाओं का आदर्श था। वह अपने दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलापों तथा राजकीय-कार्यों के संचालन में योग्य ब्राह्मणों की मंत्रणा लेता था तथा अधिकतर उनके सुझावों के अनुसार ही राजाज्ञा पारित करता था । इस साहित्य से ज्ञात होता है कि उस युग में सुदुर दक्षिण भारतीय राज्यों में वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का प्रचलन हो चुका था । वड़े यज्ञों के अनुष्ठान अधिक व्ययसाध्य थे, तथा ऐसे यज्ञों को राजा अथवा धनाढ्य वर्ग के लोग ही संपन्न करते थे । परन्तु इन यज्ञों के प्रचलन तथा उनमें वढ़ती हुई तमिलों की आस्था के फलस्वरुप राजदरवारों तथा संम्पन्न परिवारों में ब्राह्मणों तथा पुरोहितों की प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी । ब्राह्मणों को सम्मानपूर्वक दान देना तथा उन्हें सदा प्रसन्न रखना, संगम-युग के शासकों का राजोचित आदर्श वन चुका था । राजदरवारों में कवि के रुप में ब्राह्मणों का सहज प्रवेश तथा आदर्श वन चुका था । शासकीय निर्णयों में उनके सुझाव का विशेष समादर था । उन्हें समय-समय पर स्वर्ण-मुद्रायें, भूमि, अश्व, गज, रथ आदि उपहारों से सम्मानित किया जाता था। संगम-युग के चोलशासक करिकाल ने ऐसे ही एक ब्राह्मण-कवि को, 16; 00; 000 स्वर्ण-मुद्रायें प्रदान की थीं । राजा को प्रायः उनके उत्तरदायित्व अथवा कर्त्तव्य का बोध ब्राह्मण कविगण ही कराते थे । कभी-कभी अनुदार शासक के सामाजिक प्रभाव को क्षीण करने में भी इन कवियों की प्रभावशाली भूमिका रहती थी ।

संगम-साहित्य से प्राप्त विवरणों से यह भी इङ्गित होता है कि तत्कालीन समाज में वैदिक परम्परा के पोषक ब्राह्मणों का एक पृथक् वर्ग अस्तित्व में आ चुका था। समाज में उनको विशेष सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। वे वैदिक साहित्य का अध्ययन, अध्यापन, काव्य-लेखन तथा यज्ञों का अनुष्ठान आदि कार्य संपन्न करते थे।

संगम-साहित्य में परम्परागत आदर्शों से च्युत ऐसे साधारण ब्राह्मणों के भी उल्लेख मिलते हैं, जो प्रायः मांस-भक्षण, ताड़ी-सेवन तथा सुरापान भी करते थे। इस काल के विवरणों से यह प्रतीत होता है कि संभवतः तत्कालीन समाज में उपर्युक्त खान-पान कम शिक्षित ब्राह्मणों के आचार-विचार का एक अङ्ग बन चुका था। इससे ध्वनित होता है कि दक्षिणी प्रायद्वीप के सामाजिक पुनर्गठन में कई शताब्दियों के अंतराल के बावजूद, प्रारम्भिक वैदिक परम्पराओं को विशेष महत्त्व दिया गया था।

शासक तथा सैनिक वर्ग—ब्राह्मणों के अतिरिक्त समाज में शासक वर्ग के लोगों को भी उच्च स्थान प्राप्त था। इस काल के अधिकांश राज्यों में उत्तराधिकार के लिए हुए युद्धों के विवरणों से ज्ञात होता है कि तमिल देश में राज्यों का स्वरुप संभवतः कुलसंघात्मक था। प्रायः कुलविशेष के विभिन्न परिवारों के वयस्क एवं सक्षम पुरुष राज्य-कार्य में भाग लेते थे। संगम-कवियों द्वारा लम्बे गृहयुद्धों तथा एक ही वंश के कई शासकों के नामों की सूची से उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। राजा सर्वशक्तिसम्पन्न होता था। उसका संपूर्ण आग्रह तथा लक्ष्य प्रजाजनों का कल्याण करना ही था। इस काल के साहित्यिक उल्लेखों में सामान्यतया प्रजा को सुखी बताया गया है तथा प्रजा के प्रति राजा के गम्भीर दायित्वबोध का उल्लेख मिलता है। राजा का परम आदर्श था—प्रजा को अपनी संतान के समान मानना, लोकोपकारी कार्यों से तथा निष्पक्ष न्याय देकर जनता का सदा कल्याण करना। इस काल के शासक प्रायः पेशेवर सैनिकों को अपनी सेना में रखते थे। सामान्यतया सेना में रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सैन्य-दलों को संगठित किया जाता था। राजा के आवास-महल में सुरक्षा हेतु पुरुष सैनिकों के अतिरिक्त सशस्त्र महिलाएँ भी रखी जाती थीं। युद्ध के समय प्रायः शत्रु-राज्यों की कृषि आदि को भी नष्ट करने की परम्परा थी। युद्ध में मृत सैनिकों की स्मृति में प्रस्तर-निर्मित मूर्तियाँ बनाकर उनके मृत्यु स्थल पर ही गाड़ने की भी प्रथा प्रचलित थी। राजा को राज्य का ही प्रमुख नहीं अपितु समाज का भी प्रधानतम पुरुष माना जाता था। वह ललित कलाओं को प्रोत्साहन तथा संरक्षण देने के लिए समय-मय पर सांस्कृतिक समारोहों का आयोजन करता था। संगम-युग के कवियों ने राजाओं द्वारा कवियों एवं कलाकारों को स्वर्णादि सम्पत्तियों से सम्मानित करने का वर्णन किया है। कलाविदों में सर्वाधिक सम्मान कवियों को प्राप्त था। शासक वर्ग के लोग उन्हें समाज का सर्वश्रेष्ठ उन्नायक तथा बुद्धिजीवी मानते थे। राज दरबारों में उन्हें सम्मान, प्रश्रय तथा संरक्षण प्रदान किया जाता था। संगम-युगीन शासकों के राजकोष की विपुल धनराशि तत्कालीन कवियों को प्रदत्त पारितोषिकों के वितरण में खर्च होती थी।

शासकों का मनोरंजन कविता के अतिरिक्त लोकगायकों एवं नर्तकों द्वारा प्रस्तुत मंडलियों के संगीत से भी होता था। गायकों की कुछ मंडलियाँ राजदरबार में ही संरक्षित की जाती थीं। इनके अतिरिक्त कतिपय मंडलियाँ तमिल जनजातियों की भी

थीं, जो यायावरी जीवन व्यतीत करती थीं । परन्तु राजदरवारों का संरक्षण न मिलने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय रहती थी । शासकों तथा उनकी सेना के नायकों (कप्तानों) के पास प्रचुर धनसम्पत्ति होती थी। फलतः वे नाना प्रकार के भोग-विलासों में लिप्त रहले थे । संगम-युग के अधिकांश कवियों ने शासक-वर्ग में प्रचलित विषय-वासना, सुरा-पान, ताड़ी-पान तथा मनोरंजन के विविध सस्ते साधनों का चित्रण किया है । इस युग की जनजातियों के अधिकांश लोग पशु-चोरी, लूट-पाट तथा नृशंस कार्यों में व्यस्त आक्रान्ता थे । **एम० जी० एस० नारायणन** ने संगम-साहित्य में वर्णित लड़ाकू जनजातियों के शासकों के विशिष्ट रीति-रिवाजों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिनमें 'मरवा' नामक जनजाति में प्रचलित 'वेत्चीप्रथा' विशेष उल्लेखनीय है । इस प्रथाके अन्तर्गत पशुओं की चोरी, दूसरे राज्यों की सम्पत्ति का अपहरण तथा लूट-मार आदि कर्मों की पूरी छूट होती थी । वे मैदानी भू-भागों के पशुओं का अपहरण करके उनके मालिकों के साथ आये दिन लूट-मार करने में अपना जातीय शौर्य मानते थे ।

'पुरुनानूरु' नामक संगम-काव्य में संकलित एक कविता में वेत्वी-नायकों द्वारा मैदानी-क्षेत्र के चरवाहों को मारकर उनकी गायों के झुंड को छीनने तथा उन्हें उपहार के रुप में बाँटने की प्रथा को, उक्त जनजातियों के नायकों का वीरोचित कर्म बताया गया है । वीर मरवा-नायकों को संगम-कालीन राजाओं ने अपने सैन्य-अभियानों में भी सम्मिलित किया था । उनकी सहायता से राज्य सैनिकों के लिए मांसाहार की व्यवस्था करायी जाती थी तथा कभी-कभी उनके द्वारा पशु-हरण का धावा बोलवाकर शत्रुपक्ष को युद्ध का सामना करने की सूचना भी दे दी जाती थी । इस प्रकार संगम-युगीन शासकों ने वेत्वी-प्रथा का पोषण किया था । गाँव अथवा कवीले की सुरक्षा करना तथा अपने स्वामी के लिए शत्रुओं के साथ युद्ध करना, इन जनजातियों के मुखिया लोग अपना कुल-धर्म मानते थे । नायकों अथवा मुखियों के साथ कवीले के सभी पुरुष युद्ध के लिए जाते थे तथा जहाँ उनके मुखिया की मृत्यु अथवा हत्या हो जाती थी, वहाँ मृतक के सम्मान में पत्थर गाड़ दिया जाता था । 'मरवा' जनजाति के युवकों को संगमयुगीन अनेक राजाओं ने अपनी सेना में स्थायी रुप से प्रविष्ट कर लिया था । ये वरी तथा लड़ाकू कवीले के लोग न तो ब्राह्मणधर्म के आदर्शों में रुचि रखते थे और न ही पशुपालन अथवा कृषि-कार्य में। इस वर्ग के लोग मुख्यतः सैन्य-कर्मी थे। उपर्युक्त कवीलों के आचार-विचार, गोमांसाहार, युद्ध की मानसिकता तथा सैन्य मर्यादा, अपने नायकों में पूर्ण निष्ठा तथा उनकी मृत्यु पर पाषाण-स्मारकों का निर्माण आदि का संगम-युग की तमिल सामाजिक परम्पराओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा । उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संगमयुगीन सैन्य अभिजात-वर्ग ने सुनियोजित तरीके से कवीलाई साहसिकता को संयोजित करके उन्हें समाज की मुख्याधारा में मिलाने का प्रयास अवश्य किया था, क्योंकि वे उनके वर्गीय हितों की सुरक्षा एवं वृद्धि में सतत् सहायक हो सकने की सामरिक क्षमता से युक्त थे ।

व्यापारी वर्ग—संगम साहित्य में 'वेनिगर' अर्थात् व्यापारी-वर्ग के लोगों का उल्लेख मिलता है । इस वर्ग के लोग तमिल-देश के आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार में लगे हुए थे । संगम-साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारतीय कृषि योग्य

भूमि उपजाऊ थी। फलतः वहाँ गन्ना, चावल, नारियल आदि प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता था। इसके अतिरिक्त समुद्रों के तटवर्ती क्षेत्रों में मछली एवं मांस की प्रचुरता थी। इस काल के पुहार, तोण्डी, मुशिरी तथा वञ्जि आदि नगरों के उत्खननों से उपलब्ध साक्ष्यों तथा स्फुट साहित्यिक उल्लेखों से तत्कालीन दक्षिण भारतीय आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार की प्रगति का ज्ञान होता है। पुहार वन्दरगाह के व्यापारी वैदिशिक व्यापार, वाणिज्य एवं आर्थिक प्रगति के कारण वहुत धनाढ्य थे। इन नगर में व्यापारियों के पास प्रायः दो मंजिले भव्य भवन थे। नीचे की मंजिल में व्यापारिक माल रखा जाता था तथा ऊपरी मंजिल में व्यापारियों का परिवार रहता था। वन्दरगाहों में यवन (संभवतः अरव) आदि विदेशी व्यापारी आकर ठहरते थे। वे अपने विक्रय माल के साथ वोतलों में शराव तथा विचित्र प्रकार के दीपक भी लाते थे। इस काल के नगरों में निर्मित धनाढ्य व्यापारियों के भवन धंट तथागारे से वने थे। 'वेनिगरों' की तुलना में चेति-वर्ग के व्यापारियों का कम महत्त्व था क्योंकि वे साधारण कोटि के व्यापारी थे। वे लोग हल्के-फुल्के व्यापार के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। इस काल के अन्य व्यावसायिक वर्गो में पुलैयन (रस्सी बनाने वाले), शिकारी, मछुवारे, कुम्हार, लुहार, स्वर्णकार, वढ़ई तथा गड़ेरिये आदि भी सम्मिलित थे, जो अपने जातीय पेशों से जीविकोपार्जन करते थे। इन व्यावसायिक वर्गों की सामाजिक स्थिति विशेष सम्मानजनक न थी। संगम-साहित्य के उल्लेखों के आधार पर यह मानना असंगत लगता है कि तत्कालीन समाज में व्यापारी-वर्ग को वैश्य वर्णों की सी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। **रामशरण शर्मा**[1] के अनुसार संगम-कालीन समाज में व्यापारियों की वैश्यों जैसी मान्यता न थी तथा वल्लानों (कृषकों-शूद्रों) एवं उनमें सामाजिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर भी नहीं था।

कृषक एवं मजदूर वर्ग —संगम युग में सर्वाधिक उल्लेखनीय वर्ग 'वल्लालों' (कृषकों) का था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राक्-संगम-युग में, जवकि कृषि-कर्म का विशेष प्रचलन नहीं हो सका था, वल्लाल वर्ग के लोगों की सामाजिक स्थिति दयनीय थी। परन्तु कालान्तर में प्रायद्वीपीय भारत में कृषि-कर्म के व्यवस्थित होने और उसकी संवृद्धि के फलस्वरुप वल्लालों का एक शक्ति संपन्न वर्ग क्रमशः प्रगति करके जमींदार वन गया। संगम कालीन 'पुरनानूरु' काव्य ग्रन्थ में संकलित एक कविता से पता चलता है कि वल्लालों का एक वर्ग तत्कालीन समाज में शासक-वर्ग के समान महत्त्वपूर्ण हो गया था। वे उच्च सैनिक एवं सरकारी पदों पर नियुक्त किये जाते थे। संगम, युगीन सेनाओं में उन्हें महत्त्वपूर्ण उच्चस्थ पद दिया जाता था। चोलसेना में उनकी उपाधि 'अरशु' तथा 'वेल' और पाण्ड्यसेना में 'काविदी' थी। वल्लालों का जो वर्ग अपना मूल पेशा अर्थात् खेती में संलग्न था, उन्हें 'वल्लालर' तथा उनके मुखियों का 'वल्लिर', कहा जाता था।

वी० कनकसम्भई[1] के अनुसार संगम कालीन सामाजिक-आर्थिक संरचना में व्राह्मणों का एक उल्लेखनीय प्रयास यह भी था कि उन्होंने वल्लालों को उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार अनेक वर्गों में विभक्त करनेका प्रयास किया। संगम युग में वल्लालों

---

1. राम शरण शर्मा, सोशल चैंजेज इन अर्ली मेडिवल इण्डिया, पृ 12.
1. दृष्टव्य, राम शरण शर्मा द्वारा संपादित, इण्डियन सोसाइटी : हिस्टॉरिकल प्रोविंग्स, पृ० 130.

का समाज स्पष्टत: दो वर्गों में विभक्त था—1—संपन्न कृषक (जमींदार वर्ग) तथा 2—विपन्न कृषक (मजदूर कृषक वर्ग)। संपन्न कृषक 'वल्लाल' वर्ग के लोग सेना तथा अन्यान्य शासकीय पदों पर नियुक्त होते थे। उनके पास प्रचुर कृषि-कर्म योग्य भूमि होती थी जिसे सर्वाहार वल्लार वर्ग के लोग कार्य करते तथा मजदूरी से अपनी जीविका चलाते थे। शासक वर्गीय वल्लाल लोग राजा के विशेष विश्वास-पात्र होने के कारण शिकार के समय भी उनके साथ रखे जाते थे। संगम-साहित्य में राजपरिवारों अथवा शासकों के साथ उनके वैवाहिक सम्बन्धों का भी उल्लेख मिलता है। संपन्न कृषक होने के साथ-साथ उनके राजकीय परिवेश एवं सम्बन्धों के फलस्वरुप वल्लालों को तत्कालीन समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था।

वल्लालों का दूसरा वर्ग खेती तो करता था लेकिन उसके पास निजी जोत की भूमि नहीं थी। सामान्यतया वे संपन्न वल्लाओं की भूमि पर जो मजदूरी करते थे ऐसे मजदूर वल्लालर कृषक निर्धन होते थे तथा उनकी संख्या भी समाज में अधिक थी। फलतः इस प्रकार के सर्वहारा भूमिहीन मजदूरों का एक पृथक् वर्ग बन गया था। संगम-युगीन साहित्य में तत्कालीन कृषि-कर्म में गन्ना उगाने, उस से चीनी बनाने तथा विविध प्रकार के खाद्यानों एवं फलों आदि को पैदा करने का वर्णन मिलता है। तमिल राज्यों की राजकीय आय का प्रमुख स्रोत तथा सामाजिक जीवन के निर्वाह की आधार शिला कृषि ही थी। निरन्तर संघर्षरत संगम कालीन नियमित एवं स्थायी सेना का भरण-पोषण मूलतः कृषि पर ही आधारित था। अतः कृषक वल्लालों का तत्युगीय अर्थव्यवस्था एवं उत्पादन में महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। संगम-साहित्य में 'वेल्वि' शब्द 'यज्ञ' के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु उपर्युक्त साहित्य में वेल्लालों द्वारा वेल्लिवू अथवा वैदिकयज्ञों के अनुष्ठान करने का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इस शब्द पर विमर्श करते हुए **आर० चम्पकलक्ष्मी** का सुझाव यौक्तिक प्रतीत होता है कि संगम-साहित्य में 'वेल्वि' का उल्लेख संभवतः किसी तमिल रीति रिवाज के लिये हुआ है। इसका विधान किसी न किसी रुप में भूमि-अधिकारों से सम्बन्धित रहा होगा। कालान्तर में वेल्विविधान के अन्तर्गत यज्ञ-अनुष्ठान आदि कर्म भी जुड़ गये, जिन्हें तत्कालीन राजाओं ने यथावसर संपन्न किया था।

संगम-ग्रन्थों में कतिपय पहाड़ी एवं जंगली जनजातियों का भी उल्लेख मिलता है जो अधिकांशतया निर्धन थीं। इन जातियों के लोग जीविका-हेतु नये-नये पेशे अपना रहे थे। जंगली जातियों के लोग प्रायः शिकार, लोहे के आयुध-निर्माण तथा शहद-संग्रह आदि काम करते थे। समुद्र-तटीय नगरों एवं बन्दरगाहों में समुन्नत व्यापार तथा तटीय मैदानों में समुन्नत खेती के होते हुए भी तत्कालीन समाज में ऐसी जातियों में निर्धनता ऍवं पिछड़ापन व्याप्त था।

संगम युगीन तमिलसमाज में विभिन्न वर्गों की सामाजिक स्थिति पर विचार करते हुए **नीलकण्ठ शास्त्री**[1] का यह मत ध्यातव्य है कि तत्कालीन समाज में आर्य संस्कृति के मूलभूत आदर्शों का स्वांग हो रहा था तथा आद्य तमिल अथवा द्रविड़-संस्कृति के मूलभूत आदर्शों के साथ उनका सामञ्जस्य स्थापित हो रहा था। उनके अनुसार इस

---

1. नीलकण्ठ शास्त्री, हिस्ट्री ऑव साउथ इण्डिया, पृ० 64.

समाज में वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक आदर्शों के कारण किसी भी वर्ग में अशान्ति न थी तथा समाज में सांस्कृतिक दृष्टि से सामञ्जस्य बना हुआ था। शास्त्री के उपर्युक्त मत से **सुवीरा जायसवाल**[2] इस तर्क के साथ असहमति व्यक्त करती हैं कि संगमयुगीन कवि, जो प्रायः ब्राह्मण वर्ग के थे, अधिकतर उच्च वर्गों के आदर्शों के ही पोषक थे, । अतः उनके साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि उस युग में समाज के सभी वर्गों में शान्ति, संतोष एवं सामञ्जस्य व्याप्त था। वस्तुतः आर्य परम्पराओं एवं आदर्शों से किञ्चित अधिक ही मूल तमिल सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराएँ भी तत्कालीन समाज पर पर्याप्त प्रभाव रखती थीं तथा समाज के पिछड़े वर्ग के लोग नवोदित शासकों के सामाजिक तथा आर्थिक उत्पीड़न से आक्रान्त भी थे। सम्भवतः सर्वहारा वर्ग के लोगों के शोषण एवं उत्पीड़न का यथातथ्य उल्लेख उपर्युक्त साहित्य में नहीं किया गया है और ऐसा किया जाना अकारण भी नहीं था।

स्त्रियों की स्थिति —संगमयुगीन समाज में पुरूषों की महत्ता तथा उनका प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। उच्चवर्ग के लोगों में अतिशय सम्पन्नता के कारण विलासप्रियता बढ़ चुकी थी। इस काल के राजाओं के महलों में स्त्रियाँ सशस्त्ररक्षिका के रुप में नियुक्त की जाती थी। निम्नवर्ग की स्त्रियाँ खेतों में पुरुषों के साथ काम करती थीं तथा उनकी स्थिति सर्वहारा वर्ग से भिन्न नहीं थीं। उरैयूर नगर में उस यूग में सूती वस्तों के निर्माण का कार्य बिशेष विकसित था। वहाँ सूत कातने का कार्य परम्परागत या स्त्रियों को ही करना पड़ता था। परन्तु सर्वहारावर्गीय उपर्युक्त स्थितियों के अपवाद में तमिल-साहित्य में कतिपय ऐसी स्त्रियों का भी उल्लेख मिलता है, जो उच्चकोटि की कवियित्री थी। ओवैयर तथा नच्चेलियर आदि नाम उच्चवर्गीय स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को इङ्गित करते हैं। परवर्ती संगम-ग्रन्थ 'मणिमेखला' के अनुसार संगमयुगीन शासकों अथवा उच्चवर्ग के लोगों की उपपत्नियों को नियमित रुप से शिक्षा दी जाती थी। दीर्घकाल तक चलने वाली उनकी शिक्षा के मुख्य अध्येय विषय थे—दरबारीनृत्य, लोकनृत्य गायन, सारंगी, वेणु-वादन, सुस्वादुपाक-कला, चित्रकारी, कढ़ाई तथा अन्याय उपकलाएँ। अभिजात्यवर्ग के नवयुवक एवं नवयुवतियाँ जलक्रीड़ा में एक साथ भाग लेते थे। नर्तकियाँ कभी-कभी शासकों की प्रेमिका के रुप में रानियों की प्रतिद्वद्विनी हो जाती थीं। संगम-साहित्य में 'कण्णगी' तथा 'कौवलन' आदि नारियों की कहानी उपर्युक्त तथ्य को पुष्ट करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-पुरोहित तथा शासकवर्ग की स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अपेक्षाकृत ठीक थी, परन्तु अन्य वर्गों से सम्बन्धित स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। स्त्रियाँ प्रायः घर-गृहस्थी का कार्य करती थीं। कमजोर आयवर्ग की स्त्रियाँ परिचारिका तथा खेती आदि में मजदूरी करती थीं।

विवाह एवं परिवार —शासकवर्ग तथा धनाढ्यवर्ग के लोग प्रायः एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करते थे। संगम-व्याकरण-ग्रन्थ 'तोल्काप्पियम्' के अनुसार तमिल देश में विवाहों का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता है कि इस युग में उपर्युक्त आठों प्रकार की विवाह-प्रणाली किस सीमा तक प्रचलित थी। संगम-ग्रन्थों में प्रेमविवाह का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिसे 'पंचतिणै' कहा गया है।

2. द्रष्टव्य, राम शरण शर्मा द्वारा सम्पादित, इण्डियन सोसाइटी : हिस्टॉरिकल प्रोबिंग्स, पृ० 151.

एकपक्षीय प्रणय को 'कैक्किणै' तथा अनुचित प्रणय को 'पेरुन्दिणै' नामों से सम्बोधित किया गया है। **नीलकण्ठ शास्त्री** की धारणा है कि इस काल में मूल तमिल-संस्कृति में प्रचलित विवाह-प्रथा में सम्भवतः वैदिक आर्य विवाह-पद्धतियों को प्रचलित करने का प्रयास अवश्य चल रहा था।

संगमयुगीन समाज में विधवाओं की दशा विशेष दयनीय थी। स्त्री का पति जब दिवंगत हो जाता था तब उसे ठंडे जल से स्नान करना पड़ता था। भोजन में अनिवार्यतः उसे हरी सब्जी का सदा के लिए परित्याग करना पड़ता था इसके साथ ही साथ उसके लिए आभूषण-परित्याग तथा वेणी-कर्त्तन करवाना भी अनिवार्य था। विधवाओं का शिरोमुण्डन-संस्कार प्राक्संगमयुगीन परम्परा थी। इस प्रकार के कष्टसाध्य एवं अमानुषिक जीवनयापन की तुलना में सती होना अधिकाशं स्त्रियाँ वरेण्य मानती थीं। तत्कालीन समाज में सती-प्रथा प्रचलित अवश्य थी परन्तु बलपूर्वक किसी विधवा को 'सती' बनाने को निन्दनीय कार्य माना जाता था। विधवा स्त्री को उसके लिए विहित आचार-विचार के अनुकूल शेष वैधव्य जीवनयापन करना अच्छा माना जाता था। संगम-युग में 'पत्तिनी, अथवा 'कण्णगी-पूजा' को विशेष आदर दिया गया था। **शिल्पप्पदिकारम्** के अनुसार इस पूजा के प्रचलन में चोल, पाण्ड्य तथा सिंहल आदि राज्यों के शासकों ने भी सहयोग प्रदान किया था। 'पत्तिनी-पूजा' इस युग में एक नई प्रथा की शुरुआत थी, फलस्वरुप मातृसत्तात्मक तमिल-समाज क्रमशः पितृसत्तात्मक समाज की ओर अग्रसर होता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रथा को चेरशासक शेनगुट्टुवन ने तिमिल देश में सर्वप्रथम प्रारम्भ किया था।

मनोरंजन —संगमकालीन समाज के उच्चवर्गीय लोगों के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे—कवितापाठ, गायन, वादन तथा सुन्दरियों द्वारा प्रस्तुत नृत्यादि। कविता के प्रति इस युग के नृपतियों का विशेष लगाव था वे अच्छी कविताओं एवं सस्वर काव्य-पाठ पर मुग्ध होकर कवि या कवियित्री को विपुल पुरस्कार-राशि प्रदान करते थे। कवियों को ससम्मान राजदरबार में आमन्त्रित किया जाता था। कुछ कवियों को उनकी प्रतिभा का आकलन करके राजा लोग अपना सलाहकार भी बना लेते थे, जो उनके मनोरंजन के साथ-साथ उन्हें राजोचित कर्त्तव्य-बोध भी कराते रहते थे। कुछ कविगण यायावरों की भाँति एक दरबार से दूसरे दरबार में पहुँचकर काव्य-पाठ करते तथा उससे प्राप्त धन से अपनी जीविका चलाते थे।

संगीत-मण्डलियों के साथ प्रायः नर्तकियाँ भी रहती थीं। गायन के साथ साथ मनोरम नृत्य भी प्रस्तुत किया जाता था। संगम-साहित्य में इन्हें 'पाणर' तथा 'विडैलियर' कहा गया है। नृत्य तथा गायक-मण्डलियाँ भी प्रायः अनेक दरबारों में भ्रमण करती रहती थीं। शास्त्रीय गायन तथा नृत्यकला को समाज में विशेष आदर प्राप्त था। इस युग में इसका विशेष प्रचलन था तथा इसे विशेष लोकप्रियता भी प्राप्त थी। इस युग के नरेशों को भी वीणा, ढोल तथा बाँसुरी जैसे वाद्य-यन्त्रों को बजाने का बड़ा शौक था तथा उन्हें 'लय', 'सुर' आदि की पूर्ण जानकारी भी रहती थी। राजा करिकाल को संगीतकला का प्रख्यात ज्ञाता कहा गया है। कभी-कभी पुरुष एवं स्त्री दोनों मिलकर सह-नृत्य भी प्रस्तुत करते थे। मनोरंजन के अन्य साधनों में योद्धाओं के

बीच घूंसेबाजी, कुश्ती कुत्तों, खरगोशों, आदि का शिकार, पासा-खेलना आदि का प्रचलन था। महिलाएँ विशेषकर लड़कियाँ, गोलियों तथा मोलुक्का-वीन्स आदि खेलों से अपना मनोरंजन किया करती थीं।

खान-पान—संगमकालीन समाज में खान-पान में सामिष तथा निरामिष भोजनों में विशेष भेदभाव नहीं रखा जाता था। समाज में समादृत साधारण ब्राह्मण वर्ग के लोग भी मांसाहार करते थे तथा पेय के रुप में बड़े चाव से ताड़ी तथा सुरा-पान भी लेते थे। उच्चवर्ग के लोगों का खान-पान पर्याप्त स्तरीय था। उनके भोज्य-पदार्थों में चावल-दुग्ध, मछली तथा पौष्टिक एवं स्वादिष्ट पशुओं के मांस आदि समाविष्ट थे। भेंड़, बकरी, गाय, सुअर तथा मछलियों का मांस-भक्षण लोगों में अधिक प्रचलित था। संगम युग के सामान्य वर्ग के लोगों के भोजन में मछली, चावल, कुत्ता, खरगोश, सुअर तथा अन्य वनैले पशुओं का मांस-भक्षण आदि सम्मिलित थे। समाज के सभी लोग भोजन के साथ-साथ पेय के भी शौकीन थे। तत्कालीन साधारणजन दूध, नारियल, ताड़ी तथा गन्ने का रस पीते थे। उच्चवर्ग के लोग विदेशियों द्वारा लाई गई रोमन बोतलों में भरी उत्तम मदिरा, ताड़ी, नारियल, दूध तथा गन्ने के रस को पेय के रुप में ले लेते थे। संगमयुगीन समाज में भोजनोपरान्त पान तथा सुपारी खाने की प्रथा भी प्रचलित थी। उत्तम पकवानों तथा पेयों से अतिथि-सत्कार करने की प्रथा तत्युगीन समाज की उल्लेखनीय परम्परा मानी जा सकती है।

अन्य परम्पराएँ—संगमयुगीन समाज में अतिथि-सेवा एक परम सम्मान्य परंपरा थी। अतिथि को सुन्दर व्यञ्जनादि से सेवा करने के उपरान्त विदा करते समय उसके साथ कुछ दूर तक चलकर उसका सत्कार करना शिष्टाचार माना जाता था। संगमयुगीन कवियों ने सत्कार के लिए दिए गए विविध प्रीतिभोजों में परसे स्वादिष्ट मांसाहारों तथा उत्तम पेयों की बड़ी प्रशंसा की है।

संगम-समाज में व्यभिचार को सामाजिक अपराध माना जाता था। व्यभिचारिणी को विविध प्रकार से अपमानित करने के साथ-साथ, प्रायश्चित करने के लिए समुद्र में स्नान कराया जाता था। नर्तकियाँ नृत्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए बाधित थीं। भ्रूणहत्या महापाप माना जाता था। प्रसूतिकाओं को शुद्ध होने के लिए दस दिन के बाद रात्रि में स्नान कराया जाता था। गोहत्या तथा ब्राह्मणहत्या को भी महापातक माना जाता था।

संगम-साहित्य के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में लोग जादू-टोने तथा भूत-प्रेतों में भी विश्वास करते थे। स्वस्थ तथा सुन्दर शिशु पर नजर-टोना लगती है, ऐसी लोगों की मान्यता थी। इनके कुप्रभावों से बचाव के लिए बालक के शरीर पर तेल अथवा घी का लेप किया जाता था। बिखरे तथा भयंकर बालों वाली स्त्रियों को अमंगलकारी मानकर उनकी नजर से शिशुओं को तथा कुमारियों को दूर रखा जाता था। लोग प्रेतात्माओं पर विश्वास करते थे। उनके कुप्रभावों से मुक्त रहने के लिए ताविज पहनने की परम्परा प्रचलित थी। इस काल के समाज में भाग्यवेत्ता तथा ज्योतिषियों को विशेष सम्मान प्राप्त था। लोग दुष्टात्माओं, दुःखों एवं बीमारियों से बचाव के लिए तथा वाञ्छित कार्यों की सिद्धि के लिए विविध प्रकार के अनुष्ठान, पूजा,

मन्त्र, जप आदि अभिचार किया करते थे। पक्षियों में कौवा शुभ-सकुन का वाहक माना जाता था। लोग उसके लिए घर के बाहर भोज्यपदार्थ रखा करते थे क्योंकि वह प्रिय जनों तथा अतिथियों के आगमन की पूर्व सूचना देता था। तत्कालीन तमिल समाज में सूर्य एवं चन्द्र ग्रहणों के प्रति यह अंध-विश्वास प्रचलित था कि ग्रहण सूर्य द्वारा चन्द्रमा को तथा चन्द्रमा द्वारा सूर्य को निगलने के कारण होते हैं। मृतकों को जलाने तथा गाड़ने की परम्परा भी प्रचलित थीं। मृतकों को गाड़ते समय कभी-कभी अस्थि-कलश भी रखा जाता था। संगम युगीन जनजातियों में मृतकों के समाधि-स्थल पर पत्थर गाड़ने की प्रथा भी विद्यमान थी। विधवाएँ अपने मृत-पति के लिए चावल-पिंडों का दान करती थीं। संगम-युग में भी महापाषाणिक शवाधान की परम्परा के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें मृत-शरीर के साथ-साथ मृद्भाण्ड, लौह-खण्ड अथवा अन्य धातुओं के उपकरण आदि गाड़े जाते थे। शवाधान की उपर्युक्त परम्पराएँ आद्य तमिल संस्कृति की परिचायक हैं।

---

6 | वातापि का चालुक्य राजवंश

गुप्तोत्तरकालीन स्थितियाँ : दक्षिण भारत का संदर्भ

550 ई० के लगभग संपूर्ण भारतीय प्रायद्वीप में राजनीति विकेन्द्रीकरण का एक महत्त्वपूर्ण सिलसिला प्रारम्भ हो गया। यह विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया, उत्तर भारत में साम्राज्यवादी गुप्तों के पतन के बाद, मगध की दीर्घकालीन शक्ति के ह्रास के साथ क्रमश: मौखरि, परवर्ती गुप्त वर्धन आदि राजवंशों के अभ्युदय के रुप में तथा दक्षिण भारत में वातापि (बादामी) के चालूक्य तथा काँची के पल्लव राजवंशों के उदय तथा उनके वीच शक्ति-विस्तार की क्रमिक कशमकश से आँकी जा सकती है। 550 ई० से 750 ई० के वीच दक्षिणी भारत के राजनीतिक इतिहास की गतिविधियाँ चालुक्य एवं पल्लव राजवंशों के पारस्परिक संघर्ष एवं शक्ति-विस्तार की कहानी प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए यहाँ सर्वप्रथम वातापि के चालुक्य राजवंशों का परिचय प्राप्त करना अपेक्षित है।

चालुक्य : वंशनाम एवं उत्पत्ति —चालुक्य-वंश की उत्पत्ति के विषय में कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती हैं। कतिपय विद्वान् उन्हें 'शूलिक' जाति से सम्बन्धित मानते हैं, जिसका उल्लेख वराहमिहिर कृत 'बृहत्संहिता' में मिलता है। कुछ लोग उन्हें पश्चिमोत्तर भारतीय क्षेत्र में रहने वाले 'चुलिक (साग्डियन) राजवंश की एक शाखा मानते हैं। चन्द्रवरदाई द्वारा विरचित 'पृथ्वीराजरासो' में राजपूतों की भाँति चालुक्यों की उत्पत्ति को भी आवू पर्वत पर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ द्वारा किए गए लोक विश्रुत यज्ञ के अग्नि-कुण्ड से उद्‌भूत वताया गया है। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में उक्त वंश की उत्पत्ति भगवान ब्रह्मा के चुलुक से वताई गई है। परन्तु **विन्सेण्ट ए० स्मिथ** उन्हें विदेशी मानते हैं तथा उनका सम्वन्ध 'चंप' जाति से जोड़ते हैं, जो विदेशी गुर्जर जाति की ही एक शाखा थी। **दिनेश चन्द्र सरकार** के अनुसार चालुक्य जाति संभवत: कन्नड़ जाति की ही एक शाखा थी, जिसके संस्थापक का नाम 'चलिक' चल्क अथवा 'चलुक' था। इस राजवंश के लोग कालान्तर में शक्ति संपन्न हो जाने पर अपने को क्षत्रिय घोपित करने लगे थे। **जे० एफ० फ्लीट** तथा **के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री** का मत है कि इस वंश का प्रारम्भिक नाम 'चलक्य' था। **आर० जी० भंडारकर** तथा भगवान लाल इन्द्रजी के अनुसार इस वंश का प्रारम्भिक नाम 'चलुक्य' था। **एस० सी० नन्दिमथ** इसका प्रारम्भिक वंश-नाम, 'चल्कि', 'शल्कि' अथवा 'चलुकी' मानते हैं। कन्नड़भाषा में उक्त नाम कृषि के उपकरण के नाम हैं जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि चालुक्य-वंश के मूल संस्थापक संभवत: मूलत: कर्नाटक प्रदेश के कृषक थे, अपनी प्रतिभा एवं पौरुष के वल पर वाद में वे

कदम्ब-नरेशों की कृपा प्राप्त करके धीरे-धीरे उनके सामन्त शासक बन गए। अपने सामरिक शक्ति तथा लोकप्रिय शासन के कारण अवान्तर काल में इन्हीं चालुक्यों ने वातापि को केन्द्र बनाकर अधिराटत्व प्राप्त कर लिया।

यद्यपि वातापि के चालुक्य नरेशों के किसी भी अभिलेख में इस वंश की उत्पत्ति एवं जाति का उल्लेख उपलब्ध नहीं हो सका है, तथापि परवर्ती कल्याणी तथा वेंगी शाखा के चालुक्य-शासकों के कतिपय अभिलेखों में उन्हें चन्द्रवंशी क्षत्रिय उद्घोषित किया गया है। ये अभिलेख प्राय: 11 वीं शती अथवा इसके बाद की तिथियों के हैं, अत: चालुक्य-वंश की उत्पत्ति पर इनमें दिए गए उल्लेख कहाँ तक ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक स्वीकार किए जा सकते हैं, अभी भी गवेषणा का विषय है। चालुक्यों की जाति के विमर्श में ह्वेनसांग का विवरण विशेष ध्यातव्य है। उसने पुलकेशिन द्वितीय को स्पष्टत: क्षत्रिय कहा है। अत: उपर्युक्त साक्ष्यों के आलोक में चालुक्यों शासकों को क्षत्रिय जाति से सम्बन्धित माना जा सकता है।

चालुक्य राजवंश की शाखाएँ—चालुक्य राजवंश की कई शाखाएँ थीं। इनमें वातापि, वेंगी लाट और कल्याणी के चालुक्य ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं स्पष्ट साक्ष्य के अभाव में इन शाखाओं को किसी एक मूलवंश की शाखा स्वीकार करना बड़ा कठिन है क्योंकि इनके गोत्र-नामों में अन्तर मिलता है। गोत्र-नामों में भिन्नता से इन शाखाओं की वंशगत पृथकता द्योतित होती है। वातापि के चालुक्य नृपतियों ने अपने अभिलेखों (छठीं-सातवीं शती ई०) में अपना गोत्र-नाम 'मानव्य' उत्कीर्ण कराया है। परन्तु गुजरात अर्थात् पश्चिमी भारत के चालुक्यों ने अपने किसी भी अभिलेख में गोत्र-नाम का उल्लेख नहीं किया है। सौभाग्यवश 10 वीं शताब्दी के एक चेदि-विवरण में पश्चिमी भारत के उक्त चालुक्य नरेशों का गोत्र 'भारद्वाज' आख्यात मिलता है। प्रस्तुत विमर्श में **सी० सी० वैद्य** की धारणा है कि उपर्युक्त दोनों चालुक्यों राजकुलोंकी गोत्र-नामों में भिन्नता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वातापि के चालुक्यों तथा गुजरात अथवा लाट के चालुक्यों की शाखाएँ संभवत: एक दूसरे से भिन्न थीं।

चालुक्यवंश की विभिन्न शाखाओं और उनके उल्लेखनीय शासकों की नामावली का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित सूची से ज्ञात किया जा सकता है :

चालुक्य राज्य वंशावली

जयसिंह

रणराग

1—पुलकेशिन प्रथम (अनुमानत: 540ई० से 568ई० तक) वातापि अथवा वादामी के चालुक्य राजवंश का प्रमुख संस्थापक)

2—कीर्तिवर्मन् प्रथम (566-67 ई० से 597-98ई० तक)

3—रणविक्रांत मंगलेश (597-98 ई० से 608 ई० तक)

4—पुलकेशिन द्वितीय (लगभग 609ई० से 642-43 ई० तक) विष्णुवर्धन् (वेंगी के चालुक्य राजवंश का संस्थापक) (लगभग 615 ई० से 633 ई० तक)

5—विक्रमादित्य प्रथम (लगभग 655 ई० से 680 ई० तक)
6—विनयादित्य (680 ई० से 696 ई० तक)
7—विजयादित्य (696 ई० से 733-34 ई० तक)

↓ 8—विक्रमादित्य द्वितीय (लगभग 733-34 ई० से 746-47 ई० तक)
↓ 9—कीर्तिवर्मन् द्वितीय (लगभग 746-47 ई० से 757 ई० तक)

↓ भीम प्रथम
↓ तैल अथवा तैलप द्वितीय (कल्याणी के चालुक्य राजवंश का संस्थापक)

↓ भुवड़ प्रथम
↓ राजि
↓ मूलराज प्रथम (गुजरात के चालुक्य राजवंश का संस्थापक)
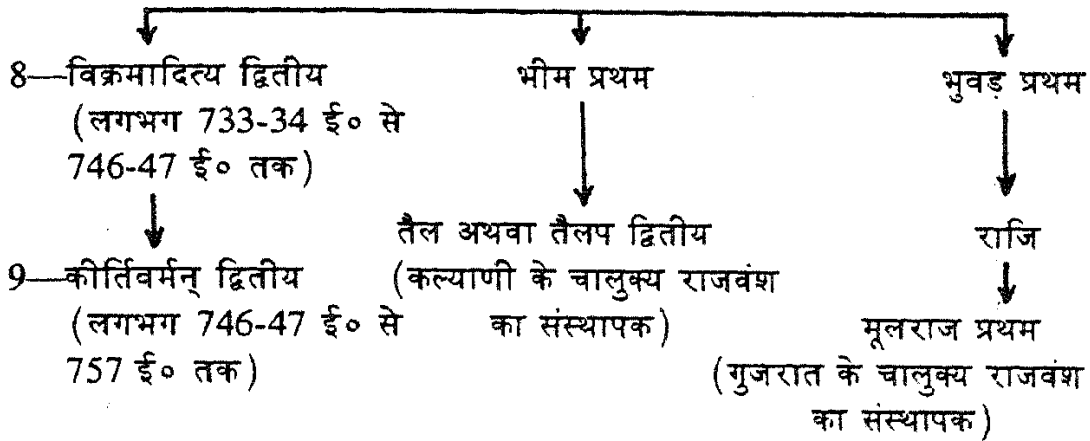
वातापि अथवा बादामी का चालुक्य राजवंश

प्रारम्भिक शासक : जयसिंह

कैरा-ताम्र-पत्र (472-73 ई०) से ज्ञात होता है कि वातापि अथवा वादामी के चालुक्य राजवंशों का प्रथम ऐतिहासिक एवं उल्लेखनीय नरेश जयसिंह था। वह संभवतः वनवासी के कदम्ब नरेशों के शासन-काल में अपनी प्रतिभा एवं साहस के वल पर आन्ध्र प्रदेश के वीजापुर एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों का सामन्त शासक वनाया गया था। सुप्रसिद्ध विद्वान् **एस० सी० नन्दिमथ** ने उसे शक्तिशाली कदम्वों का एक उच्चपदस्थ सैनिक अथवा प्रशासकीय अधिकारी वताया है। अभी तक जयसिंह के राज्यकाल का कोई अभिलेख उपलब्ध न हो पाने के कारण उसकी उपलब्धियों की सही जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। परन्तु परवर्ती चालुक्यों-साक्ष्यों से उसकी कतिपय विजयों, उपाधियों आदि की सूचना अवश्य मिलती है। जयदेवमल्ल के दौलतावाद-लेख में जयसिंह की कतिपय विजयों, का उल्लेख किया गया है तथा उसे कदम्ब-नरेशों के ऐश्वर्य का विनाशकर्त्ता कहा गया है। इसी प्रकार अवान्तर युगीन कल्याणी के चालुक्यों के शासनकाल में उत्कीर्ण कोथेम एवं अन्य अभिलेखों में उसे राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तथा उसके पुत्र कृष्ण पर विजय प्राप्त करने का श्रेय प्रदान किया गया है। राष्ट्रकूट शासक अभिमन्यु के एक तिथि-विहीन उन्दिक-वाटिका-लेख में जयसिंह नामक एक नरेश का उल्लेख मिलता है, जो हरिवत्स-किले का प्रशासक वताया गया है। इस अभिलेख के अक्षरों की वनावट छठीं शती ई० की वहु प्रचलित लिपि से पर्याप्त मेल खाती हैं अतः इसमें वर्णित उक्त राजा जयसिंह सम्भवतः वातापि के चालुक्य राजवंश का प्रथम शासक जयसिंह ही रहा होगा।

रणराग

जयसिंह का पुत्र रणराग उसका उत्तराधिकारी हुआ। संभवतः 520 ई० में उसने वातापि का राजसिंहासन प्राप्त किया। इस नरेश के शासन-काल का कोई अभिलेख अभी तक उपलब्ध नहीं है। परन्तु येवूर-अभिलेख में उसे एक पराक्रमी शासक बताया गया है। वह शैव धर्मानुयायी था तथा गदायुद्ध में निष्णात होने के कारण उसने रणरागसिंह की उपाधि धारण की थी।

पुलकेशिन प्रथम

वीर रणराग का पुत्र पुलकेशिन प्रथम उसका योग्य उत्तराधिकारी हुआ। सम्भवतः 535 अथवा 540 ई० में वह राजसिंहासन पर बैठा उसने 566-67 ई० तक अपनी योग्यता एवं सामरिक क्षमता के बल पर बादामी राज्य की शक्ति को सम्मानजनक स्थिति में पहुँचा दिया। अपने राज्य को सुरक्षित करते हुए उसने बीजापुर जनपद के बादामी अथवा वातापि में एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण कराया तथा स्वतन्त्र चालुक्य राजवंश की नींव डाली। चालुक्य अभिलेखों में उसे वातापि-राज्य का प्रथम भाग्य-विधाता (वाताप्यः प्रथम-विधाता) तथा वातापि दुर्ग का निर्माणकर्त्ता (धराधरेन्द्रं वातापिमजेयं भूतये भुवः) कहा गया है। 543 ई० के एक वातापि-अभिलेख के अनुसार पुलकेशिन प्रथम ने अपने शासनकाल में अश्वमेधादि यज्ञों को भी सम्पन्न किया था। (चालुक्यानां कुलमलं करिष्णुः अश्वमेधावभृथ स्नान-पवित्रीकृत-गात्रः श्रीपोलेकेशिवल्लभमहाराजः)। इसी प्रकार महाराज मंगलेश के महाकूट-स्तम्भ -लेख में विवरण आया है कि पुलकेशिन प्रथम ने अश्वमेध-यज्ञ के अतिरिक्त वाजपेय, अग्निष्टोम, अग्निचयन, पौंडरीक, बहुसुवर्ण तथा हिरण्यगर्भ आदि उनके यज्ञों का विधान किया था। उपर्युक्त याज्ञिक कर्मकाण्डों से वैदिक धर्म में उसकी गहरी अनुरक्ति का पता चलता है। परवर्ती लाट (गुजरात) के चालुक्य-वंश के शासक मंगलरसराज के नेरुर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन प्रथम रामायण, महाभारत, पुराण तथा मानवधर्म आदि का ज्ञाता होने के साथ ही साथ राजनीति में भी परम निपुण था। महाकूट-अभिलेख में उसे दृढ़प्रतिज्ञ , सत्यवादी तथा ब्राह्मण कहा गया है। (सत्यं वावषमावदकः) गोडचि—अभिलेख में उसे 'धर्ममहाराज' विरुद् के साथ सम्बोधित किया गया है। उसने रणविक्रम, सत्याश्रय, धर्ममहाराज, पृथ्वीवल्लभराज तथा राजसिंह आदि अनेक उपाधि धारण किया था। उसके शासन-काल की परिसमाप्ति लगभग 566-67 ई० स्वीकार की जाती है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चालुक्य शासकों में वह एक योग्य एवं सफल शासक और उच्च साहित्यिक एवं धार्मिक व्यक्तित्व का स्वामी था।

कीर्तिवर्मन प्रथम (566-67 ई०)

पुलकेशिन प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र कीर्तिवर्मन प्रथम 566-67 ई० के लगभग अपने पैतृक राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। अभिलेखों में उसे मगध अंग, वंग, कलिंग,

---

1. द्रष्टव्यः जो० एफ० फ्लीट : डायनेस्टीज ऑव द दकनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, बम्बई, 1896.

मुद्रक, गंग, मषक, पाण्ड्य, चौलिय, द्रमिल, मौर्य, नल, कदम्ब आदि अनेक राज्यों का विजेता कहा गया है (कलमौर्य्याकदम्बकालरात्रि)। परन्तु उक्त वर्णन में ऐतिहासिकता कम काव्यात्मकता अधिक प्रतीत होती है। उपर्युक्त अभिलेखिक उल्लेख से इतना प्रमाणित होता है कि उसने बनवासी के कदम्वों को अवश्य पराजित किया था। इसके अतिरिक्त उसने बेलारी, कार्नूल तथा कोंकण (मौर्यों) प्रदेशों पर भी विजय प्राप्त की थी। इन विजयों को देखते हुए अवश्य कहा जा सकता है कि उसने उपर्युक्त पड़ोसी राजवंशों को पराजित करके दक्षिण महाराष्ट्र कर्नाटक तथा तमिलनाडु के कुछ प्रदेशों तक अपना साम्राज्य विस्तृत कर लिया था। कोंकण के मौर्य शासित प्रदेश पर विजय के फलस्वरुप सम्भवतः गोआ (रेवती द्वीप) भी उसके राज्य में सम्मिलित हो चुका था। गोआ जैसे महत्वपूर्ण वन्दरगाह पर अधिकार स्थापित होने के फलस्वरुप चालुक्यकालीन आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार तथा प्रगति के नये आयाम प्रस्तुत हुये क्योंकि इससे जलमार्ग के द्वारा अन्तर्प्रदेशीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि सम्भव हो गई। अपने पराक्रम एवं राजनीतिक सफलताओं के उपलक्ष में कीर्तिवर्मन् ने पुरुरणपराक्रम, पृथ्वीवल्लभ एवं सत्याश्रय आदि अनेक उपाधियाँ धारण की। महाकूट-स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने शासन काल में बहुसुवर्ण और अग्निष्टोम आदि महत्वपूर्ण यज्ञ को सम्पन्न किया था। अपने सामरिक अभियानों तथा विजयों से प्राप्त विपुल धन का उपयोग उसने अनेक कलात्मक निर्माण-कार्यों में किया। 598 ई० में कीर्तिवर्मन् की मृत्यु के समय उसके सभी पुत्र नावालिग थे। अतः उसके उत्तराधिकारी के रुप में वादामी की राजगद्दी पर उसका छोटा भाई मंगलेश आसीन कराया गया।

मंगलेश (597-98 ई० 609 ई०)

लगभग 597-98 ई० में कीर्तिवर्मन् प्रथम की मृत्यु के उपरान्त मंगलेश को चालुक्य-राज्य का शासक मनोनीत किया गया। वह अपने अग्रज की भाँति महापराक्रमी नरेश हुआ। उसने शक्तिशाली कलचुरित-वंश के राजा बुद्धराज से युद्ध छेड़कर खानदेश एवं उसके पड़ोसी अन्य प्रदेशों को जीतकर चालुक्य-राज्य में मिला लिया। ऐहोल-अभिलेख से ज्ञात होता है कि जो विजयश्री अब तक कलचुरि-राजवंश को वरण करती थी, वही अव मंगलेश के पौरुष एवं वीरता पर प्रसन्न हो गई थी। (रणरंगमन्दिरे कटल्छुरिश्रीललना परिग्रहम्)। इस विजय के उपरान्त वल्लभी-नरेश ने मंगलेश द्वारा चलाये गए साम्राज्य-विस्तार-अभियान को अवरुद्ध करने का असफल प्रयास किया। मंगलेश ने क्रमश- कदम्वों को समूल उखाड़ फेंकने में अन्ततः पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली। ऐहोल-अभिलेख से ज्ञात होता है कि मंगलेश अपने पुत्र सत्याश्रय-ध्रुवराजइन्द्रवर्मन् को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, जिससे क्रुद्ध होकर कीर्तिवर्मन् के पुत्र तथा वैध राज्याधिकारी पुलकेशिन द्वितीय ने न केवल अपने संपूज्य चाचा मंगलेश से राज्यसत्ता छीन लिया वल्कि उसने इस गृह-युद्ध ने केवल अपने उसकी हत्या भी कर दी। इस प्रकार 610 ई० में वातापि के राजसिंहासनपर पुलकेशिन द्वितीय आसीन हुआ।

पुलकेशिन द्वितीय (609-10 ई० से 642-43 ई०)

प्रारम्भिक जीवन तथा राजसिंहान की प्राप्ति —ऐहोल-प्रशस्ति के अनुसार कीर्तिवर्मन् प्रथम के वीर पुत्र पुलकेशिन द्वितीय ने अपने कपटी चाचा मंगलेश की हत्या करके उससे बलपूर्वक चालुक्य-राजसिंहासन प्राप्त किया (स यदुचितमन्त्रोत्साहशक्तिप्र योगेक्षपितवलविशेषोमंगलेशस्समन्तात्)। वह अपने वैध उत्तराधिकार के प्रति प्रारम्भ से ही सचेष्ट एवं अभिलषित था (लक्ष्म्याः किलाभिलषिते पोलिकेशिनाम्नि)। फलतः अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा की तुष्टि हेतु परिवर्तित परिस्थतियों में उसने हत्या का सहारा लिया। यहाँ उसके राज्यारोहण के रुप में इतिहास के एक निर्मम सत्य का साक्षात्कार करते हैं राजनीति के बहुचर्चित उलझे दाँव-पेंच में प्रायः खून के रिश्तों की भी कोई खास अहमियत नहीं हुआ करती। पुलकेशिन द्वितीय के राज्यकाल के तीसरे वर्ग के हैदराबाद ताम्रपत्र-लेख (912-13 ई०) से विदित होता है कि उसने वातापि का राजसिंहासन सम्भवतः 609-10 ई० में प्राप्त किया था। ऐहोल अभिलेख से पता चलता है कि मंगलेश और पुलकेशिन द्वितीय के बीच छिड़े गृह-युद्ध का लाभ उठा कर बादामी राज्य के अधीनस्थ सामन्तों एवं अधिनायकों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने की चेष्टा की थी (तावत्तच्छत्र-भंगेजगदखिलमरात्यन्धकारोपरुद्धम्)। इन परिस्थितियों का संकेत करते हुये उपर्युक्त प्रशस्ति में बताया गया है कि उस समय संपूर्ण संसार शत्रुरुप अन्धकार से आच्छन्न हो चुका था। (जगदखिलमरात्यन्धकारोपरुर्द्धयस्यासह्यप्तरा।पद्य ततिभिरिवाक्रान्तमासीतप्रभातम्)। इस प्रकार की विपरीत परिस्थिति में पुलकेशिन द्वितीय ने बड़े धैर्य के साथ अपने प्रतिद्वन्दियों एवं विद्रोहियों का क्रमशः शमन किया। बादामी के राजसिंहासन को हथियाने की लालसा में तत्कालीन विद्रोही गोविन्द एवं **आप्पायिक** नामक राजकुमारों ने शक्तिशाली गजसेना लेकर संयुक्त रुप से वातापि राज्य पर आक्रमण कर दिया (जेतु माप्यायिकाख्येगोविन्दे च द्विरदनिकयैरूत्तराम्भैमरथ्याः)। पुलकेशिन द्वितीय ने अपनी भेदनीति के बल पर सर्वप्रथम गोविन्द को अपनी ओर मिला लिया तथा भागीरथी भीमा नदी के तट पर विद्रोही आप्पायिका को युद्ध में बुरी तरह पराजित कर उसे चालुक्य राज्य से बहिष्कृत कर दिया। ऐहोल-अभिलेखो में उल्लिखित उक्त विद्रोही राजकुमार गोविन्द की पहचान पर विद्वानों में मतभेद है। आज के कई दशक पूर्व **आर० जी० भण्डारकर** का यह सुझाव ध्यातव्य है कि सम्भवतः उसकी पहचान राष्ट्रकूट राजा गोविन्द प्रथम से की जा सकती है। परन्तु उपर्युक्त प्रशस्ति में वर्णित गोविन्द एवं राष्ट्रकूट शासक गोविन्द प्रथम की ऐतिहासिक स्थितियों एवं कालों में बड़ा अन्तर है। अतएव **भण्डारकर का उक्त सुझाव विशेष मान्य नहीं है। तत्कालीन ऐतिहासिक स्थितियों को देखते हुये यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि उपर्युक्त दोनों विद्रोही युवक अधिक सम्भावना के साथ चालुक्य-राजवंश से ही सम्बन्धित रहे होंगे।**

सैन्य अभियान एवं विजयें —पुलकेशिन द्वितीय अदम्य महत्त्वांक्षी तथा महान् विजेता था। उसने सर्वप्रथम अपने पैतृक राज्य को सुसंगठित करने का प्रयास किया। तदुपरान्त गृहयुद्ध एवं राज्य में उठ रहे विद्रोहों को शान्त किया। वातापि की राजलक्ष्मी को पुनर्प्रतिष्ठित तथा गरिमा प्रदान करने के उपरान्त अपने समय के भारतवर्ष के अनेक शक्तिशाली राज्यों पर विजयस्थापना की योजना बनाई। ऐहोल-अभिलेख में

प्रशस्तिकार रविकीर्ति ने उसके द्वारा संचालित सैन्यअभियानों तथा विजयों का विशद् उल्लेख किया है।

कदम्ब-राज्य पर विजय —कदम्व वंशीय शासकों ने कीर्तिवर्मन् के शासन काल से ही वातापि के चालुक्य-राज्य की संप्रभुता स्वीकार कर ली थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गृह-युद्ध में मंगलेश की हत्या से उत्पन्न चालुक्य राज्य की अशान्ति एवं अराजकता का लाभ उठाकर कदम्वों ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता स्थापित कर ली थी। पुलकेशिन द्वितीय ने सर्वप्रथम कदम्वों को अपने अधीन करने के लिये सुनियोजित आक्रमण करके उनकी राजधानी वनवासी को चारों तरफ से घेर लिया। ऐहोल-अभिलेख के अनुसार वरदा नदी से परिवृत बनवासी नगरी इन्द्रपुरी के समान रम्य थी। तत्कालीन कदम्व-राजा ने वड़ी वीरता के साथ पुलकेशिन की चालुक्य-सेना का मुकावला किया। परन्तु अन्त में पराजित कदम्वशासक के नाम पर विद्वानों में वड़ा विवाद है। कतिपय इतिहासकारों ने उसका नाम 'भोगिवर्मन्' वताया है। परन्तु अधिकांश विद्वान इससे असहमत हैं। कुछ भी हो, पराजित कदम्व-राज्य पर चालुक्यों का अधिकार हो गया था पुलकेशिन ने प्रशासन की सुविधा के लिये विजित कदम्वराज्य को दो भागों में विभक्त कर दिया। उसने कदम्व-मण्डल को अपने सामन्त आलुप के अधीन कर दिया था वनवासी-नगरक्षेत्र को सामन्त शासक सेन्द्रक के अधीन करके अपने सैन्य-अभियान को क्रमशः आगे वढ़ाया।

आलूप एवं गंग राज्यों पर विजय —आलूपों का राज्य कर्नाटक प्रदेश के दक्षिण में कनारा जिले के चतुर्दिक स्थित था। उडुपी (कर्नाटक) से आलुपों के कतिपय अभिलेख प्राप्त हुये हैं। शिमोगा जनपद (कर्नाटक प्रदेश) में स्थित हुआ नगरी आलूपों की राजधानी थी। सम्भवतः आलुप शासक प्रारम्भ में कदम्वों के अधीन सामन्त शासक थे। कदम्वों के पराजय के परिणामस्वरुप आलुपों ने भी चालुक्यों की अधीनता स्वीकार कर ली। कतिपय विद्वान् **कुन्दवर्म्मरस** नामक राजा को पुलकेशिन द्वारा विजित आलुप शासक मानते हैं। पराजय स्वीकार करने के बाद पुलेकेशिन द्वितीय ने उसे 'कदम्व-मण्डल का पुनः प्रान्तपति नियुक्त कर दिया।

पुलकेशिन द्वितीय ने तलकाड के गंग-राज्य पर आक्रमण करके तत्कालीन गंग-नरेश **अविनीत** (अथवा उसके पुत्र**दुर्विनीत**) को पराजित किया। उक्त गंग नरेश सम्भवतः कदम्वों के सम्बन्धी थे। कदम्बों की पराजय के उपरान्त भयाक्रान्त होकर सम्भवतः गंग नरेश ने पुलकेशिन के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और स्वेच्छा से चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करने के साथ ही उसने पुलकेशिन द्वितीय के साथ अपनी पुत्री का विवाह करके उससे दृढ़ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

कोंकण-राज्य पर विजय —पुलकेशिन द्वितीय की शक्तिशाली नौसेना ने अपना अभियान आगे करके उत्तरी कोंकण-राज्य के शक्तिशाली मौर्यों को आक्रान्त कर दिया। इस राज्य की राजधानी 'पुरीस थी, जिसे 'पश्चिमी-समुद्र की लक्ष्मी' भी कहा जाता है। इसकी पहचान बम्बई नगर के सन्निकट एलीफैण्टा-द्वीप में स्थित 'धारपुरी' नगर से की जाती है। परन्तु कतिपय विद्वान् इसका समीकरण कोलावा जनपद महाराष्ट्र में स्थित राजपुरी नगर से करते हैं। 'पुरी' की गणना प्राचीन भारत के समुन्नत वन्दरगाहों में की

गई हैं। कोंकण के मौर्य शासकों के अनेक अभिलेख गोवा के आस-पास उपलब्ध हुये हैं। अतः उनका साम्राज्य पश्चिमी समुद्र के किनारे-किनारे गुजरात से गोवा प्रदेश तक विस्तृत माना जा सकता है। ऐहोल-अभिलेख में पुलकेशिन के द्वारा पराजित कोंकण-नरेश का नाम नहीं दिया गया है परन्तु एतत् उल्लेख से यह अवश्य इङ्गित होता है कि पराजित मौर्यों ने अन्ततः चालुक्यों की अधीनता स्वीकार कर लिया था।

लाट-राज्य पर विजय—पुलकेशिन द्वितीय की विजयिनी चालुक्य सेना उत्तर की ओर उन्मुख आगे बढ़कर क्रमशः लाट, मालव तथा गुर्जर राज्यों को आक्रान्त कर दिया। लाट-राज्य वर्तमान गुजरात प्रदेश के दक्षिण में स्थित कीम नदी से परिवेष्टित था, जिसकी राजधानी नवसारिका (वर्तमान बड़ौदा जनपद में स्थित **नवसारी** अथवा **नौसरी**) नगरी थी। पुलिकेशिन द्वितीय के आक्रमण के पूर्व लाट-राज्य कलचुरियों के अधीन था। कैरा-अभिलेख से पता चलता है कि 643 ई० में वहाँ चालुक्यवंशीय विजयवर्मराज नामक राजा शासक माना जा सकता है। ऐहोल-प्रशस्ति के अनुसार लाट-राज्य के पराजित शासक ने पुलकेशिन द्वितीय के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था (प्रतापोपनतायस्यलाट-मालवगुर्ज्जराः)।

मालवा-राज्य पर विजय—ऐहोल-अभिलेख में उल्लिखित है कि मालव-राज्य के शासक ने भी पुलकेशिन द्वितीय की प्रभुता आत्मसमर्पण करके स्वयं स्वीकार कर ली (प्रतापोपनता यस्य लाट-मालवगुर्ज्जराः) सम्भवतः मालव राज्य पहले वलभी के **मैत्रकों** के अधीन था। ह्वेनसांग ने हर्ष के युद्धाभियान के प्रसंग में इसे पश्चिमी भारत का एक स्वतन्त्र राज्य बताया है। जैसा भी हो, ऐहोल-प्रशस्ति से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पुलकेशिन द्वितीय ने मालव-राज्य को चालुक्यों के अधीन कर लिया था।

गूर्ज्जर-राज्य पर विजय—गुजरात प्रदेश में गूर्ज्जरों की अनेक शाखाओं के पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र राज्य विद्यमान थे। **रमेश चन्द्र मजूमदार** का मत है कि पुलकेशिन द्वितीय का सैन्य-अभियान मन्दौर के गूर्ज्जर-राज्य पर हुआ था। परन्तु **ऐहोल-प्रशस्ति** के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि लाट, मालवा एवं गूर्ज्जर परस्पर पड़ोसी राज्य थे। अतः मन्दौर-स्थित गूर्ज्जर-राज्य जो राजस्थान प्रदेश में स्थित था, लाट एवं मालव-राज्यों से बहुत दूर होने के कारण सम्भवतः पुलकेशिन द्वितीय के अभियान-पथ में न पड़ा होगा। ऐहोल-अभिलेख में आख्यात गूर्ज्जर-राज्य अधिक सम्भावना के साथ भड़ौंच (भृगुकच्छ) के सन्निकट स्थित प्रतीत होता है जिसकी राजधानी नान्दीपुरी (वर्तमान नान्दोद) थी। उत्तर-भारतीय नरेश हर्षवर्द्धन की शक्तिशाली सेना से भयाक्रान्त तत्कालीन मैत्रक-नरेश को गूर्ज्जर-दद्द द्वितीय ने अपने राज्य में शरण दी थी। इसके फलस्वरूप गूर्ज्जर-दद्द द्वितीय भी हर्षवर्द्धन के कोपभाजन का शिकार बन गया था। ऐहोल-प्रशस्ति में पुलकेशिन द्वितीय की सेना के समक्ष गूर्ज्जरों के आत्मसमर्पण का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्षवर्द्धन की सेना से अपने बचाव के लिये दद्द द्वितीय ने शक्तिशाली पुलकेशिन द्वितीय की शरण ले ली तथा कान्यकुब्जेश्वर हर्षवर्द्धन से उपर्युक्त दोनों राज्यों की सुरक्षा की याचना की थी।

पुलकेशिन द्वितीय एवं हर्षवर्द्धन के बीच युद्ध—'उत्तरापथेश्वर' हर्षवर्द्धन की विस्तारवादी नीति ने कन्नौज की विजयिनी सेना को पंचभारत के विजयाभियान क्रम में आगे बढ़ कर महाराष्ट्र की सीमा में प्रवेश करके पश्चिमी भारत को अपने सैन्य-अभियानों का सुनियोजित समराङ्गण बना दिया। इधर दक्षिण-भारत का महान् साम्राज्य-विस्तारवादी सम्राट् पुलकेशिन द्वितीय भी बढ़ता हुआ महाराष्ट्र में पहले से ही अपना सैन्य-स्कन्धावार स्थापित कर चुका था। ह्वेनसांग[1] के विवरण के अनुसार मो-हा-ल-च (महाराष्ट्र) के राजा पुल्रोकिशे (पुलकेशिन द्वितीय) अपने अनेक आज्ञाकारी सामन्त-राजाओं से सेवित रहता था। उसके विवरण के अनुसार शीलादित्य (हर्षवर्द्धन) पूर्व और पश्चिम दिशाओं की ओर क्रमश: अपना सैन्य-अभियान संचालित कर रहा था तथा उसके इस अभियान-पथ में पड़ने वाले सभी राज्य प्राय: उसको अपना स्वामी स्वीकार करते जा रहे थे। **'ह्वेनसांग की जीवनी'** से पता चलता है कि हर्षवर्द्धन ने अपने साथ भारी सेना के साथ दक्षिण-भारत की ओर प्रस्थान किया था, परन्तु दक्षिणापथ के स्वामी (पुलकेशिन द्वितीय) पर अधिकार स्थापित करने में वह अन्तत: सफल न हो पाया[2]। इस प्रसङ्ग में ऐहोल-प्रशस्ति का वह उल्लेख, जिसमें पुलकेशिन द्वितीय के पराक्रम से हर्षवर्द्धन की सेना विगलित हुई, आख्यात किया गया है। ह्वेनसांग द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त विवरण की आभिलेखिक पुष्टि मिलती है। ऐहोल-प्रशस्ति में विवृत है कि अतुलित ऐश्वर्य एवं सामन्तसमूहों के मुकटमणियों से देदीप्यमान कमलचरणों वाले महाराज हर्ष का सारा हर्ष, समरभूमि में चालुक्य-सेना द्वारा मारे गये असंख्य हाथियों तथा युद्ध के भीषण आंतक से हर्षरहित हो गया—

> **"अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना**
> **मुकुटमणिमयूरवाक्रान्तपादारविन्दः।**
> **युधिपतित् गजेन्द्रानीक वीभत्सभूतो**
> **भयविगलित हर्षो येन चाकारि हर्षः।"**

चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय द्वारा उत्तरापथेश्वर हर्षवर्द्धन की पराजय का उल्लेख **निर्पन, तोगरचेडु, कर्नूल** आदि चालुक्य-अभिलेखों में भी आख्यात है। इन अभिलेखों में वर्णित है कि संपूर्ण उत्तरापथ के स्वामी हर्षवर्द्धन को पराजित करने के उपरान्त पुलकेशिन द्वितीय ने 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की थी (समरसंसक्तसकलोत्तरापथेश्वर श्रीहर्षवर्द्धनपराजयोपलब्धपरमेश्वरापरनामधेयः श्रीवल्लभोमहाराजाधिराजः)।

पुलकेशिन द्वितीय एवं हर्षवर्द्धन की सेना के मध्य हुए उपर्युक्त युद्ध की वास्तविक तिथि तथा सही युद्ध-स्थल के निर्धारण पर विद्वानों में मतभेद है। ऐहोल-अभिलेख में उक्त युद्ध के उपरान्त पुलकेशिन के अग्रिम सैन्य-अभियानों

---

1. ह्वेनसांग, वाटर्स, पृ०, 239, तथा बील, 2, पृ०, 256
2. ह्वेनसांग, लाईफ, पृ०, 147

का विवरण देते हुए प्रशस्तिकार यशोवर्मा ने 'विन्ध्योपकण्ठ' अर्थात् विन्ध्य-नर्मदा-क्षेत्र का उल्लेख किया है (**भुवमुरुभिरनीकैश्शासतो यस्य रेवो-त्रिविध-पुलिन-शोभावन्ध्य-विन्ध्योपकण्ठः**)। इस प्रसंग में **विन्सेण्ट ए० स्मिथ** की धारणा समीचीन प्रतीत होती है कि उपर्युक्त हर्ष-पुलकेशिन-युद्ध नर्मदा-तट के समीप ही कहीं संपन्न हुआ होगा। इसी सन्दर्भ में स्मिथ का यह मत भी उल्लेखनीय है कि नर्मदा नदी के समीप विशेष रूप से प्रयुक्त मार्गों पर चालुक्य-नरेश पुलकेशिन द्वितीय ने इतनी कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था स्थापित कर दिया था कि सम्राट् हर्षवर्द्धन तथा उनकी सेना उसके आगे दक्षिण-पश्चिम भारत में और न बढ़ पाये। ऐसा लगता है कि पुलकेशिन द्वितीय की सेना से पराजित होने के उपरान्त हर्षवर्द्धन को निराशा के साथ अपनी राजधानी कान्यकुब्ज लौटना पड़ा था। प्रस्तुत विमर्श में **रमेश चन्द्र मजूमदार** का मत **स्मिथ** के उपर्युक्त मत से किञ्चित् भिन्न है। उनकी धारणा है कि लाट, मालव तथा गूर्ज्जर-राज्य सम्भवतः हर्षवर्द्धन एवं पुलकेशिन द्वितीय की साम्राज्य-सीमाओं के मध्य स्थित थे। ये राज्य नर्मदा नदी-तट के आस-पास ही कहीं अवस्थित माने जा सकते हैं। चूँकि हर्षवर्द्धन अपने पश्चिम-दक्षिण भारतीय अभियान में इन राज्यों को जीतकर अपने अधीन नहीं कर पाये थे तथा वे राज्य पुलकेशिन द्वितीय के साम्राज्य के अंग बन चुके थे। अतः हर्षवर्द्धन के साम्राज्य की दक्षिणी-सीमा नर्मदा-नदी-तट के उक्त राज्यों पर नहीं मानी जा सकती है। इस प्रकार हर्षवर्द्धन एवं पुलकेशिन द्वितीय के बीच हुए उक्त युद्ध-स्थल को नर्मदा नदी से पर्याप्त दूर मध्य-भारत में ही कहीं मानना यौक्तिक प्रतीत होता है।

युद्ध-स्थल की ही तरह उपर्युक्त युद्ध का काल-निर्धारण भी बड़ा विवादास्पद है। ह्वेनसाँग के विवरणों के अनुसार हर्षवर्धन ने अपने शासनकाल के प्रथम छः वर्षों को निरन्तर युद्ध में बिताकर 'पंच-भारत' को अपने अधीन कर लिया था। तदुपरान्त उसने लगातार 30 वर्षों तक शान्तिपूर्वक शासन किया। हर्षवर्धन का राज्यारोहण 606 ई० में हुआ था। अस्तु, उपर्युक्त विवरण के आधार पर **राधा कुमुद मुकर्जी, जे० एफ० फ्लीट, के० ए० फ्लीट, के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय** आदि विद्वानों ने उपर्युक्त युद्ध की तिथि 606 + 6 = 612 ई० अथवा इसके कुछ वर्ष पूर्व निधारित किया है। पुलकेशिन द्वितीय के 612 ई० के एक ताम्रपत्र में तथा उसके शासन-काल के पाँचवें वर्ष के कुंडलगाँद-अभिलेख में उपर्युक्त युद्ध का उल्लेख आया है। इस उल्लेख के आधार पर कतिपय विद्वानों ने इस युद्ध की तिथि 615 ई० के पूर्व स्वीकार करना समीचीन बताया है। बील ने ह्वेनसांग के विवरण में आख्यात हर्षवर्धन द्वारा 'पंच-भारत' की विजय वाले अंश का अनुवाद किया है। उनके अनुसार उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि हर्ष लगातार 30 वर्ष तक युद्धों में संलग्न रहा। इस साक्ष्य के आधार पर **रमेश चन्द्र मजूमदार, अनन्त सदाशिव अल्तेकर** तथा **रमाशंकर त्रिपाठी** का मत है कि हर्ष-पुलकेशिन के बीच हुए युद्ध का समापन 630 ई० के उपरान्त संभवतः 634-35 ई० में

हुआ होगा । यह तिथि अन्य उपलब्ध साक्ष्यों के आलोक में पर्याप्त यौक्तिक प्रतीत होती है। पुलकेशिन द्वितीय का राज्यारोहण 610 ई० के आस-पास तथा हर्षवर्धन का सिंहासनारोहण 606 ई० में हुआ । अतः दोनों नरेशों को अपने-अपने राज्य से दूर जाकर उपर्युक्त महान युद्ध में संलग्न होने में कई वर्षों का अन्तराल गुजारना पड़ा होगा । इसके अतिरिक्त ध्यातव्य है कि पुलकेशिन द्वितीय के 630 ई० **लोहनेर-अभिलेख** में उपर्युक्त युद्ध की चर्चा नहीं की गई है। चालुक्य-लेखों में सर्वप्रथम 634-35 ई० में उत्कीर्णित ऐहोल-प्रशस्ति में इस युद्ध का विशद् उल्लेख मिलता है। अतः उक्त युद्ध की तिथि 630 ई० से 634-35 ई० के मध्य स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है । **जे० एफ० फ्लीट** ने अन्य साक्ष्यों से उक्त तिथि की पुष्टि के अभाव में मात्र ऐहोल-प्रशस्ति के आधार पर प्रतिपादत इस तिथि को स्वीकार करने में अपनी असहमति प्रकट की है। प्रस्तुत विमर्श में **सुधाकर चट्टोपाध्याय** का अनुमान विशेष उल्लेखनीय है। उनके अनुसार संभवत-दोनों नरेशों के बीच दो बार युद्ध हुआ था । प्रथम युद्ध पुलकेशिन द्वितीय के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में तथा द्वितीय युद्ध उसके शासनकाल के अन्तिम वर्षों में लड़ा गया । परन्तु इस मत का कोई यौक्तिक एवं ऐतिहासिक आधार न होने के कारण अधिकांश विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते हैं।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण विजय के फलस्वरुप पुलकेशिन द्वितीय ने चालुक्य साम्राज्य की सीमा को नर्मदा-ताप्ती के मध्य स्थित प्रदेश तक विस्तृत कर लिया। ऐहोल-अभिलेख के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय ने अपने चालुक्य-साम्राज्य 'त्रिमहाराष्ट्रकों' को अधिगृहीत कर लिया था, जिसमें 99,000 समाविष्ट थे।

> **"अगमदधिपतित्वय यो महाराष्ट्रकाणाम् ।**
> **नवनवतिसहस्रग्रामभाजां त्रयाणाम् ॥"**

दिनेश चन्द्र सरकार के अनुसार उक्त अभिलेख में वर्णित 'त्रिमहाराष्ट्रको' का तात्पर्य महाराष्ट्र कोंकण तथा कर्नाटक प्रदेशों के अधिग्रहण को स्वीकार किया जा सकता है।

पूर्वी दक्कन के राज्यों पर विजय—ऐहोल-प्रशस्ति की सूचनानुसार पुलकेशिन द्वितीय के द्वारा संचालित अनेक युद्धों से भयाक्रान्त होकर कोसल तथा कलिंग देश के अधिपतियों ने अन्ततः आत्म समपर्ण कर दिया था। उक्त कोसल राज्य का तात्पर्य दक्षिणीकोसल राज्य से माना जाता है जिसकी राजधानी कुशावती थी । साधारणता वर्तमान मध्य प्रदेश एवं उड़ीसा के छत्तीसगढ़-प्रखन्ड को दक्षिण कोसल राज्य के अन्तर्गत माना गया है। पुलकेशिन के आक्रमण के समय वहाँ किसी पाण्ड्य वंशीय राजा का शासनक स्थापित था । **दिनेश चन्द्र सरकार** चालुक्यों द्वारा पराजित कोसलाधिपति का समीकरण महाराज बालार्जुन शिवगुप्त से किया है।

पूर्वी-गंग राज्य पर आक्रमण—ऐहोल-प्रशस्ति के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय ने अपने विजयाभियान के क्रम में कलिंग देश के पूर्वी-गंग राज्य को भी पराजित किया, जिसकी राजधानी **कलिङ्गनगर** (गंजाम जनपद में स्थित वर्त्तमान मुखलिगम्) था। पराजित गंग-शासक के नाम तथा उसके समीकरण पर विद्वानों में अद्यावधि विवाद है।

आन्ध्र देश पर विजय —पुलकेशिन द्वितीय की विजयवाहिनी पूर्वी-समुद्रतट के क्षेत्रों में क्रमशः आगे बढ़ती हुई आन्ध्र-राज्य में प्रविष्ट हुई तथा उसने राजधानी पिष्टपुर (गोदावरी जनपद में समुद्रतट पर स्थित वर्त्तमान पीठापुरम्) को आक्रान्त कर अन्ततः उस पर अधिकार कर लिया। तदुपरान्त पुलकेशिन द्वितीय एवं विष्णुकाण्डेन वंशीय आंध्रशासकों की सेनाओं के मध्य भयंकर संग्राम तथा निर्णायक युद्ध हुआ। यह युद्ध कोणाल झील (वर्तमान कोल्लेरु झील) के निकट हुआ था। क्योंकि चालुक्य अभिलेखों से पता चलता है कि इस युद्ध के भयंकर रक्तपात से उक्त झील का जल लोहित हो गया था। विष्णुकुण्डिन वंश के तत्कालीन आन्ध्रराज्य के शासक पर्याप्त शक्तिशाली थे। फलतः उन्होंने अन्तिम क्षण तक चालुक्यों से लोहा लिया। परन्तु अन्ततः उन्हें पराजय ही हाथ लगी। इस पराजित आन्ध्र नृपति की पहचान संदिग्ध है। दिनेश चन्द्र सरकार ने इसकी पहचान विक्रमेन्द्र वर्मन तृतीय से की है, जिसने 720 से 630 ई० के मध्य शासन किया था। परन्तु **एस० शंकरनारायनन** इस सुझाव से सहमत नहीं है। इसके अनुसार पराजित आन्ध्र शासक विक्रमेन्द्रवर्मन् चतुर्थ का पुत्र था। इस विमर्श में मारुटूर के चालुक्य-अभिलेख द्वारा प्रदत्त साक्ष्य विशेष उपयोगी है। इसके अनुसार पुलेकेशिन द्वितीय ने 617-18 ई० के पूर्व ही आन्ध्रप्रदेश पर विजय प्राप्त कर ली थी। इस साक्ष्य के आलोक में कतिपय विद्वानों ने पुलकेशिन द्वितीय द्वारा पराजित आन्ध्र शासकों की पहचान इन्द्रवर्मन् से करना अधिक समीचीन माना है। आन्ध्र देश पर पुलकेशिन द्वितीय के अधिकार की पुष्टि 631 ई० के **कोप्परम** —अभिलेख से भी होती है जिसमें उसके अनुज तथा आन्ध्र देश के नवनियुक्त शासक विष्णुवर्धन के द्वारा कर्मराष्ट्र (नेल्लोर तथा गन्टुर जनपदों के कुछ क्षेत्र) में दिए गए भूमिदानों का उल्लेख आया है। इस सन्दर्भ में कुछ विद्वानों की यह धारणा कि आन्ध्र-राज्य में उस समय पल्लवों का राज्य था परन्तु विश्वसीनी साक्ष्यों के अभाव में यह मत विशेष मान्य नहीं है।

पुलकेशिन द्वितीय ने शक्तिशाली आन्ध्रों पर अपना सीधा प्रभुत्व स्थापित करने तथा वहाँ बाद में विद्रोही आदि की आशंका को देखते हुए, अपने अनुज विष्णुवर्धन को आन्ध्रराज्य का शासक नियुक्त किया। विष्णुवर्धन् ने पुलकेशिन द्वितीय के शासनकाल के अंतिम वर्षों में सम्भवतः 632 ई० के लगभग, अपनी स्वतंत्र राज्यसत्ता घोषित करके वहाँ प्रथम चालुक्य राजवंश की स्थापना की। उसने वेंगी को इस स्वतन्त्र राज्य की राजधानी बनाया। कालान्तर में यही राजवंश वेंगी के पूर्वीचालूक्य-वंश के नाम से विख्यात हुआ।

पल्लव-राज्य पर आक्रमण —साम्राज्य-विस्तारवादी महत्वाकांक्षी से सतत् उत्प्रेरित प्रतापी पुलकेशिन द्वितीय ने क्रमशः आगे बढ़ता हुआ पल्लव-राज्य को आक्रान्त करने के लिए उसकी सीमा पर अपना स्कन्धावार स्थापित किया। ऐहोल-अभिलेख से विदित होता है कि शक्तिशाली पल्लवों को चालुक्यों की शक्ति-विस्तार की नीति असह्य थी। पराक्रमी पुलकेशिन द्वितीय ने अपनी षडंग सेना के साथ पल्लवराज्य पर क्रमश आक्रमण करके उसे आक्रान्त कर दिया। पल्लव-साम्राज्य पर उस समय महेन्द्रवर्मन् प्रथम का शासन स्थापित था। उपर्युक्त प्रशस्ति के काव्यात्मक वर्णन के अनुसार समराङ्गण में चालुक्य-सेना के पदतल से उत्थित धूलकणों से अन्ततः वैभवशाली पल्लव नरेश की कान्ति धूमिल हो गई तथा पराजय की विवशता में उसे काञ्ची के परकोटे में

भाग कर मुँह छिपाना पड़ा—

"आक्रान्तात्म-बलोन्नतिम्बल-रजस्सच्छन्न काञ्चीपुरः।
प्राकरान्तरित-प्रतापकरोद्य पल्लवानाम्पतिम् ।।"

यद्यपि पुलकेशिन द्वितीय को अपने इस अभियान में पल्लव-साम्राज्य की राजधानी काञ्ची को अधिकृत करने में पूर्ण सफलता तो न मिल सकी तथापि उसने पल्लव-राज्य के उत्तरी क्षेत्रों पर चालुक्य-आधिपत्य की स्थापना अवश्य कर लिया। पल्लवों के साथ चालुक्यों का यह प्रथम युद्ध माना जाता है जिसकी संभावित तिथि 617-18 ई० के आस-पास स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि **मारुट-अभिलेख** द्वारा आख्यात साक्ष्य के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय एवं आन्ध्रों के बीच हुए युद्ध की तिथि लगभग 617-18 ई० थी। ज्ञातव्य है कि आन्ध्र एवं पल्लव राज्यों की सीमाएँ परस्पर मिली हुई थी। अतः आन्ध्रविजय के ठीक वाद पुलकेशिन द्वितीय का पल्लवराज्य पर अभियान सर्वथा संभावित है। पुलकेशिन द्वितीय की चालुक्य-सेना ने पल्लवों को पराजित करने के उपरान्त कावेरी नदी को पार किया तथा धुर प्रायद्वीपीय चोल, केरल तथा पाण्ड्य के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके उनको समृद्ध बनाया।

**कावेरीवृतशफरी-विलोल-नेत्रा
चोलानां सपदि जयोद्यतस्य यस्य।
प्रश्चयोतन्मद-गज-सेतु-रुद्ध-नीरा
संस्पर्श परिहरित स्म रत्नराशेः ।।
चोल-केरल-पाण्ड्यानाम् चोऽभूत्तत्र महर्द्धये।**[1]

पल्लवों के विरुद्ध पुलकेशिन द्वितीय का उपर्युक्त सैन्य-अभियान संभवतः निर्णायक नहीं हो पाया था। परवर्ती पल्लव शासक नन्दिवर्मन के शासनकाल के **कुशाक्कुडि-लेख** से ज्ञात होता है कि महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने काँची के सन्निकट पुल्लूर के मैदान में अपने प्रतिद्वन्द्वी शत्रुओं को परास्त किया (पुल्लूर द्विषतामविशेषान्)। इसमें उसके द्वारा पराजित शत्रुओं का नामोल्लेख नहीं किया गया है। कतिपय विद्वान् पुलकेशिन द्वितीय को भी महेन्द्रवर्मन-द्वारा पराजित शत्रुओं में परिगणित करते हैं। परन्तु यदि ऐसा हुआ होता तो उक्त अभिलेख में पुलकेशिन द्वितीय का नामोल्लेख अवश्य किया जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि चालुक्यों से पराजित महेन्द्रवर्मन् प्रथम की क्षीण शक्ति गलत आकलन करके पल्लवों के परम्परागत शत्रु गंग शासक (सम्भवतः कोंकणि अथवा उसका पुत्र दुर्विनीत कोकंण (वृद्धि) ने कतिपय अपने मित्र राष्ट्रों के संयुक्त मोर्चे के साथ पल्लवों को आक्रान्त करने का प्रयास किया होगा। अतः कशाक्कुडि-अभिलेख में उल्लिखित महेन्द्रवर्मन् को संभावित पराजित शत्रुकुल यही लोग रहे होंगे न कि प्रतापी पुलकेशिन द्वितीय। प्रस्तुत विमर्श में यह वात भी विचारणीय है कि पुलकेशिन द्वितीय जैसा महत्वांक्षी तथा शक्तिशाली विजेता पल्लवों के साथ निर्णायक युद्ध लड़े बिना पल्लव राज्य से हटकर चोल, केरल, पाण्ड्यशासकों के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाने के लिए क्यों उन्मुख हुआ होगा। ज्ञातव्य है कि पल्लवों की उदीयमान शकित से चोल, पाण्ड्य तथा केरल आदि छोटे-छोटे राज्य भी भयाक्रान्त रहते थे। फलतः वे चालुक्याधिपति पुलकेशिन द्वितीय के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाकर उसे पल्लवों पर पूर्ण विजय प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित अवश्य किए होगें। यह भी संभव है कि वे अपनी सेनाओं के साथ पल्लवों

के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार भी हुए होंगे। परन्तु उपलब्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन द्वितीय काँची पर अपनी पूर्ण विजय स्थापित किए बिना ही वहाँ से लौट पड़ा था। यहाँ इतिहास की एक सत्यता साक्ष्याभाव के कारण प्रकाश में नहीं आ पाती है कि कशाक्कुडि-अभिलेख में उल्लिखित पुल्लूर के युद्ध में महेन्द्रवर्मन् प्रथम द्वारा पराजित प्रमुख शत्रु-कुल पुलकेशिन द्वितीय ही रहा होगा न कि गंग आदि अन्य पल्लवों के शत्रु शासकगण। ज्ञातव्य है कि महेन्द्रवर्मन् प्रथम की शक्ति चालुक्यों के प्रारम्भिक युद्धों से पूर्णतया क्षीण नहीं हो पाई थी तथा वह अपनी राजधानी लौटकर पुनः शक्तिसंयोजन में जुट गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही समय बाद काँची की ओर उमड़ती पुलकेशिन द्वितीय की सेना को उसने बड़ी बहादुरी के साथ पुल्ललूर के मैदान में पराजित करके चालुक्य सेना के अभियान-पथ को कावेरी नदी के उस पार चोलों, केरलों तथा पाण्ड्यों की ओर मोड़ दिया था। चूँकि कशाक्कुडि-अभिलेख महेन्द्रवर्मन् प्रथम की कई पीढ़ी के बाद के नरेश के शासनकाल का है, अतः उस समय तक महेन्द्रवर्मन प्रथम द्वारा पराजित शत्रुशासक का नामोल्लेख करना अभिलेखाकार ने सम्भवतः आवश्यक न समझा गया होगा। अतएव कुशाक्कुडि-अभिलेख के साक्ष्य के आधार पर उक्त सन्दर्भ में यह निष्कर्ष निकालना यौक्तिक प्रतीत होता है कि महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने पेुल्ललूर के मैदान में पुलकेशिन द्वितीय को पराजित करके उसे पल्लव राज्य के भीतर और आगे बढ़ने से रोक दिया तथा उसके द्वारा अपहृत किए गए उत्तरी पल्लव-क्षेत्रों को जीतकर पुनः अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

अनन्तपुर जनपद से उपलब्ध कतिपय अभिलेखों में पुलकेशिन द्वितीय द्वारा पल्लवों के विरुद्ध एक अन्य अभियान का उल्लेख किया गया है। उसने इसे युद्धाभियान के समय पल्लव-राजसिंहासन पर महेन्द्रवर्मन् प्रथम के स्थान पर उसका उत्तराधिकारी पुत्र शक्तिशाली नरसिंहवर्मन् प्रथम विराजमान था। चालुक्य-सेना ने इस अभियान के प्रारम्भिक चरण में सर्वप्रथम पल्लवों के सामन्त-शासक वाणों को पराजित किया। पुलकेशिन द्वितीय आगे बढ़कर काञ्ची-विजय के लिये प्रस्थान किया। कूरम-अभिलेख द्वितीय आगे बढ़कर काञ्ची-विजय के लिये प्रस्थान किया। कूरम-अभिलेख से ज्ञात होता है कि दक्षिणापथेश्वर पुलकेशिन द्वितीय काञ्ची के युद्ध में पल्लवाधिपति नरसिंहवर्मन् प्रथम से अन्ततः निर्णायक रुप से पराजित हो गया। अभिलेख की सूचनानुसार पल्लवनरेश ने परियाल, शूरमार तथा मणिमंगलम् आदि अनेक स्थानों पर चालुक्याधिपति को पराजित कर शकितशाली पल्लव-राजवंश की कीर्ति को पुनर्स्थापित किया। नरसिंहवर्मन् प्रथम की उत्साहित सेना ने शिरुत्तोंडर के नायकत्व में चालुक्यों की राजधानी वातापि पर आक्रमण करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अपनी राजधानी वातापि की सुरक्षा में युद्धरत पराक्रमी पुलकेशिन द्वितीय अन्ततः पल्लवसेनानायकों द्वारा युद्धस्थल पर ही मारा गया। इस महान विजयोपलब्धि पर नरसिंहवर्मन् प्रथम ने 'वातापिकोंड' (वातापि का विजेता) की उपाधि धारण की।

इस प्रकार यौवन के शौर्य पर एक समय का 'दक्षिणापथेश्वर' तथा 'उत्तरापथेश्वर' हर्षवर्धन की युद्ध-श्री का अपहर्त्ता, पुलकेशिन द्वितीय, पल्लवों के अतुलित शौर्य के समक्ष न केवल पराजित हुआ अपितु 642-13 ई० के लगभग वातापि की

1. द्रष्टव्य, ऐहील प्रशस्ति।

समरभूमि में ही वीरगति को प्राप्त हो गया। वादामी में निर्मित मल्लिकार्जुनदेव मन्दिर के पार्श्वभाग में नरसिंहवर्मन् प्रथम के शासन-काल के एक खण्डित अभिलेख के अनुसार उसने अपने प्रमुख शत्रु-राज्य चालुक्यों की राजधानी वातापि को अधिगृहीत करके अपनी राजधानी काञ्ची पर चालुक्यों द्वारा किये गए अभियानों का बदला चुकाया। अन्य पल्लव-अभिलेखों में भी इसी ऐतिहासिक तथ्य को लक्ष्य करके कहा गया है कि जैसे ऋषि अगस्त्य ने प्रतापी वातापि (राक्षस) का विनाश किया था, उसी प्रकार नरसिंहवर्मन् प्रथम ने शक्तिशाली वातापि (वादामी) नगरी को विनष्ट कर दिया था। राजधानी वातापि पर पल्लवों का आधिपत्य कब तक बना रहा, साक्ष्याभाव में इस सन्दर्भ में कुछ भी कहना यथोचित नहीं है।

अन्य उपलब्धियाँ एवं मूल्यांकन

पुलकेशिन द्वितीय भारत के प्रतापी शासकों में शीर्षस्थ स्थान रखताहै। इस सन्दर्भ में **दिनेश चन्द्र सरकार** की यह धारणा समीचीन लगती है कि वह न केवल वातापि के चालुक्यों में सर्वश्रेष्ठ, प्रबल पराक्रमी तथा महान् शासक था अपितु उसकी गणना भारत के महान्तम् सम्राटों में की जा सकती है। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त छोटे से चालुक्य राज्य को अपने बाहुबल एवं प्रताप से विन्ध्यक्षेत्र से दक्षिण भारत में कावेरी नदी के तट तक विस्तृत करके 'दक्षिणापथेश्वर की उपाधि को सार्थक किया था। उसने अप्रतिम पराक्रमी तथा उत्तर-भारतीय राज्यों पर एकछत्र प्रभुत्व रखने वाले कान्यकुब्जेश्वर महत्वाकांक्षी तथा परमविजिगीषु सम्राट् हर्षवर्धन के 'सकलभारतेश्वर' बनने की महत्वाकांक्षा एवं सामरिक अभियानों को न केवल अवरुद्ध कर दिया अपितु उत्तरापथेश्वर हर्षवर्धन के अपरिमितहर्ष' को समरभूमि में बिखेर कर उन्हें हर्षरहित कर दिया था (भयविगलित हर्षो येन चाकारि हर्ष :)।

अपने लगभग 32 वर्षीय दीर्घ शासनकाल में पुलकेशिन द्वितीय अधिकतर सामरिक अभियानों में ही व्यस्त रहा तथापि शासन-संगठन तथा देशान्तरों के साथ मैत्रीपूर्ण राजनयिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने में उसने पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। **तबरी** नामक एक मुस्लिम लेख के विवरणों से ज्ञात होता है कि प्रमेश (पुलेशिन द्वितीय) ने 615-26 ई० के आस-पास तत्कालीन पारसीक सम्राट खुसरो द्वितीय के राजदरबार में हस्ति आदि विविध भारतीय बहुमूल्य उपहारों के साथ अपना एक दूतमण्डल भेजा। सम्भवतः ईरानी सम्राट् ने भी प्रत्युत्तर में अपना दूत-मण्डल वातापि के चालुक्य-राजदरबार में भेजा था। अजन्ता की एक भित्ति चित्र पर एक राजदूत को किसी भारतीय राजा (सम्भवतः पुलकेशिन द्वितीय) द्वारा स्वागत करते हुए प्रदर्शित किया गया है। सम्भवतः गुफा का यह चित्रांकन पुलकेशिन द्वितीय के ही शासन-काल में अंकित किया गया था। ह्वेनसांग ने अपने भारत-प्रवास के समय चालुक्य-राजधानी वातापि तक के दक्षिण भारतीय क्षेत्रों में भ्रमण किया। उसके विवरणों में पुलकेशिन द्वितीय कालीन चालुक्य-प्रशासन, आर्थिक समृद्धि, धार्मिक स्थिति तथा कलात्मक निर्माणादि का विशद् उल्लेख मिलता है।

पुलकेशिन द्वितीय ने अपने राजनीतिक जीवन में 'श्रीपृथ्वीवल्लभ', सत्याश्रय, वल्लभ परमेश्वर परमभागवत, भट्टारक तथा महाराजाधिराज आदि अनेक उपाधियाँ धारण की थीं।

चालुक्य साम्राज्य का अल्पकालीन अंधकार काल

642-43 ई० के लगभग हुए प्रतापी पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त लगभग तेरह वर्ष तक वातापि के चालुक्य राजवंश का इतिहास अज्ञात सा है। यह लघुकाल चालुक्य राज्य में व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता को व्यक्त करता है। **नील कण्ठ शास्त्री** के अनुसार राज्य में व्याप्त राजनीतिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर वेल्लारी, नेल्लोर, कुडप्पा और अनन्तपुर के दुर्ग-राज्य-क्षेत्र चालुक्य राज्य से अलग हो गए। इतना ही नहीं, लौट के चालुक्य प्रशासन विजयराज ने भी संभवतः अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया था। कैरा दान-पत्र जिसे 643 ई० में उत्कीर्णित किया गया था, में क्षेत्रीय कलचुरि संतत का प्रयोग मिलता है तथा इसमें वातापि के चालुक्य राज्य का कोई उल्लेख भी नहीं किया गया है। अतः लाट के उक्त चालुक्य राज्य को स्वतन्त्र शक्ति बन जाने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

वातापि पर पल्लवों का अधिकार संभवत अधिक समय तक नहीं रह सका था। ऐसा प्रतीत होता है कि पल्लवाधिपति नरसिंह वर्मन् ने पुलकेशिन को पराजित तथा उसका हत्या करने के उपरान्त वातापि को लूट कर पुनः अपनी राजधानी काञ्ची लौट गया। इस तथ्य की किञ्चित पुष्टि उसके शासन काल के तेरहवें वर्ष (लगभग 642 ई०) एक पल्लव-अभिलेख से भी होती है जिसमें चालुक्य साम्राज्य पर पल्लवों के अल्पकालीन अधिकार को इङ्गित किया गया है।

चालुक्य-शासन की अस्थिरता का लाभ संभवतः सेन्द्रक सामन्तों ने भी उठाया था क्योंकि कैरा दान-पत्र में इस बात का उल्लेख मिलता है कि सेन्द्रक शासक श्रीपृथ्वीवल्लभ निकुम्भमल्ल शक्ति भी स्वतन्त्र शासक था। परन्तु चालुक्य इतिहास में हुए उक्त अन्धकार-काल की परिस्थितियों का मूल कारण था पुलकेशिन द्वितीय के पुत्रों के बीच राजसिंहासन के लिए पारस्परिक संघर्ष। अभिलेखिक तथा कतिपय साहित्यिक साक्ष्यों में पुलकेशिन द्वितीय के पुत्रों में आदित्यवर्मन्, विक्रमादित्य प्रथम, चन्द्रादायित्य, जयसिंहवर्मन्, नेऽमरि तथा रणरागवर्मन् के नाम यत्र-तत्र मिलते हैं। इन राजकुमारों में विक्रमादित्य प्रथम, आदित्य वर्मन तथा चन्द्रादित्य अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली तथा स्वतन्त्र शासक के रुप में उल्लिखित भी हैं। परन्तु अन्ततः चालुक्य-वंश की राजनीतिक अस्थिरता का समापन चालुक्य-सामन्त शक्तिशाली गंगनरेश दुर्विनीत के द्वारा वातापि के राजसिंहासन पर विक्रमादित्य प्रथम ने राज्याभिषेक किए जाने से संभव हुआ।

विक्रमादित्य प्रथम (654-55ई0 - 679ई0)

लगभग 654-55 ई० में पुलकेशिन द्वितीय का उत्तराधिकारी पुत्र विक्रमादित्य प्रथम चालुक्य राजसिंहासन पर बैठा। येवूर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त चालुक्यराज्य में राजनीतिक अस्थिरता एवं अशान्ति का वातावरण व्याप्त हो गया था। उक्त अभिलेख में अमर एवं आदित्यवर्मन नामक नरेशों का उल्लेख हुआ है। इस विवरण के आधार पर कतिपय इतिहासकार इन्हें ही पुलकेशिन द्वितीय का उत्तराधिकारी शासक मानते हैं। परन्तु फ्लीट के अनुसार उक्त दोनों व्यक्ति चालुक्य वंश के राजा नही थे। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन लोगों ने

बिगड़ी हुई चालुक्यराज्य की स्थिति का लाभ उठाकर राजगद्दी को हथियाने का प्रयास अवश्य किया होगा। कुछ समय बाद इन्हें पुलकेशिन द्वितीय के कनिष्ठ पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने पराजित करके वातापि के राजसिंहासन को प्राप्त कर लिया। इस प्रकार राजसत्तापहरण के लिए चलाये जा रहे विरोधों के प्रयासों को उसने विफल कर दिया। अपनी कूटनीतिक प्रतिभा के बल विक्रमादित्य प्रथम ने अपने नाना गंग-नरेश दुर्विनीति की सहायता लेकर पल्लव शासक नरसिंहवर्मन् को पराजित कर दिया तथा अपनी राजधानी बादामी को बलपूर्वक पल्लव आधिपत्य से मुक्त करा लिया।

विक्रमादित्य प्रथम के सिंहासनारुढ़ होने के समय दक्षिणी चालुक्य राज्य में घोर अशान्ति का वातावरण छाया हुआ था। चोल, पाण्ड्य एवं केरल प्रदेशों के अधीनस्थ शासकों ने उसके विरुद्ध विद्रोह करके स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर लिया। विक्रमादित्य प्रथम ने उक्त तीनों राज्यों की शक्ति को बलपूर्वक दबाकर उन्हें अपने अधीन रहने को विवश कर दिया। 670 ई० में उसने अपनी शक्ति को संगठित करके तत्कालीन पल्लव नरेश महेन्द्रवर्णन पर आक्रमण किया एवं उसे पराजित करके अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। उसने अपने पिताश्री पुलकेशिन द्वितीय द्वारा विजित सारे राज्यों को अपने बाहुबल से जीतकर स्वयं को तीनों समुद्रों के मध्य की भूमि का महीपति बना लिया।

पल्लवों के विरुद्ध संघर्ष :

पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन द्वारा किए गए चालुक्यों के मानमर्दन तथा पिताश्री पुलकेशिन द्वितीय की हत्या ने विक्रमादित्य के मन में प्रतिशोध की ज्वाला जला चुकी थी। फलतःउसने अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ कर लेने के उपरान्त पल्लवों के विरुद्ध अभियान किया। धराश्रय के ताम्रपट्ट-अभिलेखों 671 ई० से ज्ञात होता है कि उसने पल्लवों के साथ हुए प्राथमिक युद्धों में सफलता प्राप्त की थी ज्ञातव्य है कि धराश्रय जयसिंह वर्मन चालुक्य नरेश विक्रमादित्य का प्रिय अनुज था (ज्यायसा भ्रातासम्वर्द्धिविभूतिः)। गदवल, सुवणूर तथा तिथित लेख होन्नूर (970-71 ई०) से भी उसके पल्लवभियान की पुष्टि होती है। गदवल ताम्रपट्ट-लेख में पल्लवों के विरुद्ध विक्रमादित्य द्वारा प्राप्त सफलताओं का कुल चार श्लोकों में उल्लेख मिलता है।

"मुदित नरसिहा यशसा विंहितमहेन्द्रप्रताप विलयेन।
नयन विजितेश्वरेण प्रभुण श्रीबल्लभजितम्॥

कृतपल्लवमर्द्ध दक्षिणदिग्युवर्तिमान्त काञ्चीकः।
यो भृशमभिरभयन्नपि सुतरां श्रीवल्लभत्वंभितः॥

वहति स्वमर्थवन्तं रणक्षिकः श्रीमदुरुवलस्कन्धः।
यो राजमल्ल शब्द विहित महामल्ल कुलनाशः॥
दुर्ल्लंघ्य दुष्कर विभेद विशालशाला दुश्गधिदुस्तर वृहत्परिखा परिता।
अग्राहियेन जयतेश्वर पोतराज काञ्चीवदर्पिनदिराः विदितेन काञ्ची"॥

उचित अभिलेख साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य को पल्लवों के क्रमशः तीन प्रमुख शासकों—नरसिंहवर्मन प्रथम, महेन्द्रवर्मन द्वितीय तथा परमेश्वरवर्मन प्रथम से अपने जीवन काल में संघर्ष करना पड़ा था। उसने पल्लवों के विरुद्ध किए गये

अभियानों में अनुज जयसिंहवर्मन तथा गंग शासकों से बराबर सामरिक सहायता प्राप्त थी। विक्रमादित्य प्रथम के शासनकाल में निर्गत अलग-लेखों से पता चलता है कि उसने पल्लव नरेश से काञ्ची में अपनी वन्दना करवाई तथा उन्हें आत्मसमर्पण करने को विवश कर दिया। उसने कांञ्ची से आये धुर दक्षिण में स्थित चोल, पाण्ड्य तथा केरल के राजाओं को भी अपनी प्रभुता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया था।

विक्रमादित्य प्रथम की सफलता में उसके भाई जयसिंहवर्मन् ने विशेष सहयोग प्रदान किया था, फलतः उसने उसे लाट प्रदेश का शासन नियुक्त किया। जयसिंहवर्मन् ने वलभी नरेश शीलादित्य तृतीय को पराजित करके उसे लाटराज्य में मिला लिया। उसने गुजरात में चालुक्यों की एक पृथक् राजसत्ता की नींव डाली जिसे गुजरात की चालुक्यशाखा के नाम से अभिहित किया जाता है। विक्रमादित्य ने मैसूर प्रदेश के गंग एवं पाण्ड्य राज्यों के नरेशों के साथ मैत्री संवन्ध स्थापित करके शक्तिशाली चालुक्य-साम्राज्य की स्थापना की। उसने श्रीपृथ्वीवल्लभ, भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा रणरसिक आदि उपाधियाँ धारण करके अपनी कीर्ति को चिरस्थायी बनाया था। अपने शासन के अन्तिम चरण में विक्रमादित्य प्रथम को संभवतः महेन्द्रवर्मन के पुत्र पल्लवनरेश परमेश्वरवर्मन से पेरुवलनल्लूर के युद्ध में पराजित होना पड़ा। पल्लव-अभिलेखों के अनुसार इस युद्ध में परमेश्वरवर्मन् की विजय हुई। इसके विपरीत चालुक्य-अभिलेखों में विक्रमादित्य प्रथम की जीत की सूचना दी गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः उक्त दोनों राजवंशों के बीच हुए प्रारम्भिक युद्धों में पहले चालुक्य नरेश विक्रमादित्य प्रथम को सफलता प्राप्त हुई। किन्तु दोनों राज्यों के बीच सतत् चल रहे संघर्षों के क्रम में अंततः उसे परमेश्वरवर्मन् द्वारा पराजय मिली प्रतिशोध में बस ऐतिहासिक घटना की सम्पुष्टि विनयादित्य द्वारा किये गए विजयाभियानों से होती है। ज्ञातव्य है कि विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी विनयादित्य ने पल्लवों के विरुद्ध युद्ध करके चालुक्यों के पराजय का बदला चुका लिया था।

विनयादित्य (681 ई0-696 ई0.)

शोलापुर जिले के तेम्मुणि नाम स्थान से प्राप्त 672 ई० के महाराज विक्रमादित्य प्रथम के शासन-काल के दो ताम्र-पत्र-लेखों से ज्ञात होता है कि विनयादित्य अपने पिता के शासनकाल में युवराज नियुक्त कर दिया गया था (सकल-भुवनसाम्राज्यलक्ष्मीस्वयंवराभिषेक-समयानन्तर समुपजात महोत्साहः)। उपर्युक्त अभिलेखों में उसके द्वारा प्रदत्त भूमि-दानों का उल्लेख किया गया है। जे० एफ० फ्लीट के अनुसार 680 ई० में विक्रमादित्य प्रथम के उपरान्त युवराज विनयादित्य राजसिंहासन पर वैठा। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार सम्भवतः 678-79 ई० में उसे युवराज नियुक्त किया गया तथा 680-81 ई० में उत्कीर्ण हैदराबाद-अभिलेख से पुष्टि होती है जिसमें विनयादित्य के शासन-काल के दूसरे वर्ष का विवरण आया है। इस अभिलेख की काल-गणना के आधार पर भी उसके राज्यारोहण की तिथि 681 ई० ही ठहरती है। परवर्ती चालुक्य नृपतियों के लेखों में उसको 'त्रैराज्यपल्लवपति' कहा गया है। कीलहार्न, फ्लीट तथा रायचौधरी आदि विद्वानों के अनुसार 'त्रैराज्यपल्लिवपति' शब्द चोल, पाण्ड्य तथा केरल राज्यों का स्मरण दिलाता है जो सम्भवतः पल्लवनरेश परमेश्वरवर्मन प्रथम के अधीन थे तथा जिन्हें विनयादित्य ने अंततः जीत लिया था।

डुब्रील के मतानुसार त्रैराज्यों में पल्लव, पाण्ड्य एवं सिंहल राज्यों को सम्मिलित माना जा सकता है जिन्हें कुछ समय के लिए विनयादित्य ने जीत लिया था। परवर्ती चालुक्य अभिलेखों में उसे सकलोत्तरापथनाथ, कलभ्र, मूसक, विल, सत्रीराज्य तथा कमेर (कवेर) राज्यों का भी विजेता कहा गया है। के० वी० रमेश ने सकलोत्तरापथनाथ की पहचान मालवशासक वज्रट से किया हैं। यह पहचान कुछ सीमा तक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि लाटों एवं गुजरों के साथ मालवों ने भी पुलकेशिन द्वितीय की अधीनता स्वीकार की थी तथा वे विक्रमादित्य प्रथम के शासनकाल में भी चालुक्यों के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। सम्भवतः विक्रमादित्य प्रथम की मृत्यु के उपरान्त मालवों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। अतः विनयादित्य ने उन्हें पुनः जीतकर 'सकलोत्तरापथनाथ' का विरुद् धारण किया था। विनयादित्य के पुत्र विजयादित्य के शासनकाल के प्रथम वर्ष में उत्कीर्ण शक संवत् 619 के सिरसि अभिलेख में उसे सकलोत्त्रापथनाथ, पालिध्वज, पंचमहाशब्द, पद्मरागमणि आदि का प्राप्तकर्त्ता तथा उसे अपने पिता को श्रद्धया समर्पित करने वाला कहा गया है (सकलोत्तरापथनाथमथनोपार्ज्जित-पालिध्वजा दिसमस्त परमैश्वर्य चिन्हस्य विनयादित्य-सत्याश्रय-श्रीपृथिवीवल्लभ)।

उपर्युक्त साक्ष्यों में अतिरंजना है अथवा यथार्थता—यह कहना वहुत कठिन है। परन्तु उसके विरुद् यथा, दुर्धरमल्ल, महाराजाधिराज, भट्टारक, राजाश्रय, श्रीपृथ्वीवल्लभ तथा सत्याश्रय आदि उसकी सैनिक सफलताओं के परिचायक अवश्य माने जा सकते हैं। उसके द्वारा दिये गये भूमिदानों के विवरण तथा विभिन्न जैन एवं हिन्दू मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण आदि से उसके पराक्रम एवं राजत्व की गरिमा की पुष्टि होती है।

विजयादित्य (696 ई0-733 ई0)

विनयादित्य के शासन के उपरान्त लगभग 63० ई० में उसका योग्य पुत्र युवराज विजयादित्य सिंहासन पर बैठा। करनूल अभिलेख से ज्ञात होता है कि उस 691 ई० में विनयादित्य ने युवराज नियुक्त किया था। वह शस्त्रशास्त्रविशारद (शैशएवाधिगताशेषास्त्रशास्त्रो) था तथा युवराज के रुप में उसने अपने पिता के सैन्य अभियानों में वडी सफलतायें प्राप्त की थी। उसके शासनकाल के लगभग 40 अभिलेख उपलब्ध हो चुके हैं जिनकी सूचनाओं के आधार पर उसके तथा पूर्ववर्ती चालुक्यशासकों के विषय में अनेक महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती हैं। जम्मलगाम अभिलेख, जिसकी तिथि 697 ई० है, उसके शासन-काल के प्रथम वर्ष की महत्वपूर्ण घटनाओं की सूचना देता है। रायगढ़ अभिलेख (730 ई०) से पता चलता है कि युवराज के रुप में उसने अपने पिता विनयादित्य के उत्तर-भारतीय सैन्य-अभियानों में भाग लेकर अनेक राज्यों को जीत लिया तथा वहाँ से गंगा-यमुना की आकृतियाँ, पालिध्वज तथा पद्मरागमणि आदि प्रभुतासूचक चिन्हों को प्राप्त कर अपने पिता को भेंट किया था। अभिलेख की पंक्तियों के अनुसार विजयादित्य उत्तरी भारत के इस युद्धाभियान में न केवल पराजित हुआ अपितु वन्दी भी वना लिया गया। परन्तु अन्ततः स्ववाहुवल के पराक्रम से वह मुक्त होकर सुरक्षित अपने राज्य लौट आया (पलायमानेरासाद्य कथमपि विधिवशादपनीतोऽपि प्रतापादेव विषयप्रकोप्......अनपेक्षितापरसहायकस्तदहान्निर्गत्य)।

विजयादित्य ने अपने शासनकाल के 35 वें वर्ष के लगभग अपने पुत्र युवराज विक्रमादित्य द्वितीय को परम्परागत शत्रु पल्लव-राज्य पर आक्रमण एवं विजय-प्राप्ति हेतु कांची की ओर प्रस्थान करा दिया। उलचला-अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस अभियान में चालुक्य युवराज विक्रमादित्य द्वितीय ने तत्कालीन पल्लवनरेश परमेश्वरवर्मन द्वितीय को पराजित कर उससे विपुल कर एवं बहुमूल्य रत्नादि वसूल किया। येवूर-अभिलेख के अनुसार विजयादित्य भी अपने पिता विनयादित्य के समान वीर एवं साहसी था। अपने समकालीन बहुत से वीर पुरुषों के साथ युद्ध करते हुए उसने चार प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। ये चार विजित प्रदेश कौन थे—इसका उल्लेख अभिलेख में नहीं किया गया है। उसके सामन्त-शासकों में गंग, सेन्द्रक, आलुप, वाण, रेनाडु के तेलगु-चोल आदि की गणना की गई है।

विजयादित्य का शासनकाल ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान एवं स्थापत्य एवं ललित कलाओं के समुन्नयन का काल था। उसने अपने प्रयासों से वास्तुकला को एक विकासपरक नया आयाम दिया, जिसका भव्यतम् उदाहरण पट्टदकल में निर्मित विजयेश्वर-शिव मन्दिर है (स्थापितो महाशैल-प्रासदो श्रीविजयेश्वर-परम-भट्टारक)। इसी प्रकार अलमपुर-अभिलेख से पता चलता है कि विजयादित्य की आज्ञा से ईशानाचार्य ने अलमपुर में एक शिवमन्दिर के प्राकार का निर्माण कराया था। उसकी माता विनयवती ने वातापि में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की मूर्तियाँ स्थापित करायी तथा उनकी बहन कुमकुम देवी ने लक्ष्मेश्वर में आनेसेज्येयवसदि नामक एक भव्य जैनमन्दिर का निर्माण कराया था।

विजयादित्य धर्मसहिष्णु, महान् निर्माता तथा दानी शासक था। उसकी साम्राज्य-सीमा बहुत विस्तृत थी। उत्तर में गुजरात से लेकर लाट तक तथा दक्षिण में पल्लव-राज्य की सीमा तक विस्तृत थी। वह प्रजा हित के कार्यों में गहरी रुचि लेता था तथा समय-समय पर जनता का दुःख दर्द जानने के लिए साम्राज्य के विभिन्न अञ्चलों में प्रशासकीय शिविर लगाता और स्वयं निरीक्षण करता था। उसने अपने पिता की भाँति श्रीपृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर, सत्याश्रय, भट्टारक, साहसरसिक तथा समस्त भुवनाश्रय आदि विरुद् धारण किया।

विक्रमादित्य द्वितीय (736-37 ई0-744 ई0)

चालूक्य नरेशों में सबसे अधिक काल तक विजयादित्य (636 ई० से 733 ई०) ने शासन किया। 733 ई० में उसके पश्चात् राज्याधिकार उसके साहसी पुत्र युवराज विक्रमादित्य द्वितीय को प्राप्त हुआ। 710 ई० में के विजयादित्य के सतारा-लेख में विक्रमादित्य द्वितीय को 'युवराज' कहा गया है। अर्थात् इस तिथि के पूर्व ही 'युवराज' बना दिया गया था।

पल्लवों के विरुद्ध सामरिक अभियान —नरवण तथा केन्द्र अभिलेखों में बताया गया है कि राज्यारोहण के उपरान्त उसने पल्लवराज्य की शक्ति को नष्ट करने के लिये तुंडाक प्रदेश से होते हुये पल्लवराज्य में प्रवेश किया तथा नन्दिपोतवर्मन (नन्दिवर्मन्) को पराजित किया (प्रकृत्यामित्रस्य पल्लवस्य समूलोन्मूलनायं-कृत-मतिरतिरथातुंडाक विषयप्राप्याभिमखागतन्नंदिपोतवर्मा)। उपरोक्त घटना की पुष्टि 'नरवण' (रत्नगिर

जनपद), केन्दूर वक्ककलेरि तथा विक्रमादित्य की रानी 'लोकमहादेवी' के पट्टदकल अभिलेखों से भी होती है। इस युद्ध में उसने प्रभूत धन प्राप्त करके उन्हें वहाँ के ब्राह्मणों एवं निर्धनों को दान कर दिया। केन्दूर-अभिलेख से पता चलता है कि उसने काँची के वैभव को कोई क्षति नहीं होने दी। वल्कि वहाँ के 'राजसिंहेश्वर मन्दिर' को अधिक वैभवशाली बनाने के लिये स्वयं उसने वहूमूल्य रत्नादि भेंट किया (काँचीमविनश्य प्रविश्य दानांदित-द्विजदीनानाथजनः नरसिंहपोतवर्मणानिर्मित-शिलामय-राजसिंहश्वेर ादि देवकुलसुवर्णराशि प्रत्यर्पणीपार्जितपुणः)। उसने पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम की वातापि-विजय को स्मरण करते हुये राजसिंहेश्वरमन्दिर की दीवाल पर अपने मंत्री द्वारा एक अभिलेख उत्कीर्ण करवाया तथा नरसिंहवर्मन द्वारा वातापि-विजय के पश्चात् धारण की गई उपाधी 'वातापिकोंड' के समान स्वयं 'कांचिनकोंड' (कांची विजय करने वाला) की उपाधीधारण करके चालुक्यपराजय का वदला चुकाया। पल्लवों पर उसका यह द्वितीय आक्रमण था। संभवतः उसने राज्यारोहण के आठवें वर्ष या उसके कुछ पहले पल्लवों को पराजित किया था। उसने युवराजकाल में भी एक वार चालुक्यसेना का नेतृत्व करते हुए पल्लव-सेना को पराजित किया था। ज्ञातव्य है कि चालुक्य महारानी लोकमहादेवी के पट्टकदकल-अभिलेख में विक्रमादित्य द्वितीय द्वारा काँची पर तीन वार विजय करने का उल्लेख किया गया है। संभवतः अपने शासन काल के अन्तिम चरण में विक्रमादित्य द्वितीय ने युवराज कीर्तिवर्मन् के नेतृत्व में तीसरी काँची पर विजय करने के लिए भेजी थी, जिसमें पल्लवों को पदाक्रान्त वहाँ से कीर्तिवर्मन् ने वहुसंख्यक हाथी एवं रत्न अपहृत करके वातापि लौट आया।

कीर्तिवर्मन् द्वितीय के वक्कलेरि, केन्दूर तथा नरवण-अभिलेखों में विक्रमादित्य द्वारा पराभूत सुदूर दक्षिण भारतीय चोल, पाण्ड्य, केरल तथा कलभ्र आदि राज्यों का उल्लेख मिलता है। नरवण-अभिलेख के अनुसार ये राज्य उसकी प्रभुता से संत्रस्त थे (अनिवारित-प्रतापप्रसरप्रतापितपाण्ड्य-चोलकेरल कलभ्रप्रभृतराजन्यकः)। इन प्रदेशों पर विजय प्राप्त करके उसने दक्षिणी समुद्रतट पर अपना एक विजयस्तम्भ स्थापित कराया (दक्ष्णार्णवे शरदमल-शशधर-विशद-यशोराशिमय जयस्तम्भमतिष्ठिपत्)। उसके शासनकाल में दक्कन क्षेत्र पर हुये अरवों का आक्रमण भी महत्वपूर्ण है, जिसका उल्लेख लाट प्राप्त प्रान्त के शासक पुलशिराज के कलचुरि-संवत् 490 (738-39 ई०) के नौसारी-अभिलेख में मिलता है। इसमें अरबों को 'ताज्जिक, नाम देते हुये उन पर विजय प्राप्त करने का श्रेय जयसिंहवर्मन के पुत्र पुलकेशिराज को दिया गया है। तरलतरतारतवारिदारि (तोदित) सैन्धव कच्छेल्लसौराष्ट्र (चा)-बोटक—मौर्य-गूर्ज्जरादि (दि रा) जे निःशेषदक्षिणात्यक्षितिपतिजि (गी) षयादक्षिणापथ प्रवेशाभिलाषिणि.......नवसारिकविषयप्रसाधन(यागते.......)।

विक्रमादित्य द्वितीय का विवाह हैहयवंशी लोकमहादेवी एवं उनकी सहोदरीत्रैलोक्यमहादेवी नामक राजकन्याओं के साथ हुआ था। उसकी प्रभुता पश्चिमी, गंग, वाण तथा आलुप के नरेश भी स्वीकार करते थे। उसने अपने पिता के विशाल साम्राज्य की सीमाओं को न केवल अक्षुण्य बनाये रखा अपितु उसमें कुछ अभिवृद्धि भी की थी। वह महान् कलाप्रेमी एवं निर्माता शासक था। उसकी ज्येष्ठ रानी लोकमहादेवी ने पट्टदकल में एक विशाल शिवमन्दिर का निर्माण कराया था जो

अव 'विरुपाक्ष महादेव' मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। इस विशाल मन्दिर के प्रधान शिल्पी आचार्य गुण्ड को 'त्रिभुवनाचारि' अनिवारिताचारि, तथा 'तेन्कणदिशा सूत्रधारि' आदि योगक्य उपाधियों से विभूषित किया गया ता। उसकी कनिष्ठ राजमहिषी त्रैलोक्य महादेवी ने सुप्रसिद्ध 'त्रैलोकेश्वर शिव-मन्दिर' का निर्माण कराया था। इनके अतिरिक्त अन्य शैव एवं जैन मन्दिरों के निर्माण से भी विक्रमादित्य की कलाप्रियता का परिचय मिलता है। उसने रचनात्मक व्यक्तित्व का विशद् विवरण लक्ष्मेश्वर एवं ऐहोल अभिलेखों में प्राप्य हैं।

विक्रमादित्य द्वितीय ने बल्लभदुर्नय, कांचियनकोंडु, महाराजाधिराज, श्रीपृथ्वीवल्लभ, परेमश्वर आदि अनेक उपाधियाँ धारण की थी। उसका शासन 745 ई० में समाप्त हुा।

कीर्तिवर्मन् द्वितीय (744 ई0-757 ई0)

धारवाड़ जनपद से कुछ दिन पूर्व प्राप्त 758 ई० के कीर्तिवर्मन् कालीन एक भूमि-अनुदान-लेख की सूचनानुसार विक्रमादित्य द्वितीय ने उसको उत्तराधिकार प्रदान करने के पूर्व 'युवराज' नियुक्त किया। केन्दूर-अभिलेख के अनुसार उसने युवराज-काल में अपने पिता की आज्ञानुसार चालुक्यसेना का नेतृत्व करके तत्कालीन शक्तिशाली पल्लव राज्य को जीत लिया तथा पल्लवाधिपति नन्दिवर्मन् द्वितीय को कांची नगरी से वाहर पर्वतीय उपत्यका में शरण लेने के लिए वाध्य कर दिया (पित्रारोपितयौवराज्य स्वकुलवैरिण: कांचीपतेर्निग्रहायमांप्रेषय इत्यादेशं लब्ध्वाकृत प्रयाण.......प्रकाश-युद्धं कर्तुमसर्थ प्रविष्ट दुर्ग-पल्लवं-समन्ततोभिभूय भग्नशक्ति कृत्वा)। समृद्धशाली पल्लव राजधानी कांची से वहुमुल्य प्रचुर रत्न, हाथी तथा अन्य सामग्रियों को आहृतकर वह अपनी राजधानी वापस लौट आया तथा अपने पिता के चरणों में उसे अर्पित कर दिया (प्रभूतगजसुवर्णमाणिक्यकोटिरादाय पित्रे समर्पितवान् कीर्तिवर्मा):

ऐनूलि-ताम्रपत्र-लेखों में, जो सम्भवत: उसने शासनकाल के चौथे वर्ष में लिखवाये गए थे, के विवरणों में भीमानदी के तट पर पड़े जयस्कन्धावार में कीर्तिवर्मन् द्वितीय के विद्यमान होने का उल्लेख आया है। इसी प्रकार कर्नाटक प्रदेश के कोलार जनपद में. भीमरथी नदी के तट पर स्थित कीर्तिवर्मन् के जयस्कन्धावार से वक्कलेरि-ताम्रपत्र-लेख जारी किया गया था। उसने सैन्य-अभियानों का उल्लेख केन्दूर एवं एनूल-अभिलेखों में भी मिलता है। परन्तु इन युद्धों की विस्तृत सूचना अभी ज्ञात नहीं हो सकी है। चालुक्य-अभिलेखों में पश्चिमी गंग, बाण तथा राष्ट्रकूट आदि को सामन्त शासकों में परिगणित किया गया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कीर्तिवर्मन् के जिन उपर्युक्त स्कन्धावारों का उल्लेख वक्कलेरि, एनूलि आदि अभिलेखों में किया गया है, वे सम्भवत: सामन्त शासक गंग पर हुए पाण्ड्य नरेश मारवर्मन् राजसिह के आक्रमण को दवाने के लिये लगाये गये थे।

चालूक्यों के शासनकाल के अन्तिम चरण में, उनके सामन्त शासक के रुप में, राष्ट्रकूट नरेश इन्द्रराज तथा दंतिदुर्ग ने क्रमश: अपनी शक्ति वहुत वढ़ा ली थी। संजन-दान-पत्र से पता चलात है कि राष्ट्रकूट शासक इन्द्रराज ने चालूक्य राजकुमारी

भावनागा के साथ कैरा में बलात् राक्षस विवाह कर लिया था। परन्तु लाट तथा वातापि के चालुक्य शासक उसकी शक्ति का आकलन करके इस सामाजिक अपमान का प्रतिरोध करने की स्थिति में स्वयं को न पाकर चुप बैठ गए थे—

"राजस्ततो ग्रहात् यश्चालुक्यनृपात्मजाम्।
राक्षसेन विवाहेन रणे खेटकमण्डपे ।।"

इन्द्रराज का पुत्र एवं उसका उत्तराधिकारी दंतिदुर्ग उससे भी अधिक प्रतापी एवं बलवान सिद्ध हुआ। दन्तिदुर्ग ने अपने क्रमिक विजयों के फल्स्वरुप मही,नर्मदा तथा महानदी के निकटवर्ती क्षेत्रों में राष्ट्रकूट-शक्ति के विस्तार का सिलसिला प्रारम्भ कर दिया। उस समय लाट के चालुक्य शासक पुलकेशिराज तथा उज्जैन एवं नान्दीपुर के गुर्जर-प्रतीहार शासक पश्चिमी भारत पर हो रहे अरब-आक्रमणों को रोकने में अपनी शक्ति पर्याप्त जर्जर कर चुके थे। उनकी कमजोर परिस्थिति का भरपूर लाभ उठाते हुये राष्ट्रकूट-शासक दन्तिदुर्ग ने चालुक्यशक्ति को लगातार क्षीण करने का क्रम जारी रखा। परन्तु तत्कालीन चालुक्यनरेश विक्रमादित्य द्वितीय की शक्ति का आकलन करते हुए उससे सीधा युद्ध करना राष्ट्रकूटों के लिए अब भी बड़ा कठिन था।

विक्रमादित्य द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त तथा कीर्तिवर्मन् के राजसिंहासन पर आसीन होने के कुछ ही समय बाद राष्ट्रकूटशासक दन्तिदुर्ग ने चालुक्यशासन के विरुद्ध खुला विद्रोह कर दिया। श्रीशैल देश के चोड्डों और पल्लवों को पराजित करने के उपरान्त दन्तिदुर्ग ने कीर्तिवर्मन् पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में कीर्तिवर्मन् राष्ट्रकूटों से पराजित हुआ जिसके फलस्वरुप गुजरात, उत्तरी महाराष्ट्र तथा आस-पास के प्रदेशों पर दन्तिदुर्ग का स्वतन्त्र शासन स्थापित हो गया। इस विजय के फलस्वरुप वह दक्षिणापथ में स्वतन्त्र नरेश के रुप में स्थापित हो गया। चालुक्यनरेश पर दन्तिदुर्ग के विजय की सूचना 753-54 ई० के समनगढ़ (कोल्हापुर जनपद) अभिलेख में विवृत है। इस विजय के फलस्वरुप चालूक्यों की मूलशाखा का पतन प्रारम्भ हो गया था दन्तिदुर्ग ने इस विजय के उपलक्ष में परमेश्वर तथा राजाधिराज की उपाधियाँ धारण की (यो वल्लभ सपदि दंडकलेन (बलेन) जित्वा राजाधिराजपरमेश्वरतामुपैति)। सम्भवतः दन्तिदुर्ग की मृत्यु के बाद 756 ई० के आस-पास कीर्तिवर्मन् ने पुनः चालुक्यशक्ति को संगठित करने का प्रयास किया, जिसका संकेत कीर्तिवर्मन् के शासन काल के ग्यारहवें वर्ष में अभिलिखित वक्कलेरि-अभिलेख में किया गया है। अभिलेख के अनुसार उसने धारवाड़ के हंगल क्षेत्र की कुछ भूमि भी ब्राह्मणों को दान में दिया था।

गोविन्द तृतीय के वणीगाँव-अभिलेख के विवरण के अनुसार कीर्तिवर्मन् के अन्तिम प्रयासों के बावजूद, दन्तिदुर्ग के उत्तराधिकारी शक्तिशाली राष्ट्रकूटनरेश कृष्ण प्रथम ने चालुक्य नरेश को पराजित करके उसकी अवशिष्ट शक्ति को सदा-सदा के लिये समाप्त कर दिया तथा चालुक्यराज्य को अपहृत कर लिया। अपनी सत्ता स्थापना के साथ ही उसने चालुक्यों के राजकीय चिन्ह वराह के स्थान पर हिरण को अपना राजकीय चिन्ह घोषित किया (तश्चालुक्यकुलादनूनविबुधव्राताश्रयोवारिधे.........लूर्लक्ष्मीम्मन्दर-वत स्सीललमचिरादाकृष्टवान वल्लभः)।

---

7 चालुक्यकालीन संस्कृति

शिक्षा एवं साहित्य

वातापि (वादामी) के चालुक्यों का शासन प्रायद्वीपीय दक्कन (पश्चिमी दक्षिणापथ) के इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण काल माना जाता है। उन्होंने लगभग दो शताब्दियों तक शासन किया। इस लम्वी अवधि में चालुक्यों ने साहित्य, कला तथा धर्म के आदि संवर्द्धन में महत्वपूर्ण योगदान किया।

साहित्य-सृजन में संस्कृत भाषा का उपयोग चालुक्ययुगीन समाज की जागरूकता का परिचायक है। इस काल में उत्कीर्णित अभिलेखों में क्लासिकल संस्कृत का प्रयोग किया गया है, जिससे यह इंङ्गित होता है कि तत्कालीन समाज में संस्कृत का अध्ययन, अध्यापन तथा बोल-चाल में प्रयोग पर्याप्त प्रचलित था। ऐहोल-प्रशस्ति में संस्कृत भाषा एवं छन्दों का जो स्वरुप मिलता है उससे यह सहजतः अनुमन्य है कि संस्कृत साहित्य को दक्षिापथ में पर्याप्त समादर प्राप्त था। महाकूट एवं ऐहोल अभिलेखों में अलंकृत पद्य एवं अभिलिखित गद्यांश अपनी साहित्यक विशेषताओं की दृष्टि से महाकवि वाण की गद्य-विधा का स्मरण कराते हैं। इसी प्रकार ऐहोल-प्रशस्ति की पंक्तियाँ गुप्तकालीन प्रशस्तियों के समतुल्य हैं, जिनमें छन्द-प्रयोग एवं शैली महाकवि कालिदास, भारवि आदि क्लासिकल कवियों की पदावलियों की अनुकृति सी लगती है। प्रशस्तियों एवं लेखों के रचयिताओं के अतिरिक्त इस काल में अनेक कवि तथा शास्त्रकार उद्‌भूत हुए जिनकी रचनाएं संस्कृत साहित्य की अक्षय निधि हैं। इसी युग में महाकवि सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलकचम्पू' और 'नीतिवाक्यामृतम्' जैसे महान् ग्रन्थों का सृजन किया। 'यशस्तिकचम्पू' में जैन धर्म एवं दर्शन की विशद् व्याख्या मिलती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में चम्पूकाव्य-ग्रन्थों में इसका अन्यतम स्थान है। इसी प्रकार 'नीति वाक्यामृतम् में राजनीतिक सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। इस काल में कतिपय महान् विद्वानों में 'उदयदेव' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे अपने समय के श्रेष्ठतम् व्याकरणाचार्य थे। उन्हें जैन धर्म के महान् ज्ञानी धर्माचार्यों में परिगणित किया जाता है। तत्कालीन दक्कन समाज में विद्याअर्जन के प्रति लोगों की गहरी रुचि थी। अभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अकेले राजधानी वादामी से ही अनेक विद्याओं में निष्णात हजारों व्राह्मण रहते थे। चीनीयात्री ह्वेसांग के विवरणों से पता चलता है कि चालुक्यसमाज में शिक्षा के प्रति बड़ी जागरूकता थी तथा महाराष्ट्र में विद्या एवं कला के प्रति लोगों में अगाध प्रेम था। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव आज बीसवीं शताब्दी में भी यहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं में देखा जा सकता है।

धार्मिक स्थिति

वादामी के चालुक्य नरेश हिन्दू थे तथा हिन्दू-धर्म में उनकी गहरी आस्था थी। फलतः उनके राज्य काल में इस धर्म की विशेष प्रगति हुई। चालुक्यनरेशों की विविध उपाधियाँ यथा, श्रीपृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ, परमेश्वर, महाराज आदि हिन्दू सम्राटों की उपाधियों के समान थीं। उन्होंने वैदिक धर्म के अनुसार अश्वमेव, वाजपेय आदि याज्ञिक अनुष्ठान भी किया था।

चालुक्य कालीन समाज में व्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द आदि पौराणिक देवों की उपासना विशेष लोकप्रिय थी। इन देवों की आराधना के लिए वादामी, पट्टदकल ऐहोल आदि केन्द्रों में मन्दिरों का निर्माण किया गया। इस काल की मूर्तियों से ज्ञात होता है कि चालुक्यसमाज में शिव एवं विष्णु दोनों देवों की पूजा विशेष प्रचलित थी। मन्दिरों में अंकित प्रतिमाओं में विष्णु के वराह एवं नृसिंह अवतारों से सम्वन्धित प्रतिमायें अधिक संपूज्य थीं। शैव प्रतिमाओं में प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय हैं जो अनेकत्र स्थापित एवं पूज्य थीं। मन्दिरों की भित्तियों पर रामायण आदि कथाओं के दृश्य अंकित मिलते हैं। चालुक्य नृपतियों की 'परम भागवत' उपाधि से भी हिन्दू धर्म के प्रति उनकी अनुरक्ति का वोध होता है। व्राह्मणधर्मानुयायी चालुक्यों में धार्मिक सहिष्णुता का पूर्ण भाव परिलक्षित होता है। उनकी सहिष्णुतापूर्ण नीति के फलस्वरुप दक्षिणापथ में जैन और वौद्ध को भी पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त था। इस काल के अभिलेखों से प्रमाणित है कि चालुक्य नृपतियों ने जैन साधुओं तथा शिक्षकों को प्रभूत दान दिया था।

चालूक्यसमाज में हिन्दू धर्म के वाद जैन धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय था। ऐहोल-अभिलेख का सुप्रसिद्ध प्रशस्तिकार रविकीर्ति जैनधर्मावलम्वी था, जिसे प्रतापी पुलकेशिन की विशेष कृपा प्राप्त थी। उसने अपने आराध्य 'जिनेन्द्र' की पूजा हेतु 'मेगुती-मन्दिर' का निर्माण कराया था। इसी प्रकार विजयादित्य की वहन ने लक्ष्मेश्वरमें एक भव्य जैनमन्दिर का निर्माण करवाया तथा वहाँ के जैन साधुओं के भरण-पोषण के लिए ग्रामदान किया था। चालुक्यशासक विक्रमादित्य द्वितीय ने भी जैन विद्वानों को विपुल धनराशि से पुरस्कृत किया था। ऐहोल, वादामी आदि की गुफा-भित्तियोंपर जैनतीर्थङ्करों की मूर्तियाँ अंकित मिलती हैं।

चालुक्य कालीन समाज में जैन धर्म की अपेक्षा वौद्ध धर्म का प्रभाव कम था। परन्तु इस धर्म के अनुयायी भी वहाँ विद्यमान थे। पुलकेशिन द्वितीय के शासनकाल में वौद्ध चीनीयात्री ह्वेनसांग ने चालुक्यराज्य की यात्रा की थी। उसके विवरणों से ज्ञात होता है कि वहाँ हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदायों के वौद्ध धर्मानुयायी रहते थे, जिनकी संख्या 5000 से अधिक थी। उसने वहाँ 100 से अधिक वौद्ध मठों एवं विहारों का भी उल्लेख किया है। अजन्ता की गुफाओं में वौद्ध धर्म चैत्यों एवं विहारों की अवस्थिति का पता चलता है, जो सम्भवतः चालुक्यों के समय में ही निर्मित की गई थीं। ह्वेनसांग ने वातापि नगरी में अशोककालीन निर्मित पाँच स्तूपों तथा कतिपय ईट एवं पत्थरों से वने अनेक छोटे-छोटे स्तूपों का भी विवरण दिया है।

इस प्रकारू चालुक्य कालीन समाज में हिन्दू जैन तथा वौद्ध तीनों धर्मानुयायी विद्यमान थे तथा इस काल के नरेशों ने सभी धर्मों के प्रति उदारता का भाव रखते हुए स्वयं हिन्दू धर्म के संवर्द्धन में सक्रिय योगदान दिया था।

चालुक्य कला

चालुक्यों के शासनकाल में कला का सर्वाङ्गीण विकास हुआ । इस काल में लोगों ने तथा चालुक्य शासकों ने तत्कालीन भारत में सर्वाधिक ग्राह्य पौराणिक, सवर्द्धनशील हिन्दू धर्म को अपनाया । फलतः पश्चिमीघाट की पहाड़ियों में बौद्ध एवं जैन गुहा-मन्दिरों के अनुकरण पर हिन्दू देवमण्डलों की आराधना हेतु पर्वतीय गुफाओं को काट-तराशकर वहाँ अनेक भव्य मन्दिर निर्मित कराये गये । चालुक्य-मन्दिर-वास्तुकला के उत्कृष्टतम् केन्द्र तेर (टेर अथवा टगर), ऐहोल, पट्टकला बादामी आदि थे । थे ।

तेर (तगर अथवा टगर) एवं ऐहोल के उत्तरेश्वर तथा कालेश्वर मन्दिरों का निर्माण ईंट की सहायता से किया गया था । ये मन्दिर प्रारम्भिक चालुक्य शासकों द्वारा बनवाये गये थे । ऐहोल में 634 ई० में निर्मित किया गया मेगुती का जैन **'मन्दिर' अपूर्ण** किन्तु भव्य था । यहाँ इसके अतिरिक्त कई अन्य मन्दिरों का भी निर्माण किया गया । बादामी (वातापि) में **'मालेगिती' शैव मन्दिर** 625 ई० में बनवाया गया जो चालुक्य-मन्दिर'वास्तुकला का सुन्दर एवं शालीन उदाहरण है । पट्टदल में बनवाए गए मन्दिरों में **लोकेश्वर शिव 'विरुपाक्ष'** तथा **'पापनाथ'** के मन्दिर कलात्मकता की दृष्टि से आसाधारण है । इनका निर्माण 8 वीं शती ई० के प्राथमिक वर्षों में किया गया । इन मन्दिरों के निर्माण पर पल्लव-द्रविड़-वास्तुशैली का प्रभाव देखा जा सकता है । इन मन्दिरों का आकार बड़ा है तथा इनमें प्रदक्षिणा-पथ तथा मण्डप को काँची के कैलाश मन्दिर की अनुकृति पर बनाया है । इनमें मोटे तथा प्रतिमा अंकित अलंकृत स्तम्भों का विन्यास नयनाभिराम है । मण्डप स्थूल दीवारों से परिवेष्ठित है तथा उसकी छत अलंकृत स्तम्भों पर आधारित है । शिखर पंच-भूमियों (तलों) वाले हैं । मन्दिर के स्तम्भों, चौखटों तथा भित्तियों पर पौराणिक देवी-देवताओं, नाग-नागिनों तथा रामायण के अनेक दृश्य अंकित किए गए हैं । लोकेश्वर **'विरुपाक्ष'** शिव मन्दिर की गणनाभारत के सुन्दरतम् मन्दिरों में की जाती है । इसके निर्माता **स्थपित गंड** को 'त्रिभुवनाचार्य' की उपाधि प्रदान की गई थी । इस मन्दिर के सन्निकट **संगमेश्वर मन्दिर** पर भी पल्लव-मन्दिर-वास्तु-शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है । परन्तु इसका मण्डप स्थूल दीवारों से परिवेष्ठित नहीं है । इसके विपरीत **पापनाथ** के मन्दिर में द्राविड़ एवं नागर दोनों कलाशैलियों का संयुक्त प्रभाव परिलक्षितहोता है । वस्तुतः इस मन्दिर का शिखर, जो नागर शैली का है, को हर तीसरे मोड़ पर शैल आमलकों का निर्माण किया गया है, जिसे उसकी आकृति चालुक्यवेसरशैली के शिखरों के अनुरुप दिखती है । उपर्युक्त मन्दिरों के निर्माणशैली की शिला की सबसे बड़ी विशेषता यह कि इनमें प्रयुक्त भारी शिला-खण्डों को बिना गारे की सहायता लिए ही एक पर एक रख कर संचरित किया गया है ।

चालुक्यों के शासनकाल में उपर्युक्त हिन्दू मन्दिरों के अतिरिक्त अनेक गुहामन्दिरों का भी निर्माण किया गया । पर्वत को काटकर बनाए गए मन्दिरों के प्रमुख केन्द्र थे-वातापि, ऐलोरा, ऐलीफैन्टा, औरंगाबाद तथा अजन्ता आदि । ये गुहा-मन्दिर जैन, बौद्ध तथा हिन्दू धर्मों से सम्बन्धित हैं । इनमें बादामी के गुहामन्दिर निर्माण की दृष्टि से प्रचीनतम् हैं, जिनकी संख्या कुल चार है । 578 ई० में निर्मित यहां के

विष्णुमन्दिर की भित्तियों एवं स्तम्भों पर देव एवं मानव मूर्तियों का सजीव अंकन हुआ है। वरामदे में शेषनाग के आसन पर विराजमान विष्णु तथा नृसिंह की मूर्तियाँ मनहर हैं। यहाँ के जैन-गुहा-मन्दिरों में प्रमुख तीर्थङ्करों का मूर्तन, चालुक्य-स्थापत्य-शैली के प्रतिमान हैं।

पश्चिमी घाट की गुफाओं में मन्दिर-वास्तु-निर्माण की जो परम्परा गुप्तवाकाटक युग में विकसित हुई थी, उसकी कलात्मक पराकाष्ठा चालुक्यों के काल में एलोरा की कला में दिखलाई पड़ती है। एलोरा अजन्ता से 75 किलोमीटर दूर औरंगावाद जनपद में स्थित है। यह स्थान अपनी स्थापत्यकला के लिये विशेष प्रख्यात है। यहाँ के मन्दिर बारादरी की भाँति दो-दो अथवा तीन-तीन तलों में काटकर बनाने गए हैं, जबकि अजन्ता आदि केन्द्रों की गुफाओं में एकतलीय मन्दिरों का ही विन्यास मिलता है। ऐलोरा में तीनों संप्रदायों के गुहा मन्दिर बने हैं जिनमें सत्रह हिन्दू, एक चैत्य एवं ग्यारह बौद्ध-विहार तथा शेष जैन मन्दिर हैं। इन मन्दिरों की स्थापत्यगत तथा अन्य शिल्पीय विशेषता उनके स्तम्भों पर उत्कीर्णित प्रतिमाङ्कनों एवं अलंकरणों में तथा देवी-देवताओं की सजीव मूर्तियों के निर्माण में परिलक्षित होती है। स्थूल, सुचिक्कण तथा चमकदार स्तम्भों पर विविध मनोरम वेलवूटों की पैनी एवं कलात्मक तराश दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देती है। यहाँ हिन्दू मन्दिरों में **दशावतार, धूमरलेण, रामेश्वर** तथा **रावण** की खाई आदि का निर्माण वातापि के महान चालुक्यों के शासन काल में ही हुआ। वातापि का **दशावतार का विष्णुमन्दिर** दो मन्जिला है। इसके प्रत्येक हाल को विशाल स्तम्भों पर टिकाया गया है। दीवालों पर पौराणिक देवाख्यानों के दृश्य तथा अन्य प्रतिमांकन हैं। इनमें सर्वाधिक शोभन-दृश्य कुपित महाकाल सदृश नृसिंहविष्णु द्वारा विदीर्णमुद्रा में, हिरण्यकशिपु की प्रतिमा में देखने को मिलता है। इस प्रतिमा के लक्षण पुराणों तथा शिल्पशास्त्र ग्रन्थों में विवृत है। इसके अतिरिक्त विष्णु के अन्य अवतारों तथा शैव-प्रतिमाओं के दृश्य भी बड़े मनोरम है। ऐलोरा के **रामेश्वर मन्दिर** का वरामदा, स्तम्भ-अलंकरण आदि सज्जा की दृष्टि से अत्यन्त कलात्मक हैं। स्तम्भों के शीर्ष भाग पर निर्मित मंगलकलशों से चारों ओर सामंजस्य के साथ लटकते पत्र-पुष्पों के अंकन तथा अलंकरण से ये स्तम्भ अत्यन्त समृद्ध एवं सज्जित किए गए हैं। इसके साथ ही मंगल कलशों एवं पुष्प-वल्लरियों से सुशोभित इन स्तम्भों पर टोड़ा की भाँति आकर्षक युवतियाँ मंजरियों से युक्त आम्र-पादपों के नीचे, शाल-भंजिकामुद्रा में, मनोद्वेगों का वर्षण करती हुई खड़ी की गई हैं। इन सुन्दरियों के प्रतिभा-निर्माण पर शुङ्गकालीन शालभंजिका मूर्तियों की निर्माणशैली का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वरामदे के वाहर दोनों ओर गङ्ग एवं यमुना की मूर्तियाँ वामन पुरूष के मस्तक पर एक हाथ रखे खड़ी हैं तथा वरामदे के भीतर नृत्य-मुद्रा में चतुर्भुज विष्णु की एक विशाल-प्रतिमा मन्दिर का प्रमुख आकर्षण है।

अजंता की ही भाँति औरंगाबाद में भी बौद्ध-बारादरी-मन्दिरों की संख्या अधिक हैं। यहाँ के मन्दिर सुन्दर, अलंकृत स्तम्भयुक्त मंडपों से युक्त हैं। पार्श्वभित्ति पर और पृथक् रुप में भी प्रलंबपाद-आसन में बैठी बौद्ध-प्रतिमाएँ अङ्कित हैं। इस मन्दिर की कतिपय मूर्तियाँ ऐसे नर-नारियों की हैं, जो घुटने टेके प्रणाभमुद्रा में सहजतः झुकी हुई

विनिर्मित हैं **भगवत शरण उपाध्याय**[1] के अनुसार संभवतः वे मानव मूर्तियाँ गुहा-निर्माताओं की हैं ।

चालुक्यों के शासन काल में अजन्ता की प्रधान गुफाएं 1 से 5 तक तथा 21 से 15 तक काट कर बनाई गई थीं । इन गुफाओं पर अजन्ता-चित्रकला शैली पर अनेक चित्राङ्कन तथा भित्तियों पर बहुसंख्य मूर्तियाँ तराशी गई हैं । गुफा संख्या 1 और 2 में, जो ईसा की 7 वीं सदी की हैं, अपनी चित्राङ्कन-सम्पदा के लिए चालूक्यस्थापत्य की अमूल्य धरोहर हैं। गुफा संख्या 1 में विश्वप्रसिद्ध अवलीकितेश्वर बोधिसत्व का चित्राङ्कन अद्यावधि अवलोक्य है। यह चित्र किञ्चित् भंग खड़ी मुद्रा मे है। अवलोकितेश्वर बोधिसत्व के दाहिने हाथ में नील कमल है तथा बायां हाथ सहजतः नीचे की ओर लटका हुआ है । किरीट-युक्त मस्तक बाँयी ओर थोड़ा सा झुका हुआ है तथा दोनों कानों में कुन्डलवलय शोभित हैं । गले में बड़े दानों की मुक्ता माला तथा भुजाओं में भुजबन्द आभूषण विराजमान हैं । अद्‌भुत् अनुकम्पा से युक्त उनके नेत्र प्रफुल्ल, खुले तथा अभिराम हैं, मानों वे सांसारिक चक्र का अपलक गम्भीर दर्शन कर रहे हों। नानाविधि चित्रित एवं कर्मबन्धन से ग्रसित संसार के लिए अज्ञात सर्वात्म प्रतीक बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का यह राजरूप एवं रुपसज्जा सर्वथा अनुपम, श्लाघ्य एवं अलौकिक है । उनके बगल में ही एक अत्यन्त शालीन नारी का भी चित्रांकन किया गया है जिसकी पहचान प्रायः राहुल-जननी यशोधरा से की जाती है । अजन्ता-गुहाभित्तियों पर जातकों के विविध बौद्धाख्यानों के दृश्य चित्रांकित किए गए हैं । यहाँ से प्राप्त चित्रों में एक अन्य उल्लेखनीय चित्रांकन-पुलकेशिन द्वितीय की राज्यसभा में **ईरानी सम्राट खुसरों** द्वारा भेजे गए दूत-मंडल की अगवानी का दृश्य भी है । **कुमारस्वामी** के अनुसार यह तथाकथित ईरानी दूतमन्डल पुलकेशिन द्वितीय के राजदरबार से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता, बल्कि यह एक व्यापक दृश्य है, जिसमें कोई पुरुष अपनी प्रेमिका सुन्दरी के साथ प्रसन्न मुद्रा में बैठ कर मदिरा पान कर रहा है । परपुरुष एवं मदिरापाद में रत अभिसारिकाओं के वस्त्राभूषण ईरानी हैं । **भगवत शरण उपाध्याय** की दृष्टि में यह दृश्यांकन ईरानी दूत-मंडल का भले ही न हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह अङ्कन भारतीय संस्कृत-परम्परा से किञ्चित् भिन्न अवश्य है । उनके अनुसार इसमें विदेशीपरिधानधारी किसी आपानक को चित्रित माना जा सकता है ।

अजन्ता की गुफा संख्या 2 में जातको के अनेक दृश्य चित्रांकित हैं। इनमें शांतिवादी तथा मैतृक जातकों के कतिपय कथा-दृश्यों की पहचान की जा चुकी है। जातकदृश्यों के साथ-साथ इनमें रनिवास, इन्द्रलोक आदि दृश्यों को भी चित्रित किया गया है। इसी गुफा में बुद्ध के हजारों रूपों की अभिव्यक्ति को प्रकाशित करने वाली श्रावस्ती की सुप्रसिद्ध कथा भी चित्रांकित है । अजन्ता की अन्य गुफाओं की भाँति यह गुफा-भित्ति भी वस्तुविन्यास एवं चित्राङ्कनों से अत्यन्त सजीव एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होती है ।

---

1. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला का इतिहास, पृ० 130.

8 वेंगी का पूर्वी चालुक्य राजवंश

वातापि (बादामी) के चालुक्य सम्राट् द्वितीय ने अपने प्राथमिक दक्षिण भारतीय अभियानों में सम्पूर्ण दक्कन् को जीतकर विशाल चालुक्य-साम्राज्य की स्थापना की। उसने पूर्वीदक्षिणापथ (पूर्वी दक्कन) को सुव्यवस्थित एवं नियन्त्रित रखने के लिए अपने अनुज विष्णुवर्धन को वहाँ का प्रान्तपति नियुक्त किया। परवर्ती चालुक्य-अभिलेखों में विष्णुवर्धन को कहीं-कहीं कुब्ज (कुबड़ा) कहा गया है। कालान्तर में विष्णुवर्धन ने अपनी शक्ति बढ़ाकर वेंगी को केन्द्र बनाकर वहाँ एक स्वतन्त्र राजवंश की स्थापना कर ली। इसे वेंगी के पूर्वी-चालूक्य राजवंश के नाम से अभिहित किया जाता है। इस राज्य की सीमा उत्तर पूर्व में कलिंग (उड़ीसा) में महेन्द्र पर्वत-श्रेणियों से लेकर दक्षिण पश्चिम में आन्ध्र प्रदेश के नेल्लोर जनपद में प्रवाहित मण्णेरु नदी के मध्यवर्ती भू-भाग तक विस्तृत थी। इसकी पश्चिमी सीमा पश्चिमी घाट की पहाड़ियों तक समय-समय पर विस्तृत एवं सिकुड़ती रही। वेंगी राज्य की सीमाओं पर अधिकार-स्थापना को लेकर राष्ट्रकूटों, कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों तथा चोल नरेशों के बीच प्रायः संघर्ष होता रहा। फलतः इस राज्य के उत्तराधिकार के लिए प्रायः छिड़ते रहे संघर्षों को उलझाने अथवा सुलझाने में उपर्युक्त बाह्यशक्तियों का सक्रिय हस्तक्षेप बराबर चलता रहा। फलस्वरुप यहाँ अन्तर्राज्यीय संघर्षों का अनवरत क्रम भी बना रहा। हस्तक्षेपों में उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त कलिंग-मैसूर के गंग तथा वेमुलवाड के चालुक्यों ने भी अपनी जोर आजमाइश की। परन्तु उन्हें तत्कालीन महाशक्तियों के समक्ष कभी भी उल्लेखनीय सफलता न मिल सकी थी।

राजनीतिक इतिहास

विष्णुवर्धन 631 —ई० में अभिलिखित कोप्परम्-ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि इस समय तक पुलकेशिन द्वितीय के भाई विष्णुवर्धन को पूर्वी दक्कन में अनेक सफलताएँ मिल चुकी थीं। फलतः विष्णुवर्धन् यहाँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने की स्थिति में आ चुका था। इसके पूर्व वह महाराष्ट्र का प्रान्तपति था। 617-18 ई० के सतारा-अभिलेख से ज्ञात होता है कि पहले उसे 'युवराज' बाद में उक्त क्षेत्र का प्रान्तपति नियुक्त किया गया। महाराष्ट्र में उसके शासन की सूचना महाकवि दण्डीकृत **'अवन्तिसुन्दरीकथासार'** से भी प्राप्त होती है। वह महापराक्रमी, कुशल सेनानायक तथा योग्य प्रशासक था। पुलकेशिन द्वितीय उसकी क्षमता तथा दक्षता से बड़ा प्रसन्न था। फलतः 634-35 ई० के लगभग उसने पूर्वीदक्षिणा-पथ के सामरिक अभियान में

चालुक्य-सेना का नेतृत्व विष्णुवर्धन को सौंपा। विष्णुवर्धन ने आशा के अनुरुप अपने बाहुबल से महेन्द्र पर्वत-श्रृंखला तक कलिंग को तथा पूर्वीसमुद्रतटीय आन्ध्र प्रदेश को जीत लिया। उसकी इस सामरिक सफलताओं का उल्लेख पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल-अभिलेख में भी किया गया है। पराक्रम के बल पर अगम्यदुर्गों को जीतने के कारण विष्णुवर्धन ने 'विषमसिद्धि' की उपाधि धारण की। उसकी उपलब्धियों से प्रसन्न होकर पुलकेशिन द्वितीय ने उसे पूर्वी दक्कन का प्रान्तपति नियुक्त कर दिया। विष्णुवर्धन ने क्रमशः अपनी शक्ति का विस्तार करके बाद में यहाँ अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया। वेंगी को राजधानी बनाकर उसने पूर्वीचालुक्य राजवंश की नींव डाली। उसने स्वतन्त्र शासक के रुप में कम से कम दो ताम्रपत्रों को उत्कीर्ण कराया था, जो विजिपट्टम जनपद से उपलब्ध हुए हैं। प्रथम ताम्रपत्र उसके शासन के 18 वें वर्ष जारी किया गया तथा दूसरा ताम्रपत्र, जो तिथि रहित है, पिष्टपुर में जारी किया गया। इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसके राज्य में कलिंग का कुछ भाग अवश्य सम्मिलित था। **के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री** की धारणा है कि संभवतः गंटूर जनपद के चेर्जला स्थान से उपलब्ध विषमसिद्धि के एक प्राचीन अभिलेख से उसके राज्य-विस्तार पर किंचित् प्रकाश अवश्य पड़ता है। अवान्तर युगीन 1132 ई० के एक अन्य अभिलेख से पता चलता है कि विष्णुवर्धन ने कोंडपडुमटि के शासक बुद्धराज को अपने वश में कर लिया था। इसके अतिरिक्त पुलकेशिन द्वितीय के कोप्परम्-अनुदानपत्रों में आख्यात है कि कर्मराष्ट्र में स्थित कुछ भूमि को उसने ब्राह्मणों को दान किया था। कर्मराष्ट्र आन्ध्रप्रदेश के नेल्लोर क्षेत्र में स्थित था। विष्णुवर्धन को वेंगी-राज्य को विस्तृत करने का एक सुअवसर पुलकेशिन द्वितीय एवं पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन प्रथम के युद्धों के कारण भी मिल गया। उसने वातापि के चालुक्यों की शक्ति को तथा पल्लवों को परस्पर आक्रांत पाकर अपनी आंतरिक स्थिति सुदृढ़ कर ली एवं सीमान्त क्षेत्रों में अपना प्रभाव भी बढ़ा लिया। विष्णुवर्धन के दक्षिणी साम्राज्य-विस्तार में उसके वीर सेनानायक बुद्धवर्मन तथा कालकंप का विशेष सहयोग प्राप्त था। उसने अपने शासनकाल में सिंह, दीपक तथा त्रिशूल चिन्हांकित चाँदी के सिक्कों का प्रचलन किया। **नीलकण्ठ शास्त्री** के अनुसार उसने सम्भवतः 623 ई० से 641 ई० तक शासन किया। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि संस्कृत साहित्य के महाकवि भारवि उसके राज्याश्रयी थे, जिन्होंने सुप्रसिद्ध महाकाव्य **किरातार्जुनीयम्** प्रणीत किया था।

जयसिंह प्रथम —विष्णुवर्धन के पश्चात् उसका पुत्र जयसिंह प्रथम वेंगी के सिंहासन पर बैठा। उसके द्वारा किये गये कतिपय भूमि-दानों का विवरण तत्कालीन ताम्रपत्रों में उल्लिखित है। अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उसने अनेक छोटे-छोटे शासकों को जीतकर वेंगी राज्य का विस्तार किया। परन्तु ताम्रपत्रों में पराजित शासकों का परिचय नहीं दिया गया है। वातापि एवं वेंगी के चालुक्यों के बीच परस्पर सहयोग एवं सम्बन्ध विष्णुवर्धन एवं पुलकेशिन द्वितीय के शासनकाल तक बना रहा। परन्तु जयसिंह प्रथम के शासनकाल में संभवतः दोनों राजवंशों का पारस्परिक सहयोग समाप्त हो गया। दोनों कुलों के चालुक्यों के बीच पारस्परिक सहयोग समाप्त होने का कारण पल्लवों द्वारा पुलकेशिन द्वितीय का अप्रत्याशित पादाक्रान्त होना माना जाता है। जयसिंह प्रथम के शासनकाल में ही पल्वनरेश नरसिंहवर्मन प्रथम ने वातापि

साम्राज्य को स्वभुजवल से आक्रान्त किया था। इस चालुक्य-पल्लव संघर्षों में वातापि के चालुक्यों की बुरी तरह पराजय हुई तथा दक्षिणापथेश्वर पुलकेशिन द्वितीय युद्ध भूमि में मारा गया। परन्तु इतने महत्वपूर्ण संघर्ष में पूर्वी चालुक्यों के हस्तक्षेप अथवा उनके सहयोग की कोई सूचना नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में यह अनुमान किया जाना वहुत कुछ समीचीन लगता है कि वातापि के चालुक्यों के पराभव से उत्पन्न राजनीतिक उथल-पुथल से मुक्त रहकर जयसिंह प्रथम ने वेंगी-साम्राज्य को यथासंभव विस्तृत एवं व्यवस्थित करने में विशेष रुचि ली होगी। अस्तु, सम्भावना यही है कि पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के अनन्तर वेंगी-राज्य ने वातापि के चालुक्यों के साथ सहयोगात्मक सम्बन्ध समाप्त कर लिया। जयसिंह ने पृथ्वीवल्लभ, महाराज, पृथ्वीजयसिंह, सर्वसिद्ध आदि उपाधियाँ धारण की। भीमप्रथम के वेजवाड़ा-अभिलेख से प्राप्त सूचनाओं के अनुसार उसने लगभग 33 वर्षों तक शासन किया। वह शैव था। उसने अपने साम्राज्य में शिक्षा की समुन्नति के लिए पर्याप्त रुचि ली तथा वहुसंख्य घटिकाविद्यालयों की स्थापना की थी।

इन्द्रवर्मन —अम्मद्वितीय के ब्रिटिश-संग्रहालय-अभिलेख से ज्ञात होता है कि जयसिंह ने लगभग 30 वर्ष तक शासन किया। **दिनेश चन्द्र सरकार** का अनुमान है कि जयसिंह के उपरान्त 663 ई० के लगभग उसका छोटा भाई इन्द्रवर्मन वेंगी का शासक हुआ। जयवर्मन प्रथम के शासनकाल में वह सक्रिय रुप से प्रशासन-व्यवस्था से सम्बद्ध था। उसकी उपलब्धियों की कोई सूचना प्राप्त नहीं है। उसका शासनकाल अल्पकालीन था।

विष्णुवर्द्धन् द्वितीय 663 —ई० में इन्द्रवर्मन की मृत्यु के उपरान्त सम्भवतः उसका पुत्र अथवा भतीजा विष्णुवर्द्धन् द्वितीय वेंगी राजगद्दी पर बैठा। उसने 9 वर्ष तक शासन किया। उसके अभिलेखों में सामान्यया भूमिदानों का ही विवरण दिया गया है। उसने भी परम्परया विजयसिद्धि मकरध्वज और सर्वलोकाश्रय आदि उपाधियाँ धारण की थी।

विष्णुवर्द्धन द्वितीय के उपरान्त **मंगियुवराज विजयसिद्धि** ने 682 ई० से 706 ई० तक शासन किया। वेंगी के सिंहासन को लेकर गृहयुद्ध एवं अव्यवस्था का सिलसिला प्रायः चलता रहता था। प्रायः ज्येष्ठताक्रम, योग्यता अथवा औचित्य की उपेक्षा करते हुए पड़ोसी, विस्तारवादी राज्य-शक्तियाँ वेंगी में उत्तराधिकार हेतु अनावश्यक विवाद खड़ा करने में गहरी रुचि रखती थीं। फलतः वहाँ के राजकुमारों में परस्पर निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। फलस्वरुप शासकों का सम्पूर्ण समय राजनीतिक समीकरणों मे व्यतीत होता रहा। विजयसिद्धि के उपरान्त क्रमशः **जयसिंह द्वितीय सर्वसिद्धि** ने लगभग 706 ई० 718 ई० तक, **विष्णुवर्द्धन तृतीय** ने लगभग 718 ई० से 746 ई० तक, **विजयादित्य प्रथम** ने लगभग 746 ई० से 764 ई० तक तथा **विष्णुवर्द्धन चतुर्थ** ने 764 ई० से 799 ई० तक राज्य किया। इन शासकों के शासनकाल की ऐतिहासिक सूचनाओं का अभाव होने के कारण इनकी उपलब्धियों की विशेष जानकारी नहीं हो सकी है। वेंगी के चालुक्य राजकुमारों में राजगद्दी के लिए चल रहे गृहयुद्धों में तत्कालीन राष्ट्रकूट, पश्चिमीचालुक्य तथा चोल शासकों ने भरपूर अनुरक्ति दिखाई थी। इन शक्तियों के प्रवेश के फलस्वरुप वेंगी का राज्य इनके आपसी शक्ति-संतुलन का समरांगण ही वन

जाता था। दक्षिणापथ एवं सुदूर दक्षिण भारतीय राज्यों की आपसी टकराहट प्राय: वेंगी के उत्तराधिकारी-युद्ध से होती थी तथा दोनों अपनी शक्ति की जोर आजमाइश भी इसी राज्य की भूमि में करते थे। **विजयादित्य द्वितीय** (799 ई० से 847 ई० तक विष्णुवर्द्धन चतुर्थ के शासन के उपरान्त विजयादित्य द्वितीय 799 ई० में वेंगी के राजसिंहासन पर वैठा। उसने शासनकाल के पूर्व विष्णुवर्द्धन चतुर्थ के समय में राष्ट्रकूटनरेशों का दवाव वेंगी राज्य पर स्थापित हो चुका था। विजयादित्य के राजा वनते ही राष्ट्रकूटनरेश गोविंद तृतीय की सहायता प्राप्त करके उसके भाई भीमसालुक्कि ने विद्रोह करके राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। विजयादित्य तृतीय के गंटूर अभिलेख के अनुसार उक्त नरेश ने वेंगी राजसिंहान प्राप्त करने के लिए राष्ट्रकूट वल्लभेन्द्र (अमोधवर्ष) के सेनानायकों से 12 वर्ष तक निरन्तर युद्ध करते हुए अन्ततः विद्रोही भाई भीमसलुक्लि को पराजित कर दिया। तदन्तर उसने वेंगी-मण्डल पर अपना पुनः अधिकार कर लिया (द्वादशयुद्धों) वल्लभेन्द्रदंडनायकैः सह भीमसालुकोनामानांस्वानुजंनिर्जित्यगृहीतवेंगीमण्डलम्)।

इन्द्र तृतीय का नौसारी-अभिलेख में 'राष्ट्रकूट-कुललक्ष्मी के चालुक्य रुपी समुद्र में निमग्न' होने की सूचना प्रदत्त है (निमग्नों यश्चुलुक्याब्धौ रट्टराजश्रियंपुनः)। इस युद्ध में विजेता चालुक्यों ने स्तम्भनगर को पादाक्रान्त कर उसे नष्ट कर दिया था। विजयादित्य संभवतः 814 ई० में गोविन्द तृतीय की मृत्यु के उपरान्त राष्ट्रकूट राजवंश में व्याप्त अराजकता का लाभ उठाकर न केवल वेंगी मण्डल को अपितु स्तम्भनगर तक राष्ट्रकूट-राज्य को जीतकर, अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया उसने राष्ट्रकूटों के मित्र दक्षिण के गंग नरेश का भी विनाश किया था, जिसकी पुष्टि विजयादित्य तृतीय के मसुलीपट्टम् अभिलेख से होती है।

नौसारी-अभिलेख से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूटों के विरुद्ध विजयादित्य द्वितीय की सामरिक सफलता अस्थायी सिद्ध हुई। अमोधवर्ष ने गुजरात के राजा कर्कद्वितीय की मदद से विजयादित्य को पराजित कर चालुक्यसेना को राष्ट्रकूट राज्य से बाहर खदेड़ दिया तथा वीरनारायण (विष्णु) की भाँति अपने राज्य का उद्धार किया (पृथ्वीमिवोद्धरन् धरोवीर-नारायणो भवत्) परवर्ती-राष्ट्रकूट-अभिलेखों के अनुसार अमोधवर्ष ने नेल्लोर जनपद के विंगवेल्लि (भिंगिनिपल्लि) के युद्ध में विजयादित्य को वुरी तरह हराकर उसे क्षमायाचना करने के लिए विवश कर दिया था तथा वेंगी में विजयादित्य को अपनी अधीनता में ही शासन करने को अनुमति प्रदान की थीं। कुछ समय बाद विजयादित्य ने अपने पुत्र विष्णुवर्द्धन का विवाह गुजरात की राष्ट्रकूटराजकुमारी सिंहलादेवी के साथ करके अपने मैत्री-सम्वन्ध को दृढ़ कर लिया।

विजयादित्य ने सम्भवतः किसी 'नाग-नरेश से भी युद्ध किया। यह नागवंशीय नरेश कहाँ, का था, यह सुनिश्चित नहीं हो सका है।

मिहिरभोज की ग्वालियर-प्रशस्ति में प्रतीहार नरेश नागभट्टद्वितीय द्वारा कलिंग एवं आन्ध्र के राजाओं को पराजित करने का उल्लेख मिलता है।

दिनेशचन्द्र सरकार, डी० सी० गांगुली आदि विद्वानों ने नागभट्ट द्वितीय द्वारा पराजित आन्ध्रशासक की पहचान विजयादित्य द्वितीय से की है।

विजयादित्य ने लगभग 60 वर्ष तक राज्य किया। उसका शासन काल कलात्मक निर्माणों के लिए स्मरणीय है। उसने परमेश्वर, महाराजाधिराज, त्रिभवनांकुश नरेन्द्रमृगराज आदि अनेक उपाधियाँ धारण करके अपने शासकीय व्यक्तित्व का परिचय दिया था।

विष्णुवर्द्धन पंचम—विजयादित्य के बाद वेंगी की राजगद्दी पर उसका पुत्र विष्णुवर्द्धन पंचम आसीन हुआ। उसका शासन अल्पकालीन था, जिसकी कुल अवधि डेढ़ वर्ष अर्थात् 847-848 ई० तक थी। विष्णुवर्द्धन पंचम ने अपने पिता के सामरिक अभियानों में युवराज के रुप में भाग लेकर सैन्य-संचालन का अनुभव प्राप्त किया। संयोगवश अभी तक किसी भी ऐतिहासिक साक्ष्य से उसके शासनकाल की कोई उल्लेखनीय घटना ज्ञात नहीं हो सकी है। **विजयादित्य तृतीय** 848 ई० में वेंगी के राजसिंहासन पर पुनः एक पराक्रमी एवं साहसी नरेश विजयादित्य तृतीय आसीन हुआ। वह अपने पितामह की भाँति महत्वाकांक्षा एवं रण-कौशल का जीवन्त संगम था।

शासन-सत्ता संभालते ही उसने 'लौहरक्तनीति' का अनुसरण करके वेंगी राज्य की गिरती हुई शाख को पुनः प्रवर्द्धमान दिशा दी। उसने अपनी समसामयिक शत्रु-राज्यों की शक्ति का आकलन करके अपनी कूटनीतिक चालों तथा बाहुबल से क्रमशः वेंगी-राज्य की सीमाओं को यथासम्भव विस्तृत किया। उसका उपर्युक्त अभियान कतिपय महाशक्तिशाली राज्यों के विरुद्ध भी हुआ। इस क्रम में उसने सर्वप्रथम पल्लवों के विरुद्ध सामरिक प्रस्थान करके नेल्लोर नगर को जीतकर पल्लवसमर्थित बोथ जाति को परास्त किया। चालुक्य सेना ने आगे बढ़कर पल्लवनरेश अपराजित को पराजित करके कांची नगर में भारी लूटमार की तथा वहाँ से बहुमूल्य रत्न, सोना आदि अपहृत कर लिया।

विजयादित्य तृतीय ने पल्लवों के बाद पाण्ड्यों के विरुद्ध युद्धाभियान किया तथा पाण्ड्य राज्य को जीत लिया : एक अभिलेख में तंजोर नगरी पर उसकी विजय का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः उसने चोलनरेश बिजयालय को, जो पाण्ड्यों के विरुद्ध सम्भवतः विजयादित्य तृतीय का पक्षधर था, को अपने राज्य में शरण देकर उसे निश्चिन्त कर दिया था। अम्मद्वितीय कालीन मलियपुंडिलेख से ज्ञात होता है कि विजयादित्य तृतीय ने नोलम्ब (मैसूर) नरेश मँगि को पराजित करके उसकी हत्या कर दी।

विजयादित्य तृतीय ने गंगवाड़ी नरेश नीतिमार, कल्चुरि संकिल तथा राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय को भयाक्रान्त कर दिया (हत्वा भूरिनोलम्बनृपंमगिम्महासागरे....... ...गंगानाश्रित गंगकूटसिररानिर्जित्य.........दहलाधीश-संकिल उग्रवल्लभयुतम्)। राष्ट्रकूटशासित नगर अचलपुर को उसने जला डाला। कृष्णद्वितीय की सेना का पीछा करते हुए उसने कलिंग, वेमुलवाड़ तथा दक्षिणी कोसल के शासकों को भी जीत लिया। इस अभियान में उसने कोसल एवं कलिंग राज्यों से विपुल सम्पत्ति प्राप्त की। उसने आगे बढ़कर बस्तर राज्य के चक्रकूट नगर को ध्वस्त कर दिया। तत्पश्चात् विजयादित्य ने चेदियों एवं राष्ट्रकूटों की सम्मिलित सेना को घेरकर भीषण युद्ध किया एवं उन्हें

पराजित करके किरनपुर (मध्यप्रदेश में वर्त्तमान बालाघाट जनपद में स्थित किरनपुर) को जलाकर नष्ट कर दिया।

राष्ट्रकूटों के विरुद्ध चलाये गये युद्धाभियानों में उसने पूर्ण सफलता प्राप्त की। इतना ही नहीं उसने राष्ट्रकूटों का राजकीय चिन्ह् (गंगा-यमुना की आकृति) एवं (वल्लभ) आदि उपाधियों को छीनकर स्वयं धारण कर लिया। अन्ततः कृष्ण द्वितीय द्वारा आत्मसमर्पण करने पर उसने उसका राज्य उसे वापस लौटा दिया। विजयादित्य तृतीय वेंगीशाखा के चालुक्य नरेशों मे महानतम् विजेता एवं शासक सिद्ध हुआ। अपने सम्पूर्ण सामरिक अभियानों में उसे सफलता मिलती गई तथा उसका राज्य उत्तर में गंजाम जनपद से लेकर दक्षिण में पुलिकतधीव क्षेत्र तक विस्तृत हो गया। उसने अनेक उपाधियाँ धारण की, जिनमें गुणकेनल्लाट, परचक्रराम, त्रिपुरामत्यमहेश्वर तथा अरशंककेशरिन् विशेष उल्लेखनीय है। सफलता पूर्वक 44 वर्ष तक शासन करने के वाद 892 ई० में देहावसान के साथ उसका शासन-काल समाप्त हो गया। **भीम प्रथम** विजयादित्य के वाद उसका भतीजा भीम प्रथम 888 ई० में सिंहासनासीन हुआ। अभी वह व्यवस्थित भी नहीं हो सका था कि साम्राज्य विस्तारवादी पड़ोसी राष्ट्रकूटनरेश कृष्णद्वितीय ने वेंगी राज्य पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया परिणामस्वरुप इस राज्य का एक वहुत वड़ा भाग राष्ट्रकूटों के आधीन हो गया। युद्धभूमि में भीम प्रथम बन्दी वना लिया गया। परन्तु कुछ समय वाद कृष्ण द्वितीय ने उसे मुक्त कर दिया। अपनी पराजय से भीम प्रथम ने हार न मानकर और अधिक सामर्थ्य वढ़ाने का यत्न किया। कतिपय वर्षों तक चलने वाले सैनिक-संगठन को यथोचित पाने पर भीम ने पूरी तैयारी के साथ राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण करके कृष्ण द्वितीय को पराजित करके अपनी हार का वदला चुकाया। इस भीषण संग्राम में राष्ट्रकूट के सहायक लाट तथा कर्नाटक के नरेश भी भीम की सेना से पराजित हुए। उसका शासन 918-919 ई० तक स्थापित रहा। **विजयादित्य चतुर्थ** 918-919 ई० में भीम प्रथम के वाद विजयादित्य चतुर्थ राजगद्दी पर वैठा। अभी उसने शासन आरम्भ ही की थी कि राष्ट्रकूटों के साथ लड़ते हुए वह विराजापुरी के युद्ध में मार डाला गया।

अवसान कालीन शासक—विजयादित्य चतुर्थ के पश्चात् अम्मप्रथम (919 ई० से 926 ई० तक), **विजयादित्य पंचम** (926 ई० में कुछ दिवस मात्र तक), **विक्रमादित्य द्वितीय** (927 ई० तक), **भीमद्वितीय,** (928 ई० में लगभग 8 मास तक), तक), **अम्मद्वितीय** (946 ई० से 956 ई० तक), **वादप-वादप, ताल द्वितीय, अम्मद्वितीय** (970 ई०)

दानार्णव (970 ई० से 973 ई० तक), **चोड़-भीम** (973 ई० से 999 ई० तक), **शक्तिवर्मन** (999 ई० से 1011 ई० तक) तथा कुछ अन्य छोटे-छोटे राजाओं के वाद 1063 ई० में कुलोत्तुंगचोल वेंगी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस नरेश में वेंगी के चालुक्यों से अधिक चोलरक्त विद्यमान माना जा सकता है क्योंकि इस समय तक पारस्परिक विवाहों एवं रक्तमिश्रण की दृष्टि से चोलों एवं चालुक्यों में कोई अन्तर नहीं रह गया था। इस प्रकार कुलोत्तुंग के आगमन के साथ 1120 ई० तक वेंगी का चालुक्य-राज्य शक्तिशाली एवं विशाल चोल-साम्राज्य में विलुप्त हो गया।

9 पल्लव राजवंश

चौथी शती से आठवीं शती तक पूर्वी दक्षिणापथ के भौगोलिक क्षेत्र में सर्वाधिक शक्तिशाली पल्लवों का भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यातव्य है कि अशोक के शिलालेखों में चेरों, चोलों एवं पाण्ड्य जैसे धुरदक्षिण प्रायद्वीपीय सीमान्त राज्यों का तो उल्लेख मिलता है, परन्तु राज्य का नहीं। प्रसंङ्ग में कतिपय विद्वानों की धारणा है कि अशोक के शिलालेखों में वर्णित 'पुलिन्द' अथवा 'पलन्द' ही संभवतः पल्लव थे। परन्तु इतिहासविदों की उपर्युक्त धारणा अन्य विश्वसनीय साक्ष्योंके अभाव में विशेष समीचीन नहीं लगती है। ऐसा लगता है कि संगम-युग (लगभग 100 ई० से 300 ई०) में भी पल्लवों का कोई उल्लेखनीय राज्य स्थापित नहीं हो पाया था क्योंकि इस काल के साहित्य में उसकी चर्चा नहीं की गई है। काँची के पल्लव राज्य का प्राथमिक उल्लेख हरिषेण-विरचित **प्रयाग-प्रशस्ति**[1] तथा **य्वानच्वाङ्**[2] के यात्राविवरण में सप्रसङ्ग विवृत मिलता है। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त द्वारा किए गए दक्षिण भारतीय राज्यों के विरुद्ध सामरिक अभियानों के क्रम में काँची के शासक विष्णुगोप के पराभव का विवरण आया है। इसी प्रकार ह्वेनसांग ने पल्लवों की राजधानी काँची-नगरी में गौतम बुद्ध के गमन तथा प्रवास का तथा वहाँ अशोक द्वारा निर्मित लगभग 100 ऊँचे एवं बड़े स्तूपों का उल्लेख किया किया है। पल्लवों की इस सुरम्भम्य नगरी की प्रशंसा में **'पवनदूत'** के प्रणेता **धोयी** ने लिखा है कि काँची अमरावती के दर्प को नष्ट करने वाली तथा दक्षिण भारतीय नगरों की आभूषण थी (लीलागारैरमरनगरस्यापि गर्व्व हरन्ति। गच्छेः काञ्चीपुरमथ दिशो भुषणं दक्षिणस्याः)[3] । अस्तु, समुद्रगुप्त के प्रयागप्रशस्ति के आधार पर यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि ईसा की चतुर्थ शती अथवा उसके कुछ पूर्व ही कांची पर पल्लवों का राज्य स्थापित हो चुका था तथा वे शक्तिशाली राज्य भी स्थापित कर चुके थे। **एस० के० आयंगर** के अनुसार पल्लव मूलतः काँची के निवासी नहीं थे। **पेरीप्लस** एवं **टालेमी** के विवरणों के अनुसार कारोमण्डल (पल्लव क्षेत्र) पर पल्लवों के पूर्व नागों का अधिकार

---

1. 'काचेयक विष्णुभोपावमुक्तक' हरिषेण-विरचित प्रयाग-प्रशस्ति अभिलेख पंक्ति सं० 19.
2. वार्टस, 2,226.
3. पवनदूत, 12 : विशेष विवरण के लिए दृष्टव्य, उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा जीवन, पृ० 219.

था, जो सातवाहनों के विशाल साम्राज्य को दक्षिण-पूर्वी भाग के स्वामी थे। पल्लवों के प्रारम्भिक अभिलेख प्राकृत भाषा में तथा बाद के लेख संस्कृत में उत्कीर्ण किये गये हैं। संभवतः राज्य-स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में पल्लव शासकगण सातवाहनों के अधीन राज्य कर रहे थे। परन्तु कालान्तर में धीरे-धीरे अपनी स्थिति सुदृढ़ करके वे 'तोण्मंडलम्' क्षेत्र पर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए।

वंशनाम एवं उत्पत्ति —पल्लव-युगीन अभिलेखों में अनेकत्र उन्हें 'भारद्वाज' गोत्रोत्पन्न तथा अश्वत्थामा का वंशज बताया गया है। परन्तु इनमें कहीं भी स्पष्टतः उनकी जाति अथवा उनके मूलनिवास की चर्चा की गई है। अतः इनकी जाति एवं मूलस्थान के निर्धारण को लेकर विद्वानों में बड़ा विवाद है। इतिहासविदों का एक वर्ग पल्लवों को विदेशी तथा दूसरा वर्ग भारतीय मूल से सम्बन्धित मानता है।

विदेशी उत्पत्ति —पल्लवों की उत्पत्ति पर विचार करते हुये **जे० डुब्रील, बी० वैङ्कडैय्या, बी० एल० राईस, एस० एन० अय्यर, सी० आर० श्रीनिवासन्** आदि इतिहासविदों ने उन्हें पल्लवों का वंशज बताया है। ज्ञातव्य है कि भारत पर आक्रमण के पूर्व पह्लवों का मूल देश पार्थिया था। उपर्युक्त विद्वानों ने अपने मत के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार पल्लव एवं पह्लव दोनों नामों में पर्याप्त समानता है। इसके अतिरिक्त काँची के एक मन्दिर में पल्लवनृपति नन्दिवर्मन् द्वितीय के सिंहासनारोहण से सम्बन्धित एक मूर्ति उत्कीर्ण की गई है। उक्त पल्लव शासक के शीर्ष पर इण्डोग्रीक राजा डेमेट्रियस की भाँति ही गजशीष निर्मित किया गया है। **बी० एल० राइस** द्वारा प्रस्तुत उक्त कलाकृति की ऐतिहासिक समीक्षा का समर्थन **जे० डब्रील** ने भी किया है। उनके अनुसार महाक्षत्रप रुद्रदामन के पह्लव मन्त्री सुविशाखा ने ही अवान्तर-काल में कांची के सुप्रसिद्ध पल्लव राजवंश की स्थापना की थी। अस्तु, उसे पल्लव-राजवंश का संस्थापक राजा माना जा सकता है। परन्तु इन विद्वानों के उक्त मत का समर्थन पल्लव कालीन अभिलेखों एवं उनके अन्य सांस्कृतिक क्रियाकलापों से पुष्ट नहीं हो पाता है। पल्लव-लेखों में कहीं भी उनकी पह्लव जाति से सम्बन्धित होने का उल्लेख नहीं मिलता है। इसके साथ ही साथ पल्लव शासकगण पह्लव-वंशीय सांस्कृतिक परम्परा से पूर्ण अनभिज्ञ होकर विशुद्ध भारतीय परम्पराओं के पोषक थे। उन्होंने समय-समय पर अश्वमेधादि वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान सम्पन्न किया था जो पह्लव अथवा पार्थियन संस्कृति से मूलतः सम्बन्धित शासकों के लिये लगभग अकल्पनीय था।

विद्वानों का एक दूसरा वर्ग पल्लवों का पह्लव अथवा पार्थियन न मानकर उन्हें सिंहल अथवा श्रीलंका का मूल निवासी स्वीकार करता है। इस धारणा के प्रतिपादक एवं समर्थक मनीषियों में **बी० ए० स्मिथ, एम० एस० रामास्वामी आयंगर** तथा **रसनयगम मुदालियर** आदि इतिहासविद् प्रमुख हैं। मुदालियर के अनुसार पल्लव शासकगण मूलतः चोल एवं नागवंशों के पारस्परिक सम्मिश्रण से उद्भूत संतान प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपने उक्त मत की संपुष्टि हेतु संगमयुगीन प्रसिद्ध संकलित ग्रन्थ **'मणिमेकलै'** में वर्णित कतिपय महत्वपूर्ण साक्ष्यों को उद्घृत कियाहै। इन विद्वानों की धारणा है कि पल्लवों का आदि देश दक्षिणी सिंहल का तमिल-क्षेत्र था तथा वे चोड़ (चोल) नागवंश से सम्बन्धित थे। समयान्तर में हुआ यह कि श्रीलंका के चोलनृपति किल्लिवन का विवाह नागशासक मणिपल्लव की नागवंशीय कन्या के साथ सम्पन्न किया

गया । इसी दम्पत्ति से कुछ समय वाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम **टोण्डैमान इलत्तिरैयन** रखा गया । इसे आगे चलकर इसी राजकुमार को टोण्डमंडलम् प्रदेश का शासक वना दिया गया । उक्त राज्य की राजधानी कांची नगरी थी टोण्डैमान इलत्तिरैयन ने उपर्युक्त राज्य की स्थापना अपनी आदरणीय नागवंशीया माता की जन्म भूमि 'मणिपल्लव' के नाम पर की । आगे चलकर मणि नाम विशेष प्रचलन में न रह सका केवल 'पल्लव ' नाम ही दिन-प्रतिदिन लोक-विश्रुत होता चला गया । इस प्रकार पल्लव राज्य की मूल स्थापना में श्रीलंका का तमिल चोलवंश तथा भारतीय नागवंश का पारस्परिक रक्त-मिश्रण उत्तरदायी था । **मुदालियर** की उपर्युक्त धारणा से किञ्चित भिन्न मत **बी० एन० स्मिथ** महोदय का है । उनके अनुसार पल्लवों का मूल देश वर्त्तमान श्रीलंका ही माना जा सकता है । कालान्तर में इन्हीं श्रीलंकाई मूल के पल्लवों ने अपनी शक्ति को क्रमशः वढ़ाकर धुर दक्षिण भारतीय चेरो (केरलों) तथा चोलों के राज्य पर विजय प्राप्त कर ली तथा इन विजित क्षेत्रों पर पल्लव राज्य की स्थापना कर ली । विजित भारतीय राज्यों के शासन-कार्य हेतु उन्होंने कांची को अपनी राजधानी वनाया । उक्त दोनों मतों का सर्वांशतः तो नहीं, परन्तु अधिकांशतः समर्थन **एम० एस० रामस्वामी आयंगर** ने भी किया है । उनके अनुसार पल्लव शासकगण सिंह देश के तमिल राज्य के मूलनिवासी थे तथा प्राचीन तिरैयर-क्षेत्र ही उसकी आद्य जन्म-स्थली थी । पल्लवों की उत्पत्ति के प्रसंग में उपर्युक्तमत कहाँ तक मान्य है, आज भी विमर्श का विषय है । अभी तक उपलब्ध पल्लव-इतिहास से सम्वन्धित किसी भी साक्ष्य से उनकी श्रीलंका से सम्वन्धित देशोत्पत्ति पर किञ्चित भी प्रकाश नहीं पड़ सका है । पल्लवों की मूल भाषा, सांस्कृतिक परम्पराएँ तथा उनका अभिधान-सम्वन्ध उन्हें सर्वविध भारतीय मूल से ही जोड़ता है न कि वाह्य देशों से । अस्तु, उनका मूल अभिधान भारतीय ही माना जा सकता है ।

भारतीय उत्पत्ति—इतिहासविदों का एक वड़ा वर्ग पल्लवों को विदेशी न मानकर उन्हें भारतीय मूल से सम्वद्ध मानता है । इस मत के प्रतिपादक विद्वानों में **के० पी० जायसवाल, सथैनथैयर, एस० के० आयंगर, आर० गोपालन्, एन० सुब्रह्मण्यम्, के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, डी० सी० सरकार, ऐलेक्जेण्डर रे, टी० वी० महालिंगम्** तथा **बलराम श्रीवास्तव** प्रभृति विशेष उल्लेखनीय हैं । **के० पी० जायसवाल** के मतानुसार पल्लव राजवंश सम्भवतः वाकाटक राजवंश की ही एक उपशाखा थी । दोनों ही राजकुलों का सम्वन्ध भारशिव-नागों से था । पल्लवों के प्राथमिक राजकुमार वीरकूर्च ने एक नागवंशीया राजकन्या से विवाह किया था । इन्हीं नागों के मैत्री-सम्वन्ध का लाभ उठाकर उसने आन्ध्र प्रदेश में धीरे-धीरे अपनी राजसत्ता सुदृढ़ कर ली । पल्लवयुगीन वैलूरपाल्यम्-लेख से पल्लव राजा वीरकूर्च एवं उनके पूर्वजों का नागों के साथ स्थापित सौहाद्रपूर्ण सम्वन्धों का पता चलता है । जायसवाल के उक्त मत का समर्थन **ज० डब्रील** ने भी किया है । परन्तु इस मत को स्वीकार करने में थोड़ी-सी कठिनाई प्रतीत होती हैं । यदि पल्लवों को वाकाटक राजवंश की ही एक उप शाखा मान लिया जाय, तव उन्हें जात्या व्राह्मण होना चाहिए क्योंकि वाकाटक व्राह्मण जाति के थे । किन्तु यहाँ यह धातव्य है कि सुप्रसिद्ध तालगुण्ड-अभिलेख में पल्लवों को स्पष्टतः क्षत्रिय उद्घोषित किया गया है । अस्त उक्त मत को सर्वाशतः स्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

संगम-युगीन तमिल-ग्रन्थ **'मणिमेकलै'** में आख्यात **'टोण्डैयर'** के शब्द के आधार पर **कृष्णस्वामी आयंगर** तथा **आर० आर० आयंगर** महोदय ने पल्लवों को भारतीय मूल का निवासी स्वीकार किया है। उक्त विद्वानों ने पल्लवों को तमिल प्रदेश का स्थायी निवासी वताते हुए उन्हें प्राथमिक अवस्था में सातवाहनों के अधीन सामन्त शासक माना है। कालान्तरमें आन्ध्र-सातवाहन-राज्यसत्ता के समापन के उपरान्त पल्लवों ने उक्त प्रदेश में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। इस मत की पुष्टि में **सी० मीनाक्षी** तथा **आर० गोपालन** का यह कथन उल्लेखनीय है कि पल्लव राजाओं के कतिपय प्रारम्भिक अभिलेख आन्ध्र प्रदेश से ही उपलब्ध हुए हैं। अस्तु, आन्ध्र प्रदेश को पल्लवों की मूलभूमि स्वीकार किया जा सकता है।

इतिहासविद् **आर० संथैनथैयर** तथा **डी० सी० सरकार** ने पल्लवों को तोण्जैमंडलम् प्रदेश का मूलनिवासी माना है, जो किसी समय सम्राट् अशोक के विशाल मौर्य साम्राज्य का एक दक्षिणी प्रान्त था। **संथैनथैयर** का विचार है कि मौर्यों के अधीन निवसित अनेक दक्षिण भारतीय जातियों में एक जाति पुलिन्दों की थी, जो सम्भवतः तोण्डैमण्डलम् प्रदेश की कुरुम्व-जाति से सम्वद्ध थी। **डी० सी० सरकार के** अनुसार उक्त क्षेत्र से प्राप्त राजसिंह के **पायलूर-स्तम्भ-लेख** में वर्णित पौराणिक राजवंशानुक्रम में अश्वत्थामा एवं सम्राट् अशोक के नामों के वीच पल्लव राजवंश को भी परिगणित किया गया है। अतः उक्त अभिलेख साक्ष्य के आलोक में यह प्रस्तावित करना तर्कसंगत लगता है कि सम्राट् अशोक के अविर्भाव के पूर्व कोई पल्लव नामधारी नृपति अवश्य उद्भूत हुआ था। प्रस्तुत प्रसंग में **संथैनथैयर** की यह धारणा विशेष महत्वपूर्ण लगती है कि अशोक के शिलालेखों में उल्लिखित 'पलद' अथवा 'पुलिन्द' सम्भवतः पल्लवों का ही कोई अन्य अभिधान रहा होगा। उन्होंने यह स्पष्टतः उल्लेख किया है कि 'पल्लव' तमिल-शब्द 'टोण्डैयर' का ही रुपान्तर प्रतीत होता है। अस्तु पल्लवों का मूल क्षेत्र 'टोण्डैमंण्डलम्' को मानने में कोई ऐतिहासिक विप्रतिपन्नता नहीं दिखती है।

के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री पल्लवों की उत्पत्ति-विषयक विवाद पर अपना विचार प्रकट करते हुए उन्हें कदम्वों तथा चुटु राजकुलों की भाँति मूलतः उत्तरी, भारत का निवासी वताया है। कालान्तर में क्रमशः प्रसरण करते हुए पल्लव लोग दक्षिणी भारत में आकर स्थायी रुप से वस गये तथा अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। **टी० वी० महालिंगम्** की धारणा है कि पल्लव मूलतः वेंगी के शालंकायन-राजवंश से सम्वन्धित प्रतीत होते हैं क्योंकि दोनों ही राजकुलों का गोत्र 'भारद्वाज' था। अपने मत के समर्थन में उन्होंने उनके लिपि-प्रयोगों में समानता, प्राकृत भाषा के प्रयोगों का साम्य, संस्कृतानुराग का साम्य और यहाँ तक की राजाओं के नामान्त का साम्य को साक्ष्य के रुप में प्रस्तुत किया है। इसके विपरीत **एन० सुब्रमण्यम्** ने पल्लवों को नाग एवं चोलों की मिश्रित सन्तान वताते हुए उनको भारतीय मूल का निवासी स्वीकार किया है। **एलेक्जेणडर रे का विचार** है कि 'पल्लव' शब्द तमिल-भाषा के 'पालअविल' से निरस्त हुआ है। वस्तुतः 'पालअविल' शब्द 'पल्लव' शब्द का मूल रुप प्रतीत होता है। 'पालअविल' का तात्पर्य है 'दुग्ध-दोहन'। अर्थात् यह पशुपालकों एवं दुग्धोत्पादकों की कोई जाति रही होगी, जिसने कालान्तर में अपना शक्तिशाली संगठन वनाकर 'पालवान' (पल्लव) राज्य की स्थापना कर ली थी। प्रसिद्ध समाजशास्त्री रिजले ने वंगाल में पाई

जाने वाली दुग्धोत्पादकों एवं ग्वालों की एक जाति, जिसे 'पल्लव' कहा जाता है, का उल्लेख किया है। अतः रे महोदय का मत भी प्रस्तुत विमर्श में महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है।

राजनीतिक इतिहास

शिवस्कन्द वर्मन्—प्राथमिक पल्लववंशीय नृपतिगणों में शिवस्कन्दवर्मन् (लगभग 275 ई०) के विषय में संयोगवश कुछ विशेष सूचनाएँ अब उपलब्ध हो सकी हैं। पुरातात्विक खोजों के परिणामस्वरूप इस नरेश के कुल तीन सुरक्षित अभिलेखों में उसके क्रमशः युवराज, राजा बनने तथा अग्निष्टोम, वाजपेय एवं अश्वमेध आदि यज्ञों का कर्त्ता बताया गया है। इन लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि वह एक शक्तिशाली, महान् एवं वैदिक ब्राह्मण धर्मावलम्बी राजा था।

शिवस्कन्दवर्मन् तथा चौथी शती में काञ्ची राज्य के नृपति **विष्णुगोप** के बीच शासन करने वाले पल्लव राजाओं के विषय में स्पष्ट सूचना प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रयागप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के दक्षिणी भारतीय अभियान के समय काञ्ची में पल्लव नरेश विष्णुगोप शासन कर रहा था (काञ्चेयक विष्णुगोप)। विष्णुगोप ने सम्भवतः अपने पड़ोसी राजाओं का एक संयुक्त-मोर्चा बनाकर सम्राट् समुद्रगुप्त से लोहा लिया था। परन्तु महापराक्रमी समुद्रगुप्त से अन्ततः उसे पराजित होना पड़ा था।

पल्लव-दानपत्रों में विष्णुगोप के परवर्ती नृपतियों में **सिंहवर्मन्** नामक एक राजा का उल्लेख मिलता है, जो बौद्ध-धर्मावलम्बी था तथा जिसने 934 ई० के लगभग काँची के राज-सिंहासन को सुशोभित किया था।

सिंहविष्णु—लगभग 575 ई० में पल्लव राजवंश में सिंहविष्णु अवनिसिंह के राज्यारोहण की सूचना उलपब्ध होती है। वह एक शक्तिशाली एवं विद्यानुरागी राजा था। उसके राजदरबार में संस्कृत के महान् कवि **भारवि** रहते थे। सिंहविष्णु कलानुरागी था। वैष्णव-धर्म में उसकी गहरी आस्था थी। मामल्लपुरम् के आदिवराह गुहामन्दिर में उसकी एक प्रतिमा अंकित है, जिसमें उसकी दो रानियों को भी प्रदर्शित किया गया है। सम्भवतः इस वैष्णव मन्दिर को उसी ने बनवाया था। उसने अपने पराक्रम से सम्पूर्ण चोलमण्डल को जीतकर कावेरी तक अपना राज्य विस्तृत कर लिया था 'अवनिसिंह' की उपाधि धारण की। सिंहविष्णु ने लगभग 575 ई० से 600 ई० तक राज्य किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम राजसिंहासन पर बैठा।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम (600 ई० से 630 ई० तक)—सिंहविष्णु के उपरान्त उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम पल्लव शासक हुआ। अपने पिता से प्राप्त छोटे से पल्लव राज्य को उसने अपनी कूटनीतिक क्षमता तथा सैन्य-शक्ति के बल पर एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसने पल्लव राज्य को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, वह उसकी विस्तारवादी महत्वाकांक्षा की तुष्टि के लिए सन्तोषजनक नहीं था। उसके समकालीन साम्राज्यवादी प्रमुख शक्तियों, यथा—उत्तरपश्चिम में वातापि के चालुक्य तथा धुरदक्षिण में पाण्ड्यों ने भी साम्राज्य-विस्तार की नीति का अनुसरण किया था। फलतः दक्षिण भारत में प्रभुसत्ता की स्थापना के लिये उपर्युक्त राज्यों में पारस्परिक संघर्ष की परिस्थितियाँ उद्भूत हो चुकी थीं तथा पल्लव साम्राज्य का भविष्य उसके योग्य शासकों की क्षमता एवं योग्यता पर ही आधारित था।

वातापि के चालुक्यों के साथ संघर्ष —ऐहोल-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि चालुक्यों का उत्कर्ष पल्लवों को पसन्द न था।[1] इसके अनेक कारणों में प्रामाणिक कारण पुलकेशिन द्वितीय द्वारा आन्ध्र राज्य के उन क्षेत्रों का बलात् अधिग्रहण था, जो पल्लवों के प्रभुत्व में थे। चेर्जला-अभिलेख से इस बात की पुष्टि होती है कि आन्ध्र राज्य का आधुनिक गंटूर जनपद क्षेत्र पल्लवों के अधीन था, जिसे चालुक्य ने अधिकृत कर लिया। इसके अतिरिक्त पुलकेशिन द्वितीय द्वारा कदम्ब राज्य की विजय की असह्य थी क्योंकि वे अपने राजनयिक सम्बन्धों में पल्लवों के समर्थन थे। सामान्यतया कदम्बों के ही बल पर पल्लवों का अपने पारम्परिक शत्रु गंगवाड़ी राज्य के गंगों पर अंकुश रहता था। चालुक्यों द्वारा कदम्बों के उच्छेदन के फलस्वरुप पल्लव राज्य के लिए गंगों से भी खतरा उत्पन्न हो गया। इस प्रकार चालुक्यों के दक्षिण भारतीय अभियानों से पल्लवों की सामरिक टकराहट अवश्यंभावी हो गई।

पुलकेशिन द्वितीय ने कदम्बों एवं वेंगी[2] के राज्यों पर अधिकार करने के वाद पल्लव राज्य पर आक्रमण कर दिया। ऐहोल-प्रशस्ति के अनुसार पल्लवपति ने चालुक्यसेना का डट कर मुकावला किया। परन्तु अंततः पराजित होकर उसने राजधानी काञ्ची के परकोटे में छिप कर अपनी प्राणरक्षा की (प्राकारान्तरितप्रतापरमक रोध पल्लवानाम्पतिम्)। उपर्युक्त अभिलेख में उल्लिखित 'पल्लपति' का समीकरण अधिकांश विद्वानों महेन्द्रवर्मन प्रथम से किया है। परन्तु **टी० वी० महालिंगम्** इस समीकरण से सहमत नहीं है। परवर्ती पल्लव शासन नन्दिवर्मन द्वितीय के कशाक्कुडि लेख में उल्लिखित है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम ने काञ्ची से 24 कि० मी० दूर स्थित पुल्लिलूर के युद्ध में अपने प्रमुख शत्रुओं को पराजित किया था (पुल्लिलूरे द्विषतां विशेषान्)। इस उल्लेख के आधार पर विद्वानों की धारणा है कि इस युद्ध में महेन्द्रवर्मन प्रथम ने संभवतः अपने शत्रुओं में प्रमुख पुलकेशिन द्वितीय को ही पराजित किया होगा। परन्तु **एन० सुब्रमण्यम्** प्रभृति विद्वानों का विचार है कि यदि इस युद् में पुलकेशिन द्वितीय को पराजित किया गया होता तो उपर्युक्त पल्लव युगीन अभिलेख में उसका नामोल्लेख अवश्य किया जाता। अतः इस युद्ध में संभवतः महेन्द्रवर्मन द्वारा गंगों के पराजय की ओर ही इशारा किया जाना विशेष अनुमन्य है। पुल्लिूर-अभिलेख में आख्यात **'द्विषतां'** वहुवचनान्त, है, जिससे इङ्गित होता है कि महेन्द्रवर्मन प्रथम ने संभवतः उक्त युद्ध में किसी शत्रु-संघ को पराजित किया था। इस सन्दर्भ में **टी० वी० महालिंगम्** का प्रस्ताव भी विचारणीय है। उनके अनुसार सम्भवतः तेलगू-चोड शासक नल्लडि ने अपने मित्र राज्यों को मिलाकर एक संयुक्त मोर्चो बनाकर कुछ समय के लिए काञ्ची के आस-पास के पल्लव क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। अतः पुल्लिलूर के युद्ध में सम्भवतः वे ही पराजित हुए होंगे न कि वातापि नरेश पुलकेशिन द्वितीय। इस प्रकार **टी० वी० महालिंगम्** का मत अन्यान्य साक्ष्यों से सम्पुष्ट नहीं हो पाता। अतः यह मत विशेष मान्य नहीं है।

---

1. द्रष्टव्य, इपीग्राफिया इण्डिका, भाग 6 पृ० 11.
2. मारुटुर अभिलेख गंटूर जनपद में पुलकेशिन द्वितीय के द्वारा यहाँ एक ग्रामदान का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त युद्ध के प्रसङ्ग में ऐहोल-अभिलेख की पंक्तियाँ विशेष ध्यातव्य हैं। इस प्रशस्ति के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय ने काञ्ची को पूर्णतया अपहृत किए बिना ही कावेरी नदी को पार करके धुर दक्षिणी राज्यों की ओर सामरिक प्रस्थान किया था। उन्होंने इस मार्ग में पड़ने वाले केरल, चोल तथा पाण्ड्य राज्यों के साथ मैत्री-सम्वन्ध स्थापित किया। उस उल्लेख के आलोक में पुलकेशिन द्वितीय जैसे महत्वाकांक्षी शासक के लिए अपने परमशत्रु पल्लवों की राजधानी काञ्ची को अधिकृत किए बिना दक्षिणी प्रायद्वितीय राज्यों की ओर मुड़ जाना विशेष विचारणीय है। उसने यदि पल्लवों को पराजित कर काञ्ची को अधिकृत किया होता तो उसका उल्लेख ऐहोल-प्रशस्ति में अनिवार्यतः किया जाता। ऐसी स्थिति में **कशक्कुडि-अभिलेख** द्वारा साक्ष्य विशेष विचारणीय हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुलकेशिन द्वितीय ने अपने उक्त अभियान में महेन्द्रवर्मन प्रथम को मात्र पछाड़ दिया था। उसके राज्य का अधिग्रहण नहीं किया था। इतनी ही घटना का काव्यात्मक उल्लेख **ऐहोल-प्रशस्ति** में किया गया है। परन्तु कुछ ही समय वाद प्रतापी पल्लवपति महेन्द्रवर्मन ने पुल्लिलूर के मैदान में अपने प्रमुख शत्रु, पुलकेशिन द्वितीय को, पराजित कर अपनी स्थिति पुनः सुदृढ़ कर ली। इस पराजय से पुलकेशिन का मनोवल घट गया, फलतः उसने अन्य प्रायद्वितीय राज्यों को आक्रान्त न करके केवल मैत्री-सम्वन्ध स्थापित करके अपना समर्थक एवं मित्र बनाया। **टी० वी० महालिंगम्** इन प्रसंगों के आलोक में यह विचार व्यक्त करते हैं कि पुलकेशिन द्वितीय ने तत्कालीन चोल शासक नल्लडि को अपनी सैनिक सहायता देकर उसे पल्लवों के आधिपत्य से मुक्त करा दिया था।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने प्रतापी चालुक्यों से काञ्ची तथा कावेरी घाटी की रक्षा तो कर ली। परन्तु दोनों शक्तियों के बीच तनाव उत्तरोत्तर वढ़ता ही गया। इधर पुलकेशिन द्वितीय अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ करने में निरन्तर संलग्न था। क्योंकि दक्षिण की ओर से पल्लवों के आक्रमण से उसे बराबर खतरा वना हुआ था। फिर, भी महेन्द्रवर्मन् ने चालुक्यों एवं उनके मित्रराज्यों के सतत् दबाओं के बावजूद अपने सामरिक अभियानों द्वारा पल्लव साम्राज्य को कावेरी के दक्षिण में विस्तृत करने में सफलता प्राप्त की थी।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम पराक्रमी होने के साथ-साथ कला एवं साहित्य का महान् संरक्षक था। उसने तत्कालीन साहित्यकारों को संरक्षण देने के साथ ही अपनी रचनाओं से भी साहित्य-सृजन को संवर्द्धित किया। उसके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में **'मत्तविलासप्रहसन'** तथा **'भगवदज्जुकीयम्'** विशेष उल्लेखनीय हैं विद्वानों का अनुमान है कि उसने संगीत-शास्त्र पर भी एक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा था। सम्भवतः उनके राजकीय संरक्षण में **'कुडिमियामलय'** विशेष उल्लेखनीय है। विद्वानों का अनुमान है कि उसने संगीत-शास्त्र पर भी एक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा था। सम्भवतः उनके राजकीय संरक्षण में **'कुडिमियामलय'** नामक ग्रन्थों में संगीत-शास्त्र के सिद्धान्तों का समाहार किया गया। उसने संस्कृत भाषा में अभिलेखों को उत्कीण करवाया।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम वहुमुखी प्रतिभा का धनी था। उसकी अभिरुचि साहित्य के साथ-साथ वास्तु, स्थापत्य आदि कलाओं के संवर्द्धन में भी दर्शनीय हैं। अपने प्रारम्भिक जीवन में वह जैन धर्मावलम्वी था परन्तु वाद में उसने हिन्दू धर्म को अपना लिया।

उसके शासनकाल में शैव एवं वैष्णव धर्मों का समुन्नयन हुआ तथा इन धर्मों से सम्बन्धित अनेक विशाल एवं भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया गया। मंडगपट्टु-अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'विचित्रचित्त' (महेन्द्रवर्मन् प्रथम) ने ब्रह्मा, ईश्वर (शिव) तथा विष्णु आदि देवों की आराधना तथा समर्पण हेतु अनेक एकाश्मक (Monolithic) मन्दिरों का निर्माण करवाया (**निर्मापितन्नृपेण ब्रह्मेश्वर विष्णु लक्षितायतनम्**)। तिरुचिरापल्ली अभिलेख में उसे महान् शिव-लिङ्गोपासक कहा गया है (**गुणभरनामानि राजनयन लिंगिनिज्ञानम्**)। उसने अपनी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों के अनुकूल गुणभर, मत्तविलास, विचित्रचित्त, महेन्द्रविक्रम, अवनिभाजन, चेत्थकारी शत्रुमल्ल, चित्रक्कारप्पुलि आदि अनेक उपाधियाँ धारण की।

नरसिंहवर्मन् प्रथम –(लगभग 630 ई0 से 668 ई0 तक) नरसिंहवर्मन् प्रथम योग्य पिता का योग्य सन्तान था। उसने 630 ई० के लगभग महेन्द्रवर्मन् प्रथम की मृत्यु के उपरान्त पल्लव राजगद्दी प्राप्त की। अपने असाधारण पौरुष, साहस एवं पराक्रम के कारण वह 'महामल्ल' कहा जाता था। उसने साम्राज्य-विस्तार की नीति का अनुपालन करते हुए दक्षिण भारतीय राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके तत्कालीन बड़ी राज-शक्तियों से पल्लव साम्राज्य को अपराजेय बना दिया।

पल्लव चालुक्य-संघर्ष —चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय ने अपनी शकित की विधिवत संयोजित करके पल्लव साम्राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने के लिये सारी तैयारी कर ली। **टी० वी० महालिंगम्** के अनुसार इसी बीच नरसिंहवर्मन् प्रथम ने चालुक्यों के अधीन कर्मराष्ट्र पर आक्रमण कर दिया। पल्लवों के स साहसिक अभियान एवं सामरिक हौसले को तोड़ने के लिये उसने सीधे उनके राज्य पर आक्रमण कर दिया। परमेश्वर वर्मन् प्रथम के शासनकाल में अभिलिखित सुप्रसिद्ध कूरम-ताम्रपत्रों से पता चलता है कि नरसिंहवर्मन् प्रथम ने चालुक्याधिपति पुलकेशिन द्वितीय को क्रमशः पेरियाड (**कडप्पा जनपद का पैडैल अथवा कृष्ण जिले का परितियाल**) मणिमङ्गमलम् तथा शूरमार (चित्तूर जनपद) के युद्धों में पराजित किया। मणिमङ्गलम् की पहचान काञ्ची के समीप 32 कि० मी की दूरी पर स्थित एक ग्राम से की जाती है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पुलकेशिन द्वितीय पराक्रमी महेन्द्रवर्मन प्रथम की मृत्यु के बाद, उसके आत्मज नरसिंवर्मन् प्रथम की शक्ति का गलत आकलन करके, काञ्ची को आक्रान्त करना चाहता था। परन्तु अपने पिता की तरह पराक्रमी नरसिंहवर्मन् प्रथम ने भी पुलकेशिन द्वितीय को काञ्ची तक पहुँचने के पहले से ही उसे पराजित करके, चालुक्यों की सेना को कर्मराष्ट्र के उत्तर तक खदेड़ किया। पुलकेशिन द्वितीय का यह अभियान सम्भवतः 634-35 ई० में हुआ क्योंकि 631 ई० में कोप्परम-दानपत्रों में कर्मराष्ट्र पर उसके आधिपत्य की सूचना मिलती है। पल्लव-साम्राज्य पर हुए इस आक्रमण के पूर्व पुलकेशिन द्वितीय की सेना का प्रतिरोध, पल्लव-सामन्त शासक बाण आदि ने किया परन्तु वे चालुक्यों द्वारा पराजित हो गये। पल्लव-राज्य पर चालुक्यों ने बड़े उत्साह से धावा बोला परन्तु नरसिंहवर्मन् प्रथम ने उन्हें लगातार कई युद्धों में पराजित करके उनके मनोबल को तोड़ दिया। कूरम-दानपत्रमें उल्लेख मिलता है कि एक समय उत्तरापथेश्वर हर्ष को पराजित करने वाले शक्तिशाली सम्राट पुलकेशिन द्वितीय को पराजित करके नरसिंहवर्मन् प्रथम ने उसकी पीठ पर **वि-ज-य** अक्षर अङ्कित करा दिया

(पुलकेशिनपृष्ठपट्ट लिखित विजयाक्षरस्य) ।

पुलकेशिन द्वितीय द्वारा दो-दो बार पल्लव राज्य अभियान करना नरसिंहवर्मन प्रथम को अब भी शाल रहा था । अतः उसने शीघ्र ही एक सामरिक योजना तैयार की तथा चालुक्यों के मूलोच्छेदन हेतु राजधानी वातापि पर आक्रमण कर दिया। कशाक्कुडि-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने वातापि को चारों ओर से घेर कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । अन्ततः परमप्रतापी वृद्ध चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन द्वितीय को समरभूमि में न केवल पराजित किया अपितु उसकी हत्या भी कर दी। **(वातापि नर्ज्जयविल (डम्बित) कुम्भजन्मा, वीरस्ततोविजयीरसिंवर्मा)** । उसने वातापि नगर में पुलकेशिन द्वितीय द्वारा स्थापित ऐतिहासिक 'विजय-स्तम्भ' पर भी अधिकार कर लिया **(नरसिंवर्मा वातापिमध्ये विजितारिवर्गः स्तितंजय-स्तम्भमलयमयद्यः)** । पल्लव सेना के इस सफल एवं महत्वपूर्ण अभियान का दायित्व वीर सेनानायक **शिरुतोंड** ने संभाला था, जिसका एक अभिलेख वातापि के मल्लिकार्जुन मन्दिर की पार्श्वप्रस्तरभित्ति पर अंकित है । नरसिंहवर्मन् प्रथम ने चालुक्यों पर यह विजयाभियान अपने शासनकाल के 13 वें वर्ष में किया । वातापि के समृद्ध राजकोष से पल्लवों को विपुल सम्पत्ति प्राप्त हुई । नन्दिवर्मन् तृतीय के वलूरपाल्यम-अभिलेख तथा सुप्रसिद्ध 'पेरियपुराणम्' काव्य के उल्लेख के अनुसार नरसिंहवर्मन प्रथम ने इस विजय के उपलक्ष्य के **वातापिकोण्ड** की उपाधि धारण की । उसने अपनी विजयकीर्ति की चिरस्थाई रखने के लिए वातापि में अपना एक कीर्ति-स्तम्भ स्थापित कराया ।

नरसिंहवर्मन प्रथम का आधिपत्य राजधानी वातापि पर कितने समय तक स्थापित रहा, इसकी कोई सूचना उपलब्ध नहीं है । शक्तिशाली पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त लगभग 13 वर्ष तक चालुक्य राज्य स्थापित न हो सका । चालुक्य साम्राज्य में बड़ा राजनीतिक संकट एवं अशान्ति का वातावरण बना हुआ था । वातापि एवं उसके उत्तरी भाग को छोड़कर सम्भवतः इस अवधि में दक्षिणी चालुक्य साम्राज्य के अधिकांश भाग पर पल्लवों का आधिपत्य स्थापित था । 655 ई० के लगभग पुलकेशिन के उत्तराधिकारी एवं पुत्र का विक्रमादित्य प्रथम ने अपने नाना गंगशासक दुर्विनीत की सहायता लेकर पल्लवों से अपने राज्य को मुक्त करा लिया। इस बात की पुष्टि हैदराबाद-अभिलेख से होती है । गदवल लेख के अनुसार उसने नरसिंहवर्मन प्रथम 'मामल्ल' (महामल्ल) के प्रताप को विनष्ट करके स्वयं 'राजमल्ल' की उपाधि धारण की **(मुदित नरसिंहयशसा योराजमल्ल शब्दं विहितमहामल्ल कुलनाश)** । ६६८ ई० का तल-मचि-लेख कर्मराष्ट्र प्रदेश पर विक्रमादित्य प्रथम के आधिपत्य को पुष्ट करता है । इस प्रकार पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम को पराजित करके उसने न केवल अपने पिता के अपमान का बदला चुकाया, अपितु पल्लवों द्वारा अपहृत चालुक्य-राज्य को भी उनसे मुक्त करा लिया ।

सिंहल (श्रीलंका) राज्य से सम्बन्ध—बौद्ध-महाकाव्य 'महावंश' से ज्ञात होता है कि सिंह (श्रीलंका) के राजा मानवर्मन तथा नरसिंहवर्मन प्रथम में गहरी मित्रता थीं । श्रीलंका में राजसिंहासन के लिये छिड़े गृहयुद्ध में मानवर्मन से राजगद्दी छिन गई । पराभव की मानसिकता में मानवर्मन ने 640 ई० के लगभग सपरिवार अपने मित्र नरसिंहवर्मन के राज्य में आकर शरण ले ली। कुछ समय बाद चालुक्यों द्वारा

पल्लव-राज्य पर आक्रमण होने पर, मानवर्मन ने भी अपनी सेना के साथ अपने आश्रयदाता मित्र नरसिंहवर्मन के साथ युद्ध में भाग लिया कालान्तर में नरसिंहवर्मन प्रथम ने चालुक्यों पर विजय प्राप्त करके अपने वीर सहयोगी मानवर्मन को उनका राज्य दिलाने के उद्देश्य से, उसके साथ अपनी सेना को श्रीलंका भेजा। पल्लव सेना के साथ मानवर्मन ने तथाकथित श्रीलंका नरेश पर आक्रमण कर दिया। परन्तु उसका प्रतिद्वन्दी **'दत्योपतिश'** भयवश राजधानी छोड़कर भाग निकला। इस अभियान के बीच में ही पल्लव सेना काञ्ची वापस बुला ली गई क्योंकि नरसिंहवर्मन गम्भीर रुप से अस्वस्थ हो गया था। फलतः मानवमन ने श्रीलंका के राजसिंहासन पर अस्थिर कर अल्पकालिक अधिकार स्थापित करके पुनः कांची में आकर शरण ले ली। कुछ समय बाद नरसिंहवर्मन प्रथम ने अपने मित्र मानवर्मन को उसका राज्य दिलाने लंका के लिए पल्लव सेना के साथ स्वयं प्रस्थान किया। पल्लव नौ-सेना ने प्रारम्भ में महावलिपुरम् से आगे जाने में अरुचि दिखाई क्योंकि सम्राट नरसिंहवर्मन् को किंचित कारणों से सिंहल न जाकर काञ्ची वापस लौटना था किन्तु बाद में पल्लवपति की कूटनीति के फलस्वरुप सेना सिंहल पर अभियान करने के लिए तैयार हो गयी। इस अभियान के फलस्वरुप प्राप्त सफलता में मानवर्मन ने न केवल श्रीलंका का राजसिंहासन छीन लिया अपितु अपने विरोधी हत्थदत्थ की हत्या भी कर दी। हत्थदत्थ के प्रवल समर्थक राजा पोस्थकुत्थु ने भयाक्रान्त होकर आत्महत्या कर ली। कशाक्कुडि अभिलेख में नरसिंहवर्मन प्रथम की तुलना श्रीलंका के विजयी राम से करके उसकी प्रशंसा की गई है (लंका जयाधरित राम पराक्रम श्री)।

इस प्रकार नरसिंवर्मन् प्रथम ने धुर दक्षिणी प्रायद्वीपीय भारत एवं श्रीलंका पर विजय प्राप्त करके पल्लव शक्ति एवं साम्राज्य को सुदृढ़ कर दिया। यद्यपि अपने सामरिक जीवन में उसे एक बार चालुक्य शासक विक्रमादित्य प्रथम से पराजय अवश्य मिली परन्तु अपने पराक्रम एवं प्रभाव से उसने चालुक्यों से यथासम्भव पल्लव साम्राज्य को अप्रभावित बना रखा था।

सामरिक सफलताओं से भी अधिक उल्लेखनीय नरसिंहवर्मन् प्रथम की उपलब्धियाँ सांस्कृतिक समुन्नयन के क्षेत्र में थीं। वह महान् कला-प्रेमी सम्राट् था। द्राविड़ वास्तुकला के क्षेत्र में नूतन स्तम्भ एवं रचना एवं अलंकरणात्मक अंकनों में नई शैली के उन्नायक के रुप में वह कालजयी है। उसने अपने पिता महेन्द्रवर्मन् प्रथम द्वारा प्रवर्तित स्तम्भ-निर्माण-कला में सिंह-शीर्ष-अंकन का अभिनव विन्यास कराकर पल्लव वास्तुकला-शैली में गुणात्मक नवीनता प्रदान की। इस प्रकार की द्राविड़ वास्तु-स्तम्भ-रचना उसके नाम पर 'मामल्ल' शैली के नाम से अभिहित की जाती है। **वी० वेंकय्या** की धारणा है कि महावलिपुरम् के रथमन्दिरों (सप्त रथ) तथा उसके पतन का विन्यास इसी नरेश की कलाप्रियता की देन है। परन्तु **एन० सुब्रह्मण्यम्** महावलिपुरम् के पत्तन-विन्यास को उसके शासन काल के वहुत पहले निर्धारित करते हैं। **य्वान्च्वांग** (ह्वेनसांग) ने नरसिंहवर्मन् प्रथम के शासन काल में 'तोण्डमैणडलम्' तथा राजधानी काञ्ची की यात्रा की थी। उसने वहाँ की समृद्धि, मन्दिरों, वौद्धोंमठों, बिहारों तथा विद्यालयों आदि का विशद वृतान्त प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार नालन्दा विश्वविद्यालय का प्रसिद्ध वौद्धाचार्य 'धर्मपाल' काञ्ची का ही मूल निवासी था।

पल्लव साम्राज्य को पूर्ण विकसित एवं यशस्वी बनाकर उसने 668 ई० में दिव्यलोक की प्राप्ति की **महेन्द्रवर्मन द्वितीय लगभग** 668 ई० से 670 ई० तक नरसिंहवर्मन् प्रथम की मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र महेन्द्रवर्मन द्वितीय सिंहासन पर बैठा। कूरम तथा कशाक्कुडि-अभिलेखों में उसके उत्तराधिकार की सूचना प्रदत्त है। किन्तु वेलूरपाल्यम् अभिलेख में नरसिंहवर्मन् प्रथम का उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मन बताया गया है। परन्तु चालुक्य अभिलेखों से कशाक्कुडि एवं कूरम दानपत्रों की उपर्युक्त सूचना की संपुष्टि होती है। गदवल-दानपत्र के अनुसार चालुक्य शासक विक्रमादित्य प्रथम ने महेन्द्रवर्मन् द्वितीय को पराजित किया था (विहितमहेन्द्रप्रतापविलयेन)। परन्तु चालुक्यों की यह विजय प्रतिशोधात्मक ही प्रतीत होती है कि क्योंकि कूरम-दानपत्र में महेन्द्रवर्मन् द्वितीय को वर्णाश्रम-धर्म का संस्थापक तथा पल्लव साम्राज्य में सुख एवं शान्ति का उन्नायक कहा गया है (**महेन्द्रवर्म्मणः सुप्रणीतवर्णाश्रिमधर्मस्य**)। इसी प्रकार कशाक्कुडि-ताम्रपत्र में उसे ब्राह्मणों, मन्दिरों तथा वैदिक विद्यालयों का संरक्षक बताया गया है। पल्लव-वंशावली में उसका अनेकत्र न मिलने के कारण अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि सम्भवतः उसका शासनकाल अत्यन्त रहा होगा। परन्तु हाल ही में **सी० आर० श्रीनिवासन्**[1] ने पेरियकोल्पपाडि (चेंगम मण्डल) स्थान से मिले एक अभिलेख के आधार पर उसकी शासनावधि 11 वर्ष प्रतिपादित की है। **परमेश्वरवर्मन् प्रथम लगभग** 670 ई० से 695 ई० तक महेन्द्रवर्मन् द्वितीय के बाद 670 अथवा 672 ई० में परमेश्वरन् प्रथम राजा हुआ। उसके शासनकाल के प्रारम्भिक दिनों में ही चालुक्यों ने पल्लव राज्य पर आक्रमण कर दिया।

पल्लव चालुक्य संघर्ष—चालुक्य शासक विक्रमादित्य प्रथम के **गदवल-अभिलेख** से ज्ञात होता है कि उसने ईश्वरपोतराज (परमेश्वरवर्मन् प्रथम) पर विजय प्राप्त करके काँची पर अपना अधिकार कर लिया तथा इस' विजय के उपलक्ष में **'राजमल्ल'** की उपाधि धारण की—

> **"यो राजमल्लशब्द विहितमहामल्लकुलनाश :,**
> **दुर्लंध्य दुष्करविभेद विशालसाला।**
> **दुर्गाध्यदुस्तरवृहत्परिरवा परीता,**
> **अग्राह्वेन जयतेश्वर पोतराज काञ्चीव॥"**

इस घटना की पुष्टि **केन्दूर-ताम्रपत्र** से भी होती है। इसके अनुसार विक्रमादित्य प्रथम का चरणकमल पल्लवपति (परमेश्वर्मन् प्रथम) के राजमुकुट द्वारा चुम्बित था (**काञ्चीपतिमुकुटचुम्बित पादाम्बुजस्य विक्रमादित्यः**)। **गदवल अभिलेख** 674 ई० से इसी विजय के उपलक्ष अंकित कराया गया था। यह युद्ध कावेरी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित उरगपुर (उरैयूर) में हुआ। कीलहार्न ने गदवल अभिलेख के साक्ष्य के आधार पर उपर्युक्त तिथि 25 अप्रैल, वृहस्पतिवार, 674 ई० प्रतिपादित किया है।

चालुक्यों की उपर्युक्त विजय प्रामाणिक तो है परन्तु इस युद्ध के फलस्वरुप महामल्ल अर्थात् परमेश्वरवर्मन् प्रथम का परिवार भी विनष्ट हो गया था, यह कथन

---

1. द्रष्टव्य, काञ्चीपुरम् थ्रू द एजेज, पृ० 32

विश्वसनीय नहीं है। कूरम-दानपत्र से पता चलता है कि महामल्ल अर्थात् पल्लवों की वंशपरम्परा न केवल प्रवहमान रही, अपितु कुछ ही समय बाद कांची नरेश परमेश्वर वर्मन् प्रथम ने विक्रमादित्य प्रथम से सफलतापूर्वक प्रतिशोध भी ले लिया (**विक्रमादित्यकप्पटमात्रापरिच्छदम् एकाकिपलायितम्**)। परमेश्वरवर्मन् प्रथम ने विक्रमादित्य प्रथम के राजमद को नष्ट करके अपने राजवंश को पुनः प्रतिष्ठित कर लिया। वेल्लुरपाल्यम अभिलेख में उसे चालुक्य-मद-तम-विनाशक-सूर्य कहा गया है (**चालुक्यक्षितिभृत्सैन्यध्वान्तध्वंस दिवाकरणः**)। इसी प्रकार उदयेन्दिरम् ताम्रपत्र में पल्लवों द्वारा चालुक्यों के पराजय सम्बन्धी उपर्युक्त युद्धस्थल **'पेरुवलनल्लूर'** (**तिरुचिरापल्ली जनपद में लालगुडि के निकट स्थित**) का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि इसमें पल्लवों की विजय हुई (**ततः पेरुवलनल्लूर्युद्धेविजित वल्लभबलः परमेश्वरवर्म्मा**)। उक्त स्थान उरैयुर के निकट ही स्थित है। अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पल्लवों ने यह संघर्ष अपने साम्राज्य को चालुक्यों से मुक्त कराने के लिए ही किया होगा।

पल्लव-गंग संघर्ष—गंग नरेश भूविक्रम (655-679) ई० के वेदिरुर-अभिलेख में आख्यात है कि उसने विलिन्द (तुम्कुरु जनपद, कर्नाटक प्रदेश) के मैदान में किसी पल्लव शासक से युद्ध किया था। इसी बात को हेल्लेगेरे एवं कतिपय अन्य गंग अभिलेखों में भी दुहराया गया है। हेल्लेगेरे-लेख के अनुसार गंग शासक भूविक्रम ने समर भूमि में पल्लव शासक का रत्नजटित हार छीन लिया था। इन लेखों में पल्लवनरेश के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उक्त उल्लेखों का संकेत परोक्ष रुप से परमेश्वरवर्मन् प्रथम के लिए माना जा सकता है।

नागुर शासकों का पल्लवों के विरुद्ध अभियान—पल्लवकालीन प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य तिरुमंगई आलवार के उल्लेख के अनुसार नांगुर के शासकों ने पाण्ड्यों के अतिरिक्त आगे बढ़कर उत्तर में किसी विशेष शक्तिशाली राजा को पराजित किया था। या उत्तर का राज्य पल्लवों के अतिरिक्त कोई दूसरा राज्य प्रतीत होता है। क्योंकि नांगूर, क्षेत्र पर पल्लवों का आधिपत्य पहले से ही स्थापित था। विद्वानों की धारणा है कि नांगूर के शासकों ने सम्भवतः अपने स्वामी परमेश्वरवर्मन् प्रथम के साथ किसी उत्तरी नरेश (सम्भवतः चालुक्यों) के विरुद्ध सामरिक अभियान में सम्मिलित होकर विजय प्राप्त की थी। अतः तिरुमंगई द्वारा उल्लिखित उत्तर का पूर्वोद्धित राज्य पालकों का राज्य क्षेत्र न होकर संभवतः चालुक्यों के राज्य को ही मानना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

मूल्यांकन—परमेश्वरवर्मन् प्रथम पल्लव राजवंश का सर्वाधिक उल्लेखनीय शासक हुआ। उसके शासनकाल में अनेक राजनीतिक मोड़ आए, परन्तु उसने सब परिस्थितियों को झेलते हुए बड़ी वीरता के साथ पल्लव साम्राज्य को सुरक्षित किया। चालुक्य शासक विक्रमादित्य प्रथम के द्वारा सतत् आरोपित सामरिक दवाव को उसने बड़ी वीरता के साथ समाप्त किया तथा, पेरुवलनल्लूर के मैदान में रणरसिक विक्रमादित्य प्रथम को परास्त कर चालुक्यों के सामरिक हौसले को चूर-चूर कर दिया (**ततः पेरुवलनल्लूर्य्युद्धे विजितवल्लभ बलः परमेश्वरवर्म्मा**)। वह घोर शैवोपासक था। शिवभक्ति के उत्साह में उसने 'परममाहेश्वर' की उपाधि धारण की थी। कतिपय

पल्लव अभिलेखों में उसकी तुलना त्रैलोकेश्वर शिव से की गई है। कूरम अभिलेख के अनुसार सौन्दर्य परमेश्वर (**शर्व**) की तरह अन्यों से अधिक था (**परमेश्वर इव सर्वाधिक दर्शनः परमेश्वरवर्म्मा**)।

परमेश्वरवर्मन् प्रथम ने पल्लव युगीन द्राविड़ वास्तुकला का संवर्द्धन किया। उसने अपने साम्राज्य में अनेकत्र विशाल एवं भव्य शिवमन्दिरों का निर्माण कराया। मामल्लपुरम् का प्रसिद्ध **गणेश मन्दिर** इसी नरेश के शासनकाल में निर्मित किया गया था। ग्रेनाइट पत्थर की शिलाओं को जोड़कर वनाये गये इस काल के वहुसंख्यक शिव मन्दिर उसकी कलाप्रियता एवं कला संरक्षण के प्रतीक हैं। काँची के समीप कूरम स्थल पर निर्मित विख्यात शिव मन्दिर पर उसका उपर्युक्त अभिलेख अंकित किया गया है। उसने अपनी उपलब्धियों के अनुकूल विद्याविनीत, लोकादित्य, चित्रमय, श्रीभर, रणजंय तथा अत्यनतकाक आदि उपाधियाँ धारण कीथी। उसका शासन काल लगभग 695 ई० तक रहा।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय लगभग 695 ई० से 722 ई० तक —परमेश्वरवर्मन् प्रथम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय राजा हुआ। उसका उपनाम 'राजसिंह' था। इसी नाम से उसने कांची के सुप्रसिद्ध **कैलासनाथ-मन्दिर** का निर्माण कराया था। अतः इस मन्दिर को **'राजसिंहेश्वर-मन्दिर'** भी अभिहित किया गया है। इस मन्दिर की भित्ति पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार उसने प्रतिद्वन्दी अरिकुलों का विनाश करके अपनी कूटनीति दक्षता के साथ विद्रोहियों को दवा दिया था। उसने अपने अधीनस्थ राज्यों पर प्रभुत्व स्थापित करके पल्लव राज्य में सुख एवं शान्ति स्थापित की शाक्कुडि-लेख में उसकी सामरिक शक्ति की तुलना भगवान नृसिंह (विष्णु) से की गई है। नरसिंहवर्मन् द्वितीय के शासनकाल के कई अभिलेख मिले हैं, जो प्रायः उसके द्वारा निर्मित कराये गये मन्दिरों की भित्तियों अथवा स्तम्भों पर उत्कीर्ण किये गये हैं। इन अभिलेखों में उसकी राजनीतिक उपलब्धियों का वहुत कम उल्लेख मिलता है। परन्तु उसके वहुसंख्यक लेखों में उसी सांस्कृतिक उपलब्धियों का विशद् वर्णन अवश्य किया गया है। संम्भवतः उसके शासनकाल में पूर्ववर्ती शासकों की तुलना में राजनीतिक उथल-पुथल कम थी। अस्तु, उसने साम्राज्य में व्याप्त सुख एवं शान्ति का उपयोग पूरी उत्कृष्टता के साथ कला, संगीत एवं साहित्य के संवर्द्धन में किया। महावलिपुरम् का **समुद्र-तटीय मन्दिर** (Sea Shore Temple), **काञ्ची कैलासनाथ मन्दिर** तथा **ऐरावतेश्वर-मन्दिर** इस नरेश की कलाप्रियता की देन है। उसने मन्दिर-वस्तु में एक नवीन कला-शैली को जन्म दिया। जो पल्लव-वास्तुकला में **'राजसिंह-शैली'** के नाम से अभिहित की जाती है। कला के साथ साथ उसने साहित्य को भी संरक्षण दिया। संस्कृत के महान् कवि **'दन्डिन्'** सम्भवतः उसके समकालीन थे। कतिपय विद्वान [1] महाकवि **भास** को भी इसी काल की विभूति मानते हैं, जिनके नाटकों की लोकप्रियता चिरकाल से आज तक उल्लेखनीय है। वेल्लूरपाल्यम्-दानपत्र से ज्ञात होता है कि उसने अपने साम्राज्य में विद्या की अभ्युन्नति के लिए राजधानी कांची में घटिका-विद्यालयों को प्रश्रय दिया (**नरसिंहवर्म्मापुनय्यंधाद्यो घटिकां द्विजानां........**)। **कशाक्कुडि-ताम्रपत्र में**

1. द्रष्टव्य, आर० गोपालन्; हिस्ट्री ऑफ द कांची, मद्रास, 1928.

उसके विद्यानुराग की प्रशंसा की गई है तथा उसके द्वारा वेदज्ञ-ब्राह्मणों को दिये गये दानों की सराहना की गई है (देवब्राह्मण सात्कृतात्मविभ (I) बोयः क्षत्रचूडामणि चलुर्व्वैद्यमवीवीधन्)। उसने अपने शासनकाल में संगीत-विद्या को भी संरक्षित दिया। उसके द्वारा धारण की गई वाद्यविद्याधर, वीणानारद तथा अंतोदय-तुम्वुरु आदि उपाधियाँ उसकी संगीतप्रियता की परिचायक हैं।

नरसिंहवर्मन द्वितीय के शासनकाल में पल्लव साम्राज्य की कीर्ति भारत के भीतर ही नहीं, अपितु विदेशों तक फैल चुकी थी। 1003 ई० में संकलित चीनी कोष **'त्यो-फू-य्यान-कुई-** से पता चलता है कि चीन देश के साथ नरसिंहवर्मन् द्वितीय का मैत्रीपूर्ण दौत्य-सम्बन्ध स्थापित था। पल्लव-अभिलेखों में उसकी विदुषी अग्रमहिषी **रंगपताका** के रचनात्मक व्यक्तित्व का भी उल्लेख किया गया है। उसका शासनकाल 722 ई० तक रहा। उसकी लगभग 250 से अधिक उपाधियाँ कैलासनाथ मन्दिर की भित्तियों तथा स्तम्भों पर अंकित हैं, जिनके अनुशीलन से उसके व्यक्तित्व एवं गुणों का परिचय प्राप्त होता है।

महेन्द्रवर्मन् तृतीय (लगभग 722 ई० से 728 ई० तक) —सम्भवतः नरसिंहवर्मन् द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र महेन्द्रवर्मन् तृतीय ने पिता की मृत्यु के अनन्तर राजसिंहासन प्राप्त किया। लेकिन अल्पकाल में ही मृत्यु हो गई। उसने काञ्ची के सुप्रसिद्ध **कैलासनाथ-मन्दिर** के विस्तृत परिसर में एक किञ्चित् लघु किन्तु भव्य शिव-मन्दिर (मठ) का निर्माण करवाया। उसके उत्तराधिकार एवं अन्य ऐतिहासिक सन्दर्भों पर विचार करते हुए **के० आर० श्रीनिवासन** का मत है कि उसने शासनसत्ता सँभालते ही पल्लव राज्य के विद्रोही गङ्ग-शासक श्रीपुरुष पर आक्रमण कर दिया। परन्तु इस युद्ध में न केवल उसका राजछत्र छीन लिया गया अपितु उसकी हत्या भी कर दी गयी।[1] **सी० मीनाक्षी** ने बैकुण्ठ-पेरुमल मन्दिर के दृश्यांकन में उर्पयुक्त उल्लेखनीय ऐतिहासिक घटना के अङ्कन की सम्भावना की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है।

परमेश्वरवर्मन द्वितीय (लगभग 728 ई० से 730 ई० तक)—परमेश्वरवर्मन द्वितीय नरसिंहवर्मन द्वितीय का कनिष्ठ पुत्र था। उसने 728 ई० में पल्लव राजसिंहासन को सुशोभित किया। उसका शासन काल मात्र दो या तीन वर्ष तक रहा। उसके शासन काल के तीसरे वर्ष का एक अभिलेख दक्षिण अर्काट जनपद से उपलब्ध है, जिसमें उसके द्वारा दिये गये स्वर्ण-दानों का विवरण आख्यात है। वेलूरपाल्यम्-लेख में उसे मनु द्वारा स्थापित नीतियों का पोषक तथा कशाक्कुडि-अभिलेख में वृहस्पति निति के आदर्शों का संरक्षक तथा कुशल प्रशासक कहा गया है।

परमेश्वरवर्मन् द्वितीय ने शासनकाल में वातापि के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने सम्भवतः गङ्ग-शासक दुर्विनीत ऐरयप्प की सहायता प्राप्त कर पल्लवों पर आक्रमण कर दिया। चालुक्यों के इस सामरिक अभियान की सूचना 735 ई० के उलचल-अभिलेख से प्राप्त होती है। उक्त अभिलेख में यह उल्लिखित है कि

---

1. के० आर० श्रीनिवासन, केव टेम्पुल्स, पृ० 8

चालुक्याधिपति ने काञ्ची को आक्रान्त कर वहाँ के शासक परमेश्वरवर्मन् द्वितीय से विपुल सम्पत्ति अपहृत कर ली। सम्भवतः इस युद्ध में परमेश्वरवर्मन् द्वितीय मारा गया। उसकी मृत्यु के साथ ही पल्लव राजवंश में चल रही सिंहविष्णु वंश-परम्परा समाप्त हो गई।

नन्दिवर्मन् द्वितीय (लगभग 730 ई० से 796 ई० तक) -730 ई० के लगभग नन्दिवर्मन् द्वितीय की आकस्मिक मृत्यु के फलस्वरुप पल्लव साम्राज्य में राजनीतिक एवं प्रशासनिक अस्थिरता तथा संक्रान्ति का काल उपस्थित हुआ। परमेश्वरवर्मन् द्वितीय का पुत्र चित्रमाय के अल्पायु होने तथा राज-संचालक की अनुभव-शून्यता के कारण राजसिंहासन के लिए अयोग्य समझा गया। फलतः पल्लव शासन को नियन्त्रित करने के लिए सिंहविष्णु के भाई भीमवर्मन् के वंशज, हिरण्यवर्मन् प्रथम के पुत्र, नन्दिवर्मन् द्वितीय को सिंहासन पर अभिषिक्त किया गया। उसके राज्यारोहण की तिथि बड़ी विवादास्पद है **टी० वी० महालिंगम्** ने उपर्युक्त घटना की तिथि 730-31 ई०, **एम० एस० शर्मा** ने 727 ई०, **वेंकटरमय्या** ने 725 **ई० जे० डुब्रील** ने 717 ई० तथा **आर० गोपालन** ने 710 ई० प्रतिपादित किया है। विद्वानों की धारणा है कि उसने सम्भवतः 730-31 ई० में पल्लव शासन की बागडोर अपने हाथ में ग्रहण की थी।

नन्दिवर्मन्-द्वितीय तथा परवर्ती पल्लव शासकों के अभिलेखों में उसके राज्याभिषेक की परिस्थितियों एवं तत्कालीन उच्चपदाधिकारियों तथा समर्थकों द्वारा उसके शासन-कार्य को सँभालने की याचना की बड़ी चतुराई के साथ उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों से यह इङ्गित होता है कि परमेश्वरवर्मन् द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त नन्दिवर्मन् द्वितीय एवं उसके पिता हिरण्यवर्मन् प्रथम ने काञ्ची में अपनी शक्ति एवं प्रभाव की स्थापना हेतु, वैध उत्तराधिकारी 'चित्रमाय' को राजसिंहासन प्राप्ति से वञ्चित कर दिया। हिरण्यवर्मन् ने शक्तिशाली मन्त्रियों एवं सेनानायकों को अपनी ओर मिलाकर पल्लव-शासन-सत्ता को नन्दिवर्मन् द्वितीय के अधीन कर दी। इस प्रकार वंशानुगत वैध उत्तराधिकार से वंचित चित्रमाय ने नव नियुक्त पल्लव शासक नन्दिवर्मन् द्वितीय के विरुद्ध खुला विद्रोह कर दिया। **सी० आर० श्रीनिवासन** के अनुसार इस विद्रोह में उसके चचेरे भाइयों (महेन्द्रवर्मन् तृतीय के दो पुत्रों) ने भी उसका साथ दिया। एतदर्थ उसने पल्लव वंश के परम्परागत शत्रुओं, गया—पश्चिमी गङ्ग, पूर्वी चालुक्य एवं पाण्ड्यों से भी सहायता ली। नन्दिवर्मन् द्वितीय का खुलकर विरोध किया।

उपर्युक्त विद्रोही-मोर्चे का नेतृत्व पाण्ड्य नरेश राजसिंह प्रथम ने किया। उसने उक्त सम्मिलित सेना के बल पर 740 ई० के लगभग नन्दिवर्मन् द्वितीय को आक्रान्त कर दिया और उसे नन्दिपुरम (कुम्भकोनम् के निकट) के किले में बन्दी बना दिया। नन्दिवर्मन् द्वितीय के उदयेन्दिरम्—अभिलेख में आख्यात है कि अंततः उसके सेनानाक उदयचन्द्र ने पाण्ड्यशासक राजसिंह को पराजित करके उसे वन्दीगृह (किले) से निकाल कर काञ्ची के राजसिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित किया। उक्त सेनानायक ने विद्रोही मोर्चे

---

1. उदेयन्दिरम्-अभिलेख में नन्दिवर्मन् द्वितीय को परमेश्वरवर्मन् का पुत्र आख्यात किया गया है (**तस्य परमेश्वरवर्म्मणः पुत्रोः नन्दिवर्मन्**)। परन्तु इसकी पुष्टि अन्य साक्ष्यों से नही होती।

को विदीर्ण करके मोर्चे में सम्मिलित युद्धरत विरोधी राजाओं की हत्या कर दी **(चित्रमाय पल्लवरामुखान्निहत्य)**।

पल्लव-चालुक्य संघर्ष —पल्लव साम्राज्य में आई उपर्युक्त राजनीतिक अस्थिरता को देखकर चालुक्य शासक विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लवों को आक्रान्त करने की योजना बनाई। उसके शासनकाल में अभिलिखित **केन्दूर-अभिलेख** से ज्ञात होता है कि उसने पल्लव-शासित तुण्डाक प्रदेश को बड़ी सहजता से जीत लिया। तदुपरान्त उसकी विजयवाहिनी आगे बढ़कर काञ्ची पहुँची। उसने इस प्रसिद्ध नगरी को चारों ओर से घेर कर आक्रान्त कर दिया। चालुक्यों द्वारा पराजित पल्लव शासक नन्दिवर्मन् द्वितीय ने कहीं छिपकर अपनी प्राण-रक्षा की। इस प्रकार विक्रमादित्य द्वितीय ने पराक्रमी पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम द्वारा किये गये वातापि के पराभव का प्रतिशोध लेकर काञ्ची के राजकोष को लूट लिया। उसने अपनी इस महत्वपूर्ण विजय को चिरस्थायी बनाने के लिये काञ्ची स्थित सुप्रसिद्ध **राजसिंहेश्वर मन्दिर** के शैल-स्तम्भ पर अपनी प्रशस्ति उत्कीर्ण करायी। केन्दूर अभिलेख में उल्लिखित है कि चालुक्य नरेश ने काञ्ची पर अधिकार स्थापित करके वहाँ के मन्दिरों पर चढ़ाये जाने वाली भेंट-परम्परा की न केवल सराहना की अपितु स्वयं स्वर्णादिक विपुल रत्नों की भेट चढ़ाकर उसे विवर्धित किया **(काञ्ची मविनस्य प्रविश्य दानांदितद्विजदीनाथजनः नरसिंहपोतवर्मणानिर्मितशिलाराज सिंहेश्वराविदेव कुलसुवर्ण राशिप्रत्यर्तणोपार्जितपुणः)**। इस प्रकार उक्त चालुक्य शासक ने काञ्ची नगरी को नष्ट न करके, उसकी समृद्धि एवं गरिमा को सुरक्षित एवं संवर्द्धित करने का संयमित आदर्श प्रस्तुत किया। उसको यह नगर बहुत पसन्द आया। फलतः वहाँ कुछ समय तक रहकर उसने विविध प्रकार के याज्ञिक अनुष्ठान एवं दानादि आयोजनों को सम्पन्न किया। इन दानादिक अनुष्ठानों की उपलब्धि में अनेक दान-पत्र निर्गत किये गये।

चालुक्यों से पराजित होने के उपरान्त नन्दिवर्मन् द्वितीय ने अपने खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से शक्तिशाली राष्ट्रकूटों की शरण ले ली। **टी० वी० महालिंगम** की धारणा है कि उसने राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग के यहाँ जाकर चालुक्यों के विरुद्ध सैनिक सहायता की याचना की थी। क्योंकि वह भी चालुक्यों का एक प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी था। सम्भवतः नन्दिवर्मन् द्वितीय ने भी दन्तिदूर्ग द्वारा शवर शासक उदयन, निषाद नरेश पृथ्वीव्याघ्र एवं सैन्धव आदि के विरुद्ध संचालित सामरिक अभियानों में भी भाग लिया था। उक्त युद्धों में विजय प्राप्त करने के उपरान्त 745-46 ई० में राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने काञ्ची की सुरक्षा में तैनात चालुक्य सेनाको पराजित कर, नन्दिवर्मन् द्वितीय को पुनः पल्लव राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। **टी० वी० महालिगम्** का अनुमान है कि नन्दिवर्मन् द्वारा राष्ट्रकूट राज्य में विताये इस प्रवासकाल में, विजयी चालुक्य नरेश ने चित्रमाय अथवा परमेश्वरवर्मन् द्वितीय के परियार के किसी राजकुमार को काञ्ची का कार्यवाहक शासक नियुक्त किया था। परन्तु उनका यह मत साक्ष्याभाव में यथेष्ट नहीं लगता है। वस्तुतः टी० वी० महालिंगम् ने अपनी धारणा के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण भी प्रस्तुत नहीं किया है। इसके विपरीत, अभी तक ऐसा कोई साक्ष्य भी उपलब्ध नहीं हो पाया है कि पराजित नन्दिवर्मन् द्वितीय ने तत्कालीन राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग से सहायता की याचना की थी, अथवा काञ्ची के राजसिंहासन पर, उक्त

अन्तराल में, उसका विरोधी कोई पल्लव राजकुमार आसीन हुआ था। इस सन्दर्भ में इतना अवश्य प्रतिभासित होता है कि काञ्ची पर विजय प्राप्त करके चालुक्य शासक विक्रमादित्य द्वितीय ने अपने प्रपितामह विक्रमादित्य प्रथम की पराजय का वदला चुका लिया। परन्तु तत्कालीन राजनीतिक समीकरणों को देखते हुए न तो वह वहाँ अधिक समय तक रुका और न ही उसने पल्लव साम्राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित करने का प्रयास ही किया। इसके विपरीत वह राजधानी वातापि लौट आया था। उसने ऐसा करना इसलिए भी उचित समझा होगा क्योंकि दक्षिणी पाण्ड्यों, चोलों कलभ्रों तथा केरलों की ओर से उसके राज्य पर क्रमशः सामरिक दवाव पड़ने लगा था। इसके अतिरिक्त उसके पड़ोसी राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग ने भी अपनी शक्ति एवं प्रभुत्व को विस्तृत करने में तल्लीन था। विक्रमादित्य ने काञ्ची पर अपना अधिकार स्थापित करने के उपरान्त वहाँ दान-इत्यादि सहिष्णुतापरक कूटनीतिक चाल को सम्भवतः इसलिए अपनाया, ताकि पल्लव राज्य की जनता में चालुक्यों के प्रति परम्परागत शत्रुता के भाव में किञ्चित् न्यूनता आ जाय। फलतः काञ्ची से लौटने के बाद नन्दिवर्मन् द्वितीय ने पुनः अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त कर लिया।

पल्लव-राष्ट्रकूट संघर्ष—राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग ने अपनी साम्राज्य-विस्तार वादी नीति को कार्यान्वित करके अपने प्रतिद्वन्द्वी शवर शासक उदयन तथा निषाद-नरेश पृथ्वीव्याघ्र आदि को आक्रान्त कर दिया। कतिपय राष्ट्रकूट अभिलेखों में उसे पल्लवों का विजेता कहा गया है। कडव-लेख के अनुसार उसने पल्लवशासक नन्दिवर्मन् द्वितीय को पराजित किया। उसकी इस उपलब्धि की पुष्टि बेगुम्रा एवं ऐलोरा अभिलेखों तथा सुप्रसिद्ध सन्त आलवर की उक्तियों से भी होती है। परन्तु पल्लव-अभिलेखों में दोनों राज्यों के मध्य मैत्री एवं वैवाहिक सम्वन्धों पर प्रकाश डाला गया है। वेलूरपाल्यम्-लेख के अनुसार द्वितीय की अग्रमहिषी रेवा सम्भवतः राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग की कन्या अथवा वहन ही **(धाम्नः धीरस्य भूभृद्वरलब्धजन्मा रेवेव रेवामहिषी वभूव)**। ऐसे मधुर सम्वन्ध होने के बाद दोनों राज्यों में संघर्ष होना किंचित् असंगत लगता है। इस सन्दर्भ में **टी० वी० महालिंगम्** की धारणा है कि दन्तिदुर्ग ने सम्भवः नन्दिवर्मन् द्वितीय के प्रतिद्वन्द्वी तथा चालुक्य समर्थित पल्लवों को आक्रान्त कर उसे काञ्ची के राजसिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित किया। संभवतः उसकी इसी सामरिक उपलब्धि का उल्लेख राष्ट्रकूट-अभिलेखों में आख्यात है। इसके विपरीत **अनन्त सदाशिव अल्तेकर** का विचार है कि दन्तिदुर्ग एवं पलायित पल्लव नरेश नन्दिवर्मन द्वितीय के मध्य किसी न किसी प्रकार का समझौता अवश्य हुआ था, जिसके फलस्वरुप उपर्युक्त वैवाहिक सम्वन्ध सम्पन्न हुआ तथा वाद में काञ्ची का अधिग्रहण किया गया। सम्भवतः इसी समझौते के अनुसार काञ्ची पर दन्तिदुर्ग एवं नन्विर्मन् की सर्मिलित सेनाओं ने चालुक्यों के समर्थक प्रतिद्वन्द्वी पल्लवों से प्रतिशोध लेकर उनसे राजगद्दी अपहृत की थी। उपर्युक्त घटना का संकेत हमें दशावतार गुहा-लेख में मिलता है।

अन्य प्रतिद्वन्द्वीयों से संघर्ष—कतिपय पल्लव अभिलेखों में नन्दिवर्मन् द्वितीय द्वारा चोलों, गंगों केरलों, वाणों, आन्ध्रों, सिन्धों, पाण्ड्यों कलभ्रो आदि प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध किए गए सामरिक अभियानों का उल्लेख मिलता है। पुल्लूरदानपत्र-लेख में आख्यात है कि उपर्युक्त शासकगण उक्त पल्लव नरेश की आज्ञा का अनुसरण करते थे।

इसी प्रकार पट्टतालमंगलन्-अभिलेख में कहा गया है कि उपर्युक्त शासकगण उसका दर्शन करने के लिए राजमहल के द्वार पर प्रतीक्षा करते रहते थे। परन्तु इन लेखों में उल्लिखित उक्त बातें कहाँ तक विश्वसनीय हैं, कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि इन बातों की पुष्टि अभी तक अन्य साक्ष्यों से नहीं हो सकी है।

मूल्यांकन —नन्दिवर्मन् द्वितीय ने लम्बी अवधि तक शासन किया। उसके शासनकाल के 65 वें वर्ष का एक अभिलेख महाबलिपुरम् से उपलब्ध हुआ है। उक्त साक्ष्य के आलोक में उसका संपूर्ण शासनकाल 65 वें वर्ष के आस-पास माना जा सकता है। उसका राजनीतिक जीवन उथल-पुथल तथा विरोधियों के प्रतिशोध एवं प्रतिकार में बीता। विजेता के रुप में उसने मात्र गङ्गकों को ही आक्रान्त किया। शेष संघर्षों में उसने अधिकांशतः सुरक्षात्मक लड़ाइयाँ ही लड़ी। उसकी सामरिक शक्ति को सुदृढ़ बनाये रखने का सम्पूर्ण श्रेय महान् सेनानायक **उदयचन्द्र** को दिया जा सकता है। फिर भी, इतनी लम्बी अवधि तक पल्लव साम्राज्य को सुरक्षित रखने का श्रेय नन्दिवर्मन् द्वितीय को प्राप्त है।

नन्दिवर्मन् द्वितीय का शासनकाल पल्लव कला, साहित्य एवं संस्कृति के संवर्द्धन में विशेष रचनात्मक माना जा सकता है। उसने अपनी देख-रेख में काञ्ची के सुप्रसिद्ध **मुक्तेश्वर** तथा **बैकुण्ठ पेरुमल** मन्दिरों का निर्माण कराया। राजधानी के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण केन्द्रों में भी अनेक भव्य मन्दिरों का विन्यास किया गया। उसने कला के समुन्नयन के साथ-साथ साहित्य को भी संरक्षण प्रदान किया। वह वैष्णव धर्मानुयायी था। फलतः उसके शासनकाल में **तिरुमङ्गै आलवर** सन्त द्वारा सम्पूर्ण पल्लव साम्राज्य में वैष्णव धर्म का व्यापक प्रचार एवं प्रसार सम्पन्न हुआ। उदयेन्दिरम-दानपत्रम में आख्यात है कि उसने अश्वमेध-यज्ञ का भी अनुष्ठान किया था, परन्तु अन्य साक्ष्यों से इसकी पुष्टि नहीं हो सकी है। उसने अपनी उपलब्धियों के अनुकूल पल्लवमल्ल, क्षत्रियमल्ल, परमेश्वर, राजाधिराज आदि उपाधियों को धारण किया, जिसकी पुष्टि कुशाक्कुडि अभिलेख से होती है। उसकी शासन-अवधि की समाप्ति 796 ई० के लगभग मानी जा सकती है।

दन्तिवर्मन् (लगभग 796 ई० से 846 ई० तक) —राजमहिषी रेवा से उत्पन्न दन्तिवर्मन् ने पिता नन्दिवर्मन् की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार प्राप्त किया। वेलूरपाल्यम्-अभिलेख में दन्तिवर्मन् के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह क्षमाशील, तीनों लोकों का संरक्षक तथा विष्णु के समान शौर्य, त्याग एवं कृतज्ञता आदि सद्गुणों से युक्त था (**त्रिलोक-परिर (क्ष), तथा क्षमानन्दनः साक्षादंबुरहेक्षणरस्वयमिह श्रीदन्तिवर्म्मा नृपः शौर्य्यात्यागृतज्ञः**)। उसकी अग्रमहिषी प्रख्यात कदम्ववंशजा अग्गल निम्मटिथी (**आख्यामग्गलनिम्नटीति (ब) धती शुद्धान्वयायोचिता**)। उसका राज्यारोहण संभवतः 695-96 ई० में हुआ। उसके शासनकाल में तत्कालीन अनेक प्रतिद्वन्द्वी राज्यों ने पल्लव साम्राज्य को आक्रान्त करने का प्रयास किया। परन्तु अपने पराक्रम से उसने यथासम्भव अपने राज्य को सुरक्षित रखने का प्रयास किया।

पल्लव-राष्ट्रकूट संघर्ष —शक्तिशाली राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय ने अपने दक्षिण भारतीय अभियानों के क्रम में 804 ई० के लगभग पल्लव राज्य पर आक्रमण करके काञ्ची को आक्रान्त कर दिया। उसका यह अभियान प्रतिशोधात्मक था, क्योंकि

दन्तिवर्मन ने गोविन्द तृतीय के विद्रोही अग्रज स्तम्भ को उसके उत्तराधिकार के युद्ध में सहायता प्रदान की थी। दन्तिवर्मन इस युद्ध में पराजित होने के कारण उक्त राष्ट्रकूट नरेश को वांक्षित वार्षिक कर देने के लिए वाध्य हो गया। इस घटना की पुष्टि गोविन्द तृतीय के 810 ई० के मन्ने-लेख से होती है, जिसमें दन्तिवर्मन को **महासामन्ताधिपति एवं समधिगत पंचममहाशब्द** आदिसम्वोधनों से अभिहित किया गया है।

पल्लव पाण्ड्य संघर्ष —दन्तिवर्मन् के शासनकाल में राष्ट्रकूटों के अतिरिक्त धुर दक्षिणी प्रदेश के पाण्ड्यों की विस्तारवादी महत्वाकांक्षा वहुत वढ़ चुकी थी। पल्लव साम्राज्य के कावेरी-घाटी क्षेत्र से दन्तिवर्मन के अभिलेख उसके शासनकाल के 16 वें वर्ष से लेकर 51 वें वर्ष की मध्यावधि के नहीं मिलते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त काल के वहुसंख्य पाण्ड्य अभिलेख इस घाटी से प्राप्त हुए हैं इस आधार पर अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि संभवतः कावेरी-घाटी पर इन वर्षों में पाण्ड्यों का अधिकार स्थापित हो चुका था। कतिपय पाण्ड्य-अभिलेखों में पाण्ड्य शासक जटिलवर्मन् को पल्लवों एवं केरलों का विजेता कहा गया है। कावेरी-घाटी पर पाण्ड्यों के आक्रमण का आरम्भ वर्गुण प्रथम एवं श्रीमाड़ के शासनकाल में ही हो चुका था। पल्लव शासक दन्तिवर्मन् ने अपने शासनकाल के अन्तिम चरण में युवराज नन्दिवर्मन् तृतीय के नेतृत्व में पाण्ड्यों के प्रतिद्वन्द्वी गंगों, चोलों तथा राष्ट्रकूटों के साथ संयुक्त-मोर्चा वनाकर पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण कर दिया। तेल्लारु (उत्तरी अर्काट जनपद) के मैदान में पाण्ड्यों की पराजय हुई तथा पल्लवों ने कावेरी-घाटी पर पुनः अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस विजय के उपलक्ष में नन्दिवर्मन् तृतीय ने 'तेल्लारेरिंद' की उपाधि धारण की।

मूल्यांकन —दन्तिवर्मन् योग्य एवं सतगुणी शासक था। अपने दीर्घकालीन शासन में उसने साहित्य एवं कला के संवर्द्धन में विशेष योगदान किया। पल्लव-प्रशस्तियों में उसके गुणों की वड़ी प्रशंसा मिलती है। उक्त अभिलेखों में उसको 'पल्लवकुलभूषण' कहा गया है। उसने मद्रास के निकट त्रिप्लीकेन में प्रसिद्ध **'पार्थसारथि-मन्दिर '** का जीर्णोद्धार कराया। इस मन्दिर के एक स्तम्भ पर उसकी प्रशस्ति भी उत्कीर्ण है।

नन्दिवर्मन तृतीय (लगभग 846 ई० से 869 ई० तक) —दन्तिवर्मन् की राजमहिषी अग्गल-निम्मटि से उत्पन्न नन्दिवर्मन् तृतीय उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह अदम्य महत्वाकांक्षी तथा महान् पराक्रमी शासक सिद्ध हुआ। उसने अपने वाहुवल एवं कूटनीति से तिमिराच्छादित पल्लव राज्य को एकवार पुनः चमका दिया। वेलूरपाल्यम्-दानपत्र में आख्यात है कि नन्दिवर्मन् तृतीय ने समरभूमि में अपनी भुजाओं के विक्रम के दर्प में कड़कड़ाता तलवारों से अरिकुलों के मदान्ध गजों एवं शत्रु-दलों को मारक अप्राप्य राज्यलक्ष्मी को स्ववशीभूत कर लिया (**खंगनिहितद्विपकुम्भमुक्तफलप्रपासिते समरांगणे यः शत्रून्निहत्य समवापदनन्यलब्ध्यां राजश्रियं स्वभुजविक्रमदर्प्पशाली**)
।

नन्दिवर्मन् तृतीय ने कूटनीतिक दक्षता का परिचय देते हुए शक्तिशाली राष्ट्रकूटों के साथ मैत्रीपूर्ण राजनयिक सम्वन्ध स्थापित किया। उत्तर दिशा से राष्ट्रकूटों के सम्भावित अभियान से निर्द्वन्द्व होने के फलस्वरुप उसने दक्षिणी भारत के शक्तिशाली एव

अपने परम्परागत प्रतिद्वन्द्वी पाण्ड्यों से निर्णायक युद्ध करने की योजना बनाई।

पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष —दन्तिवर्मन् के शासन-काल में शक्तिशाली पाण्ड्यशासक वर्गुण प्रथम तथा श्रीमाड़ श्रीवल्लभ ने क्रमशः कावेरी नदी के दक्षिण स्थित पल्लव राज्य पर आधिपत्य स्थापित कर लिया था। यह इस बात की पुष्टि कतिपय पाण्ड्य-अभिलेखों से होती है। नन्दिवर्मन् तृतीय ने अपने समर्थक एवं मित्र शासकों के साथ पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण करके उसे भयाक्रान्त कर दिया। यह युद्ध तेल्लारु (उत्तरी अर्काट जनपद) के मैदान में लड़ा गया। तमिलकाव्या **'नन्दिक्कलम्बकम्'** एवं पल्लव-लेखों में उपर्युक्त संग्राम में पल्लवों द्वारा की गई विजय का यशोगान किया गया है। तिल्लस्थानम् के **ग्रिथस्थानेश्वर-मन्दिर,** शेण्डलै के **सुन्दरेश्वर मन्दिर,** कान्जीपुरम् के **उग्रगलण्ड पेरुमल मन्दिर,** तिरूपलात्तुरै के **आदिमूलेश्वर** आदि मन्दिरों में उत्कीर्ण अभिलेखों में नन्दिवर्मन् तृतीय को उक्त युद्ध का विजेता घोषित किया गया है। अधिकांश विद्वान् तेल्लारु के इस युद्ध में पाण्ड्यों की पराजय को सत्य मानते हैं। परन्तु **टी० वी० महालिंगम्** का विचार है कि इस युद्ध में चोलों को तथा **के० बी० सुब्रह्मण्यम्** के मतानुसार राष्ट्रकूटों को पराजित किया गया, न कि पाण्ड्यों को। जो भी हो, इस सफलता पर नन्दिवर्मन् तृतीय ने 'तेल्लारुरण्डि' (तेल्लारु का विजेता) की उपाधि धारण की, जिसकी पुष्टि तिल्स्थानम् के ग्रिथस्थानेश्वर मन्दिर-अभिलेख से की जा सकती है।

नन्दिवर्मन् तृतीय ने पाण्ड्यों को तेल्लारु के अतिरिक्त वेल्लारु, पड्यारु, नेल्लारु और कुरुगोंडु के युद्धों में भी पराजित किया तथा उन्हें दक्षिण में वैगई नदी तक खदेड़ दिया। इन विजयों के फलस्वरुप उसका साम्राज्य कावेरी नदी की दक्षिण घाटी, कोंगू (कुरुगोंडु) तथा चोल राज्य की सीमाओं तक विस्तृत हो गया। इस प्रकार वह दक्षिण भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राट् बन गया।

मूल्यांकन —नन्दिवर्मन् तृतीय महान् पल्लवशासकों की परम्परा में अन्तिम पराक्रमी तथा सुयोग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने अपनी सामरिक सफलताओं के फलस्वरुप दक्षिण भारत के गंग, चोल तथा पाण्ड्य राज्यों को आक्रान्त करके पल्लव साम्राज्य का विस्तार ही नहीं किया, अपितु दक्षिण में उसने अपने शौर्य की धाक जमा ली। उसके शासनकाल में **ममलपुर** (वर्तमान मद्रास) तथा **मल्ले** (महावलिपुरम्) नगरों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। उसके पास विशाल एवं शक्तिशाली नौसेना थी, जिसके बल पर बृहत्तर भारत के साथ राजनयिक एवं व्यापारिक संपर्क विकसित किया। थाईलैंड देश से प्राप्त एक अभिलेख में उसके नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

नन्दिवर्मन शैव था। उसके शासनकाल में पल्लिकोंड में एक शिव मन्दिर का मुखमडंप निर्मित किया गया। शैव होते हुए भी वह अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु था। दक्षिणी-अर्काट जनपद में किलियणूर का प्रसिद्ध विष्णुमन्दिर उसी के शासनकाल में निर्मित किया गया। कला के साथ-साथ उसने तमिल एवं संस्कृत साहित्य के संवर्द्धन पर भी विशेष बल दिया। महान् तमिल कवि **'पेरून्देवनार'** को उसका राज्याश्रय प्राप्त था। उसके व्यक्तित्व को प्रकाशित करने के लिए तमिलकाव्य **'नन्दिक्कलम्बकम्'** की रचना की गई। उसने लगभग 869 ई० तक सफलतापूर्वक शासन किया।

नृपतुंगवर्णन (**लगभग** 869 ई० से 879 ई० तक —अग्रमहिषी से उत्पन्न पुत्र नृपतुंग वर्मन नन्दिवर्मन तृतीय की मृत्यु के उपरान्त राजसिंहासन पर बैठा। बाहूर-ताम्रपत्र में उसकी '**भुवनत्रयेशा**' तथा पाण्ड्य-विजेता बताया गया है (**भुवनत्रयेश-नृपतुंदेवः यत्प्रसादार्ज्जितासेनापाण्डयेन समरे पुरा**)। उसने अरिचित नदी को पार करके संभवतः पांड्य शासक श्रीमाड़परचक्रकोलाहल को पराजित किया। **जे० डुब्रील** का विचार है कि यह युद्ध कुम्भकोनम् में लड़ा गया। **टी० वी० महालिंगम्** की धारणा है कि उपर्युक्त संग्राम पाण्ड्यों के विरुद्ध न होकर सम्भवतः चोलनरेशविजयालय अथवा आदित्य प्रथम के साथ हुआ था। इस सन्दर्भ में पाण्ड्य-अभिलेखों में उल्लिखित साक्ष्यों का अवलोकन भी अपेक्षित है। इनमें परचककोलाहल द्वारा पराजित राजाओं में पल्लवों को भी परिगणित किया गया है। इससे यह प्रतिभासित होता है कि नृपतुंग के साथ हुए अनेक युद्धों में परचक्रकोलाहल को भी किसी न किसी युद्ध में सफलता प्राप्त हुई होगी।

नृपतुंगवर्मन् के शासनकाल में तोण्डमंडलम् के दक्षिणी भू-भाग पर चोलों का दवाव बढ़ने लगा। तिरुचि और तंजोर (थंजाउर) के मध्यवर्ती भू-भाग से नृपतुंग के शासनकाल का कोई अभिलेख उपलब्ध नहीं है। 9 वीं शती के उत्तरार्द्ध में तोंशमंडलम् के दक्षिणी भाग पर शक्तिशाली चोलों का शिकन्जा धीरे-धीरे कसता जा रहा था। उपर्युक्त राजनीतिक स्थिति को देखते हुए यह सम्भावित लगता है कि नृपतुंग के शासनकाल में पल्लव साम्राज्य की सीमाएँ सिमटकर दक्षिण में तोंडमंडलम् प्रदेश तक ही सीमित रह गई थीं।

नृपतुंगवर्मन् शासनकाल की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना उसके सौतेले भाई अपराजित का विद्रोह माना जा सकता है। दोनों भाइयों के मध्य चल रहे उक्त गृह-युद्ध में चोलों तथा गंगों ने अपराजित का तथा पांड्यों ने नृपतुंगवर्मन् का साथ दिया। दोनों पक्षों की सेनाओं के वीच **श्रीपुरम्बियम्** के मैदान में घमासान युद्ध हुआ। वीर अपराजित ने चोलशासकों आदित्य प्रथम की सहायता से अपने प्रतिद्वन्द्वी नृपतुंग के मोर्चे को पराजित करके राजसिंहासन प्राप्त कर लिया। इस युद्ध में गंगशासक पृथ्वीपति मारा गया। उपर्युक्त युद्ध की तिथि कुछ विद्वान् 880 ई० तथा कुछ 895 ई० मानते हैं। इस गृह-युद्ध के फलस्वरुप नृपतुंगवर्मन की पराजय के साथ ही गंगों एवं पाण्ड्यों की शक्ति को गहरा आघात पहुँचा चोलों की सामरिक शक्ति में उत्साह भर गया।

अपराजित (**लगभग** 879 ई० से 897 ई० तक —संभवतः 879 ई० में अपने सौतेले भाई नृपतुंगवर्मन् को अपदस्थ करके अपराजित राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसने लगभग 18 वर्षों तक शासन किया। उसके शासनकाल में सम्भवतः चोल शासक आदित्य प्रथम ने पल्लवों के आंतरिक कलह का लाभ उठाकर 'तोंडमंडलम्' पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था, क्योंकि उसके कई अभिलेख यहाँ से प्राप्त हुए हैं। तिरुवालंगाडु-ताम्रपत्र के अनुसार आदित्य प्रथम ने अपराजित को पराजित करके उपर्युक्त क्षेत्र को अपहृत कर लिया। इसी प्रकार वीर राजेन्द्र के कन्याकुमारी-लेख में आख्यात है कि उसने अपराजित की हत्या करके उक्त क्षेत्र को अधिकृत कर लिया था।

अपराजित की मृत्यु संम्भवतः 893 ई० अथवा 903 ई० हुई। उसने विरुत्तनि में **वीरट्टानेश्वर मन्दिर** का निर्माण करवाया। अपराजित को पल्लववंश का अंतिम महान् शासक माना जाता है।

पल्लव साम्राज्य का पतन —चोलों की उदीयमान शक्ति के फलस्वरुप नृपतुंग के स्थान पर अपराजित को पल्लव राजसिंहासन प्राप्त हुआ था। पल्लवों के पतन की कहानी यहीं से आरम्भ हो गई और चोलों ने अपराजित की शक्ति को निरन्तर क्षीण करके अंततः उसकी हत्या कर दी। आदित्य प्रथम के नेतृत्व में चोलों ने तोंडमंडलम् पर अधिकार कर लिया। अपराजित की मृत्यु के अनन्तर सम्भवतः नन्दिवर्मन चतुर्थ तथा कम्पवर्मन् सम्भवतः 948-980 ई० आदि ने पल्लवसत्ता को स्थायित्व देने का प्रयत्न अवश्य किया परन्तु चोलों की शक्ति के समक्ष वे लगातार पंगु बने रहे। पल्लवशासक कम्पवर्मन् के अनेक अभिलेख मिले हैं। इनके प्राप्ति-स्थानों से पता चलता है कि उसने पल्लव-साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने का प्रयास अवश्य किया। परन्तु कम्पवर्मन् की मृत्यु (लगभग 980 ई०) के बाद पल्लव राज्य शक्तिशाली चोल साम्राज्य का अभिन्न अंग बन गया।

---

10 पल्लव कालीन संस्कृति

सामाजिक संरचना

पल्लव युगीन समाज में वैदिक ब्राह्मण-धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था के प्रति विशेष आग्रह स्थापित था। अतः विभिन्न वर्गों में विभक्त तत्युगीन समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था सुदृढ़ हो रही थी। सामाजिक संरचना में ब्राह्मण-पुरोहितों एवं क्षत्रिय-राजकुलों का सर्वोपरि महत्व था। वर्ण एवं जाति दोनों रूपों में ब्राह्मणों की स्थिति अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। इस काल के साहित्यक ग्रन्थों तथा अभिलेखों से परम्परागत वर्ण-व्यवस्था की सम्पुष्टि होती है। पल्लवयुगीन भारतीय धर्मग्रन्थों, अभिलेखों तथा विदेशी यात्रियों के विवरणों से तत्युगीन समाज में ब्राह्मणों की सर्वाधिक श्रेष्ठता प्रमाणित होती है।

चीन यात्री **ह्वेनसांग,** जिसने पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् के शासनकाल में इस राज्य की तथा राजधानी काञ्ची की यात्रा की थी, ने लिखा है कि अनेक वर्गों, वर्णों एवं जातियों में ब्राह्मणों को सबसे अधिक पवित्र माना जाता था। इसी कालावधि में भारत की यात्रा पर आए अरब-यात्री **अलमसूदी** के अनुसार समाज के सभी वर्गों में सबसे अधिक सम्मान ब्राह्मणों को प्राप्त था। लेकिन उपर्युक्त सम्मान के पात्र केवल वे ही ब्राह्मण थे, जो अपने वर्ण-धर्म की परम्परा का निर्वाह वैदिक-पद्धति के अनुसार संपन्न करते थे। पूर्व कालों की भाँति इस काल के समाज में भी ब्राह्मणों का कार्य मुख्यतः अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान-ग्रहण करना था। उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे शास्त्रोचित आचार-विचार का अनुपालन करें तथा वैदिक एवं अन्य विहित शास्त्रों के ज्ञाता बनें। अध्ययन-अध्यापन में कर्मरत, ऐसे ब्राह्मणों को आचार्य, श्रोत्रिय अथवा उपाध्याय जैसे सम्बोधनों से अभिहित किया जाता था। वेद-विद्या में पारंगत ऐसे विशुद्ध ब्राह्मणों को लोग बड़ी श्रद्धा के साथ दान दिया करते थे। ब्राह्मणों का एक बड़ा वर्ग पुरोहितों का होता था। श्रोत्रिय ब्राह्मणों की तुलना में उनकी सामाजिक महत्ता किञ्चित् न्यूनतर थी। पुरोहित-कर्मी ब्राह्मण अपने यजमान शासक-कुलों को क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिलाने के लिए अनेक उपायों का सहारा लेते थे। **राम शरण शर्मा** के अनुसार उपर्युक्त कोटि के पुरोहितों ने अपने आश्रयदाता अथवा यजमान शासकों को सम्मानजनक वंश-वृक्ष से जोड़ते हुए अन्ततः उन्हें सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी राजवंशों की संतान घोषित करते थे।[1] फलतः तत्युगीन ऐसे अनेक छोटे-बड़े शासकगण, जिन्होंने

---

1. राम शरण शर्मा, एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ. 162

मूलतः दक्षिण भारतीय आदम जनजातियों से उभर कर अपनी सामाजिक एवं राजनीतिक महत्ता बढ़ा ली थी, परम्परया सम्मानित क्षत्रिय वर्ण में समाहित होते जा रहे थे। कभी-कभी वर्णों का निर्धारण गुण एवं कर्म के आधार पर भी होता था। (चातुर्वर्णमया सृष्टं गुणकर्मविभागशः) । परन्तु इस युग के महान् विचारक **कुमारिल भट्ट (लगभग 700 ई०)** ने कर्म एवं गुण के आधार पर वर्ण के परम्परागत सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की । उनके तर्कानुसार इस सिद्धान्त के आधार पर वर्ण का निर्धारण करने पर कोई भी व्यक्ति जब अच्छा कर्म करे तो उसे ब्राह्मण तथा जब बुरा कर्म करे तो शूद्र वर्ण में रखा जायेगा । इस प्रकार किसी भी व्यक्ति की कोई निश्चित जाति अथवा वर्ण की कल्पना ही नहीं की जा सकती है । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की 7 वीं शती तक अर्थात् कुमारिल भट्ट के समयं तक वर्ण एवं जाति में कोई अन्तर नहीं रह गया था । पल्लव युगीन सामाजिक संरचना में जन्म के आधार पर वर्ग, वर्ण अथवा जाति का निर्धारण होने लगा था ।

पल्लवयुगीन तमिल समाज पर उत्तरी भारत की आर्य संस्कृति के व्यापक प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है । अतः ब्राह्मणों को उस काल में भी पारम्परिक पद एवं मर्यादा की वरेण्य स्थिति प्राप्त थी । उनको समय-समय पर दिये गये भूमिअनुदानों से इसकी संपुष्टि होती है । पल्लव-राज्य में शिक्षण-संस्थाओं के विकास में आर्यत्वीकरण एवं तदनुसार ब्राह्मणों को एतत्तकार्य में परम्परागत दायित्व के निर्वाह की स्थिति बहुशः प्रमाणित होती है । यहाँ हमें इस बात का ध्यान रखना अपेक्षित है कि पल्लव-शासन के प्रारम्भिक चरण में शैक्षणिक संस्थाओं के संचालन का दायित्व जैन एवं बौद्ध धर्माचार्यों के ऊपर आश्रित था । किन्तु महेन्द्रवर्मन् प्रथम एवं उनके वंशज महान् पल्लव शासकों की ब्राह्मण धर्म में बढ़ती हुई अनुरक्ति के परिणामस्वरुप शनैः-शनैः विद्या-दान एवं धार्मिक अनुशासन का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों को प्राप्त हो गया । आर्य संस्कृति के महान् पोषक ब्राह्मणों ने पल्लव समाज में प्रचलित तमिल एवं प्राकृत भाषाओं के साथ-साथ संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार में गहरी रुचि ली । इस प्रकार पल्लव युगीन समाज में ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति में गुणात्मक सुधार परिलक्षित होता है । अग्रहार-दानों की प्राप्ति के फलस्वरुप ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति में भी सुधार हुआ । यहाँ इस संभावना से इन्कार कहीं किया जा सकता है कि ब्राह्मणों का एक बड़ा वर्ग अध्ययन-अध्यापन अथवा यजन-याजन में लगा हुआ था । ब्राह्मणों का एक वर्ग राजाओं के आमात्य-परिषद् अथवा सेना में उच्च अधिकारी भी बन गया था । निश्चयतः पल्लव-युग में ऐसे अनेक ब्राह्मण-कुल रहे होंगे, जो आर्थिक विवशता में अपने पारम्परिक वर्ण अथवा जाति-धर्म से हट कर कृषि, व्यवसाय अथवा शस्त्र-कर्म अपना लिए होंगे । इस युग के प्रसिद्ध स्मृतिकार **पराशर** ने ब्राह्मण के लिए कृषिकर्म को एक सामान्य व्यवसाय के रुप में निर्दिष्ट किया है । शर्त केवल यह थी कि वे स्वयं खेती न करें । इस कर्म को अपनाने के प्रायश्चित के रुप में उन्हें कृषि-उपज का 1/20 भाग देवताओं को, 1/30 भाग श्रोत्रिय ब्राह्मणों को तथा 1/6 भाग राजा को देना पड़ता था । इस काल की स्मृतियों में ब्राह्मणों को आपात्काल में कृषि-कर्म के अतिरिक्त व्यापार-कर्म से भी जीवन-यापन करने की छूट दी गई है ।

राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि कुछ ब्राह्मण शस्त्रोपजीवी थे। इस युग के स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के लिए पशुपालन एवं साहूकारों जैसे कर्मों का निषेध किया है। चीनी यात्री ईत्सिग ने लिखा है कि भारत के पांचों भागों (पंच भारत) में ब्राह्मणोंका देवताओं के समान समादर था[1] दसवीं शती में भारत की यात्रा पर आए अरब विद्वान् अलमसूदी के अनुसार यहाँ की सभी जातियों में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था[2]। इसी बात की पुष्टि अलबरुनी ने भी की है। मेधातिथि ने तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की सर्वाधिक सामाजिक प्रतिष्ठा की पुष्टि करते हुए लिखा है कि राजा को अपराधी ब्राह्मण पर जुर्माना भी नहीं लगाना चाहिए[3]। इस प्रकार आचार-विचार, ज्ञान एवं विद्वता के कारण ब्राह्मणों की पारस्परिक श्रेष्ठता एवं प्रतिष्ठा पल्लवयुगीन समाज में भी विद्यमान थी। इस युग के शासकवर्गीय लोग भी आर्यत्वीकरण के प्रभाव में उनके प्रति विशेष समादर रखते थे।

पल्लवयुग में वर्गीय परम्परा के आधार पर ही सामाजिक संरचना हुई। इस युग में वर्ण-परम्परा एवं जाति-परम्परा में विशेष अन्तर नहीं रह गया था। इस काल के शास्त्रकारों ने जन्म के सिद्धान्त पर व्यक्ति के वर्ग अथवा जातिनिर्धारण पर अधिक वल दिया। इस युग के ऐसे अनके मुखिया अथवा शासक, जो मूलतः तमिल प्रदेश की आदिम जनजातियों से उभर कर तत्कालीन समाज में अपनी महत्ता स्थापित कर लिए थे, ब्राह्मण पुरोहितों की सहायता से पारस्परिक क्षत्रिय वर्ग अथवा जाति में स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे।

उपर्युक्त शासकों के पूर्वजों का सम्वन्ध पल्लवयुगीन पुरोहितगणों ने उत्तर भारत में परम्परया प्रतिष्ठित सूर्य अथवा चन्द्र वंशी क्षत्रिय राजकुलों से जोड़ने का प्रयास किया। रामशरण शर्मा[1] का मत है कि क्षत्रिय जाति में सम्मिलित होने से आदिम जातियों के इन नवोदित शासकों को तत्कालीन पल्लव समाज में शासन करने का वैधानिक अधिकार मिल जाता था। क्षत्रियों का ब्राह्मणों के बाद समाज में सर्वाधिक समादर था। उनका मुख्य कार्य जन-रक्षण, देश-रक्षण, प्रशासन-यज्ञदानादि कर्म को सम्पन्न करना था। इन क्षत्रियोचित कर्मों की पुष्टि सोमदेवसूरि ने 'नीति-वाक्यामृत में की है। इस युग में कुछ क्षत्रिय, जो शस्त्रोपजीवी नहीं वन सके व्यापार करने लगे। पूर्व युगों की भाँति इस काल में भी शासक होने के लिए क्षत्रिय होना अनिवार्य नहीं था। संभवतः तत्कालीन शासकों को नाना जातीय देखकर ही मेधातिथि ने यह व्यवस्था दी थी कि किसी भी जाति व्यक्ति, जिसमें राजोचित गुण तथा शासन-कार्य की योग्यता हो, राजा वन सकता था[2] (**राजशब्दश्चार्य क्षत्रियजातावक्षत्रिपेडपि जनपदेश्वरे दुष्टप्रयोगा**)। इब्नखुर्ददवा ने तत्कालीन क्षत्रियों की दो श्रेणियों का उल्लेख किया है—सत्क्षत्रिय एवं क्षत्रिय। परम्परया प्रतिष्ठित राजवंशों को संभवतः उसने सत्क्षत्रिय तथा सामान्य क्षत्रिय-कुलों को क्षत्रिय माना है। सत्क्षत्रिय प्रशासक, शास्त्र एवं शस्त्रों के जानकार होने के कारण समाज में विशेष प्रतिष्ठित थे।

---

1. टकाकुसु, पृ 24
2. द्रष्टव्य, इलियट और डाउसन, जिल्द, 2 पृ० 19
3. मेधातिथि-टीका, मनुस्मृति, 8. 124

पल्लव युगीन समाज में वैश्यों की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी । **अलबेरुनी** ने लिखा है कि तत्कालीन समाज वैश्यों एवं शूद्रों की स्थिति में विशेष अन्तर नहीं रह गया था ।[3] शूद्रों की भाँति वैश्यों को भी वेद-श्रवण के अधिकार से वञ्चित रखा गया[4] । परन्तु **अलबेरुनी** के उक्त आशय के विपरीत इस युग के स्मृतिकारों तथा वास्तुशास्त्रियों ने वैश्यों की उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा की पुष्टि की है । उपर्युक्त ग्रन्थों में उन्हें शूद्रों से भिन्न तथा अत्युन्नत आख्यात किया गया है । **समराङ्गणसूत्रधार** तथा **मानसार** में वैश्यों की सामाजिक स्थिति को शूद्रों से बहुत समुन्नत बताई गई है । वैश्यों की जाति पर अधिवर्ण-सिद्धान्त का प्रभाव परिलक्षित होता है । इस वर्ग के लोग कृषि-कर्म में भी अधिक अनुरक्त होने लगे थे । विभिन्न वर्णों अथवा जातियों के लोग व्यापार अथवा वाणिज्य-वृत्ति अपनाने के कारण वैश्य समझे जाने लगे । इस प्रकार तत्कालीन समाज में व्यापार कर्म में संलग्न लोगों का एक पृथक् वर्ग बन गया, जो वैश्यों जैसे तो थे, लेकिन पारम्परिक वैश्य नहीं थे । पल्लव युगीन समाज में वैश्य-वर्ग प्रभूत सम्पन्न था । वे सम्भवतः जैन धर्म के प्रति अधिक अनुरक्त थे तथा जैन मठों, विद्यालयों आदि को दान देने में उनकी निष्ठा अधिक थी ।

पल्लव कालीन समाज में शूद्रों की सामाजिक स्थिति निम्न थी । वे वेदों के पठन-पाठन को कौन कहे, उन्हें सुनने के भी अधिकारी नहीं थे । श्रमिकों का एक बड़ा समूह सामान्यतया शूद्र समझा जाता था । इनमें खेतिहर मजदूरों के अतिरिक्त व्यावसायिक श्रमिकों को भी सम्मिलित माना जा सकता है । यदि खेतिहर श्रमिक अथवा कारीगर, सेवा कर्म अथवा कर आदि की अदायगी में आनाकानी अथवा अपनी असहमति प्रस्तुत करता था, तो उसके इन कार्यों को मान्य सामाजिक परम्पराओं से च्युत मानकर उसे शूद्र बना दिया जाता था । इस तरह की स्थितियों को कलिवर्ज्यों के अन्तर्गत समाहित किया गया है । 7 वीं शती के पूर्वार्द्ध में भारत की यात्रा पर आए चीनी यात्री **ह्वेनसांग** ने शूद्रों को खेतिहर किसानों के वर्ग में परिगणित किया है । इसी युग में संकलित **नृसिह पुराण में कृषि** को शूद्रों की जीविका आख्यात कियाहै । इसी प्रकार इस काल की स्मृतियों एवं निबन्धों में भी सामान्यतया सेवा एवं शिल्प-कार्य को शूद्रों का प्रमुख व्यवसाय बताया गया है । **अत्रि, देवल, उशना** तथा **पराशर** ने शूद्रों के लिए उर्पयुक्त व्यवसायों में पशुपालन, वाणिज्य तथा शिल्प को परिगणित किया है । इन कर्मों के अपनाने से उनकी आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ । **बृहस्पति स्मृति** में सुवर्णकार, चर्मकार, लौहकार, तंतुवाय आदि को उक्त शिल्पियों में रखा गया है । ब्रह्मवैवर्त्त एवं पद्म पुराण के अनुसार बढ़ई, कुम्भकार, संगतराश, लौहकार आदि कोटि के शिल्प-कर्म शूद्रों के प्रमुख व्यवसाय थे । इस प्रकार उपयुर्क्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सभी प्रकार के उद्योग एवं व्यवसाय शूद्रों की आजीविका के साधन थे । परन्तु आर्थिक स्थिति में अपेक्षाकृत सुधार होने के बावजूद शूद्रों की सामाजिक स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो सकता था ।

---

1. राम शरण शर्मा, ऐश्येण्ट इंडिया, पृ॰ 162
2. मेधातिथि टीका, मनुस्मृति, 4.48
3. सचाउ, जिल्द 1; पृ॰ 101
4. वही, जिल्द, पृ॰ 125

पल्लवयुगीन समाज पर सामंतवाद के व्यापक प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। फलतः कृषकों तथा समाज के अन्य छोटे वर्गों (शूद्रों) की गतिशीलता पर लगाये गये प्रतिबन्ध, जिनका संकेत कलिवर्ज्यों में मिलता है, विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन प्रतिबन्धों से अनुशासित स्थानीय अर्थव्यवस्था में कृषकों अथवा कामगारों (शूद्रों) का दमन तथा भू-सम्पदा-सम्पन्न विचौलियों का उदय हुआ। इस सामंती व्यवस्था के परिणामस्वरुप भूस्वामी कुलीन शासक वर्ग की पदसोपना (Hierarchy) प्रवृत्ति ने उत्तरोत्तर अपना समाजार्थिक शिकंजा मजबूत कर लिया। पल्लव युगीन वहुसंख्यक ताम्र-पत्र-अभिलेखों में आख्यात राजाओं द्वारा समय-समय पर तत्कालीन धार्मिक संस्थाओं एवं व्राह्मणों को दिये गये भूमि एवं ग्राम-दानों का वर्णन मिलता है। इन भूमि अथवा ग्राम-दानों में कभी-कभी कृषकों एवं शिल्पियों का भी हस्तान्तरण होता था। इस प्रकार के कृषक अथवा शिल्पी, जो प्रायः शूद्र हुआ करते थे, पीढ़ी दर पीढ़ी दान-ग्रहीताओं के अधीन रहकर सेवा-कार्य के लिये विवश रहते थे। नवीं शती के मनुस्मृति के टीकाकर **मेधातिथि** ने उच्चवर्णों पर शूद्रों की निर्भरता का उल्लेख किया है। अतः तत्कालीन समाज में शूद्रों के प्रवास आदि पर प्रतिवन्ध लगे थे (**प्रतिबन्धेन योजिताः**), ताकि वे अपने स्वामियों की इच्छानुसार ही अपनी सामाजिक एवं आर्थिक भूमिका प्रस्तुत कर सकें। उपर्युक्त परिस्थितियों के आलोक में पल्लव समाज में दास एवं वन्धुवा मजदूरों (विष्टि) की अवस्थिति अकल्पनीय नहीं लगती है।

अस्पृश्यता —पल्लवयुगीन समाज में व्राह्मण धर्म के व्यापक प्रचार, प्रसार एवं प्रभाव के फलस्वरुप शुचिता एवं श्रेष्ठता का भाव अपेक्षाकृत वढ़ गया। वर्णव्यवस्था एवं जाति-व्यवस्था के पोषक वहुसंख्यक उत्तर भारतीय सन्तों, आचार्यों एवं व्राह्मणों के प्रति तत्कालीन आभिजात्यवर्ग में बढ़ती हुई आस्था ने परम्परागत अस्पृश्यता की भावना को और भी सुदृढ़ कर दिया। इस युग में अभ्युदित जातियों की संख्या-वृद्धि के कारण भी अस्पृश्यता की भावना में वृद्धि हुई। चाण्डलों को तो अति प्राचीन काल से ही अस्पृश्य माना जाता था। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य जातियों को भी अस्पृश्य श्रेणी में रखा जाने लगा। इनमें चर्मकार, रजक, वरुण (चटाई, टोकरी आदि वनाने वाले) नट, धीवर, कैवर्त्त, भेद (आदिवासी) तथा भिल्ल आदि प्रमुख थे। इस युग की स्मृतियों में ऐसी ही कुछ अन्य जातियों को भी अनन्त्यज कहा गया है। **व्यासस्मृति** में पुष्कर, कोली बराट आदि को अन्त्यजों में परिगणित किया गया है। अन्त्यज जातियों की संख्या में आई क्रमिक वृद्धि की पुष्टि **वृहद्धर्म** एवं **स्कन्द पुराण** से भी होती है। तमिल साहित्य में वर्णित कतिपय भूमिहीन श्रमजीवी खेतिहर मजदूरों (कुदीस), जो प्रारम्भ में निम्नतम श्रेणी के शूद्र थे, सम्भवतः पल्लवयुगीन समाज में अछूत माने जाने लगे। उक्त साहित्य में इन जातियों के चार समुदायों यथा-पाणान, सुड़यिन, सुड़ीयन, परयन तथा कदम्बन को स्पष्टतः अस्पृश्य घोषित किया गया है।

स्त्रियों की दशा —पल्लव कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति श्रेष्ठ थी। वे पुरुषों की भांति सामाजिक समारोहों, उत्सवों अथवा कार्यों में भाग लेती थीं। नारियों में पर्दा-प्रथा नहीं थी तथा वे खुलकर नृत्यादि सार्वजनिक समारोहों में स्वतन्त्रता पूर्वक उपस्थित होती थीं। सामान्यता शासक-वर्ग के लोग एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे।

अतः तत्युगीन समाज में बहु-विवाह की प्रथा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। समाज में नारियों को स्वतन्त्रता मिलने के कारण प्रेम-विवाह की प्रथा कल्पनीय है। कन्यायें प्रायः अपनी इच्छानुसार पति का चुनाव कर सकती थीं। समाज में नारी के नैसर्गिक सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा थी। तमिल कवियों ने अपनी कविताओं में नारी-सौन्दर्य एवं प्रणयों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। महत्वपूर्ण नगरों अथवा बन्दरगाहों में सुरापान एवं वेश्यावृत्ति का प्रचलन था। वेश्याओं को जनसामान्य से अलग मुहल्ले अथवा गलियों में बसना पड़ता था।

आमोद-प्रमोद—पल्लव कालीन समाज में खेल-कूद, संगीत तथा नृत्य आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। प्रायः गावों में एक खुला मैदान होता था, जिसे **'आर्डुकलस'** अथवा नृत्य-मैदान कहा जाता था। विभिन्न अवसरों पर ग्रामवासी वहीं एकत्र होते तथा नृत्यादि द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। पल्लव समाज में कई प्रकार के नृत्य प्रचलित थे, जिनमें **आट्टम, कुत्तु** एवं **तिलकोल कुनिप्पु** आदि प्रमुख थे। नृत्य प्रायः अभिनय से पूर्ण होते थे तथा भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्य-अभिनयों से लोग अपना मनोरंजन करते थे। कुरुवैक्कूत्तु नामक विशिष्ट नृत्य पर्वतीय एवं पठारी भागों में रहने वाले पशुचारकों में विशेष लोकप्रिय था। इस नृत्याभिनय के द्वारा पशुपालक अपने आराध्य श्रीकृष्ण की पूजा किया करते थे। तमिल समाज में प्राचीन काल से ही शव-यात्रा के सम्मुख नृत्य, वादन तथा गायन प्रस्तुत करने की प्रथा प्रचलित थी। वाद्ययन्त्रों में वीणा, मुरली, मृदंगम्, कुंभम्, ढ़ोल आदि प्रमुख थे। कन्याओं को बचपन से ही संगीत की शिक्षा दी जाती थी। पल्लव युगीन लोग प्राकृतिक सुषमा के बड़े प्रेमी थे। अतः उन्हें फूलों से बड़ा लगाव था। प्रायः प्रत्येक गाँव एवं नगर में सुन्दर एवं सुगन्धयुक्त फूलों तथा मधुर फलों के उद्यान होते थे। ह्वानच्वाङ्ग ने कांची (कन्-चिह्न-पु-लो ३८ काञ्चपुर) नगर, जिसकी परिधि 5 मील (30 मी) थी, की उर्वरा-भूमि में फल एवं पुष्पादि के बाहुल्य का उल्लेख किया है। उसके अनुसार पल्लव नागरिक उत्साही, विश्वासपात्र, विद्याप्रेमी तथा जनसेवक थे। नगरों के उत्कण्ठ पर खुले मैदान में सैनिक शिविर स्थापित थे। तत्कालीन नगरों में कमलपूरित रम्य सरोवर प्राकृतिक सुषमा के प्रमुख केन्द्र थे। सम्भवतः लोग उनमें जल-क्रीड़ाओं द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। सरोवरों के चतुर्दिक वृक्ष-वाटिकाएं सुशोभित थीं। नागरिक अपने प्रागणों में गृहवाटिकाएं लगाते थे। इनमें कदली वृक्षों, पुष्पों तथा आम्रतरुओं का बाहुल्य था। स्त्रियाँ अपने शृंगार के लिए फूलों एवं सुकोमल पत्तियों का उपयोग करती थीं। फूलों एवं फूलमालाओं का उपयोग लोग विभिन्न सामाजिक उत्सवों एवं समारोहों में भी करते थे। युद्धाभियान के समय प्रत्येक सैनिक विशिष्ट कोटि की सुगन्धित पुष्प-माला पहन कर दुर्ग से बाहर प्रस्थान करता था। पुरुषों की भाँति लोग चन्दन-तिलक तथा सुगन्धित चन्दन-तेल का भी प्रचुर उपयोग करते थे।

आहार और वेशभूषा—पल्लव युगीन समाज सादगी पसन्द था। प्रायः लोगों का भोजन सादा एवं सात्त्विक था। भोज्य पदार्थो में दूध, दही, घी, माँस, चावल तथा ज्वार आदि प्रमुख थे। तत्कालीन समाज में सुरापान विशेष प्रचलित था। प्रायः सभी वर्ग के लोग ताड़ी एवं सुरापान में रुचि रखते थे। शासक वर्ग के लोग विदेशों से आयातित

सुरापान के शौकीन होते थे।

तमिल पल्लव-समाज की वेश-भूषा सादी थी। पुरुषों में धोती था पगड़ी पहनने की प्रथा विशेष प्रचलित थीं। स्त्रियां अपने शृंगार-प्रसाधन हेतु रत्नजटित अंगूठियां, हार, कन्दौरे, आयल, भुजवन्द तथा चूड़ियाँ धारण करती थीं। संपन्न एवं राजकुलों की स्त्रियां एक प्रकार की रत्नजटित टोपी पहनती थीं। इसके अतिरिक्त उनके वस्त्र-परिधान था आभूषण अपेक्षाकृत मंहगे, आकर्षक तथा सुन्दर होते थे। वस्त्रों में ऊनी एवं रेशमी वस्त्रों का उपयोग कम होता था, परन्तु सूती कपड़ों का उपयोग सभी वर्ग के लोगों में विशेष प्रचलित था।

शिक्षा एवं साहित्य पल्लव-युग में कला की भांति साहित्य की भी उन्नति हुई। इस राजवंश के नरेश विद्याप्रेमी तथा विद्वान थे। उन्होंने शिक्षा, लेखन तथा ज्ञान-विज्ञान आदि के संवर्द्धन में बड़ी रुचि ली। वे संस्कृत तथा तमिल दोनों भाषाओं के उत्साही संरक्षक थे। पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन् प्रथम स्वय महान् साहित्यकार था। उसने **'मत्तविलासप्रहसन'** नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उक्त काव्य में उसने एक कापालिक एवं उसकी पत्नी बौद्ध-भिक्षुणी तथा पाशुपत संप्रदाय के एक अनुयायी के माध्यम से तत्युगीन शैव एवं बौद्ध धर्मों में प्रचलित तंत्रवाद और पंचमकारों के गुण-दोषों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में पल्लवकालीन दक्षिण भारतीय जीवन की झांकी प्रस्तुत की गई है। **सी० आर० श्रीनिवासन्, टी० के रवीन्द्रन,** एवं **एच० सुब्रमण्यम्** आदि विद्वानों की धारणा है कि महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने **'भगवदज्जुकीयम'** नामक एक प्रहसन-ग्रन्थ भी लिखा था। संभवतः उसने संगीतशास्त्र पर भी एक मानक ग्रन्थ की रचना की थी।[1] उसकी इच्छा से ही कुडिमियामलय में संगीतशास्त्र से सम्वद्ध एक महत्वपूर्ण अभिलेख उत्कीर्ण कराया गया, जिसकी भाषा संस्कृत है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि संस्कृत के महाकवि **भारवि** उसके समकालीन थे तथा उसके ही राज्याश्रय में पले थे। भारवि ने सुप्रसिद्ध **'किरातार्जुनीयम्'** संस्कृत-महाकाव्य की रचना थी। पल्लव शासक नरसिंहवर्मन् प्रथम भी साहित्य तथा साहित्यकारों का संरक्षक था। उसके राज्याश्रय में रहकर महाकवि दण्डिन् ने **'काव्यादर्श'** एवं **'दशकुमारचरितम्'** नामक सुप्रसद्धि ग्रन्थों का प्रणयन किया। काव्यादर्श वैदर्भी शैली की एक विशिष्ट कृति है। चीनी-पर्यटक ह्वेनसाँग ने भी इसी नरेश के शासनकाल में कांची नगरी की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि नालन्दा विश्वविद्यालय का प्रमुख विद्वान् **धर्मपाल** मूलतः कांची का ही रहने वाला था। उसने तोंडमण्डलम्-क्षेत्र तथा कांची के शिक्षण-संस्थानों, बौद्ध-मठों, बिहारों आदि का विशद् उल्लेख किया है। उसके अनुसार काँची विश्वविद्यालय दक्षिण भारत में नालन्दा विश्वविद्यालय की भांति प्रख्यात था। **दिङ्नाग** तथा वात्स्यायन आदि आचार्य संभवतः इसी विश्वविद्यालय के बड़े आचार्य थे। पल्लव नरेश परमेश्वरवर्मन् ने भी साहित्यिक अभ्युन्नति में गहरी रुचि ली थी। उसकी उपाधि 'विद्याविनीत-पल्लवमहेश्वर' से इसकी पुष्टि होती है। उसके शासनकाल में उत्कीर्ण कूरम-ताम्रपत्र में संस्कृत साहित्य की गद्य-पद्य मिश्रित चम्पूकाव्य-परम्परा प्रशंसनीय है। इसी प्रकार नरसिंहवर्मन् द्वितीय ने संस्कृत भाषा एवं

---

1. नीलकण्ठ शास्त्री, दक्षिण भारत का इतिहास, पृ० 353.

साहित्य को संवर्द्धित किया। उसने 'आगमप्रिय' की उपाधि धारण की थी। वेलूरपाल्यम्-अभिलेख के अनुसार उसने कांची में घटिका विद्यालयों को पुनर्स्थापित किया (**नरसिंहवर्म्मापुनर्य्यंधाद्योघटिकांद्विजानां**)। कशाक्कुडि-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने चारों वेदों के ज्ञाताओं को पल्लव समाज में वेद-विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए भूमि-दान किया (**देवब्राह्मणसात्कृतात्मविभावोयः क्षत्रचूणामणि चतुर्वेद्यवीवीधन स्वसटिकाम्**)। **आर० गोपालन** का कथन है कि नरसिंहवर्मन् द्वितीय के शासन काल में संभवतः महाकवि **भास** ने अनेक उत्कृष्ट कोटि के नाटक-ग्रन्थों की रचना की थी। यह उल्लेखनीय है कि भास के देश एवं काल पर अभी भी विवाद है। शिक्षा एवं साहित्य के महान् उन्नायकों में पल्लवशासक नृपतुंग का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। बाहूर-अभिलेख के अनुसार उसने एक वैदिक विद्यालय को **ब्रह्मदेय** एवं **विद्याभोग** -हेतु ग्रामदान किया था। उपर्युक्त अभिलेख में तत्कालीन विद्यालयों में अध्येय 14 विद्याओं अथवा विषयों का भी उल्लेख मिलता है। इन चौदह विषयों में चारों वेद, छःवेदांग (निरुक्त, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, व्याकरण और छन्द), धर्मशास्त्र, मीमांसा, पुराण एवं न्याय सम्मिलित माने जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त विषय पल्लवकाल में सामान्य पठन-पाठन के विषय रहे होंगे।

पल्लव नरेशों ने संस्कृत-भाषा के प्रचार-प्रसार तथा विकास में विशेष योगदान किया। उनके अधिकांश लेख उच्च साहित्यिक स्तर के हैं। ये अभिलेख विशुद्ध संस्कृत-भाषा में लिखे गए हैं। इन लेखों में प्रयुक्त गद्यांशों एवं पद्यांशों में लयात्मकता है। इनके छन्द गुप्तयुगीन अभिलेखो की भाँति श्रेष्ठ हैं। इनमें कहीं-कहीं पर से चम्पूकाव्य-शैली का उपयोग किया गया है। अभिलेखों की भाषा संस्कृत होने पर यह सहजतः अनुमन्य है कि तत्कालीन तमिल समाज में अधिकांश लोग संस्कृत भाषा को बोल, लिख एवं समझ सकते थे। संस्कृत भाषा के अध्ययन हेतु पल्लव नरेश ने स्थान-स्थान पर पाठशालाओं की व्यवस्था की थी।

संस्कृत की भाँति पल्लव युग में तमिल भाषा एवं साहित्य का भी विकास हुआ। तमिल साहित्य के विकास में 500 से 900 ई० के मध्य का काल विशेष उल्लेखनीय माना जाता है, जिसमें पल्लवशासकों की एतदर्थ भूमिका सराहनीय रही है। नीलकण्ठशास्त्री का विचार है कि तीन-चार शताब्दियों में संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव के परिणामस्वरुप दर्शन, नीति, धर्मशास्त्र आदि से सम्बन्धित संस्कृत शब्दों, पदावलियों तथा विचारों को धीरे-धीरे तमिल साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस काल में संरचित बहुसंख्यक उपदेशात्मक तमिल साहित्य के स्रोत प्रधानतया संस्कृत ग्रन्थ ही थे। इसी अवधि में अधिकांश संस्कृत ग्रन्थों का तमिल भाषा में अनुवाद भी किया गया। दक्षिण भारत में पौराणिक धर्मों के प्रचलन एवं विकास के पूर्व जैन एवं बौद्ध धर्मों का अधिक प्रभाव था। परिणामस्वरुप इस काल में जैन एवं बौद्ध विद्वानों ने तमिल साहित्य का लेखन बड़ी लगन के साथ किया। कालान्तर में वैष्णव एवं शैव धर्मों के व्यापक प्रसार के फलस्वरुप बहुसंख्यक भजन-साहित्य का प्रणयन किया गया। इन तमिल भजनों को गाकर लोग विभोर हो जाते थे। संभवतः संस्कृत-व्याकरण एवं कोश-ग्रन्थों के अनुकरण पर तमिल-व्याकरण एवं कोश-ग्रन्थों की रचना की गई। इस काल में विरचित तमिल साहित्य सामान्यतया पद्यात्मक है। एतत् प्रसङ्ग में एक बात बड़े महत्व की है कि इस

युग में गद्य-विधा में वहुत कम ग्रन्थों की रचना की गई। धर्म प्रधान तमिल-ग्रन्थों के प्रणयन के फलस्वरुप शैव एवं वैष्णव धर्मों के प्रसरण का सुअवसर प्राप्त हुआ।

पल्लवयुगीन उपदेश-ग्रन्थों को आगे चलकर 13 वीं शती में 'अठारह **किल्लाणक्कु**' के नाम से संकलित किया गया। ये ग्रन्थ छोटे-छोटे छन्दों में रचे गए हैं, जिन्हें **'वेणवा'** नाम से अभिहित किया जाता है। इनमें सर्वाधिक प्राचीन कृति तिरुवल्लुवार की **'कुड़ल'** मानी जाती है, जिसमें पल्लव युगीन राजनय, नीति तथा प्रणय-प्रसङ्गों का निरुपण मिलता है। इसमें दोहों की संख्या 1330 हैं। प्रायः दस-दस दोहों के कुल 133 खण्ड मिलते हैं, जिसके 38 खण्डों में अड़म (नीति) 70 खण्डों में राजनय एवं अर्थशास्त्र तथा शेष में 'कायम' (प्रेम) का वर्णन हुआ है। **नीलकण्ठ शास्त्री** का विचार है कि इसे संभवतः किसी जैन-विद्वान् ने लिखा था, जिसमें मनु, कौटिल्य, वात्सायन (कामसूत्र के प्रणेता) आदि का अच्छा ज्ञान था। इस कोटि की अनन्त रचनाएं 5 वीं से लेकर 7 वीं शती तक रची गई। **कार्नापवु, एन्नानारपदु, ऐन्दिनई-ऐम्बदु, नाडलो, नानमणिक्कडिगई** एवं **पलमोल्लीं** आदि ग्रन्थों को उपर्युक्त अवधि में विरचित माना जाता है। 650 से 750 ई० के मध्य **ऐन्दिनई-येल्लुवदि, तिरिकडुकम्, तिर्णई-मालई-ऐम्बदु कैन्निल ई, इलादी, सिरुपंचमुलई, तिर्णई-मालई नूड़ेम्बदु, ईनीयरारपदु** तथा **आशकाकोवई** आदि ग्रन्थों की रचना की गई। वैष्णव महाकवि विलम्वी नायनार ने **'नागमणिक्क डिगई'** नामक काव्य के बीच-बीच में सूक्ति-पदों की भी रचना की थी। इसे पल्लवयुगीन तमिल साहित्य का उत्कृष्टतम् ग्रन्थ माना जाता है। इस काल का **'आशारक्कोवई'** नामक तमिलग्रन्थ प्रायःस्मृति-ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया, प्रसिद्ध तमिल-स्मृति ग्रन्थ माना जाता है, जिसे किसी शैवाचार्य ने प्रणीत किया था। उपर्युक्त ग्रन्थों एवं संग्रहों के अतिरिक्त वैष्णव-आलवारों तथा शैवनायनारों द्वारा विचरित असंख्य स्फुट भजन, पद आदि संकलित-ग्रन्थों में तो सम्मिलित नहीं हो सके, तथापि तत्कालीन जन-जीवन पर उनके व्यापक प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। उनकी व्यापक लोकप्रियता का अनुमान नानसम्वन्दर द्वारा विरचित भजनों को तंजोरजनपद में स्थित **तिरुविडेयवायिल-मन्दिर** की शिला पर उत्कीर्णित किए जाने से लगाया जा सकता है। इस कोटि की रचनाओं में **कारइक्काल-अम्मई,** तिरुमुलर विरचित **'तिरुमन्दिरम्'** सुन्दरमूर्तिरचित **'तिरुत्तोण्डत्तोग ई'** तथा मणिकवाशगरकृत **तिरुवाशगम्** और **तिरुक्कोवई** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

शैवनायनारों की भाँति वैष्णव-आलवरों ने भी वैष्णव भक्ति-साहित्य के प्रणयन में गहरी रुचि ली। इनका सुप्रसिद्ध संग्रह-ग्रन्थ **नवधीरदिव्यप्रबन्धम्** (चार हजार धार्मिक गीत) उल्लेखनीय है। इस युग के प्रारम्भिक वैष्णव लेखकों में **पोयगई, पूडम, पेय पूडमकराइक्कल** आदि हैं। पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् प्रथम के शासनकाल में **तिरुमलि शाई** नामक प्रसिद्ध आलवार सन्त ने **'नानमुग न्तिरुवंडाडि** एवं **'तिरुच्चन्दविरुत्तम्'** नामक ग्रन्थों की रचना की। 18 वीं शती में उत्पन्न **तिरुमंगई** ने अनेक कविताएं लिखी, जिन्हें तमिल-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इसी प्रकार पल्लवयुग में ही **पेरियालवार** और उसकी पुत्री **आण्डाल** ने एक विशाल संग्रह-ग्रन्थ संकलित किया, जिसमें लगभग 650 कविताएं संग्रहीत हैं। वैष्णव भावना में ओत-प्रोत तिरुप्पान एवं

तोंडर-अडीप-पोडि ने भी कई गीत रचे थे। वह महान् तमिल कवि **कुलशेखर** का समकालीन माना जा सकता है, जिन्होंने अनेक तमिलगीतों के अतिरिक्त संस्कृत-काव्य **'मुकुन्दमाला'** का प्रणयन किया। इसी प्रकार **नम्मालवर, तिरुवायमोली** तथा मधुर कवि आदि रचनाकारों ने भी अपनी समुन्नत रचनाओं से तमिल साहित्य को समृद्ध किया।

जनसामान्य के लोक-जीवन से जुड़ी हुई इस युग की बहुसंख्यक तमिल-रचनाएं भी उल्लेखनीय हैं, जिसे, प्राय: जैन एवं बौद्ध लेखकों ने रचा था। इनमें **'शलप्पदिकारम'** साहित्यिक दृष्टि से अत्युच्चकोटि का ग्रंथ है। इसी विधा में **इलंगो** ने **'मणिमेकलई'** नामक काव्य-कथा ग्रन्थ लिखा। इसमें रोचक कथा के अतिरिक्त प्रसिद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के न्याय-प्रवेश पर आधारित तर्कशास्त्र की भ्रान्तियों की व्याख्या मिलती है। **कोंगूवेलीर** की **'पेरुंगाडाड'** (वृहत्कथा) नामक काव्य में कौशाम्वी के राजा उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के साहसी व्यक्तित्व का गुणानुवाद किया गया है। इसी काल में जैन व्याकरण-ग्रन्थ **'याप्परुगलम्'** पर अनेक टीकाएं भी लिखी गई।

पल्लवशासक नन्दिवर्मन् तृतीय के शासनकाल में सुप्रसिद्ध **'नन्दिक्कलम्बकम्'** काव्य प्रणीत किया गया। इनमें नन्दिवर्मन् तृतीय के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा तत्कालीन पल्लव समाज का सजीव चित्रण किया गया है। इसी प्रकार **'पेरुन्देवनार'** ने **'भारतम्'** नामक संकलित ग्रन्थ का तमिलभाषा में अनुवाद किया गया। इस प्रकार पल्लवों के शासनकाल में शिक्षा का विकास, संस्कृत और तमिल भाषाओं एवं साहित्य का पल्लवन, पोषण तथा संवर्द्धन विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है।

पल्लव कला एवं स्थापत्य

पल्लव नरेश महान् निर्माता थे। दक्षिण भारत में विकसित वास्तुशैलियों के संदर्भ में पल्लव कला-शैली परक, मानक तथा मौलिक महत्व रखती है। विश्वविख्यात कलाविद् **पर्सीब्राउन** के अनुसार पल्लवों ने द्राविड़-काल-शैली के उत्स में अन्य प्रारम्भिक दक्षिण भारतीय राज्यों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ आधार प्रदान करके उसके भावी विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया।[1] द्राविड़-मन्दिर-वास्तुकला में वास्तुशास्त्रीय, प्रतिमा-शास्त्रीय एवं चित्रांकनशास्त्रीय अभिनव शैलीगत मूल उपादानों का प्राथमिक भव्य संयोजन पल्लववास्तुकारों की मेधा तथा हस्तकौशल के द्वारा रुपायित हुआ। इस वंश के नरेशों ने अपनी कलाप्रियता का परिचय देकर उपर्युक्त कला-शैली के उत्तरोत्तर संवर्द्धन में भगीरथ प्रयत्न किया। **शिवराममूर्ति** का विचार है कि पल्लवनरेशों की कला के प्रति जागरुकता एवं उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि के फलस्वरुप ही वहाँ विभिन्न कलाशैलियों का विकास सम्भव हुआ। कलात्मक विकास के इस क्रम में **महेन्द्रवर्मन्**

---

1. "Of all the great powers that together made the history of southern India, none had a more marked effect on the architecture of this region than the earliest of all, that of the pallavas, whose productions provided the foundations of the Dravidin style."

प्रथम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने मन्दिर-वास्तु-निर्माण में अभूतपूर्व रुचि लेकर अपनी प्रतिभा के उपयोग से द्राविड़-वास्तु एवं स्थापत्य कला-शैली में एक ऐसी नवीन कला-परम्परा का पल्लवन किया, जो चोलों पाण्ड्यों एवं होयसलों आदि के द्वारा उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी होता गया। उसने 'मण्डगपट्टु' (दक्षिण अर्काट जनपद) के **'लक्षित-आयतन-मन्दिर-अभिलेख'** में उपर्युक्त कला-अभिप्रायों की आत्मस्वीकृति भी की है। इस लेख के अनुसार उसने ईंट, लकड़ी लोहा आदि के प्रयोग से रहित वास्तु-विन्यास की एक नवीन शैली को जन्म दिया (**एतदनिष्टकयद्रमुलौ-हमसुधं विचित्रचित्तेन**)। **उसकी 'विचित्रचित्त'** की उपाधि उपर्युक्त शैली के अभ्युदय के सन्दर्भ में सर्वथा सार्थक हैं। महेन्द्रवर्मन् प्रथम द्वारा जैन-धर्म का परित्याग कर शैवोपासक हो जाना, एक असाधारण घटना मानी जा सकती है। **जे० डुब्रिया** के अनुसार शताब्दियों से चली आ रही बौद्ध-गुहा-मन्दिरों के निर्माण की परम्परा का प्रभाव महेन्द्रवर्मन् प्रथम के समय निर्मित वास्तुकला-शैली में परिलक्षित होता है। परन्तु निर्माण-शैली में महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने अनेक मौलिकताएँ प्रस्तुत कर दक्षिण भारत में द्राविड़ कला-शैली की एक नवीन आधारशिला रख दी।

पल्लव-राजसत्ता की प्रमुख सीमाएँ वर्त्तमान तमिलनाडु प्रदेश तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में विस्तृत थीं। इस क्षेत्र पर उनका प्रभुत्व सामान्यतया 7 वीं शती से 9 वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध तक स्थापित रहा। इस काल के कला-प्रेमी नरेशों ने राजधानी कांची (कांचीपुरम् अथवा कांजीवरम्) तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में द्राविड़-कला-शैली का शिलान्यास किया। पल्लवों के प्रासाद-निर्माण-वैभव का प्रसार कांची के अतिरिक्त **तंजौर** (थंजाउर) तथा **पुडुक्कोडई** आदि दूरवर्ती क्षेत्रों तक अवलोकनीय है। पल्लव युगीन नरेशों ने अपनी अमर कलाकृतियों से पूर्वी-समुद्रतट के प्रमुख नगर-केन्द्रों को अत्यन्त मनोरम बना दिया।

पल्लव राजवंश के इतिहास में पांच ऐसे बड़े शासक हुए जिनमें कलात्मक निर्माण के प्रति गहरी अभिरुचि थी। इन नृपतियों के नाम हैं—(1) महेन्द्रवर्मन् प्रथम, (2) नरसिंह वर्मन्, (3) राजसिंह वर्मन्, (4) नन्दिवर्मन् तथा (5) अपराजित। इनमें से प्रथम दो अर्थात् महेन्द्र वर्मन् प्रथम एवं नरसिंह वर्मन् 'मामल्ल' के शासनकालों में पल्लव द्राविड़-वास्तुकला-शैली अपनी पूर्ववर्ती आन्ध्र-सातवाहन कला-शैली से न्यूनाधिक अनुप्राणित मानी जा सकती है। कलाविदों ने उपर्युक्त दोनों शासकों के प्रोत्साहन एवं संरक्षण में निर्मित कराये गए मन्दिरों एवं प्रासादों को आपूर्ण-पार्वत्यवास्तु (शैलोत्कीर्ण अथवा हाल्ली राककट) कला-शैली में परिगणित किया है। पल्लव-द्राविड़ वास्तुकला के विकास का यह प्रथम चरण था। इसी प्रकार पल्लव नरेश राजसिंह एवं नन्दिवर्मन् के युगों में निर्मित मन्दिरों अथवा प्रासादों को आपूर्ण-भूनिवेशीय (संरचनात्मक अथवा हाल्ली स्ट्रक्चरल) वास्तु-कला-शैली के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार पल्लव-वास्तु-शैली में क्रमानुगत विकास परिलक्षित होता है। इसका श्रेय पल्लव शासकों की मौलिकता एवं कलाप्रियता को दिया जा सकता है। **आनन्द कुमार स्वामी** ने पल्लव-वास्तु-शैली को उसके विकास-क्रम की दृष्टि से निम्नलिखित चार शैलियों में विभक्त किया है।

1. **महेन्द्र शैली** (610 ई० से 640 ई० यद्यपि यह शैली लगभग आठवीं शताब्दी तक चलती रही।
2. **मामल्ल शैली** (640 ई० से 690 ई० तक)
3. **राजसिंह और नन्दिवर्मन शैली** (690 ई० से लगभग 800 ई० तक)
4. **अपराजित शैली** (800 ई० से 900 ई० के मध्य)

महेन्द्रवर्मन् शैली —कला की भाषा में इसे **'महेन्द्र शैली'** के नाम से अभिहित किया जाता है। महान् पल्लव शासक महेन्द्र वर्मन् ने अपने अभिलेखों में उद्‌घोषित किया है कि उसके समय में मन्दिरों का निर्माण ईंट, प्रस्तर, लकड़ी, लोहा आदि के उपयोग से किया जाता था। परन्तु इस परम्परा से हटकर उसने अनेक गुहा-मन्दिरों का निर्माण कराया। महेन्द्र-शैली का विकास क्रमशः तीन अवस्थाओं में हुआ। प्रथम अवस्था में गुफा-मण्डपों को काटकर उसे एक सुनियोजित मन्दिर-वास्तु के रुप में निर्मित किया गया। पारम्परिक गुफा-मंदिर-निर्माण-शैली से किञ्चित् पृथक् महेन्द्र-शैली में घनत्व-प्रधान शिलाओं को तराशकर उन्हें अलंकृत किया गया है। इस शैली से शैलोत्कीर्णन में स्थापत्य-नियोजन तथा दृश्यांकनों द्वारा अलंकरण चालुक्य-स्थापत्य से पृथक् शैली पर किया गया है। गुहा-मण्डप के सामने स्तम्भयुक्त बरामदा काटा गया है। मण्डप के दोनों ओर गर्भगृह है। **शैव-मण्डपों के गर्भगृहों में शिवलिंग** तथा **वैष्णव-मण्डपों** के गर्भगृह में **विष्णु** की प्रतिमा-तक्षित हैं। इन मन्दिरों के स्तम्भ सामान्यतया **चौकोर** तथा **मध्य में अठपहले** हैं। इनके **निगस्तों** (टोंडों) पर कारीगरी का अभाव है। **गवांक्षों** में 'कुडु' के स्थान पर **'गन्धर्वमुखम्'** का अलंकरण मनोहर है। मन्दिरों के द्वार पर मानवाकार **द्वारपालों** की प्रतिमाओं का अंकन किया गया, जिनके हाथ में डण्डे और माथे पर सींग उत्कीर्णित है। मण्डप के सामने दो अलंकृत स्तम्भ और अर्द्धस्तम्भ वनाये गये हैं। स्तम्भों की ऊँचाई 7 फुट रखी गईहै, जो अलंकरण की दृष्टि से तीन उपभागों में विभक्त हैं। इसका आधार और शीर्ष भाग 2 फुट का आयत-आकार सा लगता है तथा मध्य भाग **अठपहला** अर्थात् **अष्टकोणात्मक तक्षित हैं**। स्तम्भों के आयताकार भाग पर अमरावती-स्तम्भ-निर्माण-शैली की परम्परा में कमलफुल्कक उकेरे गये हैं। इनमें स्थान-स्थान पर **तरंगमंजरी तथा मकरतोरण** जैसी आकृतियाँ भी तराशी गई हैं। इस शैली में निर्मित आरम्भिक मण्डप तथा अर्द्धमण्डप सामान्यतया एक ही क्रम तथा आकार में ढाले गये हैं। इन मन्दिरों के मण्डप प्रायः सादे हैं।

महेन्द्र-शैली के अन्तर्गत इसकी प्रथम विकास-अवस्था में निर्मित प्रमुख मन्दिरों में मण्डगपट्टु का **लक्षितायन-मण्डप**, माण्डुर का **रुद्रवालीश्वर-मन्दिर**, पल्लववरम् का **पंचपाण्डव-मन्दिर**, कुरंगनिलमुत्तम् का कलमंडकम्-मण्डप्, मामण्डूर का **विष्णु-मण्डप**, दलवानूर का **शत्रु-मलेश्वरालय-मण्डप** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। महेन्द्रवर्मन् शैली के अधिकांश मण्डप तोण्डमण्डलम् क्षेत्र में ही अवस्थित हैं। इन मन्दिरों के स्तम्भों पर अभिलेख भी उत्कीर्ण किए गए हैं। **शिवराममूर्ति** के अनुसार पल्लवकला शैली के प्राथमिक विकास का रुप **'उण्डानावल्लि'** की गुफा में तक्षित अनन्तशायी विष्णुमूर्ति में नजर आता है।

उपर्युक्त शैली के विकास की दूसरी अवस्था नरसिंह वर्मन् 'मामल्ल के शासनकाल

से प्रारम्भ होकर मुख्य रुप से नरसिंहवर्मन द्वितीय 'राजसिंह' (आठवीं शती ई० के पूर्वार्द्ध) तक मानी जा सकती है। इस अवस्था में द्राविड़-स्तम्भ-वास्तु के निर्माण में नवीनता लाई गई। इन शैलोत्कीर्णित-मन्दिरों के निर्माण का शेष अंग बहुत कुछ पूर्ववत् ही बना रहा। निर्माण एवं विकास के इस स्तर पर स्तम्भों की ऊँचाई बढ़ा दी गई तथा उनकी पृथुलता कम करके उन्हें किंचित् पतला ढाला जाने लगा। स्तम्भों के पतला हो जाने के कारण उनकी पारस्परिक दूरी सहजतः बढ़ गई। मण्डपों में गर्भगृहों की संख्या घटाकर केवल एक रखी गई।[1] स्तम्भ-अलंकरणों में **'कपोत'** एवं **'कुडु'** का भी अंकन सम्मिलित कर लिया गया। शैव-मण्डपों में शिव परिवार, सोम स्कन्ध, दुर्ग आदि प्रतिमाङ्कनों को तथा वैष्णव-मन्दिरों में विष्णु, ब्रह्मा तथा उनसे सम्बन्धित देवमूर्तियों को तक्षित किया गया है। इस अवस्था में निर्मित प्रमुख मण्डपों में महाबलिपुरम् का **कोटिकल-मण्डप,** तिरुवक्कलुवरम् का **ओरुकल-मण्डप,** सिंगवरम् का **रंगनाथ-मण्डप** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मन्दिरों में उनके निर्माता शासकों के अभिलेख भी उत्कीर्ण किये गये हैं। महेन्द्र-शैली के विकास की तीसरी अवस्था में शैलीगत विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इस अवस्था में निर्मित मन्दिरों में **'किल्माविलंङ्गै' का विष्णु-मण्डप** विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है।

मामल्ल शैली—नरसिंह वर्मन् प्रथम 'महामल्ल' ने अपने शासनकाल में पारम्परिक गुहा-मन्दिर के निर्माण में गहरी रुचि ली। उसने अपने पूर्वप्रचलित महेन्द्र-शैली के गुण दोषों पर विमर्श करके अपनी कलात्मक मौलिकता से जिस नवीन शैली का प्रचलन किया, उसे 'मामल्ल शैली' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस कला-शैली का विशेष प्रचलन 625-675 ई० के बीच हुआ तथा अन्तराल में पल्लव-वास्तु-निर्माण-कार्य अपनी उन्नति की चोटी पर पहुँच गया। इस शैली के अन्तर्गत मण्डप तथा **रथ-मन्दिरों** को निर्मित किया गया। शैली तथा वास्तुगत गठन के दृष्टिकोण से इस काल के मन्दिरों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—**रथ-गुफामन्दिर** और **शैलोत्कीर्ण-तक्षणकला**। पल्लव कला-शैली के इस उत्कर्ष काल में **'कुडु'** स्तम्भों की परम्परा बनी रही लेकिन कलागत नवीनता **मकर-तोरण** स्तम्भों एवं **सिंहाधारित स्तम्भों** में जीवन्त हो उठी। मन्दिर के सम्मुख द्वारपालों के मूर्त्तन में अपेक्षाकृत पृथुलता कम करके उनका शरीर और सुन्दर और छरहरा बना दिया गया तथा उसके मुख-मण्डल पर आनन्द का भाव बिखेर दिया गया।

मामल्लशैली में निर्मित मण्डप वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से महेन्द्र-शैली के मण्डपों से अधिक अलंकृत, सुडौल तथा परिष्कृत हैं। इनका निर्माण तत्कालीन ईंट, पत्थर आदि उपादानों से बने संरचनात्मक मण्डपों से बहुत कुछ मेल खाता है। अतः इन मण्डपों के निर्माण-विधान में शैलीगत अन्तर आना स्वाभाविक था। महेन्द्र शैली में निर्मित मण्डप तो सादे थे, परन्तु मामल्ल-शैली में बने मण्डप नानाविधि अलंकृत एवं अपेक्षाकृत अधिक सुडौल हैं। इनको कपोत, शाला, हार, कुडु आदि पुराशास्त्रीय (Mythological) अभिप्रायों के अंकनों से अलंकृत किया गया है। फलतः ये मन्दिर दूर से ही अत्यन्त आकर्षक दिखते हैं।

---

1. इस शैली में निर्मित धर्मराज-मण्डप में (अपवाद रुप में) तीन गर्भगृह बनाए गए थे।

मामल्ल-शैली के अन्तर्गत स्तम्भों की बनावट में गुणात्मक सुधार किया गया। स्तम्भों की शोभा बढाने के लिए उनके अनपेक्षित पत्थर-अंशों को तराश कर उन्हें लम्बा एवं पतला बनाया जाने लगा। स्तम्भों पर नवीनता लाने के उद्देश्य से कुम्भ, पदम् पुल्लक आदि भव्य अलंकरण प्रयोग में लाये गए। इस शैली में निर्मित मण्डपों में **वराह-मण्डप, पुलिपुरद-मण्डप, पंचपाण्डव-मण्डप, महिषमर्दिनी-मण्डप, आदिवराह-मण्डप** आदि वास्तुशास्त्रीय सौन्दर्य की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। ये मण्डप अधिकांशतया महाबलिपुरम् में ही स्थित हैं।

मामल्ल-शैली में निर्मित मण्डप मूर्तिकला की दृष्टि से भी विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त गुहा-मण्डपों (दरी-मन्दिरों) में विशेष उल्लेखनीय **वराह-गुहा-मण्डप** में विष्णु के वराह, वामन आदि अवतारों की मूर्तियों के अतिरिक्त दुर्गा, गजलक्ष्मी, सुर्य आदि पौराणिक देवी-देवताओं का मूर्त्तन, स्थापत्य-अनुशासन एवं उत्कीर्णभास्कर (Relief) के समानुपात का प्रतिमान है। इस मन्दिर के निर्माता पल्लव-शासकों—सिंहविष्णु और महेन्द्रवर्मन् द्वितीय को उनकी रानियों के साथ अंकित किया गया है। इसी प्रकार **महिषमर्दिनी-मण्डप** में सिंहवाहिनी दुर्गा को महिषासुर पर प्रहार करते हुये पूरी गति एवं ओज के साथ प्रदर्शित किया गया। इसी गुहामण्डप में **शेषशायी-विष्णु** का सहज विश्राम-मुद्रा में अंकनभी दर्शनीय है। **पंचपाण्डव-गुहामण्डप** में अनेक पौराणिक दृश्यांकन उत्कीर्ण किये गये हैं, जिनमें कृष्ण के गोवर्धनधारण करने वाला दृश्य वस्तुत: नयनाभिराम है। उपयुक्त कलाकृतियों की तिथि लगभग 7 वीं शती ई० मानी जाती हैं।

महाबलिपुरम् की दो विशाल शिलाभित्तयों पर उच्चित्रित **गंगावतरण का दृश्य** मामल्ल-शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें दोनों शिलाओं के मध्य गहरी चौड़ी दरार के मध्य पवित्र गंगा नदी की अजस्रधारा दर्शायी गई है। इसके दोनों ओर देवों, मानवों, पशुओं, नागों, गजों कपियों आदि की अनन्त आकृतियाँ पल्लव युगीन-द्राविड़-स्थापत्य कला की सार्थकता को निरुपित करती हैं। इसमें एक ओर तपस्यारत महाराज भगीरथ अंकित हैं। ऊपर देवगण तथा विद्याधरों की उड़ती हुई आकृतियाँ अपनी गतिशीलता एवं मौलिकता के लिये श्लाध्य हैं। इन आकृतियों की भव्यता पर **बेंजामिन रोलां** का विचार है कि उपर्युक्त दृश्य में भारतीय कला की दो पृथक् धाराओं में स्वाभाविकता एवं रुढ़िवादिता का समन्वयन देखा जा सकता है, जिसका सादृश्य अन्य किसी भी देश की कला में प्राप्य नहीं है। उत्तम स्थापत्य-अंकन की प्रशंसा करते हुए कलाविद् **रेनेग्रोसेट** का विचार है कि यह भारतीय कला का और विशेषकर प्रथमवर्गीय स्थापत्य कला का महत्वपूर्ण रुपांकन है।

मामल्ल-शैली का सही निखार **रथ-मन्दिरों** के निर्माण में दर्शनीय हैं। ये उन विशाल काष्ठ-निर्मित मन्दिर-रथों के समान हैं, जिन पर देवमूर्तियाँ शोभा-यात्रा में निकली हैं, जैसे जगन्नाथपुरी का रथ। ये रथ 'एकाश्मक मन्दिर' कहलाते हैं। एकाश्मक शिला से ढाले जाने के कारण इन शैलोत्कीर्णित रथों का स्थापत्य अत्यन्त भव्य है। रथ मन्दिरों में **द्रौपदी रथ, नकुल-सहदेव रथ अर्जुन रथ, धर्मराज रथ, भीम रथ, गणेश रथ, पिड़ारी रथ** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं'। **द्रौपदी रथ** सचल शोभा-यात्रा की अनुकृति है, जिसका स्वरुप कूटागार (झोपड़ी) के सदृश है। शेष रथों का स्वरुप

वौद्धविहारों की भाँति समचतुरश्र अथवा वर्गाकार है तथा उनके शिखर द्राविड़ कला-शैली में निर्मित हैं। इनमें कुछ रथ एकतलीय तथा कुछ दो अथवा तीन तलीय काटे गये हैं। त्रितलीय **धर्मराज रथ** तथा **द्रौपदी रथ** एक तलीय रथों में श्रेष्ठतम् कृतियाँ मानी जा सकती हैं। **नकुल-सहदेव** रथ के अतिरक्त शेष रथों पर पौराणिक देवी-देवताओं की कलात्मक मूर्तियाँ अंकित हैं। **धर्मराज रथ** पर पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम की प्रतिमा स्थानतक-मुद्रा में निर्मित की गई हैं।इन रथों की विशेषता इनके पातल स्तम्भ, कीर्तिमुखयुक्त मकर-तोरण, अष्टकोणात्मक स्तूपिका एवं चैत्य तथा वातायनी आले हैं, जिनमें उत्कीर्णित आकृतियों की वेशभूषा दर्शनीय हैं।

राजसिंह शैली—पल्लव शासक नरसिंहवर्मन् द्वितीय 'राजसिंह' शैव था। फलतः उसने अपने शासन काल में अनेक विशाल शिव-मन्दिरों का निर्माण कराया। उसके राज्यकाल में शैव एवं वैष्णव मतों का व्यापक प्रचार हुआ। उक्त धर्मों की व्यापक लोकप्रियता से प्रभावित उपर्युक्त पल्लव नरेश ने शिव तथा विष्णु मन्दिरों के निर्माण में गहरी रुचि ली। राजसिंह ने परम्परागत तथा पूर्व प्रचलित पल्लव वास्तु-शैलियों से हटकर ईंट, पत्थर आदि के उपयोग से संरचनात्मक मन्दिरों के निर्माण की नई परम्परा प्रचलित की। उसके द्वारा बनवाये गए अधिकांश मन्दिर राजधानी काञ्ची में ही निर्मित किये गये।

राजसिंह-शैली में निर्मित मन्दिरों के स्तम्भ पतले, सभा-मण्डप स्तम्भयुक्त तथा विमान एवं मण्डप के मध्य स्थित अन्तराल कलात्मकता के साथ सज्जित हैं। इनके आंगन आयताकार तथा परकोटों से युक्त हैं। इस प्रकार राजसिंह-शैली का स्थापत्य सर्वाङ्ग समृद्ध माना जा सकता है। गर्भगृह के चतुर्दिक प्रदक्षिणापथ है। पूर्वाभिमुख मन्दिर का शिखर तुङ्ग हैं, जिसका निर्माण द्राविड़ (विमान) शैली में किया गया है। गर्भगृह के समक्ष मुखमण्डप निर्मित किया गया है, जिसके सम्मुख सुन्दर प्रागंण अवस्थित है। प्रांगण के प्रवेशद्वार पर भव्य 'गोपुरम्' का विन्यास किया गया है। लाँगहर्स्ट[1] का विचार है कि सिंहाधारित व्याल-स्तम्भों का सर्वाधिक प्रयोग इसी कला-शैली में किया गया।

राजसिंह-शैली में काञ्चीपुरम् का **कैलास-मन्दिर** सर्वाधिक उल्लेखनीय है, जिसे 8 वीं शती के आरम्भिक वर्षों में निर्मित किया गया। इसको **'राजराजेश्वर'** मन्दिर के नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह मन्दिर बुर्जियों से मण्डित एवं परकोटे से परिवेष्ठित है। इसके आयताकार सुघर आंगन के पश्चिमी किनारे पर गर्भगृह सुसज्जित है। इस मन्दिर के विमान की छत चिपटी, मण्डप स्तम्भयुक्त तथा ऊपर पतले होते पिरामिडनुमा शिखर तथा प्रदक्षिणापथयुक्त वर्गाकार गर्भगृह आदि द्राविड़-वास्तुकला के सुन्दर संयोजन है। सिंहाधारयुक्त स्तम्भ आकार में तनु एवं अलंकृत हैं। 'गोपुरम्' के प्रारम्भिक निर्माण का स्वरुप सर्वप्रथम इसी मन्दिर में देखा जा सकता है। इस मन्दिर से जुड़े अनेक छोटे-छोटे आवासगृह एवं उपमन्दिर हैं, जिनकी स्थिति पर **के० आर० श्रीनिवासन्** का विचार है कि संभवतः इनका निर्माण तीन

---

1. लाँगहर्स्ट, पल्लव आर्किटेक्चर,भाग 3, पृ० 2-3.

अवस्थाओं में किया गया होगा। कैलासनाथ-मन्दिर की प्रतिमाएँ गतिशीलता, भाव एवं सौष्ठव में अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। अधिकांश मूर्तियाँ शिव-परिवार एवं शैव-देव-मण्डल से सम्वन्धित हैं। मन्दिर में दो प्रकार के प्रस्तर प्रयोग में लाये गये हैं। इस मन्दिर का अधिष्ठान अथवा आधार कठोर शिलाओं द्वारा संरचित है। ऊर्ध्व भाग वालुकामय-शिलाओं से युक्त है। इस मन्दिर में **विमान** तथा **मण्डप** पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु समयान्तर ने दोनों कक्षों को एक करते हुए दोनों के मध्य 'अन्तराल' की सृष्टि की है। प्रवेशद्वार के पार्श्व में एक आयताकार द्वितलीय वास्तु-रचना की गई है। जिसके ऊपरी भाग में मेहरावदार गोल-गोल शिखर वनाये गये हैं, जिसे 'गोपुरम्' का प्राथमिक रुप माना जा सकता है। इस प्रकार काञ्चीपुरम् का कैलासनाथ मन्दिर उन समस्त विशेषताओं से ओत-प्रोत है, जिसे द्राविड़-कला-शैली मानी जाती है।

पल्लव नरेश राजसिंह के पुत्रों ने 780 ई० में **बैकुण्ठमेरुमल के विष्णु-मन्दिर** का निर्माण-कार्य पूरा किया। इस मन्दिर में उपर्युक्त शैली का विकसित रुप परिलक्षित होता है। मन्दिर परकोटों से घिरा हुआ है एवं इसका पूर्वी द्वार ड्योढ़ी से सुसज्जित है। परकोटे की वाहरी दीवार भित्ति-स्तम्भ तथा शाखा-सहित रचित है। भीतरी भाग श्रेणी-मठों से मण्डित है, जो विमान तथा मण्डप से खुले मार्ग द्वारा पृथक् किया गया है। इसे पृथक् करने वाले रिक्त स्थान को प्रदक्षिणापथ के रुप में उपयोग में लाया गया है। इस स्तम्भयुक्त मण्डप से गर्भगृह तक प्रवेश करने की व्यवस्था है। गर्भगृह वर्गाकार है, जिसके ऊपरी भाग में पिरामिड आकार में चार तलीय वुर्ज वनाये गये हैं। उन पर अष्टकोणिक स्तूपिका निर्मित है। सवसे ऊपरी भाग पर कलसी विराजती है। दीवारों के पीछे सोमस्कन्ध की मूर्ति तथा प्रदक्षिणापथ के चतुर्दिक स्तूपिकाएँ उच्चित्रित हैं। कलात्मक निर्माण हेतु उपयोग में आनेवाली उपादानों में किञ्चित् परिवर्तन के रुप में इस काल में प्लास्टर का प्रयोग उल्लेखनीय है।नन्दिवर्मन् के राज्यकाल में शिव के विविध रुपों में अङ्कित उत्कीर्ण-भास्कर-स्थापत्य (Relief) में नवीनता लाने का प्रयास किया गया। द्वारपालों के अङ्कन में उन्हें दो भुजाओं से युक्त वनाने के स्थान पर चार भुजाओं से युक्त वनाया जाना उपर्युक्त कला-शैली में आई नवीनता का परिचायक है। इस काल के निर्मित मन्दिरों में **मुक्तेश्वर और मातंगेश्वर** (काञ्चीपुरम्) के मन्दिर भी अपनी कलात्मकता के लिए महत्वपूर्ण हैं। अन्य मन्दिरों में **बदमलीश्वर** (चिंगलपेट) और **परशुरामेश्वर** (गुड्डीभल्लम) भी अपनी कलागत विशेषताओं के लिए उल्लेखनीय हैं।

अपराजित शैली—कुमारस्वामी का कथन है कि पल्लव-द्राविड-कलाशैली के विकास का अंतिम रुप अपराजित के शासनकाल में प्रकट हुआ। इसमें स्तम्भों को और सुघर वनाया गया तथा कीर्तिमुखों को और भी उभार दिया गया। शिव-लिंग अपेक्षाकृत और गोलादार (वर्तुलाकार) वनाये जाने लगे। **गुड्डीभल्लम-मन्दिर** में द्विभुजी-शिव की मूर्ति वामन पुरुष पर आरुढ़ निर्मित की गई है, जिसके हाथ में परशु तथा माथे पर जटाजूट अंकित है। कतिपय विद्वान् इसे भरहुत से प्राप्त यक्षमूर्ति के समतुल्य मानते हैं। पल्लव-कला की इस शैली के विकास के समय चोल-सत्ता का अभ्युदय होने लगा था। फलतः उपर्युक्त कला-शैली का प्रभाव आगामी चोल-कला पर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

पल्लव चित्रकला

पल्लवकालीन चित्रकला सितण्णवासल, काञ्ची तथा तिरुमलैपुरम् में निर्मित मन्दिरों की अन्तर्वर्ती छतों, दीवारों तथा टोड़ों पर अंकित मिलती है। सितण्णवासल के सुप्रसिद्ध जैन-दरी-मन्दिर के तीसरे खाने में पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन् प्रथम को सपरिवार चित्रित किया गया है। इसकी अन्तर्वर्ती छतों पर कमलों युक्त सरोवर में हंसों का विहार, सारसों, मगरों, वृषों, गजों तथा मानवों के चित्र पद्म-फूलों के बीच चित्रांकित किये गये हैं। प्रस्तुत विवेचन में **भगवत शरण उपाध्याय** का यह विचार यथेष्ट प्रतीत होता है कि इन चित्रों पर अजन्ता की चित्र-शैली का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार **काञ्ची** में निर्मित **कैलासनाथ** तथा **तिरुमलैपुरम** के शिव मन्दिरों की दीवारों, छतों तथा टोड़ों पर भी इस काल के चित्रांकन के अवशेष सुरक्षित हैं। इन्हें संभवतः 7 वीं शती अंकित किया गया। इन चित्रों में नृत्यरत गणों, मानवों, कमलों, हंसों आदि को चित्रांकित किया गया है। सम्प्रति उपलब्ध इन अवशिष्ट चित्रों से पल्लवकालीन चित्रकला का आकलन किया जा सकता है।

पल्लव-मूर्ति-कला

कला-समीक्षकों ने किसी समय यह प्रस्तावित किया था कि पल्लवकला मूलतः गुप्तयुगीन कलाशैली से अनुप्राणित है। परन्तु आधुनिक कला-समीक्षक **बेंजामिनरोलां** के विचार में पल्लव-कला-शैली एवं तकनीक के विकास में गुप्तयुगीन कला का प्रभाव तो नहीं, किन्तु आन्ध्र-सातवाहन-कला के अन्तिम चरण की विशेषताओं का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जो भी हो, पल्लव कला वस्तुतः मौलिक रुप में विकसित होकर द्राविड़-वास्तु एवं स्थापत्य कला की सुकुमार प्रस्तुति प्रतीत होती है। इस काल की कला-शैली के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियाँ सर्वथा श्लाध्य हैं। मूर्तियों का अंगांग सुकुमार, ललित भावभंगिमओं से युक्त हैं। मुखमण्डल पान-पत्र की आकृति सदृश उत्कृष्ट हैं तथा द्राविड़-पल्लव-मूर्ति-कलाशैली का प्रतिनिधित्व करती हैं। पल्लव-रथमन्दिर की भित्तियों पर उच्चित्रित उत्कीर्ण भास्कर (Relief) का अंकन पाषाण के गर्भ से निकलते से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार पल्लव-कला प्राचीन भारतीय कला के इतिहास में द्राविड़-कला-शैली की स्थापना तथा विकास का प्राथमिक सोपान निर्मित करती हैं।

पल्लवकालीन धार्मिक आन्दोलन

पल्लव नरेश प्रायः स्वयं हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, परन्तु उनमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना विद्यमान थी। विद्वानों का विचार कि भारत में 7 वीं शती के लगभग-वौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था। यद्यपि ह्वेनसांग, जो इसी शती में भारत की यात्रा पर आया था, अपने विरणों में उक्त तथ्य को स्वीकार नहीं करता है। उसने 643 ई० में भारत की यात्रा प्रारम्भ की थी। उस समय देश में हिन्दू-धर्म का अभ्युदय तेजी से हो रहा ता। परन्तु उसने संभवतः हिन्दू धर्म के पुनर्जागरण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उसने पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम के शासनकाल में तोण्डमण्डलम् तथा कांची तक की यात्रा की थी। उसकी जीवनी से ज्ञात होता है कि उस समय काञ्ची नगरी में 100 वौद्ध-मठ विद्यमान थे, जिनमें 10,000 के लगभग वौद्धभिक्षु रहते थे। वे

स्थविर-सम्प्रदाय के मानने वाले थे। ह्वेनसांग ने राजधानी कांची में जैन-धर्मावलम्बियों के विद्यालय होने की भी सूचना दी है, जिनमें दिगम्वर-सम्प्रदाय के अनुयायी अनुपातत: अधिक थे। उसने लिखा है कि महात्मा गौतम बुद्ध ने अपनी जीवनकाल में काञ्ची नगरी की अनेक यात्रायें की थीं। जिन स्थानों पर उन्होंने धर्मोपदेश दिये थे, वहाँ कालान्तर में सम्राट् अशोक ने स्तूपों का निर्माण कराया था। उक्त चीनी-यात्री के अनुसार इन स्तूपों की ऊँचाई लगभग 30 मीटर थी। उसे काञ्ची विश्वविद्यालय के विद्वान् आचार्यों के साथ योगशास्त्र पर दार्शनिक विमर्श करने में आत्म-तुष्टि प्राप्त हुई थी।[1] परन्तु उसकी दृष्टि तत्कालीन दक्षिण भारत में, विशेष रुप से पल्लव साम्राज्य में, नवोदित एवं विशेष लोकप्रिय शैव एवं वैष्णव धर्मों की ओर संभवत: नहीं पड़ी। उसने इस प्रसङ्ग में केवल इतना उल्लेख किया है कि काञ्ची में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों से सम्वन्धित मन्दिरों की संख्या 80 के आस-पास थी। इनमें लगभग 400 धर्मावलम्बी रहते थे। पल्लवकालीन संस्कृत एवं तमिल-ग्रन्थों में प्राप्त विवरणों से लगभग यह वात पुष्ट हो गयी है कि तत्कालीन समाज में बौद्ध एवं जैन दोनों धर्मों का तेजी से ह्रास हो रहा था। शास्त्रार्थों में दोनों धर्मों के आचार्य नायनार-शैवों एवं वैष्णव-आलवर आचार्यों से पराजित हो रहे थे। **नीलकण्ठ शास्त्री** का कथन है कि इन सार्वजनिक शास्त्रार्थों के परिणामस्वरुप तत्कालीन शासक एवं विद्वत्वर्ग के लोग तेजी से जैन एवं बौद्ध धर्मों को छोड़कर हिन्दू-धर्म को अपनाने लगे थे। नायनार तथा आलवर सन्त तत्कालीन जनभाषा में अपने भक्तिप्रेरक धर्मों की बड़ी अभिरुचि के साथ प्रचार एवं प्रसार कर रहे थे। भजनों में लोकगीतों के स्वर, लय आदि का सम्यक् उपयोग किया जाता था। फलत: पल्लव-समाज में नवोदित हिन्दू-धर्मों को अपनाने का आग्रह उमड़ पड़ा। ऐसी परिस्थिति में जैन एवं वौद्ध-धर्मों को परम्परा प्राप्त राज्याश्रय एवं संरक्षण मिलना कठिन हो गया। क्योंकि अधिकांश शासक जैन अथवा वौद्ध धर्मों को छोड़कर शैव अथवा वैष्णव धर्मानुयायी होने लगे थे। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि इन नरेशों ने हिन्दू-धर्म को अपनाने के फलस्वरुप अन्य धर्मों को किसी प्रकार की क्षति नही पहुँचाई। इस प्रकार दक्षिण भारत में वौद्ध एवं जैन धर्म, शैव-नायनारों एवं वैष्णव-आलवरों के प्रवल प्रचार-आन्दोलन के समक्ष अधिक समय तक खड़े न रह सके। फलत: इनके वढ़ते प्रभाव के साथ-साथ पल्लव समाज से दोनों धर्म क्रमश: तिरोहित होने लगे। संयोगवश, वौद्ध-धर्म में नवोत्पन्न तान्त्रिकधर्म ने इस धर्म के पतन की प्रक्रिया को और भी गतिशील वना दिया। क्योंकि तान्त्रिक प्रयोगों की प्रक्रिया, शैवों एवं वौद्धों की वहुत कुछ एक जैसी ही थी। फलत: इस दृष्टि से वौद्ध एवं हिन्दू शैव-धर्म में वहुत कम भेद रह गया था। शंकित-पक्षों में दोनों धर्मों के अनुयायी समान रुप से आस्थावान थे।

वौद्ध-धर्म की भाँति जैन-धर्म भी हिन्दू-धर्म के पुनर्जागरण के साथ पल्लव युगीन समाज में वहुत कम प्रभावी रह गया। शैव-नायनार संत संवन्दर तथा अप्पार ने अपनी तर्कवुद्धि, संयम,संगठन आदि प्रयासों से तत्कालीन तमिल प्रदेश के शक्तिशाली शासकों—पल्लवों एवं पाण्ड्यों को क्रमश: शैव-धर्मानुयायी वना लिया। फलत: 8 वीं

---

1. वाटर्स ऑन य्वान्च्यांग, भाग 2, पृ० 226-227 तथा विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य; उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० 218-219.

शती के मध्य तक वहाँ बौद्ध धर्म का तेजी से ह्रास होने लगा। नायनार एवं आलवर संतों से अधिक प्रभावशाली दोनों हिन्दू-संप्रदायों के आचार्यगण हुए। इन शैव एवं वैष्णव आचार्यों की अलौकिक तर्कशक्ति, प्रचार एवं प्रसार के सामने जैन-आचार्य विशेष प्रभावशाली न रह गये थे। धीरे-धीरे जैन-अनुयायी तमिल प्रदेश छोड़कर कर्नाटक के श्रवण वेलगोला-क्षेत्र में जाकर बसने लगे। 8 वीं शती में यहाँ उन्हें सर्वप्रथम गंग नरेशों ने शरण प्रदान की। कालान्तर में 11 वीं शती में कर्नाटक प्रदेश में जैन मतालम्वियों को क्रमशः कल्याणी के चालुक्यों तथा होयसलों ने संरक्षण प्रदान किया।

पल्लवयुगीन समाज में शैव एवं वैष्णव धर्मों के पुनर्जागरण **कुमारिल भट्ट्** एवं **शंकराचार्य** के उदय ने युगान्तरकारी भूमिका प्रस्तुत की। वे स्मार्त (परम्परावादी) धर्म के पोषक थे। फलतः उन्होंने सदियों से पल्लवित वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म को अधिक उपयोगी, तार्किक एवं मानवीय भावनाओं से जोड़कर, उसे पुनर्स्थापित करने का भरपूर प्रयास किया। उक्त आचार्यों ने जीवन को तीन कालों में बाँटकर यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया कि युवावस्था के पूर्व व्यक्ति को विद्याभ्यास, युवाकाल में धार्मिक-कर्मकाण्ड तथा वृद्धावस्था में दार्शनिक चिन्तन-मनन करना चाहिए। **कुमारिल भट्ट** ने अपने शास्त्रार्थों एवं रचनाओं के माध्यम से बौद्ध-धर्म-दर्शन का सम्यक खण्डन करके उसकी सारी लोकप्रियता समाप्त कर दी। उन्होंने मीमांसा-दर्शन में बौद्ध-दर्शन के सभी आयामों की समीक्षा की तथा उनका तार्किक खण्डन किया।

हिन्दू-धर्म के पुनर्जारण में महान् विचारक **शंकराचार्य** के विषय में कुछ महत्वपूर्ण सूचनाओं की जानकारी अपेक्षित है। उनका जन्म 788 ई० में केरल प्रदेश की उत्तरी ट्रावन्कोर-जनपद में अलवए नदी के तट पर स्थित कलाड-ग्राम के एक नम्बूदरी-ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। अल्पायु में ही पिता का देहान्त हो जाने पर उन्होंने गृह-त्याग कर दिया। बाद में वे सुप्रसिद्ध आचार्य गौड़पाद के योग्य शिष्य गोविन्द परमहंस के शिष्य हो गए। किशोर वय में ही उन्होंने वेदान्त-धर्म एवं दर्शन का गहन अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करके शास्त्रार्थ-हेतु भारत-भ्रमण का कार्य पूरा किया। उन्होंने ब्रह्मवादी अद्वैत वेदान्त-दर्शन का प्रचार किया तथा शास्त्रार्थ में जैन एवं बौद्ध प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ कर सम्मपूर्ण भारत में ब्राह्मण-धर्म का झण्डा गाड़ दिया। शंकराचार्य ने बौद्ध-संगठनों के अनुकरण पर सन्यासी-धर्म का पुनर्गठन करके भारत के चारों कोनों पर शंकर-पीठ भी स्थापित किया। इनमें शृंगेरी, काञ्ची, द्वारका, वद्रीनाथ तथा पुरी के पीठ आज भी महत्वपूर्ण हैं। 820 ई० में युवाकाल में ही उनकी मृत्यु हो गई। शंकर के अद्वैत-दर्शन का प्रचार भारत में ही नहीं, अपितु वृहत्तर भारत में भी हुआहै। वृहत्तर भारत में इस दर्शन के प्रचार का प्रारम्भिक दायित्व उनके शिष्य शिवसोम ने सभाँला था।

शंकराचार्य की मृत्यु के उपरान्त पल्लवशासित तमिल देश एवं दक्षिण भारतीय अन्य प्रदेशों में नवोदित ब्राह्मण-धर्म के प्रचार एवं प्रसार का दायित्व तत्कालीन संतों, आचार्यों तथा तमिल एवं संस्कृत-भाषा के कवियों ने सँभाला था।

पल्लवयुगीन हिन्दू-धर्म के पुनर्जागरण में संतों एवं कवियों ने युगान्तकारी परिवर्तन प्रस्तुत किया। उनके प्रभावों में आकर पल्लव-शासकों ने केवल बौद्ध एवं जैन धर्मों को ही नहीं, छोड़ा, बल्कि पूरे उत्साह के साथ नवोदित हिन्दू-धर्म की स्थापना में

भरपूर योगदान भी किया। साम्राज्य-निर्माणवादी पल्लव शासक सिंहविष्णु ने वैष्णव-धर्म को अपनाकर अपने आराध्यदेव विष्णु की पूजा के लिए **मामल्लपुरम् में आदिरह्-मन्दिर** का निर्माण कराया। इस मन्दिर में उक्त नृपति को सपरिवार पूजा करते हुए अंङ्कित किया गया है। शक्तिशाली शासक महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने अपने ग्रन्थ **'मत्तविलास-प्रहसन'** में बौद्ध-धर्म में विशेष प्रचलित तन्त्रयान एवं पंचमकार साधना का मजाक उड़ाया है। उसने अपने शासनकाल में शिव एवं विष्णु देवों के अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण कराया। उनके द्वारा निर्मित शैलोत्तकीर्णित एमाश्मक मन्दिरों में मण्डगपटटमु का **लक्षितायन-मण्डप**, पल्लवरम् का **पंचपाण्डवमण्डप**, मामण्डूर का **रुद्रपालीश्वर-मण्डप**, कुरुङ्गनिलमुत्तम का **कलमण्डकम्-मण्डल**, वल्लभ का **बृहत्वसन्तेश्वर-मन्दिर, महेन्द्रविष्णुगलह्-मण्डप**, मामण्डूर का **विष्णु-मण्डप** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। **पेरियपुराणम्** से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में वह जैन धर्मावलम्वी था किन्तु बाद में सन्त अप्पर के प्रभाव में आकर शैव-धर्मानुयायी हो गया। महेन्द्रवर्मन् के उत्तराधिकारी-पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम ने वातापि के चालुक्यों को पराजित करके वहाँ से एक गणेश की प्रतिमा को अपहस्त करके काञ्ची में प्रतिष्ठित किया था। उसने भी शिवोपासना-हेतु अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया। **वी० वेंकटय्या** के अनुसार उसने महाबलिपुरम् के विख्यात सप्त-रथों (मन्दिरों) का निर्माण करवाकर ब्राह्मण-धर्म के प्रति अपनी गहरी आस्था व्यक्त की थी। उसकी उपलब्धियों का उल्लेख आलवर-संतों की रचनाओं में सुरक्षित हैं। उसके आत्मज महेन्द्रवर्मन् द्वितीय के राज्यकाल में मन्दिरों, ब्राह्मणों तथा वैदिक विद्यालयों की समुन्नति की विशेष व्यवस्था की गई, जिसकी पुष्टि कशाक्कुडि-ताम्रपत्रों से होती है। परमेश्वरवर्मन् प्रथम द्वारा उपयुक्त ब्राह्मण-धर्मों के प्रचार एवं प्रसार हेतु किये गये कार्यों का उल्लेख **वैष्णव-संत तिरुमंगध आलबर** ने अपनी रचनाओं में की है। वह शैव था। उसने शिव-भक्ति के वशीभूत होकर 'परममाहेश्वर' की उपाधि धारणा की थी। कूरम-अभिलेख से पता चलता है कि उसने सम्भवत: अश्वेध-यज्ञ भी किया था (**यथावदामृतअश्वमेधाद्यनेकक्रतु याजिन**)। परन्तु इसकी पुष्टि अन्य साक्ष्यों से नहीं हो सकी है। उसने अपने शासनकाल में ग्रेनाइट-शिलाओं के द्वारा अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। मामल्लपुरम् का **गणेश-मन्दिर** उसी की देन है। उसके पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय ने उक्त धार्मिक पुनर्जागरण के उत्साह में काञ्जी की घटिकाओं (विद्यालयों) विशेष प्रोत्साहन दिया। वेलूरपारल्यम्-अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह शैव था तथा अपने आराध्यदेव शिव के लिए कैलास पर्वत के सदृश ऊँचा एवं सुन्दर एक प्रस्तर-मन्दिर का निर्माण करवाया था (**शिलामयंवेश्मशांकमौलेः कैलासकात्यंच महेन्द्रकृत्यः**)। अपने पूर्वजों की श्रंखला में ही पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन द्वितीय ने काञ्ची में **मुक्तेश्वर** तथा **वैकुण्ठ पेरुमल** जैसे भव्य एवं विशाल मन्दिरों को निर्मित कराया था। उदयेन्दिरम्-अभिलेख में उसे अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन घोषित किया गया। परन्तु उसके उक्त याज्ञिक अनुष्ठान की पुष्टि अन्य साक्ष्यों से नहीं हो सकी है। उसे महान् वेदज्ञ तथा धर्मशास्त्रज्ञ भी कहा गया। पल्लवनरेश दन्तिवर्मन् भी व्यक्तिगत जीवन में महान् वैष्णव था। अभिलेखों में उसे विष्णु का साक्षात अवतार कहा गया है। महाराज नन्विर्मन् तृतीय भी तमिल-भाषा एवं साहित्य के महान् संरक्षक तथा घोर शैव थे। तमिल-महाकवि- **'पेरुन्देवनार'** ने

उसके राजाश्रय में पल कर 'भारतवेणवा' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। नन्विर्मन् द्वारा निर्मित मन्दिरों में पल्लिकोंड (उत्तरी अर्काटजनपद) शिव मन्दिर की मुखमण्डप तथा दक्षिणी-अर्काट जिले के किलियणूर नामक स्थान पर बने विष्णु-मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार नृपतुङ्ग ने ब्राह्मण-धर्म, संस्कृति एवं साहित्य के विकास हेतु बाहर में एक ऐसा विद्यालय संचालित किया था; जिसमें वैदिक, पौराणिक एवं धर्मशास्त्रीय विविध विषयों (चतुर्दशगण) का सम्यक् अनुशीलन कराया जाता था। उसकी अग्रमहिषी ने विष्णु की भक्ति के प्रभाव के फलस्वरुप उक्कल के भुवननिमाणिक विष्णु-मन्दिर का निर्माण कराया था। अन्तिम महान् पल्लव नरेश अपराजित ने भी तिरुत्तनि में वीरट्टानेश्वर-मन्दिर का निमार्ण करवाकर दक्षिण भारत में प्रसारित पौराणिक ब्राह्मण-धर्म की स्थापना में अपना योगदान किया था।

पल्लव नरेशों द्वारा हिन्दू-धर्म के अनुसरण एवं शिव तथा विष्णु की आराधना हेतु विशाल एवं आकर्षक मन्दिरों के निर्माण के फलस्वरुप तमिल समाज में धार्मिक पुनर्जागरण की लहर सी चल पड़ी थी। मन्दिरों का भव्य एवं आकर्षक आकार एवं परिवेश उनमें स्थापित पौरारिक देवमण्डल तथा उनकी भक्तिपरायण आकृतियाँ लोगों के मन में धार्मिक उन्माद एवं उमङ्ग पैदा कर देती थी। राजपरिवारों का शैव अथवा वैष्णव-धर्मों में सपरिवार भक्ति-भाव रखना सामान्य नागरिकों को बिना तर्क-विर्तक किये उन्हें अपनाने के लिए पर्याप्त था। संयोगवश, शैव-नायनार एवं वैष्णव आलवार-सन्तों की लोक-भाषा की चासनी में डूबी हुई भक्ति-वाणी एवं भजन उक्त धर्मों में सहज अनुरक्ति पैदा कर देती थी।

तमिल देश में शैव-धर्म का प्रचार अधिक हुआ क्योंकि देवारन आदि संतों के भक्ति पदों में शिव की स्तुतियाँ ही अधिक थीं। आर० जी० भण्डारकर का अनुमान है कि धीरे-धीरे पल्लवयुगीन तमिल-समाज में शैवदर्शन एवं सिद्धान्तों का भी प्रावल्य हो गया था, क्योंकि राजसिंहश्वेर-मन्दिर के अभिलेख में 'अत्यन्त काम' (पल्लव नरेश राजसिंह) को शैव-सिद्धान्तों में पारंगत आचार्य कहागया है। ईसा की 9 वी एवं 10 वीं शतियों तक सनातन शैव-आचार्यो ने जो रचनाएँ की, वे शैव सिद्धान्त-शास्त्र के रुप में ही अधिक सम्मान्य हैं। अस्तु, पल्लवकालीन धार्मिक पुनर्जागरण के विकास-क्रम में शैवधर्म के सर्वाग्राह्य सिद्धान्तों में क्रमशः और गहराई में जाकर उन्चतम् शैव-दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर विकास का क्रम स्वीकार किया जा सकता है।

शैव-धार्मिक आन्दोलन के प्रमुख सूत्रधार 'नायनार' संतों की संख्या तिरसठ थी। नायनारों में भी प्रधान संत तीन थे—संत अप्पार, नानसम्बंदर तथा सुन्दरमूर्ति। इन प्रधान संतों तथा नायनारों की शिव-भक्ति प्रकृतिः विशुद्ध भावनात्मक थी। फलतः प्रतिभाशाली संतों के भजन-कीर्तन, वाद-विवाद तथा भावप्रवण उपदेशों ने तमिल-समाज में शिव-भक्ति की धारा वहा दी। बाद में इस धर्म की व्यापकता स्थापित हो जाने पर शैव-दर्शन तथा उसके विभिन्न सिद्धान्तों के प्रति लोगों का आग्रह बढ़ गया।

शैव-धर्म की भाँति तमिल समाज में वैष्णव-धर्म का भी विशेष प्रसार हुआ। तत्कालीन निर्मित वहुसंख्यक विष्णु-मन्दिरों, साहित्यिक तथा अभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि गुप्तोत्तर काल में वैष्णव-धर्म सम्पूर्ण भारत में प्रचलित एवं लोकप्रिय हो गया था। उत्तर एवं दक्षिण भारत के अधिकांश नरेश वैष्णव-धर्मानुयायी हो गए थे

विष्णु एवं उनसे सम्बन्धित देवमण्डल की भक्ति में बहुसंख्यक प्रतिमाओं एवं मन्दिरों का निर्माण किया जाने लगा था। तमिल-देश में वैष्णव-धर्म की प्रधानता अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा किञ्चित् अधिक थी। इसको व्यापक रुप से जन-जन तक प्रसरित करने का श्रेय मुख्यतः आलवार-संतों को प्रदान किया जाता है। 9 वीं एवं 10 वीं शती में वैष्णव-धर्म के पुनरुत्थान की एक लहर सी-चल रही थी। इस धार्मिक आन्दोलन को गति एवं दिशा देने वाले आलवर संतों में तिरुमंगाई, पेरियर आलवार, महिला संत अंदाल तथा नाम्मालवार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। संतों द्वारा चलाए गए उक्त विष्णु-भक्ति-आन्दोलन की विशेष सफलता विष्णु को प्रमुख आराध्य देव के रुप में स्वीकार करने के कारण मिली यह भक्ति भजन, पूजन, नाभोच्चारण तथा प्रतिमा-दर्शन आदि से सरलतया प्राप्त की जा सकती है। इसमें दार्शनिक जटिलता का नितांत अभाव था। फलतः तमिलजनता नास्तिक-धर्मों (जैन एवं बौद्ध-धर्म) को छोड़कर विष्णु में भक्ति, प्रेम तथा शरणागति लेकर मोक्ष-प्राप्ति की आग्रही होने लगी। आलवर-संतों ने अपने भजनों, गीतों एवं प्रवचनों, से एकेश्वरवाद की स्थापना करते हुए उस परम ईश अर्थात विष्णु में अनन्य भक्ति विकसित करने का संदेश दिया। उन्हें विश्वात्मा, अनन्त, मोक्षधाम तथा सर्वश्रेष्ठ देव के रुप में प्रतिष्ठित किया गया। विष्णु के अवतारों का उदाहरण देकर आलवार-संतों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि असीम और अनन्त ब्रह्म होते हुए भी विष्णु ही एकमात्र ऐसे देवता हैं, जो प्राणियों के कल्याण के लिए समय-समय पर अवतार लेकर लोगों के कष्टों का निवारण करते हैं। वे मूर्तियों में अपना साकार रुप लेकर विराजमान हैं। विष्णु के विविध अवतारों में कृष्णावतार अधिक लीलामय होने के कारण पल्लव-समाज में विशेष लोकप्रिय हुआ। उपर्युक्त संतों की यह दृढ़ धारणा थी कि विष्णु की भक्ति करने तथा मूर्ति-पूजा से वैकुण्ठ में ईश्वर का सानिध्य एवं उनकी सेवा-भक्ति का अवसर प्राप्त होता है। वैष्णव बनने के लिए वर्ण, जाति, रुप, रंग, ऊँच, नीच आदि किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा गया। इस काल के अनेक आलवर, प्रचारक एवं संत जात्या शूद्र थे। संत तिरुमंगाई स्वयं वेल्लाल (शुद्र) जाति के थे।

आलवरों एवं संतों के प्रचार-कार्यों को कालान्तर में वैष्णव-आचार्यों ने और भी अधिक आध्यात्मिक एवं दार्शनिक स्वरुप प्रदान किया। आलवरों ने भावनाप्रधान वैष्णवधर्म को आन्दोलित किया था, जिसमें वदलती हुई परिस्थितियों में दार्शनिक एवं वौद्धिक पक्ष का उत्थान अपरिहार्य हो गया था। फलतः इस काल के वैष्णवआचार्य ने ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की दार्शनिक व्याख्यायें की। उन्होंने इन सिद्धान्तों के निरुपण में वैदिक, पौराणिक तथा तमिल-धर्मग्रन्थों में विवृत्त दार्शनिक तत्त्वों में समन्वय स्थापित किया। फलतः वेद, वेदान्त एवं भगवद्गीता के साथ तमिल 'प्रवन्धकम्' में आख्यात आध्यात्मिक विचारों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया। इन्हीं वैष्णव-आचार्यों ने आगे चलकर सुप्रसिद्ध 'श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय की स्थापना की। इस श्री-सम्प्रदाय के आद्य तथा प्रमुख आचार्य नाथमुनि थे। दक्षिण भारत तथा कुछ सीमा तक सम्पूर्ण भारत में इस सम्प्रदाय के लोग आज भी विद्यमान हैं।

इस प्रकार महान् पल्लव नरेशों के शासनकाल में जैन एवं बौद्धधर्म के ह्रास के साथ-साथ शैव एवं वैष्णव धर्मों की स्थापना, जागरण तथा विकास की परिस्थितियाँ उदित हो चुकी थीं।

11 राष्ट्रकूट राजवंश

दक्कन में पश्चिमी चालुक्यों का राज्य आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक बना रहा। परन्तु इसके बाद अन्तिम चालुक्य शासक कीर्तिवर्मन् द्वितीय की अक्षमता का लाभ उठाकर उसके महाराष्ट्र के सामन्त शासक राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने धीरे-धीरे अपनी शक्ति एवं प्रभाव में पर्याप्त वृद्धि कर ली। इसी बीच महाराष्ट्र (पश्चिमी दक्कन) पर हुये अरबों के आक्रमण का विरोध करके दन्तिदुर्ग ने वहाँ अपना विशेष प्रभाव बढ़ा लिया। ज्ञातव्य है कि दक्कन का यह वही भू-भाग था, जिस पर पहले सातवाहनों ने तदुपरान्त उक्त चालुक्य नरेशों ने अपना राज्य स्थापित किया था। आगे चलकर राष्ट्रकूटों ने भी अपने पूर्ववर्ती राजवंशों की भाँति उत्तरी एवं दक्षिणी भारत की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की।

उत्पत्ति एवं मूलस्थान—राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति एवं जाति के विषय में परस्पर-भिन्न सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। अतः स्वाभाविक रूप से इस सम्बन्ध में अनेक मत प्रतिपादित किये गये हैं। कतिपय प्रारम्भिक राष्ट्रकूट अभिलेखों में उन्हें रिट्ठ' कहा गया है। इन्द्र तृतीय के **नौसारी-अभिलेख** में राष्ट्रकूट नरेश **अमोघवर्ष** को 'रट्ठ-कुल-लक्ष्मी का उद्धारक' घोषित किया गया है (निमग्नां यश्चुलुक्याब्धी रट्ठराज्यश्रियं पुनः)। उक्त कथन की सम्पुष्टि कृष्ण तृतीय के **देवली** तथा **करहट** अभिलेखों से भी होती है। इनमें 'रट्ठ' को उक्त राज वंश का आदिपुरुष बताया गया है। वर्धा से प्राप्त ताम्रपत्रों में राजकुमारी रट्ठा के पुत्र को 'राष्ट्रकूट' कहा गया है। **एम० सी० नन्दिमथ** तथा **चिन्तामणि विनायक वैद्य** प्रभृति विद्वानों ने अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित 'रट्ठिकों' की पहचान राष्ट्रकूटों से की है। अवान्तरकाल में इनके ही वंशज मराठा कहलाये। इसी प्रकार **विश्वनाथ रेउ** ने राष्ट्रकूटों का सम्बन्ध कन्नौज के गहड़वालों के साथ स्थापित किया है (**कान्यकुब्जे महाराज-राष्ट्रकूटस्य कन्यकाम्**)। परन्तु रेउ महोदय का उक्त मत विशेष मान्य नहीं है।

कतिपय परवर्ती राष्ट्रकूट-अभिलेखों में उन्हें सात्यकि-यदुवंशी कहा गया है। शक सम्वत् 836 के एक अभिलेख में राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग का जन्म यदुवंशी सात्यकि-शाखा में आख्यात मिलता है (तत्रान्वये विततसात्यकि-वंश-जन्मा श्रीदन्तिदुर्ग नृपतिः पुरुषोत्तमोऽभूत्)। इसी प्रकार एक अन्य अभिलेख में राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय की तुलना यदुवंशी श्रीकृष्ण के साथ की गयी है (यस्मिन्सर्वगुणाश्रये क्षितिपतौ श्रीराष्ट्रकूटान्वयो, जाते यादववंशवन्मधुरिपा बासी दलंघ्यः परैः)।

चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 'राष्ट्र' शब्द की व्याख्या राष्ट्र राज्य अथवा मण्डल आदि से तथा 'कूट' का तात्पर्य प्रधान अथवा प्रमुख से करते हुये 'राष्ट्रकूट को एक प्रशासकीय पदनाम घोषित किया है। **बर्नेल** ने 'राष्ट्रकूट' को तेलगू शब्द 'रेड्डि' का परवर्ती रूपान्तर मानते हुये उन्हें आन्ध्र-देश की वर्तमान जाति 'रेड्डि' अथवा 'रेड्डी' से सम्वन्धित वताया है। परन्तु अनन्त सदाशिव अल्तेकर 'राष्ट्रकूट' को तेलगू शब्द से निस्सृत न मानकर कन्नड़ शब्द मानते हैं, क्योंकि उनकी भाषा कन्नड़ थी। उन्होंने भाषा-साक्ष्य के आधार पर राष्ट्रकूटों को कन्नड़ देश (कर्नाटक) का निवासी वताया है।

जे० एफ० फ्लीट ने राष्ट्रकूटों का सम्बन्ध उत्तरी भारत की राठौर (क्षत्रिय) जाति से स्थापित करने का प्रयास किया है। परन्तु राठौरों की उत्पत्ति के वहुत वाद हुई, अतः यह मत भी विशेष समीचीन नहीं माना जा सकता है।

अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने राष्ट्रकूटों का सम्वन्ध अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित 'रट्ठिकों' से तो माना है, परन्तु वे **चि० वि० वैद्य** एवं **नन्दिमथ** आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तावित महाराष्ट्र प्रदेश से उनका सम्बन्ध न मानकर, कन्नड़देश (कर्नाटक) से स्वीकार करते हैं। **डी० आर० भण्डारकर** उन्हें महाराष्ट्र के अपरान्तवासियों से सम्वन्धित मानते हैं।

अभिलेखों में राष्ट्रकूटों को अनेकत्र **'लट्ठलूरपुरवराधीश्वर'** कहा गया है। इस साक्ष्य के आधार पर **नन्दिमथ** तथा **पी० वी० देसाई** आदि विद्वानों ने उन्हें महाराष्ट्र प्रान्त के ओस्मानावाद-क्षेत्र में स्थित लट्ठलूर अथवा लाटूर स्थान का मूल निवासी स्वीकार किया है, जो सम्भवतः ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में कन्नड़ अथवा कर्नाटक राज्य का ही एक भाग था।

उपर्युक्त मतों की ऐतिहासिक समीक्षा के आधार पर राष्ट्रकूटों को रट्ठिकों **अथवा महारट्ठिकों से सम्वन्धित मानना ही विशेष समीचीन प्रतीत होता है। रट्ठिकों का उल्लेख अशोक के अभिलेखों के अतिरिक्त कलिंग-नरेश खारवेल के हाथीगुम्फा-अभिलेख, गौतमीबालश्री की नासिक-प्रशस्ति एवं पल्लवनरेश शिवस्कन्दवर्मन् के हीरहडगल्लि-अभिलेख में भी प्राप्त है। सम्भवतः वे महाराष्ट्र के ही मूल निवासी थे। बाद में राष्ट्रकूटों ने कन्नड़ अथवा कर्नाटक राज्य में धीरे-धीरे अपनी राजनीतिक गतिविधियाँ विकसित कर लिया था। वे चन्द्रवंशीय क्षत्रिय माने जाते हैं। वे प्रमुख रूप से शैव एवं वैष्णव धर्मानुरागी थे। उनका राजकीय चिह्न गरुड़ था तथा मान्यखेट उनकी राजधानी थी।**

प्रारम्भिक राष्ट्रकूट शासक—छठीं एवं सातवीं शती ई० के कतिपय अभिलेखों में राष्ट्रकूट-परिवारों को महाराष्ट्र एवं मध्य प्रदेश के बेतूल एवं मालवा (मानपुर) क्षेत्रों तक विस्तृत होने का संकेत किया गया है। एक अभिलेख में अभिमन्यु नामक एक प्रारम्भिक राष्ट्रकूट शासक का नामोल्लेख मिलता है, जो मालवा प्रदेश का शासक था। इस लेख की तिथि, और लिपि, शास्त्रीय दृष्टि से, 7वी शती ई० मानी जाती है। इसमें आख्यात राजा अभिमन्यु का सम्बन्ध दन्तिदुर्ग की राष्ट्रकूट शाखा से था अथवा नहीं, निश्चित रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता है।

राष्ट्रकूट राजा नन्नराज के तिवरखेड़ तथा मुल्ताई ताम्र-पत्र-लेखों में उसके पूर्वज राजाओं का नाम क्रमशः इस प्रकार उल्लिखित है—**दुर्गराज, गोविन्दराज, स्वामिराज** तथा **नन्नराज । नन्नराज** इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजा हुआ । उसके शासन-काल के तीन अभिलेख मध्य प्रदेश के बेतूल जनपद से प्राप्त हुये हैं । सम्भवतः वह वातापि के चालुक्यों का सामन्त था । अल्तेकर का मत है कि नन्दराज, जिसके पूर्वज लट्ठलूर (लाटूर) के निवासी थे, को अपनी प्रशासकीय प्रतिभा के बल पर 650 ई० के लगभग बरार में पुलकेशिन द्वितीय का सामन्त नियुक्त किया गया था । उनके अनुसार मान्यखेट की राष्ट्रकूट-शाखा के नृपतिगण सम्भवतः नन्नराज की राष्ट्रकूट शाखा के ही वंशज थे अथवा उसके वंश की किसी उपशाखा से ही उत्पन्न माने जा सकते हैं ।

मान्यखेट (मलखेद) के राष्ट्रकूट

राष्ट्रकूटों की मान्यखेट-शाखा का प्रथम उल्लेखनीय शासक इन्द्र द्वितीय था । वह गुर्जर-चालुक्य-नरेश मंगलराज के अधीन एक सामन्त था । भड़ौच (भृगुकच्छ) के राजा जयभट्ट तृतीय के कवि-दान-पत्र-लेखों से यह सूचना प्राप्त होती है कि राजा जयभट्ट तृतीय ने वलभी राज्य पर आक्रमण करके उससे खेटक (खेड़ा) तथा पंचमहल प्रदेशों को छीन लिया । सम्भवतः वलभी राज्य पर हुये इस आक्रमण में भड़ौच-नरेश की सहायता करने के लिये गुर्जर-चालुक्य-शासक मगलराज भी उपस्थित हुआ था । संजन-ताम्रपत्र के अनुसार राष्ट्रकूट शासक इन्द्रराज ने खेटक (खेड़ा) में चालुक्य-राजकुमारी भवनागा के साथ राक्षस-विवाह कर लिया था । (इन्द्रराजस्ततोग्रहातयश्चालुक्यनृपात्मजाम् । राक्षसेन विवाहेन रणे खेटक-मण्डपे) । यह घटना 722 ई० के बाद ही किसी समय घटित हुई होगी, क्योंकि वलभीशीलादित्य पंचम के गोदल-ताम्र-पत्र-लेख से स्पष्ट होता है कि 722 ई० तक खेटक-मण्डल पर वलभी राजवंश का शासन स्थापित था ।

खेटक-मण्डल पर गुर्जर एवं चालुक्य शक्तियों का अधिकार चिरस्थायी नहीं रह सका, क्योंकि 731 ई० के लगभग पश्चिमी भारत के अनेक भू-भागों पर विदेशी अरबों के आक्रमणों के फलस्वरूप गुर्जर एवं चालुक्य राज्य लगभग जर्जर हो चुके थे । फलतः इन मंडलों पर इन्द्र द्वितीय के उत्तराधिकारी दन्तिदुर्ग ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया ।

दन्तिदुर्ग (735—756 ई0) इन्द्र द्वितीय के पश्चात् दन्तिदुर्ग राजा हुआ । अपने शासन के प्रारंभिक वर्षों में वह चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य द्वितीय का सामन्त था । वह बहुत महत्वाकांक्षी तथा दूरदर्शी था । उसने अपनी शक्ति बढ़ाकर धीरे-धीरे राष्ट्रकूट राजवंश की स्वतन्त्रता एवं महत्ता की स्थापना में सफलता प्राप्त कर ली । उसने मही, नर्मदा तथा महानदी के आस-पास के क्षेत्रों को जीतकर अपनी साम्राज्य-सीमा का विस्तार कर लिया । उसके समय में हुए गुजरात एवं मालवा प्रदेशों पर अरब आक्रमणों के फलस्वरूप लाट के चालुक्यों एवं नन्दीपुरी तथा उज्जैन (उज्जयिनी) के गुर्जर-प्रतीहारों की शक्ति जर्जर हो चुकी थी । दन्दिदुर्ग ने उनकी कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर उनके भू-प्रदेशों को अपने उदीयमान राज्य में सम्मिलित कर लिया । इन प्रदेशों के शासन-कार्य के लिए उसने अपने अनुभवी चाचा ध्रुव एवं कृष्ण की तथा योग्य

भ्रातृज कर्क द्वितीय से सहायता ली । उसने कूटनीतिक दक्षता का परिचय देते हुए अपने स्वामी वातापि नरेश विक्रमादित्य द्वितीय से लोहा लेना उचित नहीं समझा । परन्तु उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन के राजसिंहासन पर बैठते ही उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी । फलस्वरूप कीर्तिवर्मन एवं दन्तिदुर्ग में भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें अंततः चालुक्यों की पराजय हुई । इस विजय के परिणामस्वरूप उत्तरी महाराष्ट्र तथा गुजरात एवं उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर दन्तिदुर्ग का अधिकार हो गया । दन्तिदुर्ग के शासनकाल के 742 ई० के दशावतार तथा 763-54 ई० के समनगर-अभिलेख से उसकी उपर्युक्त उपलब्धियों पर प्रकाश पड़ता है । इसके अतिरिक्त उसके उत्तराधिकारियों के लेखों से भी उसकी विजयों का परिज्ञान होता है । इन अभिलेखों के अनुसार उसने कलिंग, श्रीशैल (करनूल), कोसल, मालवा, लाट, टंक और सिन्ध के राजाओं को पराजित किया । इस प्रकार दन्तिदुर्ग ने अपनी उदीयमान शक्ति एवं पराक्रम से कीर्तिवर्मन से उसके दूरस्थ प्रदेशों को भी छीन लिया ।

दन्तिदुर्ग की विजयिनी राष्ट्रकूट सेना ने तत्कालीन कांचीनृपति नन्दिवर्मन पल्लव के साथ भी लोहा लिया । दशावतार दभिलेख में उसके द्वारा कांची के शासक की पराजय का उल्लेख मिलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में इन राजाओं में सन्धि होने के फलस्वरूप धीरे-धीरे दोनों में प्रगाढ़ सम्बन्ध हो गए और दन्तिदुर्ग ने अपनी पुत्री रेवा का विवाह नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल के साथ सम्पन्न करके इस सम्बन्ध को और अधिक सुदृढ़ बना लिया ।

दन्तिदुर्ग ने चालुक्यों से न केवल मुक्ति प्राप्त की बरन् एक स्वतंत्र राष्ट्रकूट राजवंश की स्थापना की । सामन्त शासक के रूप में उसने अपनी शक्ति एवं कूटनीतिक प्रतिभा का परिचय पश्चिमी भारत पर हुए अरबों के आक्रमण के समय दिया था । उसने चालुक्य राज्य की सुरक्षा के लिए लाट देश के शासक पुलकेशिराज के साथ अरब आक्रमणकारियों को अनेक युद्धों में पराजित करने का श्रेय प्राप्त किया था । उसकी वीरता से प्रसन्न होकर चालुक्याधिपति विक्रमादित्य द्वितीय ने उसे 'खड्गावलोक' तथा 'पृथ्वीवल्लभ' की उपाधि प्रदान की थी । कालान्तर में उसने अपनी विजयों एवं सफलताओं से उत्साहित होकर परमेश्वर महाराजाधिराज तथा परमभट्टारक आदि विरुदों को धारण किया । चित्तलदुर्ग से प्राप्त एक अभिलेख में उसे निस्संतान कहा गया है । फलतः उसकी मृत्यु (754 एवं 756 ई० के मध्य) के बाद उसके चाचा कृष्ण प्रथम राजगद्दी पर आसीन हुए (तस्मिन् (न) अपुत्रे च ततपितृव्य; कृष्णराजः) ।

कृष्णप्रथम (756—772ई०) विन्सेण्ट ए० स्मिथ, सी० वी० वैद्य प्रभृति इतिहासकार बेगुम्रा दानपत्र के अशुद्ध पाठ (कृतप्रजाबाधे) के आधार पर कभी यह मानते थे कि दन्तिदुर्ग एक प्रजापीड़क शासक था । अतः उसके क्रूर शासन से प्रजा की सुरक्षा करने के लिए कृष्ण प्रथम ने उसकी हत्या कर दी तथा राजमुकुट छीन लिया । इस अभिलेख के शुद्ध पाठ (**अकृतप्रजाबाधे**) उपलब्ध होने के उपरान्त उपर्युक्त मान्यता कि दन्तिदुर्ग प्रजापीड़क था, अब निराधार हो चुकी है । '**अकृतप्रजाबाधे**' पाठ की शुद्धता कृष्ण प्रथम के तलगाँव ताम्र पत्र और गोविन्द तृतीय के पैठान-ताम्र-पत्र की क्रमशः प्रथम पंक्ति के अन्तिम भाग में उल्लिखित '**क्षतप्रजाबाध**' तथा '**कृतप्रजापाल**' पाठ की प्राप्ति से भी प्रमाणित होती है । इसके अतिरिक्त **गोविन्द द्वितीय** के अलास ताम्र-पत्र में

'क्षतोप्रजापालः' एवं दौलतावाद-ताम्र-पत्र में उल्लिखित **'अकृतप्रजापालः'** पाठों के आधार पर भी वेगुम्रा-ताम्र-पत्र-अभिलेख का पाठ **'अकृतप्रजाबाधे'** ही शुद्ध माना जा सकता है।

गुजरात राष्ट्रकूट शाखा के शासक कर्क द्वितीय के वड़ौदा-ताम्र-पत्र-लेख से प्रमाणित होता है कि कृष्ण प्रथम ने अपने एक सम्वन्धी से शासन छीन लिया था। कतिपय विद्वान् उसके द्वारा सत्ता-च्युत राष्ट्रकूटशासक का समीकरण दन्तिदुर्ग से करते हैं। परन्तु तेलगाँव एवं मण्डुक-ताम्र-पत्र-लेखों से यह स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त सत्ताच्युत राजा कृष्ण प्रथम का सम्वन्धी राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग नहीं था। अल्तेकर का मत है कि वड़ौदा-ताम्र-पत्र में सत्ता-च्युत राष्ट्रकूटशासक का नामोल्लेख नहीं किया गया है, अतः दन्तिदुर्ग के नामोल्लेख के अभाव में विद्वानों की उपर्युक्त धारणा समीचीन नहीं मानी जा सकती। सन्दर्भित ताम्र-पत्र में पदच्युत राजा को विस्तारवादी तथा महत्वाकांक्षी वताया गया है। ज्ञातव्य है कि बड़ौदा ताम्र-पत्र लेख में कर्क अपने को परमेश्वर कहता है—**समयोगतपंचमह शब्द—परमभट्टारकमहाराजाधिराज—परमेश्वर**। अर्थात् अधीनस्थ राजा होते हुये भी उसने परमभट्टारक, महाराजाधिराज एवं परमेश्वर जैसी बड़ी राजकीय उपाधियाँ बड़ी चतुराई के साथ प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। इससे यह भी प्रकट होता है कि सम्भवतः दन्तिदुर्ग की मृत्यु के उपरान्त उसने स्वयं को राष्ट्रकूट सम्राट् घोषित कर दिया होगा। इस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में इस वात की अधिक सम्भावना प्रतीत होती है कि कृष्ण प्रथम द्वारा पदच्युत राजा कर्क द्वितीय ही रहा होगा न कि दन्तिदुर्ग।

राहप्प (चालुक्य) पर विजय—गुजरात की राष्ट्रकूटशाखा के शासकों, तथा गोविन्द के कवि-ताम्र-पत्र लेख (827 ई०), ध्रुवराज द्वितीय के वेगुनारा-ताम्र-पत्र लेख (867-68 ई०) एवं कर्क द्वितीय के सूरत-ताम्र-पत्र-लेख (821 ई०) से ज्ञात होता है कि कृष्ण प्रथम ने राहप्प नरेश को पराजित कर 'राजाधिराज' एवं 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की। राहप्प कौन था ? इस पर विद्वानों में मतभेद है। इस प्रसंग में इतना तो निश्चित है कि राहप्प का समीकरण कर्क द्वितीय से नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी भी अभिलेख में इसको कृष्ण प्रथम का सम्वन्धी नहीं कहा गया है **दिनेश चन्द्र सरकार** का मत इस सन्दर्भ में विशेष ध्यातव्य है। उनके अनुसार राहप्प सम्भवतः चालुक्यनरेश कीर्तिवर्मा का ही दूसरा नाम था। ज्ञातव्य है कि कृष्ण प्रथम 756 ई० में राजगद्दी पर बैठा। उस समय (757 ई० में) कर्नाटक में चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मा का ही शासन चल रहा था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रतापी दन्तिदुर्ग की मृत्यु के उपरान्त चालुक्यनरेश कीर्तिवर्मा अथवा उपनाम राहप्प ने राष्ट्रकूट-राज्य की ओर अपनी शक्ति-विस्तार का प्रयत्न किया होगा। 757 ई० के बक्कलेरी-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने शोलापुर जनपद तक अपने साम्राज्य की सीमा को बढ़ा लिया था। उसकी बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने के लिये तथा अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये **कृष्ण प्रथम** ने चालुक्य नरेश पर आक्रमण करके उसको पराजित किया। यह इसलिए भी सम्भव प्रतीत होता है कि चालुक्यों के येवूर-अभिलेखों में यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है कि उसके वंश की कीर्ति, कीर्तिवर्मा के पराभव के साथ समाप्त हो गई—

"तद्भवो विक्रमादित्यः कीर्तिवर्मा तदात्मजः ।
येन चालुक्यराज्यश्रीरन्तरायिन्यमद्भुवि ॥"

गोविन्द तृतीय के शक संवत् 730 (807 ई०) के एक अभिलेख में उल्लिखित है कि **कृष्ण प्रथम** ने अपने बाहुबल से चालुक्य राज्यलक्ष्मी को अपहृत कर लिया **(यश्चालुक्यकुलादनून........लक्ष्मीम्......आकृष्टवान् वल्लभः)**। अस्तु राहप्प एवं **कीर्तिवर्मा** पृथक्-पृथक् व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति का अलग-अलग नाम प्रतीत होता है, जिसे **कृष्ण प्रथम** ने पराजित किया था।

गंगवाड़ी राज्य पर विजय—768 ई० के लगभग कृष्ण प्रथम ने मैसूर के गंगवाड़ी राज्य पर आक्रमण किया। तालेगाँव-अभिलेख से पता चलता है कि उसने गंगराज्य की राजधानी मान्यनगर (मण्णे) में अपना स्कन्धावार स्थापित किया था। उस समय गंगवाड़ी राज्य पर श्रीपुरुष का शासन चल रहा था। तालेगाँव-अभिलेख के अनुसार राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने गंगवाड़ी की शक्ति के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। उसने यहाँ से विपुल सम्पत्ति अपहृत कर ली तथा गंगनरेश को जीतकर उसे अपना सामन्त वना लिया।

वेंगी राज्य पर विजय—कृष्णप्रथम के समय वेंगी-राजसिंहासन पर पूर्वी-चालुक्य राजवंश का शासक विष्णुवर्धन चतुर्थ आसीन था। कृष्णप्रथम ने इस राज्य के विरुद्ध संचालित सामरिक-अभियानों का दायित्व अपने पुत्र युवराज गोविन्दद्वितीय को सौंपा। 769-70 ई० में राष्ट्रकूट सेना कृष्णा एवं मूमी नदियों के संगम पर डेरा डाले हुये थे—इस बात की अभिलेखिक पुष्टि होती है। कृष्णप्रथम के मण्डुक तथा भन्दक-ताम्र-पत्र-लेखों से प्रमाणित होता है कि 722 ई० में हैदराबाद तथा मध्यप्रदेश के मराठी-भाषी-क्षेत्रों पर उसका आधिपत्य स्थापित था। वेंगी के चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों के मध्य हुये धोर संग्राम में अन्ततः राष्ट्रकूटों की विजय हुई तथा वेंगी राज्य के उपर्युक्त क्षेत्रों को राष्ट्रकूट राज्य में मिला लिया गया। अन्त में वेंगीनरेश ने राष्ट्रकूट 'युवराज' गोविन्द द्वितीय से सन्धि करके अपनी पुत्री शीलभट्टारिका का विवाह उसके अनुज ध्रुव के साथ कर दिया।

दक्षिणी कोंकण राज्य पर विजय—रट्ठराज के खारेपाटन-ताम्र-पत्र-लेख के अनुसार कृष्ण प्रथम ने दक्षिणी कोंकण राज्य को जीत कर उसे सणफुल्ल नामक अपने सामन्त को राज्य करने के लिये सौंप दिया। कुछ समय बाद उसने वहाँ पर शीलाहार राजवंश की स्थापना की। औरंगावाद में कृष्ण प्रथम ने अपने अनुज नन्नगुणावलोक को अपना प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया।

कृष्ण प्रथम की मृत्यु कब हुई, निश्चित रूप में ज्ञात नहीं है। परन्तु उसका तिथियुक्त अन्तिम लेख शक संवत् 692 (770 ई०) का उपलब्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने लगभग 772 ई० तक राज्य किया क्योंकि तालेगाँव-ताम्र-पत्र-लेख में भी उसके जीवित होने का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

मूल्यांकन—कृष्ण प्रथम राष्ट्रकूट राजवंश का एक महान् नरेश था। उसने अपने पराक्रम के वल पर उत्तराधिकार में प्राप्त राष्ट्रकूटराज्य की सीमा को लगभग तीन गुना विस्तृत कर दिया। उसने सुदूर दक्षिणी भारत तक सामरिक अभियान करके काँची के

पल्लवों को भी पराजित किया था (**कांचीगुणालंकृत विश्वम्भरा विजकनितेवसातेन-भुक्ता**)। इसी प्रकार उसने वातापि के प्रसिद्ध चालुक्य राजवंश की शक्ति का नाश करके सम्पूर्ण कर्नाटक को अपने अधीन कर लिया था। भन्दक तथा मन्डुक ताम्र-पत्र-लेखों से पता चलता है कि मध्य प्रदेश का सम्पूर्ण मराठी-भाषी क्षेत्र तथा आन्ध्र प्रदेश का हैदराबाद-क्षेत्र भी उसके विशाल साम्राज्य में समाहित था।

महान् विजेता होने के साथ-साथ कृष्णप्रथम एक कुशल प्रशासक तथा कला एवं साहित्य का संरक्षक भी था। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य **अकलंक भट्ट** जिसने **'राजवार्तिक'** तथा अन्य ग्रन्थों की रचना की थी, इसी नरेश के संरक्षण में रहता था। उसने विद्वानों के आवास के लिए एक भव्य देवकुल **'कन्नेश्वर'** (कृष्णेश्वर) का निर्माण करवाया था। वह घोर शैव था तथा अपनी भक्ति को रचनात्मक कीर्ति देने के निमित्त उसने अनेक शिवमन्दिरों का निर्माण करवाया था। एलोरा का प्रसिद्ध कैलास-मन्दिर उसकी कला-प्रियता एवं कलात्मक निर्माण को अमरत्व प्रदान करता है। बड़ौदा-अभिलेख में कैलास-मन्दिर की अलौकिक कला का भव्य वर्णन मिलता है। उसने अपने शासनकाल में संभवतः चाँदी के सिक्कों का प्रचलन किया था। **विश्वनाथ रेउ** के अनुसार अमरावती-संभाग के घमौरी स्थान से प्राप्त अठारह सौ चाँदी के सिक्के कृष्ण प्रथम द्वारा ही प्रचलित किए गए थे। इन सिक्कों के प्रचलनकर्त्ता का विवाद रहित निर्णय संयोगवश अभी तक नहीं हो पाया है।

गोविन्द द्वितीय (773—780 ई०) कृष्ण प्रथम की मृत्यु के बाद 773 ई० में युवराज गोविंद द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। युवराजकाल (770—72 ई०) में उसने वेंगी के चालुक्यों को पराजित करके अपनी सामरिक दक्षता का परिचय दिया था। धुलिया एवं पिम्पेरी दान-पत्रों से ज्ञात होता है कि उसने अपने अनुज ध्रुव को नासिक-खानदेश राज्य का शासक नियुक्त किया। ध्रुव बहुत पराक्रमी एवं महत्वाकांक्षी शासक सिद्ध हुआ। गोविन्द द्वितीय, उसकी प्रशासकीय क्षमता को देखकर अपने सम्पूर्ण राज्यशासन का उत्तरदायित्व उसको सौंपकर स्वयं विलासी हो गया। अपनी विधिक राजसत्ता की सीमा सांघते हुए सत्तालोलुप ध्रुव ने अपनी महत्वाकांक्षा की तुष्टि के लिए सम्राट् गोविन्द द्वितीय की राय लिये बिना ही राजाज्ञा पारित करना प्रारम्भ कर दिया। गोविन्द द्वितीय को अपने अनुज ध्रुव को इस प्रकार के अनाधिकार पूर्ण राजकीय आदेशों की उक्त पहल पसन्द न आयी। फलतः वह पुनः एक सतर्क शासक की भाँति अपने राज्यशासन की देखभाल स्वयं करने लगा। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि 775 ई० के पिम्पेरी-ताम्र-पत्र-लेख से की जा सकती है, जिसमें ध्रुव ने राष्ट्रकूट शासक के रूप में अपने नाम से भूमिदान किया था, किन्तु उस दानपत्र में अपने स्वामी नरेश गोविन्द द्वितीय का नामोल्लेख तक नहीं किया है।

दौलताबाद-ताम्र-पत्र-लेख से ज्ञात होता है कि गोविन्द द्वितीय द्वारा शासनकार्य अपने हाथ लें लेने से क्षुब्ध ध्रुव ने उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। ध्रुव ने अपने समर्थकों को साथ लेकर राजधानी में यह ऐलान कर दिया कि विलासी गोविन्द द्वितीय के कारण राष्ट्रकूट-राज्यलक्ष्मी खतरे में पड़ गई है, अतः उसे पदच्युत करना आवश्यक हो गया है—

"तस्यानुजो निरुपमस्तमुदीर्णभीक्ष्य,
त्यक्तं नृपेरपि नयने विलुप्यमानम्।
राज्यं बभार गुगभक्तिवतोऽन्यसंस्थम्,
मा भूत किलान्वय परिच्युतिरत्रलक्ष्म्याः ।।"

ध्रुव ने प्रजाजनों में सम्राट् गोविन्द-द्वितीय की राजनयिक छवि बिगाड़ कर उसके विरुद्ध सशक्त विद्रोहात्मक अभियान चलाया। गोविन्द द्वितीय ने अपने विद्रोही भाई की शक्ति को कुचलने के लिए मालवा, गंगवाड़ी, वेंगी तथा कांची के शासकों को अनेक **प्रलोभन** देते हुए उनसे सैनिक सहायता तथा स्वपक्षीय सवल समर्थन देने की अभ्यर्थना **की। ये सभी** राज्य राष्ट्रकूट-शक्ति से कई बार पराभूत हो चुके थे तथापि उसके **सहायतार्थ** ध्रुव के विरुद्ध खड़े हुए। परन्तु ध्रुव ने इस विद्रोह में अन्ततः सफलता प्राप्त **की तथा** उसने गोविन्द द्वितीय को अपदस्थ करके राजगद्दी हथिया ली। **सत्ता-प्राप्ति-हेतु** यह गृह-युद्ध 780 ई० के लगभग घटित हुआ।

ध्रुव 'धारावर्ष (780—793 ई०) धुलिया-ताम्र-पत्र-अभिलेख से ज्ञात होता है कि ध्रुव 779 ई० तक अपने अग्रज गोविन्द द्वितीय के अधीन शासक था। जैन **'हरिवंश पुराण'** में आख्यात है कि 783 ई० में कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ दक्षिण भारत का शासक हुआ **(शाकेष्वब्दशतेषु सप्तमदशां........कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्)**। परन्तु श्रीवल्लभ विरुद् गोविन्द एवं ध्रुव दोनों नरेशों ने ही धारण किया था, अतः इस साक्ष्य के आधार पर हम किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाते हैं। फिर भी, गोविन्द द्वितीय की अन्तिम ज्ञात तिथि 779 ई० ही है, अतः संभवतः पुराणकार का उक्त संकेत ध्रुव धारावर्ष के लिए ही रहा होगा। **अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने** ध्रुव द्वारा सत्ता-अधिग्रहण की तिथि 780 ई० या इसके लगभग स्वीकार किया है।

ज्ञातव्य है कि ध्रुव की पत्नी शीलभट्टारिका वेंगी के चालुक्य शासक विष्णुवर्द्धन चतुर्थ की आत्मजा थी। ध्रुव ने अपने अग्रज गोविन्द से राष्ट्रकूट-सत्ता छीनकर 780 ई० के लगभग अपना राज्यभिषेक कराया। संभवतः इसी पुनीत अवसर पर उसने 'निरुपम' तथा 'धारावर्ष' की उपाधि धारण की थी।

सामरिक उपलब्धियाँ

दक्षिण भारतीय राज्यों के साथ प्रतिशोध एवं संघर्ष—ज्ञातव्य है कि गोविन्द द्वितीय एवं **ध्रुव के बीच** हुए गृहयुद्ध में अनेक दक्षिण भारतीय राज्यों ने ध्रुव के विरुद्ध उसके प्रतिद्वन्द्वी गोविन्द द्वितीय का साथ दिया था। अतः ध्रुव ने राजसत्ता प्राप्त करने के उपरान्त इन विरोधी शक्तियों से प्रतिशोध लेने हेतु युद्धाभियान प्रारम्भ किया।

गङ्ग राज्य पर आक्रमण—ध्रुव का सर्वप्रथम सामरिक अभियान गंगवाड़ी राज्य पर हुआ। उस समय गंगनरेश श्रीपुरुष वूढ़ा हो चुका था। फलतः राजकाज उसका युवराज पुत्र शिवकुमार द्वितीय ही देख रहा था। ध्रुव के आक्रमण का सामना शिवकुमार ने बड़ी वहादुरी के साथ किया। गंग-अभिलेखों के अनुसार प्रारम्भ में वह कई युद्धों में सफल भी हुआ, परन्तु अन्ततः पराक्रमी ध्रुव की सेना के सामने वह अधिक

समय तक टिक न सका। ध्रुव ने उसे पराजित करके बन्दी बना लिया तथा सम्पूर्ण गंगवाड़ी राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। गंगवाड़ी राज्य के प्रशासन-संचालन के लिए उसने अपने पुत्र रणावलोक को वहाँ का शासक बना दिया। उपर्युक्त ऐतिहासिक घटना की पुष्टि गंग एवं राष्ट्रकूट दोनों राजवंशों के अभिलेखों से होती है।

पल्लव राज्य पर आक्रमण—पल्लव नरेश दन्तिवर्मन् ने भी ध्रुव के विरुद्ध गोविन्द द्वितीय की सैनिक सहायता की थी। राधनपुर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह ध्रुव की पराक्रमी सेना से पराजित हो गया था। अन्ततः पल्लव नरेश ने बहुसंख्यक हाथी भेंटकरके ध्रुव से अपनी सुरक्षा की याचना की थी—

> **"एकत्रात्मबलेन वारिनिधिनाप्यन्यत्र रुध्वाधनं**
> **निष्क्रुटासि भटोद्धतेन विरहद्ग्राहातिभीमेन च।**
> **मातङ्गान्मदवारिनिर्झरमुचः प्राप्यानतात्पल्लवात्,**
> **तच्चित्रं मदलेशमप्यनुनिदं यस्पृष्ट्वा न क्वचित् ॥"**

वेंगी राज्य पर आक्रमण—गोविन्द द्वितीय की सहायता-याचना करने पर वेंगी नरेश ने भी ध्रुव के विपरीत अपनी सैनिक सहायता प्रेषित की थी। फलतः ध्रुव ने अपने श्वसुर वेंगीनरेश विष्णुवर्धन चतुर्थ का भी मानमर्दन किया। उसने वेंगी राज्य को अपने अधीन करके उसे अपनी छत्रच्छाया में रहने के लिये विवश किया। इस प्रकार अपने साहस एवं पराक्रम से उपर्युक्त शक्तिशाली राज्यों को जीतकर थोड़े ही समय में प्रतापी राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव, दक्षिण भारत का सर्वाधिक प्रभावशाली शासक बन गया। उसकी इन सफलताओं ने उसमें और भी साम्राज्यविस्तारवादी महत्वाकांक्षाएं पैदा कर दी, जिसके फलस्वरूप वह अब उत्तर भारतीय राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने हेतु अग्रसर हुआ।

त्रिकोणात्मक संघर्ष की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—दक्षिण भारत में एकछत्र प्रभुत्व स्थापित करने के पश्चात् ध्रुव ने उत्तर भारत में अपने प्रभुत्व स्थापित करने की योजना बनाई। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त उत्तर भारत की गङ्गा-युमुना की घाटी में कोई विशेष शक्तिशाली राज्य नहीं रह गया था। परम्पया उत्तर भारतीय साम्राज्यों की हृदयस्थली कान्यकुब्ज का स्वामित्व प्राप्त करने के लिये गुजरात-राजपूताना के गुर्जर-प्रतीहार एवं बंगाल के पाल नरेश तथा कर्णाटक के राष्ट्रकूट नरेश धीरे-धीरे बढ़ते आ रहे थे। कान्यकुब्ज (कन्नौज) राज्य पर उस समय इन्द्रायुध का शासन स्थापित था, जो उपर्युक्त भारतीय राज्यों की शक्ति की तुलना में बहुत कमजोर था। उपर्युक्त त्रिकोणात्मक संघर्ष की ऐतिहासिक सूचनाएं तथा तिथियाँ अधिकांशतया अभिलेखिक साक्ष्यों से ही अनुस्यूत हैं। इन अभिलेखों में न केवल घटनाओं की तिथियों में अन्तर मिलता है बल्कि कहीं-कहीं तो सूचनाओं को भी सत्य से घुमाने का भी प्रयास मिलता है। संक्षेप में पालों, प्रतीहारों तथा राष्ट्रकूटों में जिन शासकों ने इस संघर्ष में प्रमुख भूमिका निभाई थी, उनकी संभाविक समकालीनता निम्न विवरण से स्पष्ट किया जा सकता है।

गुर्जर प्रतीहार	पाल	राष्ट्रकूट
1. वत्सराज (783-795 ई०)	1. धर्मपाल (775-814 ई०)	1. ध्रुव (779-793 ई०)
2. नरेशभट्ट द्वितीय (795—833 ई०)	2. देवपाल (815——855 ई०)	2. गोविन्द तृतीय (793—814 ई०)
3. राम भद्र (833—836 ई०)	3. विग्रहपाल (855—860 ई०)	3. अमोघ वर्य प्रथम (814—880 ई०)
4. मिहिर भोज (836—889 ई०)	4. नारायण पाल (860—915 ई०)	—
5. महेन्द्रपाल (890—910 ई०)	—	कृष्ण द्वितीय (880—914 ई०)

त्रिकोणात्मक संघर्ष की शुरुआत प्रतीहार नरेश वत्सराज के कान्यकुब्ज अभियान से मानी जाती है। प्राप्त साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्रतीहार शासक वत्सराज ने कान्यकुब्ज पर सर्वप्रथम आक्रमण करके वहां के कमजोर शासक इन्द्रायुध को पराजित कर दिया तथा उसे अपना सामन्त बना लिया। उसके प्रतिद्वन्द्वी एवं महत्वाकांक्षी गौड़ाधिप धर्मपाल के लिए प्रतीहार शासक वत्सराज द्वारा कान्यकुब्ज राज्य का अधिग्रहण अच्छा न लगा। प्रतीहारों की उत्तरी-पूर्वी भारत में बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने के लिये उसने प्रतीहार शासित कान्यकुब्ज पर आक्रमण कर दिया। परन्तु उसका यह अभियान सफल न हो पाया। 808 ई० के राधनपुर-अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि मदान्ध प्रतीहार नरेश वत्सराज ने गौड़-राज्य की राज्यलक्ष्मी को बड़ी सरलता से अपहृत कर उसके दो राजक्षत्रों को भी छीन लिया (**हेलास्वीकृतगौड़ राज्यकमलांमत्तां प्रवेश्याचिरात्**)। इस घटना की पुष्टि 808 ई० के बनिदिन्दोरी तथा 812 ई० के बड़ौदा-अभिलेखों से भी होती है। विद्वानों में आज तक इस विषय पर विवाद बना हुआ है कि उपर्युक्त युद्ध कहाँ लड़ा गया। '**पृथ्वीराज विजय**' में बताया गया है कि चाहमान शासक दुर्लभराज ने गौड़ देश पर विजय प्राप्त कर अपनी तलवार को गङ्गासागर के जल से परि-शुद्ध किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्लभराज ने प्रतीहार नरेश वत्सराज के साथ उसके सामन्त के रूप में गौड़ों के विरुद्ध उत्तर भारतीय कान्यकुब्ज राज्य के उक्त संघर्ष में भाग लिया था। **रमेशचन्द्र मजूमदार** 'पृथ्वीराज विजय' के इस वृत्तान्त को सबल साक्ष्य नहीं मानते हैं। उनके अनुसार उपर्युक्त युद्ध संभवतः बंगाल में नहीं लड़ा गया। अपने अनेक तर्कों से वे इसे दोआब-क्षेत्र में ही घटित संग्राम मानते हैं। परन्तु यह असम्भव भी नहीं लगता है कि वत्सराज की सेना गौड़ाधिप की सेना को पछाड़ती हुई बंगाल तक न पहुँच गई हो। राधनपुर-अधिलेख से भी इसी बात की पुष्टि होती है। जो भी हो, वत्सराज द्वारा पराजित होने पर भी धर्मपाल का मनोबल अन्त तक बना रहा और कुछ ही समय में उसने अपनी शक्ति को पुनः सुनियोजित कर लिया। प्रतीहारों से अपने पराभव का बदला चुकाने के लिये उसने अपनी एक विशाल सेना गंगा-यमुना के दोआब में एकत्रित करके भावी युद्ध की मोर्चाबन्दी कर ली।

---

1. ए० इ०, 11 वां भाग, पृ० 157.

उधर 782 ई० में राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव की सेना उत्तर भारतीय राज्यों पर राष्ट्रकूट-विजय-पताका फहराने के लिये प्रस्थान कर लाट देश पहुँच गई थी। संयोगवश, इसी बीच प्रतीहारनरेश वत्सराज ने लाट के शासक कर्क द्वितीय के विरुद्ध मालवा पर आक्रमण कर दिया। कर्क द्वितीय ध्रुव के अधीन राष्ट्रकूट सामन्त के रूप में लाटराज्य का शासक था। अतः प्रतीहारशासक वत्सराज का यह अभियान शक्तिशाली राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव की विस्तारवादी महत्वाकांक्षा के बिलकुल प्रतिकूल था। दुर्भाग्यवश उस समय वत्सराज की सैनिकशक्ति कई सीमाओं पर बँटी हुई थी। उसकी सेना का एक शक्तिशाली अंश गौड़ाधिप धर्मपाल से कान्यकुब्ज राज्य की सुरक्षा में लगी थी। इधर वत्सराज की शक्ति को कुचलने के लिये कर्क द्वितीय की सेना के साथ ध्रुव भी अपनी सम्पूर्ण सेना साथ समर भूमि में कूद पड़ा। शक्तिशाली ध्रुव की सेना के सामने वत्सराज की सेना भाग खड़ी हुई। वनिदिन्दोरी तथा राधनपुर के अभिलेखों से पता चलता है कि ध्रुव ने पराजित वत्सराज की 'श्री' के साथ-साथ उसके उन दो राजछत्रों को भी छीन लिया, जिन्हें उसने गौड़ाधिप धर्मपाल से कभी अपहृत किया था (**गौड़ीयं सरदिन्दुपादधवलं छत्रद्वयं केवलं। तस्मानाहृततस्यशोऽपि ककुभं प्रांतेस्थितंतत्क्षणात्**[1])-। ध्रुव की सेना से पराजित वत्सराज आत्मरक्षा के लिये अपने पुराने सत्ताकेन्द्र मरुदेश (राजपूताना) में स्थित जावालिपुर[2] (जालोर) की ओर पलायन कर गया। **अनन्त सदाशिव अल्तेकर** के अनुसार यह युद्ध 789-90 ई० के लगभग घटित हुआ था।

प्रतीहारशासक वत्सराज पर विजय-प्राप्ति से प्रोत्साहित ध्रुव ने आगे बढ़कर गौड़ाधिप धर्मपाल के ऊपर आक्रमण कर दिया। धर्मपाल की प्रमुख सेना भी गङ्गा-यमुना के दोआव में प्रतीहारशासक वत्सराज से लोहा लेने के लिये तैनात की जा चुकी थी। फलतः ध्रुव ने बड़ी सरलता से धर्मपाल को पराजित कर दिया। पराजित धर्मपाल ने युद्ध के मैदान से भागकर अपनी जान वचाई। देवली-अभिलेख से ज्ञात होता है कि पराजित गौड़ाधिप से ध्रुव को तीन श्वेतच्छत्र प्राप्त हुये जिसकी पुष्टि अमोघवर्ष के संजन-ताम्र-पत्र से भी होती है (**गंगायमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौड़स्य नश्यतः। लक्ष्मीलीलारविन्दानि श्वेतच्छत्राणि योऽहरत्**)। कर्क द्वितीय के सूरत-ताम्र-पत्र लेख में ध्रुव को '**गङ्गौघसंततितिनिरोधविवृद्धकीर्तिः**' कहकर उसका यशोगान किया गया है। परन्तु उत्तर भारत में पूर्ण विजय प्राप्त करने वाला ध्रुव वहुत समय तक यहाँ न रह पाया। अपनी राजधानी मान्यखेट से वहुत दूर निकल आने के कारण तथा राज्य में गृह-युद्ध की सम्भावना उपस्थित हो जाने के कारण उसे शीघ्र ही स्वदेश वापस होना पड़ा। उत्तर भारतीय अभियानों में प्राप्त सफलताओं के पीछे ध्रुव का प्रमुख उद् देश्य सम्भवतः प्रतीहार नरेश वत्सराज को अपनी शक्ति से अवगत कराना ही था, क्योंकि सम्पूर्ण भारत का एकच्छत्र सम्राट् वनने में उसके सामने निकटस्थ प्रतिद्वन्द्वी शक्ति गुर्जर प्रतिहारों की ही थी। इसके साथ ही उत्तरी भारत के उदीयमान एव साम्राज्यविस्तारवादी गौड़नरेश को भी राष्ट्रकूटों की शक्ति से अवगत कराना था। उसे इन विजयों से उत्तर भारतीय राज्यों की प्राप्ति तो नहीं हुई, परन्तु एक अपराजेयत्व की

---

1. राधनपुर-अभिलेख श्लोक, 8.
2. कुवलयमाला, 5 21.

अमरकीर्ति उसे अवश्य मिली। दौलताबाद-लेख में उसके शासन की अन्तिम तिथि 793 ई० उल्लिखित है। सम्भवतः इसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई थी।

गोविन्द तृतीय (793—814 ई०) राष्ट्रकूट-अभिलेखों में ध्रुव के चार पुत्रों का उल्लेख मिलता है। स्तम्भ, कर्क, गोविन्द तथा इन्द्र। इनमें सर्वाधिक योग्य राजकुमार गोविन्द तृतीय था। राधेनपुर-ताम्र-पत्र-लेख से ज्ञात होता है कि ध्रुव ने उसे सहर्ष अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था (**यस्याकारभमनुयं..........आस्तां तात्.........इति पितरंपुव्रयं वचोयोऽम्यद्यात्**)। पैठन-ताम्र-पत्र में उसके औपचारिक राज्याभिषेक का उल्लेख किया गया है (**यश्च प्रभु.........पितुस्सकाशात् मूर्धाभिषिक्त........नृपसमंतमाशुराज्यम् आसेदिवान्........**)। सूरत-ताम्र-पत्र-लेख से ऐसा प्रकट होता है कि ध्रुव को सम्भवतः राजसिंहासन के लिए अपने योग्य पुत्रों के बीच गृह-युद्ध की आशंका थी। अतः उसने गोविन्द तृतीय को राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठाकर स्वयं अवकाश प्राप्त कर लिया—

**"राज्याभिषेककलशैरभिषिच्य दत्ताम्।
राजधिराजपरमेश्वरतां स्वपित्रा॥"**

ध्यातव्य है कि ध्रुव का साम्राज्य तत्कालीन भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली हो चुका था। उत्तरी भारतीय राजनीति में सफलता प्राप्त करके उसने अपनी कीर्ति को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। उसके चारों पुत्रों में ज्येष्ठतम् कर्क, उसके जीवन काल में ही दिवंगत हो गया था। शेष तीनों पुत्र शक्ति, योग्यता एवं पराक्रम में एक दूसरे से बढ़कर थे। सभी को ध्रुव ने प्रान्तीय शासक नियुक्त करके उन्हें सैन्य-संगठन तथा प्रशासन का पूर्ण अनुभव करा दिया था। गोविन्द तृतीय अपने भाइयों में सर्वाधिक दक्ष एवं पितृभक्त था। ध्रुव अपने इसी पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। अतः अपने राज्यकाल में ही सम्भावित गृहयुद्ध को बचाने के लिए उसने सभी सभासदों, प्रान्तीयशासकों तथा मन्त्रियों के समक्ष गोविन्द तृतीय को राजगद्दी प्रदान कर उसका विधिवत् राज्याभिषेक कर दिया। इस ऐतिहासिक घटनाका उल्लेख उसके शासनकाल के अनेक अभिलेखों में किया गया है। ध्रुव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्तम्भ को, जिसे वैधतः उसके उत्तराधिकारी बनना था, सन्तुष्ट करने के लिए उसे गङ्गवाड़ी राज्य का शासक नियुक्त कर दिया तथा उसे राजधानी से दूर हटा दिया। परन्तु वह अपने को विधानतः राष्ट्रकूट साम्राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी मानता था। अतः अपने पिता द्वारा बलात् उत्तराधिकार से वंचित कर दिए जाने से क्षुभित होकर उसने गोविन्द तृतीय के विरुद्ध खुला विद्रोह कर दिया।

उत्तराधिकार का युद्ध—पैठन-ताम्र-पत्र सम्भवतः महाराज ध्रुव की मृत्यु के एक वर्ष के भीतर ही अभिलिखित कराया गया था। इसमें उसके उत्तराधिकार के लिए हुए युद्ध का कोई विवरण नहीं है। संभवतः इस एक वर्ष के अन्तराल में गङ्गनरेश स्तम्भ ने ध्रुव के दक्षिण भारतीय शत्रु-शासकों को राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय से राजसत्ता अपहृत करने के लिए अपने पक्ष में संगठित करने में लगाया। नौसारी-दान-पत्र-लेख में उल्लिखित है कि स्तम्भ ने पल्लव, पाण्ड्य, चोल, गङ्ग, केरल, आन्ध्र, वेंगी, चालूक्य, मौर्य, गुर्जर, कोसल, अवन्ति, सिंहल आदि कुल तेरह राज्यों के राजाओं को अपने पक्ष में मिलाकर गोविन्द तृतीय को अपदस्थ करने हेतु एक गुप्त-मोर्चा बना लिया। स्तम्भ की

इन विद्रोही गतिविधियों की सूचना पाकर गोविन्द तृतीय ने गङ्गराज्य के वास्तविक एवं परम्परया सत्ताधिकारी नृपति शिवमार को स्तम्भ के विरुद्ध अपने पैतृकराज्य गङ्गवाड़ी की प्राप्ति के लिए बन्दीगृह से मुक्त करके उसे युद्ध छेड़ने की प्रेरणा दी। शिवमार को स्तम्भ के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने में गोविन्द तृतीय ने सैनिक एवं आर्थिक सहायता प्रदान करने का भी वचन दिया था। परन्तु गंगराज्य-सत्ताच्युत नृपति शिवमार गोविन्द के प्रति कृतघ्न निकला। विद्रोही स्तम्भ के प्रलोभनों में आकर उसने गोविन्द तृतीय की कूटनीति की चाल को न केवल उसे बता दिया अपितु गोविन्द के विरुद्ध स्वयं भी युद्ध भूमि में उतर आया।

सामरिक उपलब्धियाँ—

गंग राज्य पर आक्रमण—गोविन्द तृतीय ने अपने छोटे भाई इन्द्र एवं अन्य मित्र राज्यों की सहायता लेकर अचानक गङ्गराज्य पर आक्रमण कर दिया। स्तम्भ सम्भवतः इस आक्रमण का सामना करने के लिए पूर्णतया तैयार नहीं था। फलतः स्तम्भ एवं शिवमार दोनों अपने मोर्चे के साथ राष्ट्रकूटों से पराजित हो गये। संजन-ताम्र-पत्र-अन्ततः लेख से ज्ञात होता है कि गोविन्द तृतीय ने अपने अग्रज स्तम्भ के प्रति दया दिखलाई तथा उसे पुनः गङ्गवाड़ी राज्य का शासक नियुक्त करके उसे अपने पक्ष में मिला लिया। परन्तु गोविन्द तृतीय ने शिवमार को कृतघ्नता के अभियोग में पुनः वन्दी बना लिया। राधनपुर-ताम्र-पत्र में शिवमार को 'दुष्ट' तथा संजन-ताम्र-पत्र में 'अकृतज्ञः' कहा गया है। इस प्रकार राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय के प्रान्तपति के रूप में गङ्गवाड़ी राज्य पर स्तम्भ ने 802 ई० तक शासन किया।

नोलम्बवाड़ी राज्य पर अक्रमण—गोविन्द तृतीय की सेना अपने विद्रोही अग्रज स्तम्भ के समर्थक शत्रु राजाओं को पराजित करने के लिए दक्षिण दिशा की ओर बढ़ी। 'नोलम्ववाड़ी के शासक चारुपोनेर ने अपने को राष्ट्रकूटों के समक्ष लड़ने में असमर्थ पाकर गोविन्द तृतीय के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। अपनी स्थिति का आकलन करते हुए उसने स्वयं-मेव उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

पल्लव राज्य पर आक्रमण—संभवतः 803 ई० में गोविन्द तृतीय ने शक्तिशाली पल्लव राज्य पर आक्रमण किया। कांची का तत्कालीन शासक दन्तिवर्मन पल्लव था, जिसने गोविन्द तृतीय के विरुद्ध स्तम्भ का साथ दिया था। ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित 804 ई० के कतिपय राष्ट्रकूट-ताम्र-पत्र-लेखों से ज्ञात होता है कि गोविन्द तृतीय ने कांची राज्य को पराजित करके रामेश्वरम् में अपना सैन्यशिविर स्थापित किया। अस्तु, पल्लव-राज्य पर राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय की विजय संभवतः 804 ई० के पूर्व हो चुकी थी। इस युद्ध में पल्लवनरेश राष्ट्रकूट सेना से पराजित तो अवश्य हो गया, परन्तु उसने राष्ट्रकूटों की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। ज्ञातव्य है कि गोविन्द तृतीय को पल्लव राज्य पर राष्ट्रकूटों के पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने के लिए उसे दुबारा पुनः आक्रमण करना पड़ा।

वेंगी राज्य पर आक्रमण—दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त गोविन्द तृतीय ने पूरब में वेंगी राज्य पर आक्रमण किया। उस समय चालुक्यनरेश विजयादित्य वहाँ राज्य कर रहा था। ज्ञातव्य है कि विजयादित्य के पिता विष्णु वर्धन

चतुर्थ ने उत्तराधिकार के संघर्ष में सगे श्वसुर होते हुए भी गोविन्द तृतीय के विद्रोही स्तम्भ का साथ दिया था। अतः गोविन्द तृतीय अपने सम्बन्धी उक्त वेंगीनरेश के साथ प्रतिशोध लेना चाहता था। संयोगवश 790 ई. में विजयादित्य द्वितीय के राज-सिंहासन पर बैठते ही उसके भाई भीमसालुक्कि ने उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। गोविन्द तृतीय ने इस गृह-युद्ध में भीम सालुक्कि की सहायता करते हुए विजयादित्य के राज्य पर आक्रमण कर दिया। राधनपुर-ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि इस युद्ध में वेंगीनृपति विजयादित्य पराजित हुआ। गोविन्द तृतीय ने उसे राजसिंहासन से अपदस्य करके उसके स्थान पर भीमसालुक्कि को वेंगी के राजसिंहासन पर बैठाया। संजन-ताम्र-पत्र-लेख से ज्ञात होता है कि पराजित एवं वशीकृत वेंगीनरेश को गोविन्द तृतीय की अश्व-सेना के लिए एक अस्तबल का निर्माण कराना पड़ा। इतना ही नहीं, उससे सैन्यशिविर की फर्श तक साफ कराई गई। वेंगीराज्य को गोविन्द तृतीय ने पराजित तो कर दिया, परन्तु उसे उसने अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया। इसके परिणामस्वरूप 814 ई० में गोविन्द तृतीय की मृत्यु होते ही विजयादित्य ने अपने अनुज भीमसालुक्कि से वेंगीराज्य छीनकर राष्ट्रकूट राज्य पर प्रतिशोधात्मक सफल सैन्य-अभियान किया था।

त्रिकोणात्मक संघर्ष में गोविन्द तृतीय की भूमिका

नर्मदा नदी के दक्षिण के सभी महत्वपूर्ण राज्यों को पराजित करने के उपरांत गोविन्द तृतीय ने उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करने की योजना बनाई। ध्रुव के सफल उत्तरी भारतीय अभियान के उपरान्त राजधानी मान्यखेट लौट आने के बाद, कान्यकुब्ज राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रतीहारों एवं शक्तिशाली पालों के बीच कूटनीतिक चालों, सैन्य-अभियानों एवं संघर्षों का सिलसिला पूर्ण उफान पर था। ज्ञातव्य है कि प्रथम चरण में सर्वप्रथम प्रतीहारनरेश वत्सराज ने गौड़ाधिप धर्मपाल को पराजित करके, कान्यकुब्ज में इन्द्रायुद्ध को अपना सामन्त नियुक्त किया था। परन्तु दक्षिणापथेश्वर राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने अपने उत्तर भारतीय अभियान में पहले वत्सराज को और बाद में धर्मपाल को पराजित करके वहाँ अपनी सामरिक शक्ति एवं दिग्विजय-कीर्ति की स्थापना की थी।

यह सच है कि राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने प्रतीहारशासक वत्सराज एवं गौड़ाधिप धर्मपाल को पराजित किया, परन्तु उसने उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया था। ध्रुव की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी पुत्र गोविन्द तृतीय को कई वर्ष तक उत्तराधिकार के लिए छिड़े गृहयुद्ध को शान्त करने एवं दक्षिण भारतीय राज्यों को पुनः संगठित करने में लगा। फलतः गोविन्द तृतीय के पूर्ण व्यवस्थित होने तक के अन्तराल में गौड़ाधिप धर्मपाल ने अपनी शक्ति को संगठित करके कान्यकुब्ज पर अपना पूर्ण अधिपत्य स्थापित करने के लिए कई सफल अभियान चलाया। उन दिनों कान्यकुब्ज के राज-सिंहासन को लेकर आयुद्धवंश के दो भाई—इन्द्रायुद्ध एवं चक्रायुद्ध परस्पर संघर्षरत थे। इन्द्रायुद्ध को प्रतीहारनरेश का तथा चक्रायुद्ध को गौड़नरेश धर्मपाल का समर्थन प्राप्त था।

धर्मपाल के 32वें वर्ष के खालिमपुर-अभिलेख से पता चलता है कि कन्नौजनरेश

चक्रायुद्ध को धर्मपाल का पूर्णसंरक्षण प्राप्त था। अवान्तरयुगीन गौड़ाधिप नारायणपाल के 17वें वर्ष के अभिलेख में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि धर्मपाल ने कान्यकुब्ज की राजगद्दी पर आधिपत्य स्थापित करके उस पर स्वसमर्थित चक्रायुध को बैठाया था। ऐसा उसने प्रतीहारनरेश वत्सराज के द्वारा संरक्षित पांचाल एवं कान्यकुब्ज के शासक इन्द्रायुध को पराजित करके ही सम्भव किया होगा। खालिमपुन-अभिलेख इस बात की भी पुष्टि करता है कि कुरु, यदु, अवंति, गांधार, कीर (कांगड़ा क्षेत्र), भोज (बरार क्षेत्र), मत्स्य (जयपुर क्षेत्र) तथा मद्र (पूर्वी पंजाब क्षेत्र) के शासकों ने पाल शासक धर्मपाल के सैनिक दवाव में आकर चक्रायुध को कान्यकुब्ज का राजा स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार खालिमपुर-अभिलेख के साक्ष्याधार पर धर्मपाल का प्रभुत्व सम्पूर्ण उत्तर भारत पर स्थापित माना जा सकता है। 11वीं शती के सुप्रसिद्ध चम्पूकाव्य 'उदयसुन्दरीकथा' में धर्मपाल को उत्तरापथ का स्वामी घोषित किया गया है। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर उत्तर भारत पर धर्मपाल की विजय एवं प्रभुत्व का आकलन किया जा सकता है। फलतः उत्तर भारत में घटित त्रिकोणात्मक संघर्ष के द्वितीय चरण में गौड़ाधिप पालों का अभियान प्रतिहारों के विरुद्ध बना रहा तथा उन्हें अपने अभियानों में अधिकांशतया सफलता भी प्राप्त हुई।

उत्तर भारत पर प्रभुत्व-स्थापना के लिए चल रहे त्रिकोणात्मक संघर्ष के द्वितीय चरण में प्रतिहार नरेश वत्सराज को भूमिका साक्ष्याभाव के कारण अज्ञात है। परन्तु इस संघर्ष के तृतीय चरण में पुनः प्रथम चरण की ही भाँति राष्ट्रकूट, प्रतीहार एवं पाल शक्तियों के बीच टकराहट प्रारम्भ हो गई।

ज्ञातव्य है कि राष्ट्रकूटनरेश ध्रुव के सामरिक दवाव में आकर प्रतीहारशासक वत्सराज ने कुछ समय तक राजपूताना में शरण अवश्य ले ली थी, परन्तु जैसे ही ध्रुव अपनी राजधानी मान्यखेट लौट आया, उसने उज्जयिनी पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया। बत्सराज की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी नागभट् के समय में भी पूर्व से धर्मपाल का दवाव तथा दक्षिण दिशा से राष्ट्रकूटों के अभियान का वातावरण बना रहा। ऐसी स्थिति में नागभट्ट ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा हेतु सर्वप्रथम अवंति-राजपूताना की सीमाओं को सुरक्षित करना अभीष्ट समझा। ग्वालियर-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आन्ध्र, विदर्भ, सिन्ध तथा कलिंग के राजाओं ने उसके समक्ष आत्मसमर्पण किया था (**आन्ध्र सैन्धव विदर्भकलिंगभूपैः कौमारधामनिपंतगसमैरपाति**)। ये सभी राज्य पूर्व में पालों तथा दक्षिण में राष्ट्रकूटों से भयाक्रान्त होने के कारण अपने पड़ोसी शक्तिशाली प्रतीहारनरेश नागभट्ट के समक्ष समर्पित होकर उससे मित्रता रखना उचित समझते रहे होंगे, क्योंकि प्रतीहारों की उस समय इन दोनों बड़ी शक्तियों से दुश्मनी ठनी हुई थी। परन्तु राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय को नागभट्ट एवं उपर्युक्त राज्यों की मैत्री एवं उनका गठबंधन रास न आया और उसने प्रतीहारों की इस नवोदित संगटित शक्ति को दवाने के लिए मालवा नरेश नागभट्ट पर आक्रमण कर दिया। संजन, राधनपुर तथा पठारी-स्तम्भ लेखों से पता चलता है कि गोविन्द तृतीय ने इस सामरिक अभियान में नागभट्ट को बुरी तरह भयाक्रान्त कर दिया। परिणामस्वरूप आत्मरक्षा के लिए वह किसी अज्ञात स्थान पर जाकर छिप गया। राष्ट्रकूट अभिलेखों से पता चलता है कि नागभट्ट स्वप्न में भी युद्ध के नाम से बेचैन हो उठता था (**गुर्जरोनष्टः**

स्वापिभयात् तथा न समरं स्वप्नेऽपि पश्येद्यथा) । इधर मालवा एवं गुजरात की ओर से गोविन्द तृतीय के अनुज इन्द्र ने, जैसे कि 811-12 ई० के बड़ौदा-ताम्र-लेख में वर्णित है, गुर्जर-प्रतीहारों को अकेले ही पराजित कर दिया । **अनन्त सदाशिव अल्तेकर** के अनुसार नागभट्ट को गोविन्द तृतीय ने झाँसी एवं ग्वालियर के मध्यवर्ती क्षेत्रों में ही कहीं पराजित किया होगा ।

पराजित प्रतीहार शासक नागभट्ट ने राजपूताना में छिपकर आत्मरक्षा की । गोविन्द तृतीय ने तदुपरान्त पाँचालराज्य की ओर प्रस्थान किया । यहाँ के शासक चक्रायुध ने बिना युद्ध किये ही उसकी शरण ले ली तथा शक्तिशाली गौड़ाधिप धर्मपाल ने भी अन्ततः उसकी अधीनता स्वीकार कर ली **(स्वयमेव उपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्मचक्रायुधौ)** । संजन-ताम्र-पत्र के अनुसार हिमालय की उपत्यका तक राष्ट्रकूटों की रणभेरी निनादित हो चुकी थी **(हिमवत्पूर्वदूर्ध्वमितं तूर्यकैर्द्विगुणितं तत्कन्दरे)** । उसने उत्तरी भारत के पराजित राजाओं से विपुल सम्पत्ति प्राप्त की । अपने पिता की भाँति उसने भी इन राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया । पराक्रमी पिता ध्रुव की भाँति गोविन्द तृतीय ने भी राष्ट्रकूट राजवंश की कीर्ति की विजय-पताका को सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फहरा कर सुयश प्राप्त की थी ।

मध्य भारतीय राज्यों पर विजय

उत्तरी भारतीय अभियान के उपरान्त अपने मूल साम्राज्य की ओर लौटते समय गोविन्द तृतीय ने संभवतः मालवा, दक्षिणी कोशल, कलिंग, दहाल (जबलपुर का क्षेत्र) तथा ओड्डु आदि राज्यों को भी जीत लिया ।

दक्षिण भारतीय राज्यों को सामरिक संघ पर आक्रमण—गोविन्द तृतीय के उत्तरी भारतीय अभियान की कालावधि में दक्षिण भारत के पल्लव, पाण्ड्य, चोल, केरल तथा पश्चिमी गंग आदि राज्यों के नरेशों ने एक संयुक्त मोर्चा बनाकर अनेक दिशाओं से राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण कर दिया । संजन-ताम्र-पत्र-लेख से ज्ञात होता है कि गोविन्द तृतीय ने इस संघ (मोर्चे) में सम्मिलित राज्यों को अपने क्रमिक सामरिक अभियानों द्वारा तोड़ कर अन्ततः उन्हें पराजित कर दिया । 802-3 ई० में तुंगभद्रा नदी के तट पर आलमपुर में एक विशाल स्कन्धावार निर्मित कराकर उसने दक्षिण की ओर अभियान किया और विद्रोही नरेशों के उक्त संयुक्तमोर्चे को तोड़कर उसकी शक्ति को पराभूत कर दिया । इस अभियान में गंग नरेश मारा गया तथा पल्लव राजधानी कांची पर राष्ट्रकूटों का अन्ततः अधिकार हो गया । चोल एवं पाण्ड्य राज्यों को रौंद डाला गया । संजन-ताम्र-पत्र के अनुसार भयाक्रान्त सिंहल नरेश ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली **(लंकातः किलतत्वभुप्रतिकृति कांचीमुपैती ततः)** ।

शासन-काल के अन्तिम चरण में गोविन्द तृतीय ने अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्ष को युवराज बना दिया । उसने अपने भतीजे कर्क सुवर्णवर्ष को, जो मालवा एवं गुजरात का शासक था, उसका संरक्षक नियुक्त किया । 814 ई० में उसका शासन समाप्त हुआ । राष्ट्रकूट-अभिलेखों में उसको पार्थ (अर्जुन) कहा गया है, जो उसकी वीरता एवं अजेयराष्ट्रकूट-साम्राज्य-निर्माता के रूप में सर्वथा अनुकूल है । उसने कीर्तिनारायण, त्रिभुवनधवल, जनवल्लभ आदि अनेक विरुद् धारण किया ।

अमोघवर्ष प्रथम (814—880 ई०)—गोविन्द तृतीय की मृत्यु के बाद 814 ई० में अल्प अवयस्क (6 वर्षीय अथवा 11 वर्षीय) युवराज अमोघवर्ष प्रथम को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कराया गया। उसके संरक्षण का दायित्व गोविन्द के अनुज इन्द्र के पुत्र कर्क सुवर्णवर्ष को सौंपा गया। कर्कसुवर्ण के 816 ई० के एक ताम्रपत्र-अभिलेख से पता चलता है कि अमोघवर्ष के उत्तराधिकार-प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों तक साम्राज्य में चतुर्दिक शान्ति बनी रही।

अशान्ति एवं विद्रोहों का काल—अवयस्क शासक अमोघवर्ष को शासन-कार्य में अपरिपक्व एवं कमजोर पाकर राष्ट्रकूट सामन्तों, मन्त्रियों, सम्बन्धियों तथा पदाधिकारियों ने अपनी-अपनी महत्वाकांक्षा की सन्तुष्टि के लिए उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जो मन्त्री एवं अधिकारी इस बालसम्राट् के पक्षधर थे, उनका वध कर दिया गया। संजन-ताम्र-पत्र-लेख के अनुसार विद्रोहियों ने उसे राजसिंहासन से हटा दिया तथा सम्पूर्ण साम्राज्य में अशान्ति एवं अराजकता की स्थिति पैदा हो गई (**सामन्तासचिवस्य बान्धवजनानक्षोभयत्स्वीकृताम्' तथा विनिहत्योचितयुक्तकारि-पुरुषान्सर्वस्वयंग्राहिणः**)।

अमोघवर्ष के विरुद्ध हुई उपर्युक्त क्रान्ति में सम्मिलित राजाओं का कहीं नामोल्लेख नहीं किया गया है। परन्तु उसके विद्रोही शत्रु-शासकों को राष्ट्रकूट अवश्य कहा गया है। ये राष्ट्रकूट-विद्रोही शासकगण संभवतः उसके वंशज प्रतिद्वन्द्वी माने जा सकते हैं। ज्ञातव्य है कि गोविन्द तृतीय ने अपने शासन-काल में अग्रज स्तम्भ के पुत्र शंकरगण को गंगवाड़ी राज्य का शासक मनोनीत नहीं किया। फलतः अपनी दमित महत्वाकांक्षा की सम्पूर्ति के लिए उसने कतिपय राष्ट्रकूट मन्त्रियों, उच्चपदाधिकारियों तथा विरोधी सामन्तों को मिलाकर अमोघवर्ष के विरुद्ध विद्रोह एवं अशान्ति पैदा कर दी। इस प्रकार अवयस्क राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष को पदच्युत करके उसने स्वयं राजसिंहासन पर बैठने का प्रयत्न किया। लेकिन इन विद्रोहों को अंततः कर्क सुवर्ण ने अपने प्रयत्नों से दबा दिया। 821 ई० तक उसने तत्कालीन विद्रोही शक्तियों को पदाक्रान्त कर अमोघवर्ष को पुनः राजसिंहासन पर बैठा दिया।

816 ई० के नौसारी-ताम्र-पत्र-लेख में अमोघवर्ष के विरुद्ध घटित विद्रोहों की चर्चा नहीं की गई है। परन्तु कर्क के 821 ई० के सूरत-ताम्र-पत्र में इसका उल्लेख अवश्य मिलता है। अतः उपर्युक्त विद्रोहों का काल 816 ई० से 821 ई० के बीच स्वीकार किया जा सकता है।

सामरिक उपलब्धियाँ

वेंगी के चालुक्यों से संघर्ष—ज्ञातव्य है कि गोविन्द तृतीय ने वेंगी राज्य पर आक्रमण कर तत्कालीन शासक विजयादित्य को पराजित करके उससे राजगद्दी छीन ली थी। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अल्पायु सम्राट् अमोघवर्ष की शक्ति का आकलन करके विजयादित्य द्वितीय ने अपने प्रतिद्वन्द्वी भीमसालुक्कि से वेंगी राज्य को अपहृत कर लिया तथा राष्ट्रकूटों के विरुद्ध विद्रोह करके उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। वेंगी नरेश अम्म प्रथम के इडर-ताम्र-पत्र-लेख से ज्ञात होता है कि विजयादित्य ने लगभग 12 वर्षों तक राष्ट्रकूटों एवं गंगों के साथ संघर्षरत रहकर लगभग 108 युद्धों में राष्ट्रकूट सेना

को पराजित करने का श्रेय प्राप्त किया था—

> 'गंगारट्ठबलै सार्धं द्वादशाब्दानहर्निशम् ।
> अष्टोत्तरं युद्धशतं युद्धवा सम्भोर्महालयम् ।
> तत्संख्मकरोद्धीरो विजयादित्य-भूपतिः ।।"

उपर्युक्त आभिलेखिक कथन अतिरंजित होते हुए भी ऐतिहासिक घटना की सत्यता के अल्पांश साक्ष्य को अवश्य प्रस्तुत करता है । इस घटना की संपुष्टि इन्द्र तृतीय के बेगुम्रा-ताम्र-पत्र-अभिलेख से भी होती है, जिसमें अमोघवर्ष को चालुक्यों द्वारा अपहृत राष्ट्रकूट-राज्य-लक्ष्मी का पुनरुद्धार करने वाला घोषित किया गया है (**निमग्नां यश्चुक्याब्धौ रट्ठराज्यश्रियं पुनः**) । गोविन्द चतुर्थ के 933 ई० के सांगली-ताम्र-पत्र में विवृत है कि अमोघवर्ष प्रथम ने विंगवल्लि के मैदान में चालुक्यों को बुरी तरह पराजित करके उन्हें अपनी साम्राज्य-सीमा से बाहर खदेड़ दिया । 866 ई० के सिरूर-ताम्र-पत्र-लेख के अनुसार पराजित चालुक्यनरेश ने अपनी प्राण-रक्षा के लिए अमोघवर्ष प्रथम की बन्दना की । संभवतः अमोघवर्ष को यह निर्णायक जीत लम्बे संघर्ष के बाद लगभग 845-46 ई० में प्राप्त हुई । अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने उपर्युक्त विजय की तिथि 860 ई० प्रस्तावित किया है ।

गंग राज्य के साथ संघर्ष—817 ई० के लगभग अमोघवर्ष प्रथम की अल्पवयस्कता का लाभ उठाकर गंगनरेश शिवमार ने भी राष्ट्रकूटों के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी । अमोघवर्ष प्रथम ने शिवमार के स्थान पर गंग राज्य में अपना प्रतिनिधि सामन्त शासक नियुक्त किया तथा उसे सैनिक सहायता प्रदान करते हुए गंग शासक से प्रतिशोध लेने के लिए प्रेरित किया । नव नियुक्त गंग शासक ने केगिमोगेवर के युद्ध में शिवमार को पराजित करके उसकी हत्या कर दी । परन्तु शिवमार के भ्रातृज राजमल्ल ने राष्ट्रकूटों से अपने राज्य को स्वतंत्र कराने का भरपूर प्रयास किया । यद्यपि राष्ट्रकूट सेनापति बंकेय ने उत्तरी गंग राज्य को जीतकर कुछ दिनों के लिए राजमल्ल की शक्ति को पदाक्रान्त कर दिया तथापि गंगराज्य पूर्णरूपेण राष्ट्रकूटों के अधीन नहीं हो पाया । दोनों राज्यों में यह युद्ध कई वर्षों तक चलता रहा । अन्ततः अमोघवर्ष प्रथम ने गंग नरेश के साथ मैत्रीसम्बन्ध स्थापित करके अपनी दोनों पुत्रियों—रेवकनिम्माडि एवं चन्द्रोवलब्बे अथवा चन्द्रोवल्लभा का विवाह क्रमशः गंग नरेश एरेयंग एवं उसके पुत्र बूतुग प्रथम से करके गंग-राज्य के साथ छिड़े दीर्घकालीन संघर्ष से मुक्ति प्राप्त की ।

मिहिरभोज द्वारा राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण—अमोघवर्ष प्रथम के शासन का अधिकांश समय साम्राज्य के आन्तरिक विद्रोहों के दमन में ही व्यतीत होता रहा । अस्तु, न तो उसको उत्तर भारत की राजनीति में उतरने का अवसर मिल पाया और न ही अपने पूर्वजों जैसी उसमें बलवती साम्राज्य की विस्तारवादी महत्वाकांक्षा ही जागृत हो पाई । उसकी संकटपूर्ण स्थितियों का लाभ उठाकर तत्कालीन प्रतीहारनरेश मिहिरभोज ने अपने पूर्वजों के पराभव का बदला चुकाने के लिये उत्तरीराष्ट्रकूट भू-भागों पर आक्रमण करके अपना प्रभुत्व स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया । मिहिरभोज ने अपने सामरिक अभियान के प्रथम चरण में राष्ट्रकूट-शासित मालवाराज्य पर आक्रमण करके राजधानी उज्जैन पर अधिकार कर लिया । ज्ञातव्य है कि काठियावाड़ प्रदेश में

तत्कालीन राष्ट्रकूट-प्रान्तपति ध्रुव था। वेगुम्रा-ताम्र-पत्र-लेख में ध्रुव ने इस बात का उल्लेख कराया है कि उसने अकेले मिहिरभोज की सेना को पीछे खदेड़ दिया —

**"गुर्जरबलमतिबलवत् समुद्यतं बृंहितं च कुल्येन।
एकाकिनैव विहितं परामुख लीलया येन॥"**

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त उल्लेख किसी युद्धविशेष की आंशिक सफलता की काव्यात्मक प्रस्तुति एवं अतिरंजना मात्र है क्योंकि मिहिरभोज ने नर्मदा नदी तक के भू-भाग को जीतकर काठियावाड़ के शेष भाग पर आक्रमण कर दिया। परन्तु अमोघवर्ष प्रथम एवं ध्रुव की सम्मिलित सेना ने काठियावाड़ के निकट मिहिरभोज की सेना को आगे बढ़ने से रोक दिया था। इस प्रकार मिहिरभोज को अपनी सामरिक सफलताओं के रूप में मालवा तथा काठियावाड़ राज्य का कुछ भाग ही हाथ लगा। परन्तु इन अभियानों की सफलता को देखते हुए वह राष्ट्रकूटों के लिये एक शक्तिशाली प्रतिपक्षी के रूप में सामने आ गया।

सिरूर तथा नीलगुण्ड प्रशस्तियों के अनुसार अङ्ग, वङ्ग, मगध, मालवा एवं वेंगी के नृपतिगण अमोघवर्ष प्रथम के अधीन थे। परन्तु अन्य साक्ष्यों से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि नहीं हो सकी है। अस्तु, इसे प्रशस्ति मात्र ही समझा जा सकता है।

गौड़ाधिप नारायणपाल एवं अमोघवर्ष प्रथम—कतिपय पालवंशीय लेखों में इस बात की घोषणा की गई है कि पालवंशीय शासक नारायण पाल ने किसी द्रविड़ नरेश को पराजित किया था। अल्तेकर तथा मजूमदार प्रभृति विद्वानों ने उक्त द्रविड़-राजा की पहचान राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथमसे करना समीचीन माना है। अपने मत की पुष्टि में उभय विद्वानों का कथन है कि वेंगी पर विजय-प्राप्ति के बाद अपना अभियान बढ़ा कर अमोघवर्ष प्रथम पूर्वी समुद्रतट की ओर से क्रमशः उड़ीसा, तदुपरान्त बंगाल तक पहुँच गया। अपने पूर्वजों ध्रुव एवं गोविन्द तृतीय की भाँति अमोघवर्ष प्रथम ने भी गौड़ाधिपति को, जो उत्तर भारत में उस समय महान् शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका था, अमोघवर्ष ने परास्त करने का पुरजोर प्रयास किया। तत्कालीन पाल नरेश नारायणपाल से उसका घोर युद्ध हुआ। संभवतः राष्ट्रकूटों के विरुद्ध पालनरेश को आंशिक सफलता अवश्य प्राप्त हुई। परन्तु यह युद्ध निर्णायक नहीं हो पाया।

मूल्याङ्कन—डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि अमोघवर्ष प्रथम का सुदीर्घशासन अपने पूर्वजों की तुलना में सामरिक सफलताओं की दृष्टि से लघुतर माना जा सकता है। उसने 64 वर्षों तक राज्य किया। अपने शासनकाल में अधिकांशतया वह आन्तरिक संघर्षों से बाहर नहीं निकल पाया। बाल्यकाल से ही विद्रोहों एवं पैतृक वैमनस्यों का दमन करते हुए कतिपय राज्यों यथा-गंगवाड़ी तथा मालवा को छोड़कर शेष पैतृक साम्राज्य को उसने सुरक्षित अवश्य रखा। वर्धा-ताम्र-पत्र-लेख से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष प्रथम ने मान्यखेट नगर का भव्यविन्यास कराकर उसे अपनी राजधानी बनाया। उसका वास्तविक नाम शर्व था तथा अमोघवर्ष उसकी उपाधि थी। इसके अतिरिक्त उसके अन्य विरुदों में वीरनारायण, अतिशयधवल, पृथ्वीवल्लभ, प्रभूत-वर्ष, रट्ठमार्त्तण्ड आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अमोघवर्ष प्रथम विजेता एवं पराक्रमी होने से कहीं अधिक अपनी साहित्यिक एवं धार्मिक अभिरुचि के लिए उल्लेखनीय है। वह कन्नड़ तथा संस्कृत भाषाओं का महान् ज्ञाता था। उसने कन्नड़-भाषा में **"कविराजमार्ग"** नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। अपनी वृद्धावस्था में जैनधर्मावलम्वी हो जाने पर उसने **'रत्नमालिका'** नामक एक अन्य ग्रन्थ का प्रणयन किया (**विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयरत्नमालिका**)। उसने जैनाचार्य जिनसेन को अपने राज्य में संरक्षण प्रदान किया, जिसने **'आदि पुराण'** की रचना की थी। उसके संरक्षण में महावीराचार्य ने **'गणित सार-संग्रह'** तथा **शकटायन** ने **'अमोघवृत्ति'** नामक ग्रन्थों का सृजन किया। संजन ताम्र-पत्र-लेख के अनुसार वह महादानी था। प्रारम्भ में वह हिन्दु शक्तधर्मावलम्वी था। परन्तु वृद्धावस्था में पहुँचकर वह जैन धर्मावलम्वी हो गया। लगभग 880 ई० के लगभग उसकी मृत्यु हो गई।

कृष्ण द्वितीय (880—914 ई०)—880 ई० के लगभग अमोघवर्ष प्रथम के उपरान्त उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। उसका विवाह चेदि नरेश कोक्कलदेव प्रथम की पुत्री के साथ हुआ। बाद में उसने अपने पुत्र जगतुंग का भी विवाह तत्कालीन चेदिनृपति शंकरगण की पुत्री लक्ष्मी के साथ सम्पन्न करके दोनों राज्यों के मैत्री-सम्वन्ध को ओर अधिक सुदृढ़ कर लिया। इन वैवाहिक सम्वन्धों के फलस्वरूप कृष्ण द्वितीय को अपने सामरिक अभियानों में कलचुरि शासकों से निरन्तर सहायता मिलती रही। कृष्ण द्वितीय के शासनकाल में भी राष्ट्रकूट शासित आन्तरिक राज्यों के विद्रोहों एवं संघर्षों का क्रम बना रहा तथा गङ्ग, नोलम्वाड़ी, वेंगी एवं गुर्जरप्रतीहार राज्यों के साथ उसे अनेक वार युद्ध करना पड़ा।

उपलब्धियाँ—

वेंगी के चालुक्यों से युद्ध—वेंगी के चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों के वीच विद्यमान वैमनस्य कृष्ण द्वितीय के शासनकाल में और भी उग्ररूप धारण कर लिया। कृष्ण द्वितीय के पूर्व सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम से लगातार लोहा लेते हुए वेंगी नरेश विजयादित्य तृतीय ने अनेक युद्धों में सफलता प्राप्त की थी। उसने अपने साम्राज्य के उन भागों को भी मुक्त करा लिया था, जिन्हें पराक्रमी राष्ट्रकूट नरेशों ने पहले चालुक्यों से छीन लिया था जिस समय कृष्ण द्वितीय राष्ट्रकूट-सिंहासन पर आसीन हुआ उस समय विजयादित्य तृतीय ही वेंगी का शासक था। ज्ञातव्य है कि महत्वा कांक्षी एवं पराक्रमी विजयादित्य ने अपनी सामरिक सफलताओं के बल पर प्रतिद्वन्द्वी पड़ोसी दक्षिणी राज्यों—पल्लवों, चोलों तथा पाण्ड्यों को आक्रान्त करके अपनी सैन्य एवं कोष-शक्ति में पर्याप्त वृद्धि कर ली। अपनी विजयों एवं शासकीय क्षमताओं से उत्साहित विजयादित्य तृतीय ने राष्ट्रकूट साम्राज्य के समर्थक राज्य नोलम्वाड़ी एवं गङ्गवाड़ी पर आक्रमण कर दिया। इदर-ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि वेंगी नरेश ने उपर्युक्त राज्यों की सेनाओं को पराजित की नोलम्ववाड़ी के राजा मगि का सिर युद्ध-भूमि में ही काट लिया—

> **"गंगानां गजवैरिशक्तिरसमान् रट्टेशसंचोदितः ॥**
> **जित्वा मंगिशिरोऽहरद् युधि महाबाह्वाप्त वीर्यार्यमा ॥"**

मंगि नृशंस हत्या के द्वारा विजयादित्य परोक्षरूप से राष्ट्रकूटों को आतंकित

करना चाहता था क्योंकि गंग एवं नोलम्बवाड़ी के राजागण राष्ट्रकूटों द्वारा वेंगी के विरुद्ध प्रोत्साहन प्राप्त करते थे।

पोठापुरम्-अभिलेख से विदित होता है कि उसने मंगि का सिर काट लिया (**संकिलमुग्रवल्लभयुतं यो भाययित्वा विजयादित्योररक्ष—क्षितिम्**)। अभिलेख की अग्रिम पंक्तियों में आख्यात है कि विजयादित्य ने मंगि के कटे हुए सिर को कन्दुक की भाँति युद्ध-भूमि में टुकराया—

> **"मंगिराजोत्तमांगेन यो वीरस्समरांगणे।**
> **चकार कन्दुकक्रीडां नाम्ना त्रिभुवनांकुशः।।"**

नोलम्बवाड़ी एवं गंग राज्यों पर विजय-प्राप्ति के उपरान्त विजयादित्य ने राष्ट्रकूट शासक कृष्ण द्वितीय के राज्य पर सीधा आक्रमण कर दिया (**योऽभैषीत्वल्लभेन्द्रं.......अग्रहीच्च**)। इस युद्ध में कृष्ण द्वितीय (**किरणपुरमधाक्षीत् कृष्णराजस्थितं यः**)। अपने साले संकुल (संकिल) की सेनाओं के साथ पराजित हुआ तथा चालुक्य सेना ने किरणपुर नामक नगर को जीत कर उसे भस्म कर दिया—

> **"कृष्णम् संकिलमकिताखिलबलप्राप्तोरुसद्विक्रमः।**
> **भीतार्तंच विधाय तत्पुरवरम् यो निर्दवाह प्रभुः।।"**

कलचुम्बुरु-अभिलेख में उल्लिखित है कि पराजय के बाद कृष्ण द्वितीय को विजयादित्य तृतीय की वन्दना करनी पड़ी। राष्ट्रकूटों एवं चालुक्यों के बीच तनाव एवं संघर्ष का यह क्रम विजयादित्य के उत्तराधिकारी भीम प्रथम के शासनकाल में भी बना रहा। वेंगी के चालुक्यों के हौसले इस समय तक पर्याप्त बुलन्द हो चुके थे। भीम प्रथम ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण करके कृष्ण द्वितीय तथा उसके सामन्त लाटनरेश को निर्वद्यपुर तथा पेरुवंगुरग्राम के समरांगणों में पराजित कर दिया (**जित्वा संयति कृष्ण वल्लभमहादण्ड सदायादिकम्। भीमो भूपतिरन्वभुक्तं भुवनम्.....**)। निश्चयतः चालुक्यों की उपर्युक्त विजयों के फलस्वरूप राष्ट्रकूटों की प्रतिष्ठा एवं शक्ति का विशेष ह्रास हुआ।

गुर्जर-प्रतीहारों से संघर्ष—इस बात की चर्चा पहले की जा चुकी है कि प्रतीहार शासक मिहिरभोज ने अपने वंश की शक्ति एवं प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि कर ली थी। उसने राष्ट्रकूटों से मालवा प्रदेश छीन कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उसका यह भी प्रयास था कि राष्ट्रकूट साम्राज्य के उत्तरी भागों के साथ-साथ, गुजरात तक का भू-क्षेत्र प्रतीहारों के अधीन कर लिया जाय। एतदर्थ उसने नर्मदा नदी को पार कर सीधे राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण किया तथा उसके उत्तरी क्षेत्रों को जीत लिया। तदुपरान्त उसका सामरिक-अभियान गुजरात स्थित राष्ट्रकूट राज्यों को जीतने के लिए प्रारम्भ हुआ। यहाँ गुजरात में नियुक्त राष्ट्रकूट सामन्त कृष्णराज तथा कृष्ण द्वितीय की सम्मिलित सेनाओं का प्रतीहारों के साथ घोर संग्राम हुआ। 888 ई० के बेगुम्र-ताम-पत्रों की सूचनानुसार इस युद्ध में प्रतीहार शासक पराजित हो गया तथा मालवा एवं उज्जयिनी पर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो गया। 914 ई० के इन्द्र तृतीय के बेगुम्रा-ताम्र-पत्र-लेख के अनुसार उसके समय तक राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय के

अनुपम शौर्य की तथा प्रतीहार नरेश मिहिरभोज के पराजय की चर्चा जनसामान्य में खूब प्रचलित थी।

जहाँ तक कृष्ण द्वितीय के दिग्विजय-अभियान अथवा उसके उत्तरी भारतीय कन्नौज की राजनीति में हस्तक्षेप का सम्बन्ध है, हमें इस विषय में अभी तक किसी भी प्रकार की सूचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। संभवतः प्रतीहारनरेश मिहिरभोज भी बूढ़ा हो चुका था तथा कृष्ण द्वितीय में दिग्विजय अभियान करने की अपने पूर्वजों जैसी महत्वाकांक्षा भी नहीं थी।

गुजरात के राष्ट्रकूटों से युद्ध—वेगुम्रा-ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि प्रतीहारनरेश मिहिरभोज के साथ हुए कृष्ण द्वितीय के युद्ध में गुजरात के शासक कृष्णराज ने कृष्ण द्वितीय को पूर्ण सहयोग प्रदान किया। परन्तु बाद में उक्त दोनों राष्ट्रकूट राज्यों के बीच तनावपूर्ण स्थितियाँ पैदा हो गई। सांगली तथा काम्बे-ताम्रपत्रों से पता चलता है कि कृष्ण द्वितीय ने गुजरात के शासक कृष्णराज अथवा उसके उत्तराधिकारी को खेटक (खेड़ा) राज्य से अपदस्थ कर दिया तथा 910 ई० में ब्रह्मावलोकवंश के प्रचंड नामधेय अपने अति विश्वासप्राप्त व्यक्ति को वहाँ का शासक नियुक्त किया। 888 ई० के बाद गुजरात के राष्ट्रकूटों का कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं हो सका है। ऐसी स्थिति में यह सहजतः अनुमन्य है कि संभवतः इस तिथि के लगभग गुजरात की राष्ट्रकूटशाखा का अन्त हो गया था।

उत्तरभारतीय अभियान—गुणचन्द्रकृत 'उत्तरपुराण' के परिशिष्ट में कृष्णचन्द्र द्वितीय द्वारा गङ्गातट तक सैन्यअभियान करने का उल्लेख किया गया है। इस ग्रंथ के अनुसार उसकी गजसेना ने गङ्गा नदी का जल पान किया तथा कुमारी अन्तरीप के सघन कान्तार की शीतलछाया में विश्राम भी किया था—

> **"यस्योत्तुंगमतंगजा निजमदस्रोतस्विनीसंगमात् ।**
> **गांगं वारि कलंकितं पटु मुहुः पीत्वायत्गच्छत्तृषाम् ॥**
> **कौमारंघनचन्दनं—अस्तंभास्करच्छायंसमाशिश्रियन् ॥"**

अवान्तरयुगीन राष्ट्रकूटशासक कृष्ण तृतीय के शासनकाल के कतिपय अभिलेखों में कृष्णद्वितीय की काव्यात्मक प्रशस्ति करते हुए उसके दरबार में अंग, वंग, कलिंग तथा मगध के राजाओं की उपस्थिति आख्यात की गयी है। उक्त साक्ष्यों के अतिरिक्त अन्य किसी भी साक्ष्य से कृष्ण द्वितीय के उत्तर भारतीय सामरिक-अभियानों की सम्पुष्टि नहीं हो सकी है। सम्भवतः उपर्युक्त साक्ष्य काव्यात्मक एवं अतिरंजित है।

चोलों के साथ सम्बन्ध—कृष्णद्वितीय का समकालीन चोलशासक आदित्य प्रथम था। वह बड़ा पराक्रमी था। उसने अपने बाहुबल से पल्लव राज्य को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। फलतः चोल एवं राष्ट्रकूट राज्यों की सीमायें परस्पर मिल गई थीं। कृष्ण द्वितीय ने उक्तचोल नरेश के साथ मैत्रीसम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। आदित्य प्रथम की मृत्यु के बाद परान्तक चोल राजगद्दी पर बैठा। कृष्ण द्वितीय अपने नाती कन्नरदेव को आदित्य प्रथम का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। अतः उसने परान्तक चोल पर आक्रमण कर दिया।

परन्तु पराक्रमी चोल नरेश परान्तक ने उसे 911 ई० में वल्लालतिरुवल्लेलि के युद्ध में पराजित कर दिया।

कृष्ण द्वितीय ने 914 ई० तक शासन किया। उसके शासक-काल में राष्ट्रकूट साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार नहीं हो सका। दक्षिण भारतीय वेंगी के चालुक्यों ने कुछ समय के लिए राष्ट्रकूटों की शक्ति को पदाक्रान्त कर दिया था। यद्यपि कृष्ण द्वितीय के शासन काल में गुर्जरप्रतीहार नरेश मिहिरभोज तथा महेन्द्रपाल राष्ट्रकूटों की शक्ति से अवश्य टकराये, परन्तु वे उसे कोई क्षति पहुँचाने में सफल नहीं हो सके। समग्ररूप में कृष्ण द्वितीय का शासनकाल सामरिक उपलब्धियों एवं साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से विशेष उपलब्धि पूर्ण नहीं माना जा सकता है।

कृष्ण द्वितीय प्रसिद्ध जैन विद्वान् तथा रचनाकार गुणभद्र का शिष्य था। उसने शुभतुंग, वल्लभराज, महाराज परमेश्वर तथा परमभट्टारक आदि अनेक उपाधियाँ धारण की।

इन्द्र तृतीय (914—928 ई)—914 ई० में कृष्ण द्वितीय का पौत्र इन्द्र तृतीय राष्ट्रकूट राजगद्दी पर बैठा। करहाड तथा देवली ताम्रपत्रों से पता चलता है कि कृष्ण द्वितीय के पुत्र जगत्तुंग का निधन उसके शासन काल में ही हो चुका था, अतः जगत्तुंग के पुत्र इन्द्र तृतीय को उसका उत्तराधिकारी प्राप्त हुआ। उसके नौसारी-दानपत्रों से ज्ञात होता है कि 915 ई० में औपचारिक राज्याभिषेक के लिए वह **करुंदकतीर्थ** भी गया था। करुन्दक तीर्थ की पहचान के सम्वन्ध में विद्वानों में वड़ा मतभेद है। **नीलकण्ठ शास्त्री** के अनुसार करुन्दक तीर्थ दक्षिणी मराठवाड़ा क्षेत्र में स्थित वर्तमान करुन्दवाड़ नामक रहा होगा। **डी० आर० भण्डारकर** ने उक्त स्थान का समीकरण ताप्तीनदी के तटवर्ती 'कन्डोदा' नामक स्थल से किया है। **विश्वनाथ रेड** करुन्दक को कृष्णा एवं पंचगङ्गा नदियों के संगम पर अवस्थित मानते हैं। अल्तेकर ने उसकी पहचान कोल्हापुर जनपद के कुरन्दवाड से की है। अभिषेक के अवसर पर उसने 'नित्यवर्ष' की उपाधि धारण की थी।

उपलब्धियाँ—

परमार राज्य पर आक्रमण—नासिक क्षेत्र (उत्तरी महाराष्ट्र) में अवस्थित गोवर्धन दुर्ग पर परमार-शासक उपेन्द्र ने आक्रमण करके उसे जीत लिया। परमार-वंश के राजा गुर्जरप्रतीहार शासक के अधीन शासन कर रहे थे। संभवतः कृष्ण द्वितीय की मृत्यु के बाद इन्द्र तृतीय के राज्यारोहणकाल के अन्तराल में परमार शासक उपेन्द्र ने राष्ट्रकूट साम्राज्य के उपर्युक्त भाग को हड़पने का सफल प्रयास किया था। उदयपुर-प्रशस्ति के अनुसार इन्द्र तृतीय ने उपेन्द्रराज (अथवा कृष्णराज) को पराजित करके गोवर्धन का उद्धार किया—

> **"कृतगोवर्धनोद्धारं हेलोन्मूलितमेरुणा।**
> **उपेन्द्रमिन्द्रराजेन जित्वा येन च विस्मितम्॥"**

परमार शासक उपेन्द्रराज पर विजय-प्राप्ति के फलस्वरूप इन्द्र तृतीय के मन में उत्तरी भारतीय सामरिक-अभियान संचालित करने की प्रबल इच्छा जागृत हो गई।

प्रतीहार राज्य पर आक्रमण तथा कन्नौज पर विजय—910 ई० में प्रतीहारनरेश महेन्द्रपाल की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों-भोज द्वितीय एवं महीपाल के बीच उत्तराधिकार के लिए गृह-युद्ध छिड़ गया। सर्वप्रथम भोज द्वितीय को राजगद्दी तो मिल गई, परन्तु 912 ई० में महीपाल भोज ने चन्देल नरेश हर्ष की सहायता से उसे अपदस्थ करके राजगद्दी स्वयं हथिया ली। भोज द्वितीय का साथ राष्ट्रकूट समर्थित चेदिनरेश कोकल्ल ने भी दिया (भोजे वल्लभराजे श्रीहर्षो चित्रकूट भूपाले। शंकरगणे च राजनि-यस्यासीदभयदः पाणिः)। उधर राज्याभिषेक के आसपास प्रतीहारनरेश के बल पर परमारशासक द्वारा गोवर्धन पर किये गए आक्रमण से इन्द्र बहुत कुपित था। मौके का लाभ उठाते हुए उसने चेदियों द्वारा समर्थित भोज द्वितीय को अपदस्थ करने वाले महिपाल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कैम्बे-ताम्रलेख के अनुसार उसने सर्वप्रथम उज्जयिनी पर आक्रमण करके उसे जीत लिया।

916 ई० के हेमन्त-ऋतु में इन्द्र तृतीय की सेना उत्तरी भारतीय राज्यों से लोहा लेने के लिए आगे बढ़ी। संभवतः राष्ट्रकूट सेना झांसी-ग्वालियर-भोपाल के मार्ग से होती हुई कालपी पहुँची (**यन्माद्यद्द्विपदन्तद्यातविषमं कालप्रियप्रांशणम**)। कालपी के आगे यमुनानदी पार करके राष्ट्रकूटों की सेना कान्यकुब्ज तक पहुँच गई। डॉ० अल्तेकर का मत है कि कान्यकुब्जेश्वर प्रतीहार नरेश महिपाल भयाक्रान्त होकर युद्ध किये बिना ही कान्यकुब्ज से पलायन कर गया। उसने चन्देल राजा हर्ष की राजधानी महोबा में आकर गुप्त रूप से शरण ले ली। फलतः इन्द्र तृतीय ने कान्यकुब्ज पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया—

> **"येनेदं हि महोदयारिनगरं निर्मूलमुन्मीलितम्।**
> **नाम्नाद्यापिजनैः कुशस्थलमिति ख्यातिं परां नीयते॥"**

इस प्रकार इन्द्र तृतीय ने एक बार पुनः उत्तरी भारत पर विजयश्री प्राप्त करके अपने पूर्वजों की दिग्विजय-कीर्ति को पुनर्जीवित कर दिया। उसकी यह विजय स्थायी तो न रह सकी परन्तु इसके फलस्वरूप उसे विपुल सम्पत्ति अवश्य प्राप्त हुई।

वेंगी राज्य की विजय—ज्ञातव्य है कि कृष्ण द्वितीय के शासन-काल के अन्तिम चरण में राष्ट्रकूट सेना वेंगी से निर्णायक युद्ध किए बिना ही वापस लौट आई थी। कलचुम्बुरु-अभिलेख से ज्ञात होता है कि कृष्ण द्वितीय को अपनी पराजय के बाद, वेंगीनरेश विजयादित्य तृतीय की वन्दना करनी पड़ी थी। इन्द्र तृतीय ने उत्तरी भारतीय राज्यों की विजयों के बाद राष्ट्रकूट राज्य के परम्परागत शत्रु वेंगी राज्य पर आक्रमण कर दिया। **डॉ० अल्तेकर** के मतानुसार उसने वेंगी राज्य को आक्रान्त करके विरजापुरी में तत्कालीन वेंगीनरेश विजयादित्य चतुर्थ के साथ युद्ध किया। पूर्वी-चालुक्य-युगीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस युद्ध में चालुक्यसेना ने प्रारम्भिक सफलता तो अवश्य प्राप्त की, परन्तु वेंगीनरेश अन्ततः युद्ध-स्थल पर ही मार डाला गया। फलतः राष्ट्रकूटों ने वेंगी राज्य के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रकूट-अभिलेखों में इन्द्र द्वारा वेंगी राज्य की विजय का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इससे यह सहजतः अनुमन्य है कि राष्ट्रकूटों के सामरिक दबाव से वेंगी राज्य को विशेष क्षति नहीं हो सकी थी। इस बात की पुष्टि विजयादित्य की मृत्यु के बाद अम्म प्रथम के

वेंगी राज्य पर राष्ट्रकूटों के दवाव से मुक्त रहकर स्वतन्त्र शासन करने से भी होती है। 925 ई० तक अम्म प्रथम का शासन रहा। मृत्यु के बाद उसका अल्पवयस्क पुत्र विक्रमादित्य पंचम राजसिंहासन पर बैठा। इसके साथ ही वेंगी में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष छिड़ गया। अन्ततः इन्द्र तृतीय ने अपने समर्थक युद्धमल्ल को वेंगी का राजा नियुक्त किया। उसने राष्ट्रकूटों की सहायता से 934 ई० तक वहाँ शासन किया।

अन्य विजयें—जिस समय इन्द्र तृतीय उत्तरी भारत के विजय-अभियानों में व्यस्त था, उसी कालावधि में उसके महासेनानायक श्रीविजय ने अनेक राष्ट्रकूट विरोधी राज्यों को जीत लिया। शक संवत् 838 के हत्तिमत्तूर-लेख से ज्ञात होता है कि धारवाड़ में इन्द्र तृतीय ने सेनानायक लेडेयरस को वहाँ का महासामन्त नियुक्त किया। इन्द्र तृतीय ने कलचुरि नरेश अम्मणदेव (अनंगदेव) की पुत्री वीजाम्वा से विवाह किया था। शक संवत् 836 के **करुन्दक प्रशस्ति** अभिलेख तथा **मदालसा** एवं **दमन्यती-कथा** के रचनाकार **त्रिविक्रमभट्ट** इन्द्र तृतीय के समकालीन थे, जिनकी रचनाओं से भी उक्त घटनाओं की सम्पुष्टि होती है।

इन्द्र तृतीय ने लगभग 14 वर्ष तक राज्य किया। उसके अभिलेख 927 ई० तक के उपलब्ध हैं। सम्भवतः 928 ई० के अन्तिम चरण में उसकी मृत्यु हो गई। उसने रट्ठकन्दर्प, नित्यवर्ष, राजमार्त्तण्ड्य, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि विरुदों को धारण किया। अपने शासनकाल में उसने एकवार पुनः राष्ट्रकूट राजवंश की पूर्व प्रतिष्ठा को स्थापित कर दिया था।

अमोघवर्ष द्वितीय (928—929 ई०)—अमोघवर्ष प्रथम के दो पुत्र थे—अमोघवर्ष एवं गोविन्द चतुर्थ। सांगली-अभिलेख में गोविन्द चतुर्थ को इन्द्र तृतीय का 'तत्पादानुध्यात्' घोषित किया गया है। **फ्लीट** की धारणा है कि उक्त आभिलेखिक साक्ष्य के आलोक मे अमोघवर्ष द्वितीय को इन्द्र तृतीय का उत्तराधिकारी मानने में विप्रतिपन्नता प्रतीत होती है। परन्तु **अल्तेकर, पी०वी० देसाई, नीलकण्ठ शास्त्री** आदि विद्वानों ने कतिपय राष्ट्रकूट लेखों तथा शिलाहार नरेश अपराजित के मदन-ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि इन्द्र एवं गोविन्द चतुर्थ के मध्य अमोघवर्ष द्वितीय ने कम से कम एक वर्ष तक शासन अवश्य किया था। उपर्युक्त तथ्य की सम्पुष्टि कृष्ण तृतीय के देवली एवं करहद-अभिलेखों से भी होती है। सम्भवतः 929 ई० में तीस वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के कतिपय कारणों में उत्तराधिकार के लिये चल रहे युद्ध में गोविन्द चतुर्थ की सक्रियता की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

गोविन्द चतुर्थ (930—936 ई०)—**अनन्त सदाशिव अल्तेकर** के अनुसार गोविन्द चतुर्थ 930 ई० में राजसिंहासन पर बैठा। उस समय वह 20 या 26 वर्ष का युवक ही था। सांगली-ताम्र-पत्र-लेख से ज्ञात होता है कि वह प्रेम के देवता कामदेव के समान सुन्दर था। उसका अधिकांश समय विलास में बीता। खारेपाटन-ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि वह सदा प्रेम की भावनाओं में डूबा रहता था तथा सुन्दरी नर्तकियों से घिरा रहता था। देवली तथा करहद-दानपत्रों से भी इस बात की पुष्टि होती है (**सोप्यंगनानपशनिरुद्ध बुद्धिः संसर्गविमुखीकृतसर्वसत्वः**)। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त

राष्ट्रकूट साम्राज्य के बाहर की राजनीति में भाग नहीं लिया। सांगली-ताम्र-पत्र की एक पंक्ति में आख्यात है कि गंगा और यमुना नदियाँ उसके महल में सेवा करती थीं (**पदनिन्दित रामान्दीननु गंगायमुना व सेवते**)। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रयाग तक का उत्तरभारतीय भू-क्षेत्र उसके शासनकाल में राष्ट्रकूटों के अधीन था। परन्तु उसकी अतिशय विलासीप्रवृत्ति के फलस्वरूप बाद में साम्राज्य-शासन के सारे सूत्र शिथिल पड़ने लगे। इसका लाभ उठाकर प्रतीहार नरेश महिपाल ने कान्यकुब्ज पर पुनः अपना अधिकार स्थापित कर लिया तथा राष्ट्रकूट सेना वहाँ से भगा दी गई। इसी प्रकार गोविन्द चतुर्थ के शासनकाल में वेंगी के शासक युधामल, जिन्हें राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय ने राजगद्दी पर बैठाया था, को उसके प्रतिद्वन्द्वी भीम तृतीय ने 934 ई० में पदच्युत करके उससे राजसिंहासन छीन लिया। सम्भवतः गोविन्द चतुर्थ ने वेंगी के राष्ट्रकूट समर्थित शासक युधामल की कोई सहायता नहीं की क्योंकि राजनीतिक एवं सामरिक पौरुष-प्रदर्शन में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी।

संयोगवश, गोविन्द चतुर्थ ने दक्षिणी कर्नाटक के वेमुलवाद राज्य में चालुक्यसामंत अरिकेसरिन् द्वितीय से दुश्मनी मोल ले ली। गोविन्द चतुर्थ की गिरती हुई साख को देखते हुये सामंत अरिकेसरिन् धीरे-धीरे उसके आदेशों की अवहेलना करने लगा। झगड़े का प्रमुख कारण चालुक्य राजगद्दी के कई दावेदारों में एक, विजयादित्य पंचम को, गोविन्द चतुर्थ की इच्छा के विरुद्ध अरिकेशरिन् का अपने यहाँ आश्रय देना था। राष्ट्रकूट नरेश ने उसको उसे सौंप देने का आदेश दिया। परन्तु अरिकेशरिन् ने राजाज्ञा की अवहेलना करते हुये, विजयादित्य पंचम को उसे सौंपने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। सम्भवतः उस समय तक गोविन्द चतुर्थ की विलासिता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी तथा राष्ट्रकूट शासन-तन्त्र उसे अपदस्थ करने के लिए समय की प्रतीक्षा कर रहा था।

देवली तथा करहद ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि गोविन्द चतुर्थ के चारित्रिक पतन के कारण साम्राज्य का शासन-विधान बिगड़ चुका था। इससे जनता में गम्भीर असन्तोष व्याप्त था तथा अनेक अधीनस्थ राजा स्वतंत्र हो गये थे। **'विक्रमार्जुन-विजय'** काव्य में महाकवि पम्प ने गोविन्द चतुर्थ के पतन का उल्लेख करते हुये अपने आश्रयदाता चालुक्य अरिकेशरिन् की राष्ट्रकूट सेना पर विजय तदुपरान्त राष्ट्रकूट राजगद्दी पर वड्डेग अर्थात् अमोघवर्ष तृतीय के राजतिलक किये जाने का यथातथ्य वर्णन किया है। सम्भवतः अधीनस्थ शासकों के संयुक्त संघ ने, जिसका नेतृत्व अरिकेशरिन् स्वयं कर रहा था, गोविन्द को पराजित कर राजगद्दी उसके चाचा अमोघवर्ष तृतीय को सौंप दी थी। इसकी पुष्टि देवली तथा करहद-ताम्रपत्रों से की जा सकती है (सामन्तैरथ रट्ठराज्य महिपालम्बधिमम्यार्थितः)। सम्भवतः राजगद्दी प्राप्त करने के लिये न तो स्वयं उसने विद्रोह किया और न ही किसी और से करवाया। अपितु भाग्यबल से उसे वह स्वयं प्राप्त हो गई। (देवेनापि पिनाकिना हारिकोल्लाऽसौ विणाप्रेरितः)। शिलाहार-दानपत्र से ज्ञात होता है कि गोविन्द चतुर्थ का विनाश का स्वाभाविक एवं प्रमुख कारण उसकी विलासप्रियता ही थी—

> **"श्री मत्कर्कराष्ट्रकूटकटके सद्वंशसंहर्षतो।**
> **रौद्रबोहववप्रतापशमनं निस्त्रिंशधाराजलैः॥**

येनाकारि समुद्भुतेन्द्रधनुषा भूषाश्मभिर्विद्युता ।
भाति श्रीमदमोघवर्षसुघनीऽसद्भूतिविध्वंसनात ।।"

अमोघवर्ष तृतीय (936—939 ई०)—गोविन्द चतुर्थ की अन्तिम ज्ञात-तिथि 934 ई० है और अमोघवर्ष तृतीय की आरम्भिक ज्ञात-तिथि 937 ई० है । अत: संभवत: 935-36 ई० में अमोघवर्ष तृतीय का राजतिलक हुआ होगा । ईसामुन्द्र-लेख से ज्ञात होता है कि वह 937 ई.० के पूर्व राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठ चुका था । वह उदारचेता तथा परमधर्मात्मा व्यक्ति था । उसमें राजैषणा न थी, परन्तु वह अपने ज्येष्ठ एवं महत्वाकांक्षी पुत्र कृष्ण तृतीय का आग्रह न टाल सका था । अत: वह मात्र 3 वर्ष के लिए सम्राट् बना । शासनकार्य का अधिकांश भार उसने युवराज कृष्ण तृतीय को सौंपकर स्वयं आध्यात्मिक चिन्तन में अधिकांश समय व्यतीत किया । राज्यारोहण के समय उसकी उम्र 50 वर्ष की थी । उसने अपनी पुत्री रेवकनिम्पडी का विवाह गंगनरेश बूतुग द्वितीय के साथ किया था । उसने श्रेष्ठ ब्राह्मणों एवं मन्दिरों को प्रचुर दान दिया तथा अनेक शिव-मन्दिरों का निर्माण भी करवाया । युवराज कृष्ण तृतीय ने 937 ई० में दक्षिणी राज्यों पर अपना दबदबा बनाये रखने के लिए गंगवाड़ी राज्य पर आक्रमण किया तथा वहाँ के नरेश राजमल्ल तृतीय को मार कर अपने बहनोई बूतुग द्वितीय को गंगराज्य का शासक नियुक्त किया ।

कृष्ण तृतीय (939—967 ई०)—939 ई० में कृष्ण तृतीय राजगद्दी पर बैठा । युवराज के रूप में उसने अपनी सामरिक दक्षता एवं कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया था । राज्याभिषेक के समय उसने 'अकालवर्ष' की उपाधि धारण की । वह बड़ा महत्वाकांक्षी शासक सिद्ध हुआ । शासन के तीसरे वर्ष में उसने चोलों के विरुद्ध युद्धाभियान किया । जालीसुदि-ताम्रपत्रों से विदित होता है कि उसके बहनोई एवं सामन्त शासक बूत्तूग द्वितीय गंग ने उसे राज्याधिकारी बनाने में सहायता की थी । संभवत: कृष्ण तृतीय के वंशज गोविन्दचतुर्थ के पुत्र ने अथवा लल्लेय नामक नृपति ने उसे वैध उत्तराधिकारी मानने से इन्कार कर दिया था । कृष्णतृतीय ने अपने शासन के प्रारम्भिक तीन वर्षों को अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ करने में लगाया ।

उपलब्धियाँ

चोलराज्य पर आक्रमण—कृष्ण तृतीय युवराजकाल में ही राष्ट्रकूट राजनीति का सूत्रधार बन चुका था । करहद-ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि युवराज काल में ही उसने अपने पौरुष एवं पराक्रम की धाक पड़ौसी राज्यों पर स्थापित कर ली थी । उसने गंगवाड़ी राज्य के गंगराज को पराजित कर उसने वहाँ की राजगद्दी पर अपने बहनोई बूत्तग को बैठाया । गंगनरेश तथा कृष्ण तृतीय दोनों महापराक्रमी और महत्वाकांक्षी शासक सिद्ध हुए ।

अपनी आन्तरिक शक्ति को सुदृढ़ करने के उपरान्त कृष्ण तृतीय ने बूतुग की सहायता लेकर चोलराज्य पर आक्रमण किया । कन्याकुमारी-अभिलेख से पता चलता है कि प्रारम्भ में तत्कालीन चोल नरेश परान्तक ने कृष्ण तृतीय को पराजित करके 'वीरचोल' की उपाधि धारण की । परन्तु कृष्ण तृतीय ने कुछ ही समय बाद परान्तकचोल के विरुद्ध आक्रमण करके चोलराज्य को आक्रान्त कर दिया । उसने 943

ई० के लगभग जैसा कि सिद्धलिंगमादम एवं उवकल विष्णुमन्दिर के लेखों से भी पता चलता है, चोलों से काँची एवं तंजौर क्षेत्रों को अपहृत कर लिया। लगभग छह वर्ष वाद कृष्ण तृतीय एवं बूतुग ने चोलों को तक्कोलम के ऐतिहासिक युद्ध में बुरी तरह परास्त करके चोलयुवराज राजादित्य की हत्या कर दी। अपनी चोलविजय से उत्साहित कृष्ण तृतीय की विजय-वाहिनी रामेश्वरम् तक पहुँच गई। उसने दक्षिणी समुद्रतट पर अपना विजयस्तम्भ स्थापित कराया।

अन्य दक्षिण भारतीय राज्यों पर विजय—कृष्ण तृतीय अधिक समय तक विशाल चोलराज्य को अपने अधीन न रख सका। तथापि उसने अपने शासनकाल तक तोंडमण्डल-क्षेत्र, जिसमें ऑरकाट, चिंगलपुट तथा वेल्लोर जनपद सम्मिलित थे, को चोलों से अपहृत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। बूतुग द्वितीय के सूदी-ताम्रपट्टों में उसे 'तन्जैयनकोंड' (तन्जौर-विजेता) विरुद् से युक्त वताया गया है। उसने अपने दक्षिणीविजय-अभियान में, जैसा कि करहद अभिलेख में विवृत है, पाण्ड्यों, श्रीलंका एवं अन्यान्य मांडलिक राजाओं को आक्रान्त कर उनसे विपुल कर वसूल किया। दक्षिणी-समुद्रतट पर उसने न केवल विजय-स्तम्भ स्थापित कराया अपितु वहाँ कालप्रियगंडमार्त्तण्ड तथा कृष्णेश्वर के मन्दिरों का निर्माण कंराकर उनके खर्च के लिए कई ग्रामों का दान किया। सोमदेव-विरचित **'यशस्तिलकचम्पू'** काव्य में भी उसे पाण्ड्य, चेर, चोल तथा श्रीलंका राज्यों का विजेता कहा गया है। उसने अपनी विजय के स्मारक के रूप में काँची में कालप्रिय, का एक विशाल मन्दिर निर्मित करवाया। 959 ० में कृष्ण तृतीय उत्तरीअर्काट जनपद तक वापस लौट आया था क्योंकि इस समय वह मेलपादि नामक स्थल पर एक स्कन्धावार में निवास कर रहा था।

कृष्ण तृतीय ने दक्षिण भारत के अनेक राज्यों की राजनीतिक गतिविधियों में बलात् हस्तक्षेप किया। वेंगों के चालुक्यों के गृह-युद्ध में 956 ई० में हस्तक्षेप करते हुए वास्तविक उत्तराधिकारी अम्म द्वितीय को अपदस्थ कर उसके स्थान पर वाडप को सिंहासन पर बैठाया। परन्तु अम्म द्वितीय ने कुछ समय बाद उसे अपदस्थ करके उससे राजगद्दी पुनः अपहृत कर ली।

देवली-ताम्र-पत्र के अनुसार कृष्ण तृतीय ने काँची के शासक दन्तिग तथा वप्पुग की हत्या कर दी तथा पल्लवनरेश अन्तिन को पराजित किया। करहद अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने कलचुरि नरेश सहस्रार्जुन को पराजित करके उससे डाहल प्रदेश छीन लिया। बिल्हरी-अभिलेख से ज्ञात होता है कि पराजित कलचुरि नरेश युवराज प्रथम था, जिसने थोड़े समय बाद ही पुनः डाहल प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया।

उत्तरी भारतीय अभियान—960 ई० के लगभग कृष्ण तृतीय दक्षिण भारतीय दिग्विजय के बाद अपनी राजधानी वापस लौट आया। उसने अपने पूर्वजों की भाँति उत्तरी भारत में राष्ट्रकूट विजय-पताका को एक बार पुनः फहराने के लिए योजना बनाई। परन्तु दुर्भाग्यवश, इसी बीच उसके पराक्रमी सहयोगी बूतुग की मृत्यु हो गई। कृष्ण तृतीय गंगवाड़ी राज्य के नए उत्तराधिकारी मारसिंह के अभिषेक-समारोह में सम्मिलित होने चला गया। मारसिंह बूतुग की महामहिषी राष्ट्रकूट-कुमारी का पुत्र

होने के कारण अपने अधिराज कृष्ण तृतीय के प्रति पूर्ण अनुरक्त था। उसने अपने पिता की भाँति सेना सहित राष्ट्रकूटों के उत्तरभारतीय दिग्विजय-अभियान में भाग लिया।

कृष्ण तृतीय 963 ई० के लगभग साम्राज्य-विस्तार की महत्वाकांक्षा के साथ उत्तरी भारतीय अभियान में आगे बढ़ा। उस समय बुन्देलखण्ड में चन्देलों का आधिपत्य था। यहाँ के शासक यशोवर्मन्, विद्याधर तथा धंग आदि ने अपनी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि कर ली थी। 950 ई० के आस-पास जिस समय कृष्ण तृतीय दक्षिणी भारतीय संघर्षों में व्यस्त था, चन्देलों ने चित्रकूट तथा कालिंजर आदि राष्ट्रकूट-प्रभुत्व वाले क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लिया। यहाँ तैनात राष्ट्रकूट सेना चन्देलों से पराभूत होकर प्रत्यावर्तित हो चुकी थी। अपने कुल के गौरव को पुनः स्थापित करने के लिये कृष्ण तृतीय ने सर्वप्रथम बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया। साक्ष्यों के अभाव में इस आक्रमण के सही परिणाम का ज्ञान नहीं हो सका है। 996-97 ई० के एक चन्देल अभिलेख में महाराज धङ्ग को 'कालिंजराधिपति' कहा गया है। इस साक्ष्य के आलोक में कतिपय विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि संभवतः कृष्ण तृतीय को बुन्देलखण्ड के अभियान में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। मैहर से 12 मील दूर स्थित जूरा-ग्राम से प्राप्त एक अभिलेख में उसे काँची और तन्जोर (थंजाउर) का विजेता अवश्य कहा गया है, परन्तु कृष्ण तृतीय के इस अभियान के परिणामों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है।

कृष्ण तृतीय का दूसरा अभियान मालवा राज्य पर हुआ। 949 ई० के हर्सोल-दानपत्रों से पता चलता है कि मालवा में उस समय परमार वंशीय सीयक शासन कर रहा था, जो राष्ट्रकूटों की अधिसत्ता स्वीकार करता था। संभवतः बाद में उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। मालवा के अभियान में कृष्ण तृतीय को सफलता मिली और राजधानी उज्जयिनी पर उसका अधिकार स्थापित हो गया। उपर्युक्त अभियानों में उसे गङ्गनरेश मारसिंह द्वितीय से बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

मूल्याङ्कन—कृष्ण तृतीय एक महान् योद्धा था। उसने अपने शासनकाल में राष्ट्रकूटों की बिखरी हुई शक्ति को एक बार पुनः सुसंगठित एवं प्रतिष्ठित किया। अभिलेखों में उसे सम्पूर्ण भारत का विजेता कहा गया है। इन उल्लेखों को अतिरंजित मानते हुए भी इनसे इतनी सच्चाई तो अवश्य प्रतीत होती है कि उसका प्रभुत्व सम्पूर्ण प्रायद्वीपीय भारत पर स्थापित हो चुका था। धुरदक्षिणी राज्यों पर उसके पूर्व अन्य किसी राष्ट्रकूट शासक को इतना प्रभुत्व एवं वर्चस्व स्थापित करने का श्रेय नहीं मिल सका था। परन्तु उसकी आक्रामक एवं विस्तारवादी नीति के फलस्वरूप राष्ट्रकूट-अधिसत्ता के परम्परया समर्थक बहुसंख्यक शासकों में, अपने अधिनायक के प्रति, आत्मिक लगाव समाप्त हो गया था। फलतः जब तक वह जीवित रहा, भयवश वे शान्त रहे परन्तु जैसे ही उसका शासन समाप्त हुआ, सब के सब स्वतन्त्र एवं मान्यखेट-शासन के विद्रोही हो गये। कृष्ण तृतीय के महान् एवं सफल कूटनीतिज्ञ पूर्वजों ने चेदियों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर अपने साम्राज्य की उत्तरी सीमा को उपर्युक्त प्रतिद्वन्द्वियों के आक्रमण से सुरक्षित किया था। चेदियों ने स्वयं कृष्ण तृतीय को राजसिंहासन पर बैठाने में उसकी सहायता की थी। किन्तु राजमद में मदान्ध कृष्ण

तृतीय ने अपनी शक्ति को पुनर्गठित करने के उपरान्त सारे सम्बन्धों को ताख पर रख कर उन्हें आक्रान्त कर दिया। फलतः प्रवल समर्थक एवं स्वामिभक्त चेदिशासक भी राष्ट्रकूट-शक्ति का विनाश देखने के आग्रही वन गए। इधर मालवा के शक्तिशाली परमारों को कृष्ण तृतीय ने अपना मित्र बनाकर अपने विशाल साम्राज्य के लिए सम्भावित खतरा पैदा कर लिया। जव तक कृष्ण तृतीय जीवित रहा, परमार शासकगण उसकी सेवा में लगे रहे। परन्तु उसके मरते ही राष्ट्रकूटों की कमर तोड़ने के लिए उनकी कूटनीति चालों एवं भयानक आक्रमणों का क्रम चल पड़ा। कुछ इसी प्रकार की भूल दक्षिण में गंगों को अतिशत प्रश्रय देने में भी हुई। इन नवीन समीकरणों के कारण राष्ट्रकूट शक्ति को बाद में वड़ा आधात पहुँचा। सम्भव है कि ये शक्तियाँ विशेष सक्रिय न हो पातीं यदि कृष्ण तृतीय का उत्तराधिकारी भी उसी के समान कूटनीतिक एवं पराक्रमी होता। परन्तु ऐसा न हुआ। फलतः राष्ट्रकूट-राज्य की नींव उखड़नी प्रारम्भ हो गई।

सामरिक अभियानों में निरन्तर व्यस्त होते हुये भी कृष्ण तृतीय ने साहित्य एवं कला को संरक्षित किया। कन्नड़-भाषा के महाकवि पौन्न उसके संरक्षण में ही रहकर **'शान्ति पुराण'** की रचना की थी। विद्वत्ता एवं रचनाधर्मिता को ध्यान में रखकर उसे 'अभयभाषाचक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया गया था। परवर्ती महाकवि पुष्पदन्त विरचित 'ज्वालामालिनीकृत्य' के अनुसार पौन्न ने अपने ग्रन्थ को इसी नरेश के शासनकाल (शक सम्वत् 861) में पूरा किया (**श्रीकृष्णराजराज्ये समाप्तमेतन्मतं देव्याः**)। कृष्ण तृतीय ने अपनी उपलब्धियों के अनुकूल पृथ्वीवल्लभ, कन्धारपुरवराधीश्वर, अकालवर्ष, समस्तभुवनाश्रय, परममाहेश्वर, परमेश्वर, परमभट्टारक आदि अनेक उपाधियाँ धारण की। कोल्लगल्लु-अभिलेख से प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार उसका शासन सम्भतः 967 ई० के लगभग समाप्त हुआ।

खोट्टिग (967—972 ई०)—कृष्ण तृतीय के उपरान्त 967 ई० में उसका छोटा भाई खोट्टिग राजगद्दी पर वैठा। करहद अभिलेख के अनुसार वह अमोघवर्ष तृतीय की राजमहिषी कुन्दकदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था (**स्वर्गमधिरूढे च ज्येष्ठ भ्रातरि श्रीकृष्णराजदेवे युवराज देवदुहितरि कुन्दकदेव्याममोघवर्षनृपाज्जातः। खोट्टिगदेवो नृपतिरभूद्भुवनविख्यातः**)। खोट्टिग के सिंहासन पर बैठते ही राष्ट्रकूटों पर विपत्ति के बादल मँडराने लगे तथा कृष्ण तृतीय की राजनीतिक एवं कूटनीतिक भूलें रंग लाने लगीं।

परमारों का आक्रमण—मालवा का परमार शासक सीयक द्वितीय, कृष्ण तृतीय से आक्रान्त होने की विवशता में, उसकी अधीनता तथा जी-हुजूरी उसके शासन-काल तक अवश्य करता रहा, परन्तु उक्त नरेश के मरते ही उसके अन्तर्मन में प्रतिशोध की ज्वाला धधक उठी। कृष्ण तृतीय की मृत्यु की सूचना मिलते ही उसने राष्ट्रकूटों के विनाश के लिये नर्मदा को पार कर उन पर आक्रमण कर दिया। परन्तु प्राथमिक चरण में राष्ट्रकूट सेना ने न केवल परमारों को मार भगाया, अपितु उसके वीर सेनापति को परास्त कर समरभूमि में ही उसकी हत्या भी कर दी।[1] परन्तु राष्ट्रकूटों का यह प्रतिरोध स्थायी न

1. द्रष्टव्य, ए० इ० जिल्द, 21, पृ० 47.

रह सका। परमार नरेश उदयादित्य के उदयपुर-अभिलेख से पता चलता है कि श्रीहर्ष (सीयक द्वितीय) ने कुछ ही समय बाद भारी सैन्यदल भेजकर न केवल नर्मदा नदी पार किया अपितु राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट (मलखेद) को आक्रान्त कर, खोट्टिग की राज्यलक्ष्मी को भी अपहृत कर लिया (**श्री हर्षदेव इति खोट्टिगदेवलक्ष्मीम् । जग्राह यो युधि नगादसमः प्रतापः**)। इसकी पुष्टि परमारशासक चामुण्डराज के अर्जुन-अभिलेख से भी होती है। परमारों द्वारा राष्ट्रकूट राज्य की लूट-मार की विशद् सूचना धनपाल कृत '**पाइयलक्ष्मीनाममाला**' प्राकृत-कोष में भी प्रदत्त है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह लूट-मार 971 ई० में की गई (**विक्कमकालस्सगए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि। मालवसनरिंद धाडीए लूडिए मन्नखेड़म्मि।**)।

परमारों द्वारा आक्रान्त राष्ट्रकूटों का उपर्युक्त संकट अस्थाई रहा क्योंकि उनके शक्तिशाली सामन्त गङ्ग शासक मारसिंह ने अपनी सेना के साथ परमारों को पछाड़ कर अंततः अपने अधिराज की रक्षा की। सम्भवतः परमार शासक गङ्गों से लोहा लेना उचित न समझकर, उसके मलखेद पहुँचने के पूर्व ही, विपुल सम्पत्ति अपहृत कर अपने राज्य मालवा वापस चला आया। परमारों द्वारा बुरी तरह पराजय-प्राप्ति तथा राजधानी की दुर्दशा से अपमानित वृद्ध राष्ट्रकूट नरेश खोट्टिग बुरी तरह टूट गया। 972 ई० में ही असमय उसकी मृत्यु हो गई।

कर्क द्वितीय (972—74 ई०)—खोट्टिग की मृत्यु के पश्चात् उसका भ्रातृज कर्कद्वितीय 972 ई० में राजगद्दी पर बैठा। करहद-ताम्र-पत्र के अनुसार उसने थोड़े ही समय में हूण, गुर्जर, चोल तथा पाण्ड्यों को अपने अधीन कर लिया। परन्तु उपर्युक्त अभिलेख में आख्यात उसकी ये उपलब्धियाँ अतिरंजित प्रतीत होती हैं क्योंकि यह ताम्रपत्र उसके राज्यारोहण के एक माह बाद ही लिखा गया था। इतनी अल्प अवधि में उसकी ये सफलताएँ मात्र कल्पनाप्रसूत प्रतीत होती हैं।

खोट्टिग की असफलताओं ने अधीनस्थ सामन्तों को स्वतन्त्र शक्ति के रूप में खड़े होने की भूमिका प्रस्तुत कर दी। संयोगवश, कर्क द्वितीय का क्रूर एवं दुष्ट स्वभाव स्वामिभक्त सेनानायकों एवं मन्त्रियों को भी दुःखद लगने लगा। फलतः राजधानी में अपने राजकीय कर्मचारियों से भी उसे यथेष्ट समर्थन प्राप्त होना मुश्किल हो गया। उधर कर्क द्वितीय का विशेषप्रिय चालुक्य-सामन्त तैलप द्वितीय, बेगवाड़ी अथवा तर्डवाड़ी जैसे छोटे राज्य का अधीनस्थ सामन्त शासक होते हुये भी राष्ट्रकूट-मन्त्रियों एवं सेनानायकों के बीच लोकप्रिय होता गया। धीरे-धीरे उसकी ख्याति एक कुशल प्रशासक एवं महान् सेनानायक के रूप में स्थापित हो गई। अपनी महत्वाकांक्षा के वशीभूत होकर उसने सामन्त होते हुये भी, 965 ई० में 'महासामन्ताधिपति' की उपाधि धारण कर ली। परन्तु उसकी आकांक्षा तो 'पृथ्वीवल्लभ' बनने की थी, फलतः उसने अवसर पाकर कर्कद्वितीय के विरुद्ध कर दिया। खारेपाटन-अभिलेख से पता चलता है कि तैलप द्वितीय ने उसे पराजित कर राष्ट्रकूट राज्य को अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार अपनी कूटनीतिक दक्षता, साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा तथा सफल सैन्य-संचालन के बल पर तैलप द्वितीय विशाल राष्ट्रकूट-साम्राज्य का सम्राट् बन गया (**समरे तं बिनिर्जित्य तैलपोर्भून्महीपतिः**)। यद्यपि कृष्ण तृतीय के पौत्र इन्द्रचतुर्थ ने राष्ट्रकूटों के समर्थक

गङ्गशासक मारसिंह की सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त करने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु प्रतापी नरेश तैलप ने उन्हें समाराङ्गण में खड़ा तक न होने दिया। परिणामस्वरूप वह जैनभिक्षु बनकर शेष जीवन बिताते हुए कुछ समय बाद दिवंगत हो गया।

इस प्रकार लगभग दो शताब्दियों तक दक्षिणापथ के अपनी शमशीरों के बल पर सम्पूर्ण भारत पर धाक जमाने वाले महान् राष्ट्रकूट राजवंश का चिराग तैलप द्वितीय के साम्राज्य-विस्तारवादी महत्वाकांक्षा के प्रवाह में 973 ई० में लुप्त हो गया।

12 राष्ट्रकूट कालीन संस्कृति

राष्ट्रकूट-शासन प्रणाली

राजा—राष्ट्रकूट शासनप्रणाली की जानकारी के प्रमुख स्रोत अधिकांशतया उनके अभिलेख हैं। शासनतन्त्र का प्रधान अधिकारी राजा होता था। साम्राज्यशासन का शीर्षस्थ होने के कारण शासन-कार्य का मूल उत्तरदायित्व उसी पर केन्द्रित था। राजा का पद वंशानुगत होता था। सामान्यतया राजा अपने ज्येष्ठ पुत्र को पहले 'युवराज' के रूप में अभिषिक्त करता था। वहीं आगे चलकर उसका उत्तराधिकारी होता था। युवराज राजा के साथ राजधानी में रह कर प्रशासनिक अनुभव प्राप्त करता था तथा आवश्यकतानुसार अपने पिता के सामरिक एवं प्रशासनिक कार्यों में सहयोग देता था। महत्वपूर्ण सामरिक अभियानों में वह कभी तो राजा के साथ रहता था और कभी-कभी राजा के प्रतिनिधि के रूप में इन अभियानों का स्वयं नेतृत्व करता था। राष्ट्रकूट-राजवंश के इतिहास में राजसिंहासन को लेकर अनेक गृह-युद्धों के उदाहरण मिलते हैं। इससे यह इङ्गित होता है कि कभी-कभी राजा ज्येष्ठताक्रम को त्याग कर योग्यता के आधार पर कनिष्ठ पुत्र को भी, राजसिंहासन पर अभिषिक्त करता था। राजकुमारों को राजकीय विषयों की शिक्षा दी जाती थी। राजा-युवराज' के अतिरिक्त अपने अन्य पुत्रों को प्राय: प्रान्तपति अथवा राज्यपाल नियुक्त करता था। राष्ट्रकूट प्रशासन में राजकुमारियों को भी कभी-कभी उच्च प्रशासनिक-पदों पर नियुक्त किया जाता था। परन्तु ऐसा प्राय: बहुत कम ही होता था। फिर भी, तत्कालीन समाज के इतिहास को ध्यान में रखते हुए, प्रशासन में, महिलाओं की भागीदारी को अति महत्वपूर्ण कदम माना जा सकता है।

राजा अपनी उलपब्धियों एवं वैभव के अनुकूल बड़ी-बड़ी उपधियाँ धारण करता था। उसका दरबार मन्त्री, सामन्त, सेनानायक, कवि, ज्योतिषी, उच्चपदाधिकारियों का तथा राजपूतों से सुशोभित रहता था। राजदरबार तथा केन्द्रीय शासन-तन्त्र के कार्यालयों को राजधानी में ही स्थापित किया जाता था। दरबार में शाही शानशौकत रहती थी तथा प्राय: गणिकाएँ, कवि तथा गायकमण्डलियाँ अपने कर्ण-दृश्य-प्रिय रोचक कार्यक्रमों से राजा एवं दरबारियों का मनोरंजन किया करती थी।

आमात्य परिषद्—शासन-कार्य में राजा अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा लेता था। राष्ट्रकूट-अभिलेखों में मन्त्रियों की चयन-प्रक्रिया तथा उनके विभागों का उल्लेख नहीं किया गया है। तथापि यह अनुमन्य है कि सम्भवत: उनका चयन प्राय: उनकी शासकीय

योग्यता, सैन्य-दक्षता तथा कूटनीतिक वैदुष्य के आधार पर ही किया जाता था। अभिलेखों में मन्त्रियों की संख्या पर भी प्रकाश नहीं डाला गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के मन्त्रिमण्डल में महामात्य, महासन्धिविग्रहित, सेनापति, पुरोहित, भाण्डागारिक तथा महाक्षपटलिक आदि प्रमुख मन्त्री सम्मिलित थे। राजा की संस्तुति, स्वीकृति तथा आदेश लिए विना कोई मन्त्री आदेश पत्र जारी नहीं कर सकता था।

सामन्त—साम्राज्य के अधिकांश प्रदेश सामन्तों के अधीन शासित होते थे। राजधानी के आस-पास के क्षेत्र को राजा स्वयं देखता था। राजा के विशेष कृपापात्र बड़े सामन्त अपनेप्रशासकीय निर्णयों में वहुत कुछ स्वतन्त्र होते थे। राष्ट्रकूट नरेशों ने दक्षिणी गुजरात के सामन्त-शासकों को प्रशासन-संचालन में पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की थी। बड़े सामन्तों के अधीन अनेक उपसामन्त भी रहते थे। वे सामन्त अथवा महासामन्त की आज्ञा लिए बिना राजस्व-निर्धारण, कर-मुक्ति अथवा ग्राम-भूमि आदि का हस्तान्तरण नहीं कर सकते थे। सभी प्रकार के सामन्तों को राजा के आदेशों का यथावत् अनुपालन करना अनिवार्य था। समय-समय पर राजदरबार में जाकर प्रणामागमन तथा राजा के प्रति पूर्ण समर्पण का परिचय देना पड़ता था। उन्हें अपनी आय का एक निर्धारित अंश केन्द्रीय राजकोष में जमा करना पड़ता था। सामरिक अभियानों में राजा के आदेश के अनुसार कभी तो उसे स्वयं अपनी सेना के साथ, तथा कभी अपनी सेना ही भेजकर युद्धों में राजा की सहायता करनी पड़ती थी। सामन्तों के प्रशासकीय कार्यों पर नजर रखने के लिए राजा अपना एक उच्चपदस्थ अधिकारी नियुक्त करता था। राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के बाद पराजित होने पर सामन्तों को गम्भीर अपमान का सामना करना पड़ता था।

राष्ट्र एवं विषय—प्रशासन की दृष्टि से राष्ट्रकूट साम्राज्य अनेक इकाइयों में विभक्त था। केन्द्रीययन्त्र के प्रत्यक्ष प्रबन्ध वाले क्षेत्र 'राष्ट्र' एवं 'विषयो' में विभक्त थे। **अनन्त सदाशिव अल्तेकर** के अनुसार ये सम्भवतः वर्तमान कमिश्नरी एवं जनपदों के समान थे। 'राष्ट्र' का प्रधान प्रशासक 'राष्ट्रपति' कहलाता था। उसने अधीन नागरिक और सैनिक, दोनों का प्रबन्ध-कार्य सम्मिलित होता था। उसका प्रमुख कार्य अपने शासित 'राष्ट्र' में "शान्ति-स्थापन एवं कानून-व्यवस्था की देख-रेख करना होता था। सम्भवतः उपसामन्तों तथा राजकीय अधिकारियों पर नजर रखने के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार उन्हें नियन्त्रित रखने का भी दायित्व उसी पर होता था। **अनन्त सदाशिव अल्तेकर** की धारणा है कि अपने क्षेत्र के सामन्त शासकों के विद्रोह को दवाने का उत्तरदायित्व भी उसी को दिया जाता था। उसकी सहायता के लिए सेना रखी जाती थी। सामान्यतया इस पद पर उच्च सैनिक पदाधिकारी को ही नियुक्त किया जाता था।

'राष्ट्रपति' राजस्व एवं कर-निर्धारण के साथ-साथ राजस्व-संग्रह का भी कार्य देखते थे। वे भूमि मापन कराकर उसके लिखित साक्ष्यों को अपने अधीन रखते थे। वे भूमि-व्यवस्था, कर-संग्रह आदि कार्यों में सहायता करने के लिए 'विषयों' एवं तहसीलों के अधिकारियों की नियुक्ति करते थे। संग्रहीत राजस्व को केन्द्रीय राजस्व-कोष में जमा

किया जाता था। राजा की आज्ञा के बिना वे राजस्व का हस्तान्तरण नहीं कर सकते थे।

'विषयों' के प्रबन्ध हेतु राष्ट्रपति राजा के अनुमोदन पर 'विषयपतियों' की नियुक्ति करता था। प्रायः एक विषय में 1000 से लेकर 4000 तक गाँव समाविष्ट होते थे। प्रत्येक 'विषय' में कई 'भुक्तियाँ' होती थी तथा प्रत्येक 'भुक्ति' में 50 से लेकर 70 गाँव तक सम्मिलित होते थे। राष्ट्रकूट अभिलेखों से ज्ञात होता है कि भुक्तियों के नाम प्रायः उनके मुख्यालयों के नाम पर ही रखे जाते थे। इन भुक्तियों में 10 से 20 गाँवों के पृथक्-पृथक् समूह बनाए गए थे। तहसील के अधिकारी को 'भोगपति' कहा जाता था। गाँव, प्रशासन की सबसे छोटी इकाई होती थी।

ग्राम-प्रशासन—राष्ट्रकूट, शासनप्रणाली में गाँव क प्रशासन-कार्य प्रायः पटवारी तथा ग्राम प्रधान (मुखिया) के द्वारा संचालित होता था। प्रायः इनके पद वंशानुगत थे। मुखिया ग्राम-सुरक्षा, कर-संग्रह, तथा चोर-डकैतों से बचाव के लिए अपनी छोठी सी सेना रखता था। कभी-कभी पड़ोसी गाँव से संघर्ष की स्थिति में अथवा सामन्तों के विरोध में उसे जान भी देनी पड़ जाती थी। मुखिया एवं पटवारी को लम्बी जोत की कर-मुक्ति भूमि दी जाती थी। भूमि-कर आदि का संग्रह करके पटवारी उसे सरकारी धान्यागार अथवा खजाने में जमा करता था। ग्राम-सभाओं का चुनाव प्रायः अनौपचारिक ढंग से कर लिया जाता था। प्रायः प्रत्येक घर का कोई वयस्क व्यक्ति सदस्य होता था। मनोनीत सदस्यगण ग्राममन्दिर, पाठशाला अथवा तालाब आदि के किनारे बैठकर, मुखिया से परामर्श करते थे। सड़क, मन्दिर, पाठशाला आदि के प्रबन्ध हेतु उपसमितियाँ गठित कर ली जाती थीं। ग्राम-सभाओं को जन-कल्याणकारी कार्यों को पूरा करने के लिए ग्रामराजस्व का एक हिस्सा प्रदान किया जाता था। ये सभायें ही दीवानी आदि मुकद्मों का भी फैसला करती थी जिनके निर्णय क्रमशः उच्चस्थ न्यायालयों को भी मान्य होते थे। सरकार उनके निर्णयों को कार्यान्वित करती थी। राष्ट्रकूट-अभिलेखों से इङ्गित होता है कि नगरों के प्रबन्धन हेतु भी ऐसी ही सभायें होती थी।

सेना—राष्ट्रकूट शासकों ने सेना के संगठन पर प्रचुर ध्यान दिया था। वे प्रकृत्या विजिगीषु एवं महत्वाकांक्षी थे। अतः उनकी साम्राज्य विस्तारनीति के लिए शक्तिशाली एवं संगठित सेना अपरिहार्य थी। राष्ट्रकूट नरेशों ने राजधानी तथा अन्य महत्वपूर्ण किलों में विशाल एवं स्थायी सेना का संगठन किया। अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार राष्ट्रकूटों की सेना का अधिकांश भाग राजधानी में ही रखा जाता था परन्तु इसके अतिरिक्त भी उनके पास विपुल सेना रहती थी, जो क्रमशः दक्षिण में बनवासी के उपराजा तथा उत्तरी भाग में नियुक्त किसी न किसी राष्ट्रकूट राजकुमार के अधीन होती थी। सेना का मुख्य दायित्व साम्राज्य की सुरक्षा करना तथा आवश्यकतानुसार बाह्य राज्यों पर अभियान करना था। सेना में पदाति सैनिकों तथा घुड़सवारों की महत्ता तथा संख्या अधिक थी। बाह्य राज्यों पर सामरिक अभियान करने के समय आवश्यकतानुसार सामन्तों द्वारा संगठित एवं संरक्षित उनकी अधीनस्थ सेना भी बुला ली जाती थी। राष्ट्रकूट सेना में सभी जातियों तथा धर्मों के युवक सम्मिलित थे। इस काल के कतिपय उल्लेखनीय सेनापति यथा, श्रीविजय एवं नारसिंह आदि जैनधर्मावलम्वी थे।

कर-प्रणाली—राष्ट्रकूट साम्राज्य में आय का प्रधानस्रोत **'भूमि-कर'** था। राष्ट्रकूट अभिलेखों में इसे **'भाग कर'** या **'उद्रंग'** कहा गया है। सामान्यतया कृषि की उपज का चौथाई भाग कर के रूप में वसूल किया जाता था। यह सामान्यतया उपज अथवा अन्न के रूप में लिया जाता था। मन्दिरों अथवा ब्राह्मणों को अग्रहार दान में दी गयी भूमि पर यह कर प्रदेश निश्चित राशि का प्रायः अर्द्धांश ही लिया जाता था। कभी-कभी इन जमीनों का संपूर्ण प्रदेय कर सरकार द्वारा माफ कर दिया जाता था। भूमिकर के अतिरिक्त बगीचों, वनों, खानों व्यापारिक मालों के विक्रय आदि से भी कर-संग्रह किया जाता था। सामन्तों द्वारा प्रदत्त राजस्व तथा उपहारों से भी राजकोष में वृद्धि होती थी। मन्दिरों से होने वाली आय से भी कर-संग्रह किया जाता था।

इस प्रकार राष्ट्रकूट शासन प्रणाली में साम्राज्य की सुरक्षा, समृद्धि एवं ऐश्वर्य वृद्धि की समुचित व्यवस्था की गई थी।

समाज : साँस्थानिक ढाँचा

जाति-व्यवस्था—राष्ट्रकूटों के समग की सामाजिक स्थिति पर तत्कालीन स्मृतियों, धर्मशास्त्र-ग्रन्थों तथा अरब देश से भारत आने वाले विद्वानों एवं लेखकों की कृतियों से प्रकाश पड़ता है। राष्ट्रकूट युगीन समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त अनेक वर्ग, जातियाँ एवं उपजातियाँ विद्यमान थीं। समाज में ब्राह्मणों से भी अधिक सम्मान, राजवंशों से सम्बन्धित क्षत्रियों का था **(क्षत्रियों राजा उच्यते)**। अरब लेखकों ने राजकुलोत्पन्न क्षत्रियों को 'सब्कुफी' नाम से अभिहित किया है। क्षत्रियों का शेष वर्ग (व्रात्यों का) समाज में राजवंशीय क्षत्रियों से कुछ निम्न स्थान था **(संस्कारवर्जित)**। आचारादि समस्त संस्कारों में उपर्युक्त दोनों कोटि के क्षत्रियों को द्विजोचित अनुष्ठान की पूरी छूट थी। राष्ट्रकूट समाज में विद्वान् ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा थी किन्तु वैदिक-अध्ययन तथा कर्मकाण्डों का अनुष्ठान विशेष प्रचलित नहीं रह गया था। राष्ट्रकूट अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजा अधिकांशतः उन ब्रह्मणों को ही दान देता था जो वेद-विद्या के सतत् अभ्यास तथा तदनुसार अपने जीवन यापन में तत्पर रहते थे। **अल्तेकर** का मत है कि संभवतः अपनी इसी विशिष्ट विद्या, कर्मकाण्ड तथा आचरणों के लिए वे समाज में विशेष सम्मानित तथा पूज्य थे, एवं इन्हीं विशिष्ट गुणों से उन्हें यथावसर पुरस्कृत भी किया जाता था। ऐसे ब्राह्मण तत्कालीन समाज में विशेष पवित्र माने जाते थे। इस बात की पुष्टि चीनी यात्री **ह्वेनसांग**, अरब-यात्री **अलमसूदी** तथा **अल्बरूनी** के वृत्तान्तों से भी होती है। वे शास्त्रानुकुल आचार-धर्म का पालन करते थे तथा वेदवेदांग एवं अन्य शास्त्रों में पूर्ण पारंगत होते थे। उन्हें आचार्य, उपाध्याय अथवा श्रोत्रिय आदि सम्मान जनक नामों से अभिहित किया जाता था। वेदज्ञों एवं वैदिक ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणों का कार्य संस्कृत विद्या का अध्ययन, अध्यापन, ज्योतिषगणना, काव्य-लेखन धर्मशास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन एवं प्रणयन करना आदि था।

राष्ट्रकूट कालीन समाज में ब्राह्मणों की प्रायः अलग बस्तियाँ होती थी, जिन्हें 'अग्रहार' कहा जाता था। बदलते हुए सामाजिक एवं आर्थिक परिवेशों में इन्हीं ब्राह्मणों में से कुछ लोग पाठशालाएं चलाते थे, कुछ सैनिक सरकारी अधिकारी बन गये थे तथा

कुछ लोग व्यापार एवं कृषि-कर्म में संलग्न थे। विद्वान् एवं निर्धन ब्राह्मणों से कर-संग्रह नहीं किया जाता था किन्तु उन ब्राह्मणों से थोड़ा बहुत कर अवश्य वसूल किया जाता था, जिन्हें लम्बी जोत की जमीन दान में मिली थी।

राष्ट्रकूट समाज में वैश्यों की स्थिति शूद्रों से भिन्न नहीं मानी जा सकती। उन्हें शूद्रों की भाँति वेदाध्ययन से वंचित रखा गया था। इस काल में शूद्रों की आर्थिक स्थिति में व्यापक सुधार हुआ। वे वेदाध्ययन तथा वैदिक अनुष्ठानों से वंचित अवश्य थे परन्तु 'स्मार्त-अनुष्ठानों' के लिए उन्हें पूरी छूट प्राप्त थी। उन्हें सेना में भर्ती किया जाता था तथा वे अपनी दक्षता के बल पर सेनानायक आदि उच्च पदों पर प्रोन्नत किए जाते थे। सैन्य एवं प्रशासकीय कुशलता के कारण उन्हें उपसामन्त अथवा सामन्त शासक भी बनाया जाता था, जो तत्कालीन सामाजिक स्तरक्रम में उनकी अपेक्षाकृत उन्नति का संकेतक है।

अरबी लेखक इब्न खुर्दाब्द ने तत्कालीन समाज में विद्यमान सात प्रमुख जातियों का उल्लेख किया है 1—ब्रह्म 2—कटारिया 3— सुदरिया 4—वेसुरिया 5—संडलिया 6—साब्कुफिया 7—लहूद। इनमें कतिपय जातियों की पहचान की जा चुकी है। संडालिया जाति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र तथा चाण्डाल आदि जातियाँ सम्मिलित थीं। ब्रह्म का तात्पर्य संभवतः वेदज्ञ कर्मकाण्डी ब्राह्मणों से था। साब्कुफिवा जाति का समीकरण अद्यावधि विवादास्पद एवं संदिग्ध है। अल्तेकर के अनुसार संभवतः यह 'सत्क्षत्रिय' का ही अरबी रूपान्तर प्रतिभासित होता है। इसे राजवंशीय क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है। **इब्नखुर्दाब्द** ने क्षत्रियों के वर्गों का उल्लेख किया है—सब्कुफिया तथा कटारिया। प्रस्तुत उल्लेख के आलोक में अल्तेकर का उपर्युक्त सब्कुफिया की पहचान-विषयक विचार यौक्तिक प्रतीत होता है। कटारिया क्षत्रियों का स्थान तत्कालीन समाज में राजवंशीय क्षत्रियों से थोड़ा कम था। लहूदों की पहचान यायावर जीवन व्यतीत करने वाली जातियों से किया जा सकता हैं, जिनका मुख्य पेशा जंगली सर्पों को पकड़ना एवं जन-समुदाय के समक्ष उनका प्रदर्शन, बन्दर भालू का नृत्य दिखाना, जादूगरी तथा लोक नृत्यों का प्रदर्शन एवं उससे प्राप्त आय से अपना जीवन यापन करना था। 11वीं शताब्दी के अरबी विद्वान एवं पर्यटक **अल्बरूनी** ने राष्ट्रकूट समाज में वहुमान्य कुल 16 जातियों का उल्लेख किया है। इनमें संभवतः—चार वर्ण पाँच जातियों निम्न मजदूर जातियों तथा सात अस्पृश्य जातियों को सम्मिलित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूट कालीन समाज में कार्यों का बंटवारा वर्णधर्मानुकूल नहीं रह गया था। सभी वर्णों के लोग स्वेच्छा से कोई भी कार्य चुन एवं कर सकते थे। **अल्बरूनी** के अनुसार यहाँ के ब्राह्मण अपने वर्णानुकूल कार्यों के अतिरिक्त व्यापार भी करते थे। राष्ट्रकूट सेना में ब्राह्मण सेनानी भी सम्मिलित थे। इस समय क्षत्रियों में भी वेदविहित अध्ययन, यजन-याजन आदि कार्यों के प्रति विशेष रुझान नहीं रह गया था। वे अपने कर्म-धर्म में वैदिक परम्पराओं से बहुत कुछ मुक्त हो चुके थे। इसी प्रकार तत्कालीन समाज में वैश्यों की सामाजिक मान्यता में गिरावट आ चुकी थी। वे समाज में किञ्चित् हेय दृष्टि से देखे जाते थे तथा सामाजिक व्यवहार में शूद्रों से अधिक सम्मान के अधिकारी नहीं रह गये थे। **अल्बरूनी** के वृत्तान्त से पता चलता है कि यदि कोई वैश्य अथवा शूद्र वेद-पाठ करता था तो उसकी जिह्वा काट दी जाती थी। अस्पृश्य

शूद्रों की सामाजिक स्थिति नितान्त दयनीय और हेय थी। चर्मकार, मल्लाह, धरकार, धोवी तथा अन्य शूद्र जातियों का समाज में वड़ा निरादर था। उनसे विशिष्ट प्रकार की मजदूरी (सेवा) कराई जाती थी तथा उनका स्पर्श अन्य वर्ग के लोगों के लिए वर्ज्य था। समाज में शूद्रों की संख्या अधिक थी। **राम शरण शर्मा** के अनुसार इस काल के समाज में जंगल, वन आदि में रहने वाले पिछड़े वर्ग के लोगों पर कृषि कर्म हेतु भूमि अपहरण की दृष्टि से राजाओं द्वारा की गई विजयों के फलस्वरूप शूद्र जातियों की संख्या एवं प्रभेद में अपार वृद्धि हुई। अभिलेखों से तत्कालीन सामरिक अभियानों में इस काल की शवर, पुलिंद, भिल्ल आदि जंगली जातियों के दमन की सम्पुष्टि होती है। अविकसित एवं जंगली भू-भागों एवं विजित क्षेत्रों में ब्राह्मणों को भूमिदान करने तथा उन्हें बसाने की परम्परा थी। फलतः इन अग्रहार ग्रामों के बसने के कारण बहुसख्यक आदिम जनजातियाँ, जो निरक्षर एवं भौतिक संस्कृति के प्रधान पक्ष से दूर एवं अनभिज्ञ थी, क्रमशः साक्षर तथा ब्राह्मणीकृत परम्पराओं को आत्मसात् करने लगीं। ब्राह्मणों के अतिरिक्त जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में भी उन्हें सँस्कारित करने का प्रयास किया गया। पूर्व मध्यकालीन स्मृतियों एवं पुराणों से ज्ञात होता है कि नवोदित शूद्र जातियों में अपेक्षाकृत अछूतों की संख्या बढ़ रही थी। इस वात का संकेत **अल्बरूनी** ने भी किया हैं। उनके अनुसार भेद, तन्तुवाय, भूधतु, चाण्डाल, डोम, हाड़ी आदि अनेक अछूत जातियाँ तत्कालीन समाज में विद्यमान थीं। पूर्व मध्ययुगीन विधि-ग्रन्थों में गोभक्षक जातियों को अछूत कहा गया है। इनमें अत्यज, बरुड़, वराट, भिल्ल, चर्मकार, चाण्डाल, दाश नट, रजक आदि प्रमुख जातियों को सूची बद्ध किया गया है। अल्तेकर के अनुसार ये जातियाँ, गाँव एव शहर के बाहर प्रायः नालों-नदी के किनारे अथवा टीलों पर झोपड़ी बनाकर बसा करती थीं।

विवाह और परिवार—राष्ट्रकूट समाज में सगोत्र एवं सपिण्ड विवाह वर्ज्य था। सामान्यतया सजातीय विवाह उत्तम माना जाता था। अन्तर्जातीय विवाह-प्रथा विशेष प्रचलित थी। अरवी विद्वान् **इब्नखुद्दब** के विवरणों में अनुलोम विवाहों की चर्चा मिलती है। इस प्रकार की परम्परा का उल्लेख **अल्बरूनी** ने भी किया है। समाज में बाल विवाह का विशेष प्रचलन था। **अल्बरूनी** के अनुसार कोई भी ब्राह्मण 12 वर्ष से अधिक आयु की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। बाल विवाह के साथ-साथ बहुविवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। बहुविवाह अधिकांशतया राजकुलों में ही होता था। स्त्रियों का प्रमुख कर्त्तव्य पति की सेवा करना था। **मेधातिथि** और **विज्ञानेश्वर** के मतानुसार पत्नी के भरण-पोषण का सम्पूर्ण दायित्व पति का ही होता था।[1] पत्नी को जाति से बहिष्कृत होने की दशा में ही पति उसका परित्याग कर सकता था। धर्म, अर्थ एवं काम के आचरण सम्बन्धों में स्त्रियाँ स्वतन्त्र न थीं। पति की अनुमति प्राप्त किए बिना वे उपर्युक्त कार्यों में अपना समय तथा धन व्यय नहीं कर सकती थीं। **अबूजैद** के विवरण तथा राष्ट्रकूट युगीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में पर्दा प्रथा नहीं थी। इस काल की स्मृतियों में कहा गया है कि पुत्र विहीन पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी संपत्ति की स्वामिनी बन जाती थी। इसके विपरीत यदि पति-पत्नी दोनों की मृत्यु

1. मेधातिथि-टीका, मनु० 1-32 तथा 91.

हो जाय तब पुत्री सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। इस प्रकार इस काल में स्त्रियों की सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में किञ्चित् सुधार हुआ था। परन्तु परिवार में उनकी स्थिति सेविका से अधिक नहीं थी। सामान्यतया संयुक्त परिवार रखने की परम्परा में लोगों का विश्वास था। परिवार के सभी सदस्य योग्यतानुसार अपना-अपना कार्य करते थे तथा एक दूसरे के सुख-दुख का ध्यान रखते थे।

राष्टकूट कालीन सामाजिक जीवन परिवर्तनशीलता का पुट मिलता है। वस्तुतः यह काल अनेक दृष्टियों से संक्रान्ति का काल माना जा सकता है। इस युग में सामन्ती समाज एवं व्यवस्था के दृढ़ीकरण के साथ सामाजिक जीवन में प्रगतिशीलता तिरोहित होने लगी तथा रूढ़िवादिता एवं संकीर्णता का प्रस्फुटन होने लगा था।

शिक्षा और साहित्य

राष्ट्रकूट शासक स्वयं विद्वान् तथा विद्यानुरागी थे। वे शिक्षा-व्यवस्था पर विशेष ध्यान देते थे। राज्य के अतिरिक्त धनाढ्य व्यक्ति तथा व्यापारिक निगमों के अध्यक्ष भी विद्यालयों को पर्याप्त धन-सम्पत्ति दान करते थे। कन्हेरी के बौद्ध विहार में विद्यार्थियों की पुस्तकों के लिए श्रेष्ठिन् भद्रविष्णु ने प्रचुर धन दान कियां था। इसी प्रकार सलोत्गी अभिलेख में एक विद्यालय का उल्लेख मिलता है, जिसमें 27 छात्रावास थे तथा उसमें रहने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी अधिक थी। इसी प्रकार बौद्ध विहारों एवं जैनमठों में भी बहुसंख्यक विद्यालय चलाये जाते थे। राष्ट्रकूट अभिलेखों में साम्राज्य के सभी क्षेत्रों में स्थापित अग्रहार ग्रामों तथा उनमें स्थापित विद्यालयों का उल्लेख मिलता है। इन ग्रामों में बसाये गए ब्राह्मणों का मुख्यकार्य सामान्यता पाठशालाओं का संचालन तथा शिक्षा-व्यवस्था की देख-रेख करना था।

राष्ट्रकूट-नरेश स्वयं संस्कृत विद्या के प्रति विशेष अनुरक्त थे। संस्कृत की उच्च-शिक्षा का प्रबन्ध अग्रहार-ब्राह्मणों के अधीन रखा गया था। फलतः संस्कृत शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार हेतु अग्रहार-ग्रामों की स्थापना तथा उनकी आर्थिक व्यवस्था का प्रबन्ध राजा स्वयं देखता था। राज्यारोहण के कुछ ही समय बाद राष्ट्रकूट शासक गोविन्द चतुर्थ ने ऐसे 400 ग्रामों को स्वयं बसाया था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अग्रहार-ग्रामों के अतिरिक्त साधारण गाँवों में भी विद्याध्ययन हेतु पाठशालाएँ स्थापित की गई थी। छात्रों से किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। अग्रहार-ग्रामों में स्थापित विद्यालयों में विद्यार्थियों के पठन-पाठन, आवास तथा खान-पान की निःशुल्क व्यवस्था थी। इनके अतिरिक्त इस काल के मन्दिर, मठ, विहार तथा तीर्थस्थल आदि भी विद्या एवं विद्यालयों के केन्द्र थे।

बालकों की शिक्षा सामान्यतया 5 वर्ष की आयु में आरम्भ कर दी जाती थी। उन्हें सबसे पहले अक्षरों और शब्दों का ज्ञान कराया जाता था। गणित की प्राथमिक शिक्षा दी जाती थी।[1] ब्राह्मण विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा की कक्षाओं के अध्येय विषयों में व्याकरण, तर्कशास्त्र, अथर्वविद्या, आयुर्वेद, वैदिक धर्म एवं दर्शन ग्रन्थों का अध्ययन कराया जाता था। क्षत्रिय विद्यार्थियों को भी बौद्धिक प्रशिक्षण देने के उपरांत नैतिक

---

1. अपरार्कटीका, याज्ञवल्क्यस्मृति, 17-131.

अनुशासन की शिक्षा प्रदान की जाती थी। उन्हें संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य की उच्चशिक्षा दी जाती थी। इसकी पुष्टि कतिपय राष्ट्रकूट शासकों के उच्च स्तरीय कवि-व्यक्तित्व से होती है। वैश्यों एवं शूद्रों के बच्चों को वैदिक विद्या की शिक्षा प्रदान नहीं की जाती थी। वैश्यों को मात्र व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त का अधिकार था।

मेधातिथि के अनुसार इस काल में दो प्रकार के विद्यार्थी थे। इनमें प्रथम तो "नैष्ठिक' प्रकार के विद्यार्थी थे, जो जीवनपर्यन्त शिक्षा प्राप्त करते थे। परन्तु आदित्यपुराण में इस प्रकार की शिक्षा प्राप्ति की कलिवर्ज्य में परिगणित किया गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सभी प्रकार के विद्यार्थी, शिक्षा की समाप्ति पर गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने हेतु अपने घर लौट आते थे। इस प्रकार राष्ट्रकूटकालीन समाज में शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया था।

राष्ट्रकूट नरेशों के राजदरबार में संस्कृत के विद्वानों एवं कवियों को विशेष समादर प्राप्त था। उनके राज्याश्रय में इस भाषा के संवर्द्धन पर विशेष ध्यान दिया गया तथा इसके साहित्यिक उत्कर्ष तथा कवियों को पर्याप्त पोषण प्राप्त हुआ। इस काल की संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण प्रशस्तियों तथा ताम्र-पत्रों आदि के अवलोकन से पता चलता है कि इनके लेखकों अथवा कवियों को उच्चकोटि का साहित्यक ज्ञान प्राप्त था। कीलहार्न की समीक्षानुसार इन शासकीय लेखकों की शैली महाकवि बाण और सुबन्ध की रचना शैलियों के समतुल्य है। राष्ट्रकूट शासक शर्व अमोघवर्ष एक महान कवि एवं उच्चकोटि का विद्वान् था। उसने कन्नड़भाषा में सुप्रसिद्ध **'कवि राजमार्ग'** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह ग्रंथ दण्डिनकृत **काव्यादर्श** से अनुप्राणित प्रतीत होता है। इस नरेश के गुरु एवं आचार्य जिनसेन ने **'आदि पुराण' 'हरिवंश'** तथा **'पार्श्वाभ्युदय'** नामक ग्रंथों की रचना की थी। अमोघवर्ष के ही शासन-काल में शाक्तायन ने **'अमोघवृत्त'** की रचना की। इसी समय के महान् गणितज्ञ वीराचार्य ने **'गणितसारसंग्रह'** प्रणीत किया। **भण्डारकर** का मत है कि राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय के शासनकाल में महाकवि त्रिविक्रम ने **'नलचम्पू'** काव्य की रचना की थी। महाराज कृष्ण तृतीय के राज्याश्रय में पलकर हलायुध ने **'कवि-रहस्य'** नामक ग्रन्थ पूरा किया जिसमें बड़ी कुशलता के साथ ललित छन्दों में उक्त नरेश की प्रशंसा की गई है। राष्ट्रकूटों के ही शासनकाल में लल्लम, कुमारिल, वाचस्पति, कात्यायन, अंगिरस एवं यम आदि स्मृतिकारों एवं भाष्यकारों का अविर्भाव हुआ। अवलंक और विद्यानन्द ने इसी शासनकाल में जैनग्रन्थ **'आप्तमीमांसा'** पर **'अष्टशती'** एवं **'अष्टसाहस्त्री'** टीकाएं लिखी। इसी काल में प्रभाचन्द्र ने **'न्यायकौमुदीचन्द्रोदय'** तथा माणिक्यनन्दिन ने **'परीक्षामुखशास्त्र'** की रचना की। 9वीं शताब्दी में सोमदेव ने **'यशस्तिकचम्पू'** नामक उच्चकोटि के ग्रन्थ का प्रणयन किया। उसकी एक अन्य रचना **'नीतिवाक्यामृत'** तत्कालीन राजनीतिक सिद्धान्तों का मानक ग्रंथ माना जाता है।

दसवीं शती के महाकवि पम्प कन्नड़भाषा में **'आदि पुराण'** तथा **विक्रमार्जुनविजय'** नामक ग्रन्थों को प्रणीत किया। गंगवाड़ी राज्य के प्रसिद्ध सेनापति चामुण्डराज ने **'चामुण्डरायपुराण'** नामक ग्रन्थ लिखा, जिसे गद्य साहित्य का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। इसी प्रकार महाकवि रण्ण ने **'गदायुद्ध'** और **'अजितपुराण'** जैसे श्रेष्ठ कन्नड़ ग्रन्थों की रचना की। श्रवणवेलगोला में 982 ई० के एक राष्ट्रकूट अभिलेख में कतिपय

मराठी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि इस काल में मराठी भाषा का लोक विश्रुत स्वरूप सुदृढ़ हो चुका था। क्योंकि इस काल के किसी मराठी ग्रन्थ की अभी तक कोई जानकारी नहीं हो सकी है। इस प्रकार राष्ट्रकूट नरेशों के शासन काल में संस्कृत के साथ कन्नड़ साहित्य की भी पर्याप्त उन्नति हुई। राष्ट्रकूटों ने दोनों भाषाओं के साहित्यिक समुन्नयन में पूर्ण सहयोग प्रदान किया तथा ज्ञान-विज्ञान की सम्पूर्ण परम्परा को प्रोत्साहित किया।

राष्ट्रकूट कला

7वीं शती के अन्तिम चरण तथा 8वीं सदी के आरम्भिक वर्षों में मान्यखेट (मलखेद) के राष्ट्रकूटों का अभ्युदय हुआ। इस राजवंश के शक्तिशाली शासक दन्तिदुर्ग ने 752-53 ई० में दक्कन में चालुक्य सत्ता को समाप्त करके वहाँ अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की। महान् राष्ट्रकूट शासक ध्रुव, गोविन्द तृतीय अमोघवर्ष प्रथम आदि ने समकालीन शक्तियों को पराजित करके क्रमशः उक्त साम्राज्य को वैभव सम्पन्न एवं महान् बना दिया। शक्ति एवं सामर्थ्य में वे पूर्ववर्ती चालुक्यों की अपेक्षा अधिक ऐश्वर्य सम्पन्न हुए। फलतः उनकी रुझान कलात्मक निर्माण में कुछ और ही सज-सँवर कर प्रकट हुई। **अनन्त सदाशिव अल्तेकर** का यह अनुमान प्रस्तुत विमर्श में बहुत ही समीचीन लगता है कि दन्तिदुर्ग ने समूचे महाराष्ट्र पर अधिकार स्थापित करने के बाद औरंगाबाद में स्थित **एलोरा** की सुरम्य पर्वतीय उपत्यका में उसके आस-पास कहीं अपनी प्राथमिक **राजधानी** बनाई। इसकी किञ्चित् पुष्टि एलोरा की **गुफा सं०** 16 (दशावतार) की दीवार पर उत्कीर्ण एक प्रशस्ति लेख से होती है। सम्भवतः अपनी साम्राज्योत्थान की ऊषाकालीन मनोहर राजधानी **'एलोरा'** को अमरस्मृति देने के उद्देश्य से राष्ट्रकूट शासक कृष्णप्रथम (756-772 ई०) ने इस पहाड़ी में एक गुफा को काटकर जगत प्रसिद्ध **कैलासनाथ मन्दिर** का निर्माण करवाया। यह अनुपम कला स्मारक है। इस अप्रतिम **वैभव** सम्पन्न गुहा मन्दिर के निर्मित हो जाने पर शिव-पार्वती की विग्रह-प्रतिष्ठा (प्राणप्रतिष्ठा) के शुभ अवसर पर कृष्णप्रथम वहाँ उपस्थित था। उसने इस मन्दिर की सर्वाङ्गीण व्यवस्था के लिए अपने राजकोष से अक्षय-निधियाँ तथा मूर्तियों के अलंकरण के लिए बहुमूल्य रत्नों से मण्डित आभूषण प्रदान किया। सम्भवतः इस मन्दिर का प्राथमिक नामकरण उसी के नाम पर **'कृष्णेश्वर'** रखा गया था, जो बाद में **'कैलासमन्दिर'** के नाम से विश्वविख्यात हुआ। इसके निर्माणकार्य पूरा होने पर इस गुहा-मन्दिर का कलात्मक कलेवर एवं उसका सम्पूर्ण वैभव किस प्रकार निखरकर प्रस्तुत हुआ, इसका आकलन तत्कालीन एक कवि की इस उक्ति से की जा सकती है। उसने लिखा है कि इसका प्रधानवास्तुक निर्माण कार्य पूरा करने के बाद, मन्दिर की अलौकिक भव्यता को देखकर विस्मयान्वित होकर विस्फारित नेत्रों से अप्रतिम कला-रचना को देखता ही रह गया एवं अर्द्धचैतन्यमुद्रा में बोल उठा कि 'इसे मैंने कैसे निर्मित कर दिया'। उस महानवास्तुक की कलागत भावों की गम्भीरता एवं उसके व्यक्तित्व में कलात्मक पूर्णता का आत्मतोष, तब और भी निखर उठता है, जब हमें यह याद आता हैं कि उसने इस दिव्यरचना के किसी कोने में भी अपना नाम तक अंकित नहीं किया है।[1]

---

1. द्रष्टव्य, जी० याजदानी, दक्कन का प्राचीन इतिहास, पृ०, 245।

महत्वपूर्ण कलाकृतियाँ

एलोरा का कैलास गुहामन्दिर—एलोरा के कैलास गुहामन्दिर की गणना विश्व की भव्यतम् कलाकृतियों में की जाती है। इसका निर्माण राष्ट्रकूटशासक कृष्णप्रथम (756-772 ई०) के शासनकाल में हुआ। राष्ट्रकूटयुगीन वास्तु एवं स्थापत्यकारों ने हिमालय पर्वत पर अवस्थित पुराणादि ग्रन्थों में वहुविधि वर्णित शिवआवास 'कैलास' परिवार को यथावत् कला-जीवन प्रदान करते हुए उसे अपनी कलात्मकता से यथावत् करके एलोरा की गुफा को काट-तराश कर वास्तविक कैलास वना दिया। इस निर्माण के लिए उन्हें चार लाख फुट पत्थर पहाड़ी से काटकर निकालना पड़ा। इसका सम्पूर्ण परिसर लगभग 276 फुट लम्वा तथा 154 फुट चौड़ा रखा गया है। इसके पार्श्व में 107 फुट ऊँचा ढलान है। **वेजामिनरोलों** का अनुमान है कि इस विशाल गुहा-परिधि में **एथेंस** का पार्थेनन मन्दिर समूचा समा सकता है। इसके वावजूद इस गुफा की ऊँचाई तव भी ड्योढ़ी शेष वच जायेगी। एलोरा का यह मन्दिर द्वितलीय है। इसका सारा निर्माण एकाश्मक है। इसके स्तम्भ 'नागर' (उत्तर भारतीय) शैली के स्तम्भों से अनुप्राणित है। मन्दिर का शेष अंग द्राविड़ (दक्षिण भारतीय) वास्तुशैली पर उत्कीर्ण है। कैलास मन्दिर में विमान, मण्डप, अन्तराल, नन्दीमण्डप तथा गोपुरम् आदि वास्तुनिर्माण द्राविड़ शैली में सामान्यतया एक ही अक्ष पर तराशे गए हैं। इसमें **विमान एवं मण्डप** परस्पर संयुक्त योजना में काटे एवं तराशे गए हैं। **नन्दीमंडप** पृथक्‌निर्मित है तथापि विमान से सटा हुआ है। **मण्डप** की सपाट छत सोलह अलंकृत स्तम्भों पर टिकाई गई है। मन्दिर विस्तृत एवं सुच्चिकण आँगन से परिवेष्ठित है जिसमें प्रवेश के लिए एक **'गोपुरम्'** वनाया गया है। गोपुरम् को मुख्य अधिष्ठान से 25 फुट नीचे काटकर वनाया गया है' फलतः गुफा में प्रवेश करके गोपुरम् से गुहामन्दिर का मण्डप तथा मूल अधिष्ठान देखने पर यह पता ही नहीं चलता कि यह मन्दिर गुफा में निर्मित है। मूल अधिष्ठान क्षैतिजलहरों से युक्त है। गोपुरम् से आंगन में प्रविष्ट होते ही, मन्दिर के अधिष्ठान के दोनों ओर, दो हाथियों की जीवनाकार मूर्तियाँ तक्षित हैं। इनसे मन्दिर की शोभा में चारचाँद लग गया है। मूल अधिष्ठान को गजाधारित वनाने की प्रेरणा सम्भवतः मामल्लपुरम् के रथमन्दिरों से ली गई है। ज्ञातव्य है कि तत्युगीन भारत में रथ-यात्रा का विशेष प्रचलन था। इसी प्रकार की रथ-यात्रा की परम्परा उड़ीसा के जगन्नाथपुरी तथा कोणार्क में भी द्रष्टव्य है। जो भी हो, गजाधारित कैलास मन्दिर का अधिष्ठान कलात्मकता का अद्‌भुत् संयोजन है। **मंडप** की आन्तरिक छत पर राष्ट्रकूट चित्रकला की भव्यतम् छटा चित्रांकित है। मुख्य हाल 55 फुट लम्वा तथा 57 फुट चौड़ा है। मुख्य हाल की फर्श अद्‌भुत् पालिश के कारण शीशे की तरह दमकती है। मन्दिर का सम्पूर्ण अधिष्ठान क्षैतिजलहरों में तराशकर सजाया एवं संवारा गया है। इसके मध्य में सिंहगज-पंक्ति सहजतः लयात्मक लगती है। विमान के प्रदक्षिणापथ से सटे पाँच पृथक्-पृथक् देवालय उत्कीर्णित हैं। आंगन के एक छोर में नन्दीदेवताओं का आवास बनाया गया है जिसमें अनेक दिव्य एकाश्मक मूर्तियाँ तराशी गई हैं। सामने 45 फुट ऊँचे दो अलंकृत ध्वज-स्तम्भ खड़े किये गए हैं। कैलास मन्दिर के स्तम्भ नितान्त अलंकृत एवं भव्य हैं। इन स्तम्भों की रचना उत्तरभारतीय स्थापत्य शैली में है। **कुमारस्वामी** की धारणा है कि इसकी योजना सम्भवतः पट्टदकल के **पापनाथ मन्दिर** की शैली के अनुकरण

पर आधारित प्रतीत होती है। इसकी एकाश्मकतराशी पर मुग्ध कलाविद **रोजरफ्राई** की प्रशंसात्मक उक्ति महत्वपूर्ण है। उसने लिखा है कि 'भारतीय कला, पाश्चात्यकला की भाँति, संरचनात्मक सिद्धान्तों पर नहीं, अपितु एक ही ठोस पदार्थ को काट तराशकर हाथीदाँत की मूर्ति की भाँति, ढालने की परम्परा पर आधारित प्रतीत होती है। भारत में गुहामन्दिरों के निर्माण की एक दीर्घकालीन परम्परा की कलात्मक परिणति एलोरा के कैलास मन्दिर में ही मिलती है।

एलोरा के कैलास मन्दिर में स्थापत्य का भी चूड़ान्त अंकन मिलता है। यहाँ की मूर्तियों में सौष्ठव-सज्जा एवं अलंकरण आदि के साथ ही लोमहर्षक भावसंप्रेषण भी है। इनमें दैवी गुणों एवं प्रकृति के अनुरूप उनकी आकृति-सज्जा प्रस्तुत की गई है। उदाहरण के लिए यदि भैरव की मूर्ति रौद्र एवं भयावह है, तो पार्वती की उसी अनुपात में शान्त एवं स्नेहिल। शिव के ताण्डवनृत्य की मूर्ति में यदि अप्रतिम तेजस्विता धधकती है तो उमामहेश के परिणय-मूर्तन में दाम्पत्य-औत्सुक्य एवं मर्यादा का सीमान्त है। इसी प्रकार रावण द्वारा कैलासोत्तोलन में उसके पौरुष एवं गर्व को पराकाष्ठा मिलती है। रावण अपनी सुपुष्ठ भुजाओं से कैलास-पर्वत के तल को लपेटकर इतनी जोर से हुचकाता है कि उक्त पर्वत की चूलें ढीली पड़ जाती हैं तथा उसका जोड़-जोड़ हिल जाता है। कैलास को दोलायमान पाकर शिव-पार्वती सहित सब प्राणी कांप उठते हैं तथा सबके विस्फारित नेत्र अनर्थ की सम्भावना में डूब जाते हैं। ऐसी स्थिति में शिव सहजतः अपने पैर के अंगूठे से कैलास को हलका सा दबा देते हैं, जिससे रावण का पौरुष-गर्व चूर-चूर हो जाता है। **भगवत शरण उपाध्याय** का विचार है कि एलोरा के इस स्थापत्य-अंकन की प्रेरणा संभवतः कालिदासकृत 'कुमारसंभव' के उस प्रसङ्ग से अनुप्राणित है, जिसमें कैलास की संधियों के बिखरने का उल्लेख मिलता है। समग्ररूप में एलोरा की कला पर **पर्सीब्राउन** का प्रस्तुत कथन यौक्तिक प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन गुहामन्दिरों की शैलोत्कीर्णन-परम्परा में एलोरा का कैलास मन्दिर कई शदाब्दियों की कलात्मक साधना के उपरान्त सर्वाधिक प्रभावोत्पादक एवं वैभवसम्पन्न रचना है।

अन्य कलाकृतियाँ—राष्ट्रकूटों के कई सदियों के दीर्घकालीन शासन में एलोरा की भाँति कई अन्य महत्वपूर्ण स्थलों पर शैलोत्कीर्णित ब्राह्मण, बौद्ध और जैन गुहा मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण किया गया। राष्ट्रकूट युगीन गुहा अथवा दरीमन्दिरों की निर्माण-परम्परा में एलोरा का प्रसिद्ध **विश्कर्मा बौद्ध-गुहामन्दिर** की रचना की गई। यहाँ के अन्य उल्लेखनीय मन्दिरों में **धूमरलेण देववाड़ा, दशावतार, रावण की खाई, रामेश्वर, नीलकण्ठ** आदि अपनी निर्माण-योजना एवं कलात्मक भव्यता में बेजोड़ हैं। इन मन्दिरों में पौराणिक देवों का मूर्तन निश्चयतः भारतीय स्थापत्य की अक्षय निधि है।

राष्ट्रकूटों के शासनकाल में **एलोरा** की गुहाकला की ही तरह, एलीफैंटा (बम्बई बन्दरगाह से 10 कि० मी० दूर स्थित पहाड़ी-द्वीप) की पहाड़ी में शैलोत्कीर्णन करके **उमा-महेश-गुहामन्दिर** का निर्माण कराया गया। इसकी रचना संभवतः 8वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई। इस मन्दिर के विमान की छत अलंकृत-स्तम्भों पर टिकाई गई है। स्तम्भों पर देवी-देवताओं का मूर्तन है। एलीफैंटा की मूर्ति-सम्पदा गति एवं सौष्ठव में

एलोरा से कथमपि न्यून नहीं हैं। इस मन्दिर के गर्भगृह में शिव की त्रिमूर्ति प्रतिमा निर्मित है। एलीफैंटा के उमा-महेश मन्दिर के गर्भ-गृह में तक्षित एवं स्थापित शिव का शीर्षअलंकरण तत्कालीन मूर्तिकला का चूड़ान्त प्रतीत होता है। इसका चूड़ा-शृङ्गार अलौकिक एवं नयनाभिराम है। मन्दिर में एक ओर उमामाहेश्वर की युग्ममूर्ति निर्मित की गई है। यहाँ एक विशाल किन्तु भव्य शिव की ताण्डव-नृत्यरत प्रतिमा स्थापित है, जिसकी ओजस्विता और गतिशीलता अकथनीय है। मन्दिर के दूसरे तल के अन्तर्वर्ती छत पर लिया गया चित्रांकन इस गुहा-मन्दिर के सम्पूर्ण कला-दृश्य में चारचाँद लगा देता है। इसी प्रकार इस काल में बने अन्य गुहामन्दिरों की वास्तु, स्थापत्य तथा चित्र कलाओं में भी राष्ट्रकूट युगीन कला की उत्कृष्टतम् झाँकी देखने को मिलती है।

---

13 कल्याणी का चालुक्य राजवंश

मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजवंश का अंतिम शासक कर्कद्वितीय अपनी क्रूर प्रकृति एवं अयोग्यता के कारण प्रजाजनों की घृणा का पात्र बन गया था । संयोगवश, वह मालवा के परमार नरेशों के क्रमिक आक्रमणों से पर्याप्त जर्जर हो चुका था । शक्ति-ह्रास के इस कुसमय में वह अपनी राजधानी के पदाधिकारियों की दृष्टि में भी विशेषप्रिय न रह गया था । धीरे-धीरे उसकी शासकीय अक्षमता का पूर्ण लाभ उसके शक्तिशाली सामन्त तैलप द्वितीय ने उठाना प्रारम्भ कर दिया । तैलप द्वितीय न केवल कुशल सेनानायक था, अपितु राज्य-प्रशासन में भी पूर्ण दक्ष था । उसने कर्नाटक के बीजापुर क्षेत्र में बगेवाड़ी के सामन्त की हैसियत में रहकर ही 965 ई० में 'महासामन्ताधिपति' की उपाधि धारण कर ली थी । राष्ट्रकूट, रठ्ठराज एवं शीलाहार अपराजित के लेखों के अतिरिक्त 'विक्रमांकदेव चरित' में भी इसी बात का उल्लेख मिलता है कि तैलप-द्वितीय ने अपने स्वामी कर्क द्वितीय को पराजित करके उसका सम्पूर्ण राज्य अपने अधीन कर लिया । खारेपाटन-अभिलेख में इसी तथ्य को सत्यापित किया गया है (कलस्तस्य भ्रातृव्यो भुवोभर्ताजनप्रियः । समरे तं विनिर्जित्य तैलपी भून्महीपतिः) । यह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना 973-74 ई० के आस-पास घटित हुई । तैलप द्वितीय ने नई कल्याणी को आगे चलकर अपनी राजधानी बनाया । उसने कल्याणी में एक नए चालुक्यराजवंश की नींव डाली, जो कालान्तर में पश्चिमी-चालुक्य राजवंश के नाम से विश्रुत हुआ ।

रत्नकवि के कन्नड़-काव्य 'गदायुद्ध', विल्हणकृत 'विक्रमांकदेव चरित' तथा वेंगी एवं कल्याणी के कतिपय-अभिलेखों में उपर्युक्त वंश को वातापि के चालुक्यों का वंशज तथा उन्हें उत्तरी भारत की प्रसिद्ध नगरी अयोध्या का मूल निवासी कहा गया है । कौथेम-अभिलेख में चालुक्यों का मूलस्थान उत्तरी भारत में स्थित अयोध्या नगरी बताया गया है । **डी० आर० भण्डारकर** तथा **जे० एफ० फ्लीट** प्रभृति विद्वानों के अनुसार कल्याणी के चालुक्य एवं वातापि के चालुक्य नरेशों की उपाधियों में असमानता एवं गोत्रों की भिन्नता के कारण परस्पर पृथक् राजवंश प्रतीत होते हैं । परन्तु कल्याणी के चालुक्य शासकों के कतिपय अभिलेखों में वातापि-नरेश कीर्तिवर्मन् द्वितीय एवं कल्याणी-नरेश तैलप द्वितीय के बीच शासन करने वाले सात ऐसे शासकों के नाम मिलते हैं, जिन्होंने लगभग 757 ई० से 774 ई० के मध्य संभवतः वातापि के चालुक्य-प्रशासन में सामन्त के रूप में शासन किए । अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों राजवंश किसी न किसी रूप में परस्पर जुड़े हुए थे ।

प्रारम्भिक शासक—कल्याणी के चालुक्य शासकों के अभिलेखों में वातापि के चालुक्य नरेश विजयादित्य के पुत्र एवं विक्रमादित्य द्वितीय के भाई भीम को कल्याणी के चालुक्य-राजवंश का संस्थापक कहा गया है। भीम के पश्चात् कल्याणी में क्रमश: कीर्तिवर्मन् तृतीय, तैलप प्रथम, विक्रमादित्य तृतीय, भीम द्वितीय, अय्यण प्रथम तथा विक्रमादित्य चतुर्थ ने शासन किया। इनमें अय्यण प्रथम एवं विक्रमादित्य चतुर्थ के अतिरिक्त शेष शासकों के विषय में सूचनाओं का नितान्त अभाव है। ऐतिहासिक साक्ष्यों की सम्यक् सम्पुष्टि के अभाव में भण्डारकर, फ्लीट, अल्तेकर आदि इतिहासकारों ने उपर्युक्त वंशानुक्रम की प्रमाणिकता पर सामान्यतया संदेह व्यक्त किया है।

कतिपय अभिलेखों की सूचनानुसार कल्याणी के चालुक्य शासक अय्यण ने राष्ट्रकूटनरेश कृष्ण द्वितीय की पुत्री के साथ विवाह करके दहेज में विपुल सम्पत्ति प्राप्त की थी। **पी०बी० देसाई** ने अय्यण की पत्नी को कृष्ण द्वितीय की पुत्री न मान कर कृष्ण प्रथम की कन्या माना है। अय्यण के उत्तराधिकारी पुत्र विक्रमादित्य चतुर्थ का विवाह कलचुरि नरेश लक्ष्मणसेन की पुत्री बोन्थादेवी के साथ हुआ था। तत्कालीन कलचुरि नरेश लक्ष्मणसेन एवं राष्ट्रकूटशासक कृष्णतृतीय के बीच गम्भीर मैत्रीसम्वन्ध थे। फलत: कल्याणी के चालुक्य नरेशों का उपर्युक्त वैवाहिक-सम्वन्ध सम्भवत: उनकी कूटनीतिक बुद्धिमत्ता का परिचायक है। इसके अतिरिक्त इन वैवाहिक सम्वन्धों से ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त दोनों शासक अपने समय में पर्याप्त शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण रहे होंगे। परन्तु कल्याणी के चालुक्य राजवंश को स्वतन्त्र राजसत्ता एवं प्रभुता दिलाने का वास्तविक श्रेय विक्रमादित्य चतुर्थ के पुत्र एवं उत्तराधिकारी तैलप द्वितीय को ही दिया जाता है, जिसने मान्यखेट के राष्ट्रकूट-राजवंश को परास्त कर अंतत: उसे अपने राज्य में मिला लिया तथा कल्याणी में चालुक्य राजसत्ता स्थापित की थी।

तैलप द्वितीय (957—997 ई०)—राष्ट्रकूटनरेश कर्क द्वितीय के सामन्त के रूप में शासन करते हुए तैलप द्वितीय ने क्रमश: अपनी शक्ति संवर्द्धित करके अपना प्रभाव बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। अयोग्य शासक कर्क द्वितीय की घटती हुई शक्ति तथा जनता में उसके प्रति बढ़ते हुए आक्रोश का लाभ उठाकर उसने अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को साकार करने के लिए विद्रोह कर दिया। इस प्रकार तैलप द्वितीय ने अपने प्रभु-सम्राट् कर्क अलोकप्रियता की कीमत पर कल्याणी का संप्रभु शासक बनने में सफलता प्राप्त की (श्री तैलपो नाम नृप: प्रतापी)। वह कलचुरि-राजकुमारी बोन्थादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसका विवाह राष्ट्रकूट शासक भामह की कन्या जक्कलमहादेवी के साथ हुआ। मिरज-ताम्रपत्र में भामह को ही अन्तिम राष्ट्रकूट शासक कहा गया है। हो सकता है कि भामह कर्कद्वितीय का ही कोई उपनाम रहा हो। खारेपाटन-अभिलेख से भी प्रमाणित होता है कि तैलप द्वितीय ने तत्कालीन राष्ट्रकूट नरेश कर्कद्वितीय को पराजित करके स्वयं राष्ट्रकूट-राज्य की सत्ता हथिया ली (समरे तम् विनिर्जित्य तैलपोर्भून्महीपति:)।

सम्भवत: 973-74 ई० में सिंहासनारूढ़ होने के उपरान्त तैलप ने अपने राज्य की सीमाओं के विस्तार कर कार्य प्रारम्भ किया। उसकी साम्राज्यविस्तारवादी महत्वाकांक्षा का बलवान प्रतिद्वन्द्वी तथा प्रबल अवरोधक गंगनरेश पांचलदेव था, जिसने

सैन्यशक्ति के बल पर अपने राज्य की सीमा को कृष्ण नदी तक विस्तृत कर लिया था। तैलप द्वितीय एवं पांचलदेव के बीच कई बार युद्ध हुआ, जिनमें प्रारम्भिक सफलता पांचलदेव को ही मिलती रही। अन्ततः वेल्लारी के सामन्त शासक गंगभूतिदेव ने तैलप द्वितीय को सामरिक सहायता दी। इसके परिणामस्वरूप गंगनरेश पांचलदेव युद्ध-स्थल पर ही मारा गया तथा तैलपद्वितीय विजयी हुआ। शक्ति-संतुलन का यह निर्णायक युद्ध सम्भवतः 977 ई० के लगभग हुआ। इस महत्वपूर्ण विजय के उपलक्ष में तैलप द्वितीय ने 'पांचलमर्दनपंचानन' का विरुद् धारण किया तथा अपने सक्षम सामरिक सहायक सामन्तशासक भूतिगदेव को तोरगाले (तोरगल, धारवाड़ जनपद) का शासक बनाकर उसे 'आहवमल्ल' की उपाधि से अलंकृत किया। गंगराज्य पर तैलप द्वितीय की विजय के फलस्वरूप चालुक्य-राज्य की सीमा उत्तरी कर्नाटक के भू-भागों तक विस्तृत हो गई।

साम्राज्य-विस्तार हेतु तैलप द्वितीय ने अपना सैन्य-अभियान क्रमशः जारी रखा। उसने 977 ई० के लगभग कर्क द्वितीय के प्रबल सहायक रणस्तम्भ को मारकर उस पर विजय प्राप्त की। 980 ई० के लगभग उसने चोल शासक उत्तम चोल को पराजित किया और दक्षिणी कोकण प्रदेश पर आक्रमण किया। उसने शीलाहार शासक अवसर तृतीय अथवा रट्ठराज को परास्त करके उसे अपने अधीन कर लिया। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार उसने लगभग 108 लड़ाइयाँ लड़ी तथा 88 दुर्गीय नगरों पर अधिकार स्थापित किया। उसकी अन्य उल्लेखनीय विजयों में से उण-शासक भिल्लम द्वितीय तथा लाट राज्य की पराजय भी उल्लेखनीय है। लाट को जीत कर अपने सेनापति वाडप को वहाँ का प्रान्तपति नियुक्त किया। वाडप ने अन्हिलवाड़वंश के संस्थापक शासक मूलराज प्रथम को जीत लिया, परन्तु शक्तिशाली चाहमान शासक विग्रहराज ने लाट राज्य पर आक्रमण करके कुछ समय के लिए उसे अपने अधीन कर लिया। मालवा के परमार शासकों के साथ तैलप द्वितीय के कई युद्ध हुए। मेरुतुंग के 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' से प्राप्त विवरणों के अनुसार मुंज ने तैलप द्वितीय को छः बार पराजित किया, परन्तु उसकी शक्ति को विशेष क्षीण न कर सका। मुंज के महामंत्री रुद्रादित्य ने उसे तैलप के राज्य को जीतने से मना किया। गोदावरी नदी के पार परमार-सेना के लिए तैलप द्वितीय की शक्ति को दवा पाना उसके लिए दुष्कर कार्य था। परन्तु मंत्री रुद्रादित्व की सलाह को न मानकर मुंज ने तैलप के राज्य पर पुनः आक्रमण करने हेतु गोदावरी नदी को पार किया। तैलप द्वितीय ने मौके का लाभ उठाकर मुंज की सेना को न केवल परास्त किया अपितु उसे बन्दी वना लिया। मेरुतुंग के अनुसार वन्दीगृह में राजा मुंज की देखरेख के लिए तैलप द्वितीय ने अपनी वहन मृणालवती को नियुक्त किया। धीरे-धीरे मुंज एवं मृणालवती में प्रेम हो गया। इसी बीच मालवा राज्य के मंत्रियों ने बन्दीगृह से राजा मुंज को भगाने की योजना बनाई। मुंज ने प्रणय-विश्वास में आकार इस योजना की सारी सूचना अपनी प्रेमिका मृणालवती को दे दी। मृणालवती ने अपने प्रेमी पुंज को धोखा देकर उक्त योजना की सूचना अपने भाई तैलप द्वितीय को दे दी। मुंज द्वारा रचित इस व्यूह के प्रतिक्रियास्वरूप तैलप ने उसे रस्सियों से वँधवाकर राजधानी में घर-घर भीख मँगवाई तथा अन्ततः उसका सिर काटकर अपने राजप्रासाद में टँगवा दिया। महाकवि मेरुतुंग का उपर्युक्त वर्णन काव्यात्मक भले ही हो, परन्तु इसमें इतनी ऐतिहासिक सच्चाई अवश्य

है कि तैलप ने राजा मुंज की हत्या कर दी थी। इस घटना की पुष्टि उज्जैन-अभिलेख तथा अवान्तरकालीन 'आइने-अकबरी' आदि साक्ष्यों से भी होती है। 1003 ई० के कैथोम-ताम्रपत्र-अभिलेखों में भी उक्त घटना का वर्णन मिलता है। परवर्ती परम्परागत कन्नड़ कथाओं में तैलप द्वितीय को भगवान श्रीकृष्ण का अवतार परिकल्पित किया गया है।

तैलप द्वितीय का साम्राज्य पर्याप्त विस्तृत था तथा अनेक सामन्त शासक उसके अधीन थे। इन सामन्तों में बनवासी तथा सान्तलिगं का शासक ब्रह्मरस, कादम्बलिगं राज्य का मूलगुंड सिन्द जातरस, कुण्डि का रट्ठशासक कार्तवीर्य प्रथम तथा बेलगाँव के सौदन्ति रट्ठ विशेष उल्लेखनीय थे। 976 ई० के लगभग तैलप द्वितीय ने नोलम्बपल्लवों को परास्त करके सम्राटस्त्व प्राप्त कर लिया तथा इस हैसियत के अनुकूल उपाधियाँ धारण कर ली। उसने भुवनैकमल्ल, महासामन्ताधिपति' आहवमल्ल, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक, चालुक्याभरण, सत्याश्रयकुलतिलक तथा समस्तभुवनाश्रय आदि उपाधियाँ धारण की।

गड्ग-अभिलेख के अनुसार तैलप द्वितीय ने चालुक्य वंश की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करके 25 वर्ष तक राज्य किया। उसका साम्राज्य उत्तर में गोदावरी नर्मदा तक दक्षिण में बेल्लारी तक तथा पश्चिम में दक्षिणी कोंकण प्रदेश तक विस्तृत हो चुका था। उसने लगभग 997 ई० तक शासन किया तथा मान्यखेट उसकी राजधानी बनी रही।

सत्याश्रय (997—1008 ई०)

तैलप द्वितीय की रट्ठराजकुमारी जाकब्बे नामक महामहिषी से दो पुत्र उत्पन्न हुए—सत्याश्रय एवं दशवर्मन् अथवा यशोवर्मन्। सत्याश्रय को उसने अपने शासनकाल में 981 ई० के लगभग 'यूवराज' नियुक्त किया। संभावित गृह-युद्ध को टालने के लिए उसके कनिष्ठ पुत्र दशवर्मन् को एक प्रान्त का प्रान्तपति बना दिया।

तैलप द्वितीय की मृत्यु के बाद 997 ई० के लगभग उत्तराधिकार सत्याश्रम को प्राप्त हुआ। उसे सत्तिग अथवा सत्तिम नाम से भी सम्बोधित किया गया है। वह महापराक्रमी था। उसने युवराजकाल में अपने पिता के साथ अनेक युद्धों में भाग लिया था। वह स्वयं एक प्रवल महत्वाकांक्षी शासक सिद्ध हुआ (चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीः सत्याश्रयोऽभूदथभूमिपालः)। सत्याश्रय के सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व तक उत्तरी कोंकण राज्य स्वतन्त्र था तथा वहाँ शीलाहारवंशी महाराज अपराजित राज्य कर रहे थे। सत्याश्रय ने अपना प्रारम्भिक सैन्य अभियान उत्तरी कोंकण प्रदेश को जीतने के लिए प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उसने कोकण राज्य को जीत कर अपराजित को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। तत्पश्चात् उसने गुर्जर-देश के शासक चौलुक्य चामुण्डराज को परास्त किया।

ज्ञातव्य है कि मालवा के परमार शासक मुंज को जीतकर तैलप द्वितीय ने उसे अपमानजनक जीवन बिताने के लिए विवश किया एवं अंततः उन्होंने अपनी पुत्री की शिकायत एवं मालवा-सत्ता के षडयंत्र से क्रोधावेग में आकर उसका सिर काटकर उसकी

जीवन लीला भी समाप्त कर दी थी। तैलप के इस नृशंस एवं क्रूर कुकृत्य से परमारवंशीय शासक मुंज का अनुज सिन्धुराज बहुत कुपित था। सत्याश्रय को सैन्यअभियानों में व्यस्त देखकर परमारशालक सिन्धुराज ने चालुक्य राज्य पर आक्रमण कर दिया तथा सत्याश्रय को पराजित करके तैलप द्वितीय द्वारा विजित परमार-शासित समस्त क्षेत्रों को छीनकर अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार उसने अपने अग्रज मुंज के पराभाव का बदला तैलप के पुत्र सत्याश्रय से चुका लिया।

सत्याश्रय के शासनकाल का सबसे भीषण संघर्ष चोलनरेश अरुमोल्लिवर्मन् अथवा राजाराम प्रथम के साथ हुआ। 1007-0 ई० के होट्टूर-लेख के अनुसार राजराज प्रथम ने पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति को दबाने का दायित्व अपने युवराज एवं वीर पुत्र राजेन्द्र को सौंपा। इस संघर्ष की ऐतिहासिक शुरुआत सत्याश्रय के वेंगीराज्य पर आक्रमण के फलस्वरूप हुई। राजराज चोल ने वेंगीनरेश दानार्णव के हत्यारे तेलुगू जटाचोड को पराजित करके वेंगी में उसे राजसिंहासन से अपदस्थ करके उसके स्थान पर दानार्णव के ज्येष्ठ पुत्र शक्तिवर्मन् प्रथम को राजा बनाया। इस उपकार से उपकृत वेंगीराज्य को बाद में अपना सामरिक केन्द्र बनाकर राजराज चोल ने धीरे-धीरे पूर्वी दक्कन के प्रदेशों पर प्रभाव बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। सत्याश्रय ने उसके इस कृत्य को अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा के विपरीत पाकर 1006 ई० में वेंगीराज्य पर आक्रमण कर दिया। उसके सेनापति वायलनम्बी ने क्रमशः धान्यकटक तथा यनमंडल के किलों को जीतकर चेबोलू तक वेंगीराज्य को जीत लिया। इस परिस्थिति में अपनी कूटनीतिक प्रतिभा का परिचय देते हुये राजराज प्रथम ने वेंगीराज्य की रक्षा के लिए सत्याश्रय की राजधानी मान्यखेट पर सीधा आक्रमण करने का निर्णय लिया। उसने युवराज राजेन्द्र चोल के नेतृत्व में 9 लाख सैनिकों की एक विशाल सेना देकर उन्हें चालुक्य-राज्य पर सीधा आक्रमण करने का आदेश दिया। राजेन्द्र चोल ने अपने प्रबल पराक्रम से दक्षिणी चालुक्य राज्य के सान्तलिगे, बनवासी, कादम्बलिगे, कोगलि, ऊकल्लु, आदि क्षेत्रों को जीतकर बीजापुर जनपद में स्थित दोनपुर (दोनूर) में अपना स्कन्धावार स्थापित किया। उसने शत्रु-कुल की राजधानी मान्यखेट में लूट-पाट एवं निर्मम हत्याओं का सिलसिला प्रारम्भ किया। राजराज प्रथम के तंजोर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र चोल ने इन युद्धों में विपुल सम्पत्ति प्राप्त की। विजित दुर्गों एवं नगरों से अपहृत रत्नादि सम्पदा को उसने तंजोर (थंजाउर) के मन्दिर को समर्पित कर दिया। राजेन्द्र चोल की सेना का एक भाग हैदराबाद से लगभग 45 मील उत्तरपश्चिम स्थित कोल्लिपाकइ अथवा कुलपक की ओर बढ़ा और उसने वहाँ के दुर्ग पर कब्जा कर लिया। फलतः आक्रान्त चालुक्य नरेश सत्याश्रय अपनी सेना को चौल-सेना द्वारा दो तरफा घिरते हुये देखकर अंततः वेंगी से हटने को मजबूर हो गया।

सत्याश्रय ने बड़े धैर्य के साथ चालुक्य-शक्ति को पुनर्गठित करके राजराज प्रथम द्वारा अपहृत उक्त प्रदेशों को मुक्त कराया। उसने चोल-सेना को तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी छोर तक खदेड़ दिया। उसके कतिपय लेख गंटूर एवं करनूल जनपदों में प्राप्त हुये हैं। उपर्युक्त क्षेत्रों से प्राप्त लेखों से इस सम्भावना को बल मिलता है कि उसने आन्ध्र प्रदेश के इन क्षेत्रों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। उसने अकलंक-चरित्र, इरिवबेडंग एवं आहवमल्ल आदि अनेक विरुदों को धारण किया। उसके महत्त्वपूर्ण सामन्त शासकों

में वनवासी के भीमरस, बेलवोला, कूँडूर तथा पुरिगेरे प्रदेशों के शोभनरस, कुन्दभरस तथा कोंकण के शिलाहारवंशी रट्ठराज आदि सम्मिलित थे। सत्याश्रय का शासनकाल 1008 ई० तक स्थापित रहा।

विक्रमादित्य पंचम

सत्याश्रम के अनुज दशवर्मन् का पुत्र विक्रमादित्य पंचम 1008 ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने दादा सत्याश्रम की विजगीषुनीति का अनुसरण करते हुए दक्षिणी कोसल राज्य को जीत लिया। वहाँ उस समय सोमवंशी महाराज भीमरथ महाभवपुप्य शासक था। विक्रमादित्य पंचम ने अपने सेनानायक केशवजिय के साहस के बल पर उसे परास्त करके उक्त राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसके शासनकाल की अन्य घटनाओं की सूचनाओं का अभाव है। अभिलेखों में उसके द्वारा धारण की गई 'वल्लभनरेन्द्र' तथा 'त्रिभुवनमल्ल' आदि विरुदों का उल्लेख मिलता है। 1010 ई० के एक अभिलेख में उसकी बहन अक्कादेवी की चर्चा मिलती है, जो किसुकाड राज्य की शासिका थी। विक्रमादित्य पंचम ने 1015 ई० तक शासन किया।

अय्यण द्वितीय

1015 ई० में कुछ महीने के लिए विक्रमादित्य का अनुज अय्यण द्वितीय राजगद्दी पर आसीन हुआ। इस नरेश के शासनकाल की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाओं का अभाव है। इतनी सूचना अवश्य मिलती है कि उसके छोटे भाई जयसिंह अथवा जयदेव सिंह द्वितीय ने उससे राज्याधिकार छीन लिया था।

जयसिंह द्वितीय (1015—1045 ई०)

1015 ई० में ही पश्चिमी-चालुक्य-राज्य पर बढ़ते हुए शत्रु-राज्यों के दबावों को विफल करने में अपने भाई अय्यण द्वितीय को अक्षम पाकर जयसिंह द्वितीय ने उसे अपदस्थ करके राजसिंहासन को अपहृत कर लिया। उसने अपने पितामहों की रणरक्तनीति का अनुसरण किया तथा चालुक्य-राज्य पर मंडराते विपत्ति के बादलों को छांटने की योजना तैयार की। अभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि परमार शासक भोज ने चालुक्य नरेश जयसिंह के विरुद्ध तत्कालीन कलचुरि शासक गांगेयदेव तथा चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम के साथ एक संघ बनाकर उस पर आक्रमण किया। इस अभियान में उपर्युक्त त्रिगुट मोर्चे को प्रारम्भिक सफलतायें अवश्य मिलीं परन्तु बाद में, जैसा कि बेलगाँव-अभिलेख में वर्णित है, जयसिंह द्वितीय ने उन्हें पराजित करके लाट तथा उत्तरी कोंकण आदि स्वशासित क्षेत्रों से उन्हें बाहर खदेड़ दिया। राजेन्द्र प्रथम चोल के 1021 ई० के एक अभिलेख की सूचनानुसार उसने चालुक्य-शासित मुशंग-क्षेत्र के युद्ध में जयसिंह द्वितीय को परास्त कर रट्टपाडि-प्रदेश पर अधिकार कर लिया। तिरुवालंगाडु अभिलेख में राजेन्द्र चोल को तैलप-वंश का उन्मूलक कहा गया है। परन्तु चालुक्य-अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जयसिंह द्वितीय ने शीघ्र ही अपने पराक्रम एवं साहस का परिचय देते हुए अपने सेनानायक चवनरस की सहायता से राजेन्द्र चोल को तुंगभद्रा नदी के आगे बेल्लारी तथा गंगवाड़ी प्रदेश तक खदेड़ कर चालुक्य-राज्य को उससे मुक्त करा लिया था। चोल-अभिलेखों से पता चलता है कि राजेन्द्र चोल ने अपने दूसरे सैन्य-अभियान में

जयसिंह द्वितीय की सेना को मास्की के युद्ध में पराजित करके तुंगभद्र नदी तक अपनी साम्राज्य-सीमा सुरक्षित कर ली थी।

जयसिंह द्वितीय ने मल्लिकामोद, त्रैलोकमल्ल तथा विक्रमसिंह आदि उपाधियाँ धारण की। तत्कालीन अभिलेखों से उसके शासन काल की तिथि 1015 ई० से 1042 ई० तक ज्ञात होती है।

सोमेश्वर प्रथम (1043—1068ई)

जयसिंह द्वितीय के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम 1042 ई० में राजगद्दी पर बैठा। उसे पश्चिमी चालुक्य-राजवंश के महानतम् शासकों में परिगणित किया जाता है। उसके योग्य शासनकाल में ही चालुक्य राजधानी मान्यखेट से स्थान्तरित होकर नवोदित कल्याणी नगरी में केन्द्रित की गयी। उसने अनेक भव्य भवनों तथा मन्दिरों से कल्याणी कौ वैभव एवं कलात्मक नगरों में प्रतिष्ठा दिलायी।

सामरिक उपलब्धियाँ

मालवा पर आक्रमण—सोमेश्वर प्रथम के अभिलेखों में उसके द्वारा मालवा-नरेश भोज परमार पर आक्रमण किये जाने का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि कल्याणी के चालुक्यों एवं मालवा के परमार नरेशों के बीच दीर्घकालीन शत्रुता बनी हुई थी। मेरुतुंग द्वारा रचित **'प्रबन्ध चिन्तामणि'** एवं **'भोज-चरित्र'** के अनुसार मालवाधिपति भोज ने चालुक्यनरेश तैलप द्वितीय को युद्ध में पराजित करके उसकी हत्या कर दी तथा अपने पूर्वज महाराज मुंज के अपमान तथा हत्या सहित पराभव का बदला चुकाया। परन्तु उक्त दोनों ग्रन्थों के उक्त कथन काल्पनिक प्रतीत होते हैं। सम्भवतः भोज को चालुक्यों के विरुद्ध कुछ युद्धों में सफलता अवश्य प्राप्त हुई, जिसमें उसे उपर्युक्त त्रिगुट-संघ का सहयोग प्राप्त था। यह त्रिगुट-संघ कलचुरि नरेश गांगेयदेव, चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम एवं परमार नरेश भोज ने चालुक्य शक्ति के विनाश के लिए बनाया था। त्रिगुट-शक्तियों के इस सम्मिलित प्रयास से तत्कालीन चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय के विरुद्ध उन्हें प्रारम्भिक सफलताएँ अवश्य प्राप्त हुई, परन्तु जयसिंह द्वितीय ने तीनों राज्यों के नृपतियों को अलग-अलग युद्धों में पराजित करके अंततः अपने राज्य को इनसे सुरक्षित कर लिया। बेलगांव-अभिलेख से भी मालवाधिपति भोज के पराभव तथा जयसिंह द्वितीय की सफलता प्रमाणित होती है।

जयसिंह के उपरान्त उसके पुत्र सोमेश्वर प्रथम ने परमार नरेश भोज पर आक्रमण करके उसकी राजधानी 'धारा' पर अधिकार कर लिया। फलतः आत्मरक्षा के लिए भोज को अपनी राजधानी छोड़कर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी। भोज के शासनकाल के अन्तिमचरण में परम्परागत शत्रुओं यथा-कल्याणी के सोमेश्वरप्रथम, गुजरात के चालुक्यनरेश भीमप्रथम तथा कलचुरि-चेदिवंशी शासक लक्ष्मीकर्ण ने एक सामरिक संघ बनाकर चारों ओर से मालवा राज्य पर आक्रमण कर दिया। संयोगवंश, इन आक्रमणों के समय ही गम्भीर रूप से अस्वस्थ महाराज भोज का प्राणान्त हो गया। अपने युद्धाभियानों को आगे बढ़ाते हुये कलचुरिनरेश लक्ष्मीकर्ण ने मालवा की राजधानी धारानगरी पर अधिकार स्थापित कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि मालवा राज्य के

बँटवारे को लेकर उपर्युक्त त्रिगुट में पारस्परिक तनाव पैदा हो गया था। संभवतः भीम प्रथम एवं लक्ष्मकर्ण ने सोमेश्वर प्रथम के साथ विश्वासघात किया। इसी तनावपूर्ण परिस्थिति में संयोगवश दिवंगत मालवानरेश भोज के पुत्र जयसिंह ने सोमेश्वरप्रथम से धारा नगरी को मुक्त करने की याचना की। सोमेश्वरप्रथम ने उसकी याचना को साकार करने तथा उक्त संघ में सम्मिलित विश्वासघाती शक्तियों को परास्त करने के लिए अपने पराक्रमी पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ को धारानगरी को मुक्त कराने तथा जयसिंह को महाराज भोज का उत्तराधिकारी एवं राजसिंहासन पर बैठाने का दायित्व सौंपा।

विक्रमादित्य षष्ठ ने इस सैन्य अभियान में चेदिनरेश लक्ष्मीकर्ण को पराजित करके धारानगरी का उद्धार किया तथा परमार राजकुमार जयसिंह को राजसिंहासन पर बैठाया। जयसिंह, सोमेश्वरप्रथम एवं विक्रमादित्य षष्ठ का सहायक एवं मित्र बन गया। कुछ वर्ष बाद वेंगी के चालुक्यों के विरुद्ध हुए युद्ध में जयसिंह ने कल्याणीनरेश विक्रमादित्य के साथ अपनी सेना सहित स्वयं समरांगण में उपस्थित होकर उसे विजय दिलाने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

चोल राज्य के साथ संघर्ष—वेंगीराज्य को अपहृत कर उस पर अधिकार स्थापन के लिए पश्चिमी-चालुक्यों एवं चोलों के बीच परम्परागत शत्रुता बनी हुई थी। वस्तुतः वेंगी को लेकर उक्त दोनों के बीच छिड़े दीर्घकालीन संघर्ष की शुरुआत 1022 ई० में वेंगी के सिंहासन पर राजराज की अधिकार स्थापना के साथ हुई। राजराज के सौतेले भाई विजयादित्य ने वेंगी की राजगद्दी को हथियाने के लिए विद्रोह कर दिया। पश्चिमी-चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय ने इस गृहयुद्ध में विजयादित्य का समर्थन किया था। बाद में सोमेश्वरप्रथम ने भी उसकी पूर्ण सहायता की। उधर वेंगी के सिंहासन पर विराजमान राजराज को चोल नरेश का प्रबल समर्थन प्राप्त था। 1031 ई० में विजयादित्य ने चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय की सहायता से राजराज को अपदस्थ करके वेंगी की राजगद्दी स्वयं हथिया ली। इस राज्यप्राप्ति के उपलक्ष में उसने 'विष्णुवर्धन विजयादित्य सप्तम्' की उपाधि धारण की तथा वेंगी का अधिपति बन गया। परन्तु 4 वर्ष बाद चोलनरेश राजेन्द्र प्रथम की सहायता से राजराज ने विजयादित्य को पराजित करके वेंगी का राजसिंहासन पुनः प्राप्त कर लिया। इस पराजय से भागकर विजयादित्य ने चालुक्य-दरबार में शरण ले ली, जहाँ उसके साथ राजोचित व्यवहार किया गया। चोलनरेश राजेन्द्रप्रथम अपने समर्थित वेंगी नरेश राजराज की सहायता के लिए सबसे पहले अपने एक ब्राह्मण सेनापति के नेतृत्व में सेना भेजकर स्वयं सतर्क हो गया। चालुक्य नरेश सोमेश्वरप्रथम के प्रभाव को नष्ट करने के लिए उसने पराक्रमी पुत्र राजाधिराज को नियुक्त किया। सोमेश्वर प्रथम एवं राजाधिराज के बीच प्रथम घोर किन्तु अनिर्णायक युद्ध कालिदिंडि-क्षेत्र में हुआ। इसके पश्चात् धान्यकटक (वर्त्तमान गंटूर जनपद में स्थित धरणीकोट) में दोनों के मध्य भयंकर संग्राम हुआ। चोल-अभिलेखों के अनुसार इस युद्ध से पश्चिमी चालुक्यनरेश भयाक्रान्त हो गया, जिसके फलस्वरूप चालुक्य-युवराज विक्रमादित्य षष्ठ तथा तथाकथित वेंगी के पराभूत नृपति विजयादित्य दोनों पराजित होकर युद्ध-स्थल छोड़कर भाग गए। राजाधिराज चालुक्य-राज्य में घुसता हुआ कोल्लिपाके (कुलपाक नलगोंडा जनपद) तक पहुँच गया। राजाधिराज ने पश्चिमी चालुक्यों की शक्ति को दबाने का

उत्तरदायित्व अपने पुत्र 'युवराज' राजेन्द्र द्वितीय को सौंपा। उसने कम्पिल के भव्य राजप्रासादों को ध्वस्त करके विक्रमादित्य षष्ठ के अनेक पराक्रमी सेनानायकों की हत्या कर दी तथा चालुक्य-सेना से बहुसंख्यक अश्व, ऊँट, हाथी एवं युद्धास्त्र छीन लिया। सोमेश्वर प्रथम ने राजेन्द्र द्वितीय के स्कन्धाकार में क्षमा-याचना के साथ संधि का प्रस्ताव लेकर अपना एकदूत भेजा। राजेन्द्र द्वितीय चोल ने दूत का अपमान करते हुये उसके शरीर पर 'आहवमल्ल घृणित एवं कायर है' लिखवाकर संधि-प्रस्ताव को ठुकरा दिया और उसे अपमानित कर, सोमेश्वर प्रथम के पास वापस लौटा दिया। चोल सेना ने आगे सामरिक प्रस्थान करके कृष्ण नदी के तट पर स्थित पुंडर नगरी को ध्वस्त करके उसके निकटस्थ मुणिन्दिघ नगर को जलाकर राख कर दिया। येतगिरि स्थान पर चोलों ने अपना 'विजयस्तम्भ' निर्मित कराकर उस पर अपना राजचिह्न 'सिंह' अंकित कराया। आगे बढ़कर चोलों ने चालुक्य-राजधानी कल्याणी को जीत लिया। अपने प्रबल शत्रु की राजधानी में वीराभिषेक कराकर राजाधिराज ने 'विजयराजेन्द्र' की उपाधि धारण की। तंजोर के दारासुरम् मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर रखी हुई द्वारपालक की एक सुन्दर मूर्ति को वीर राजेन्द्र ने अपनी राजधानी में लाकर स्थापित करा दिया। इस द्वारपालक की प्रतिमा पर अंकित एक लेख में उसके द्वारा राजधानी कल्याणी को भस्मसात किये जाने की सूचना दी गई है।

सोमेश्वर प्रथम ने अपने पुत्र विक्रमादित्य तथा परमार नरेश जयसिंह को चालुक्य-सेना के साथ चोलशासित प्रदेश गंगवाड़ी पर आक्रमण करने के लिए भेजा। चोल नरेश राजेन्द्र द्वितीय ने अपने पुत्र वीर राजेन्द्र के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजकर गंगवाड़ी से उपर्युक्त आक्रान्ताओं को भगा दिया। आगे बढ़कर वीर राजेन्द्र ने कर्नाटक के तुंग एवं भद्रा नदियों के संगम-स्थल 'कुडल-संगम' के युद्ध में चालुक्यों को पराजित कर दिया। यह युद्ध संभवतः 1061-62 ई० में लड़ा गया। इस विजय के उपलक्ष में चोलनरेश ने तुंगभद्रा नदी के तट पर 'सिंह-चिन्हांकित' अपना एक 'विजय-स्तम्भ' स्थापित कराया। 1064 ई० में चोल नरेश राजेन्द्र द्वितीय की मृत्यु हो गई तथा वीर राजेन्द्र चोल-साम्राज्य का अधिपति हुआ। उसके शासनकाल (1067-67 ई०) के कतिपय अभिलेखों से ज्ञात होता है कि चोलों ने चालुक्यों को निरन्तर सन्त्रस्त कर रखा था। वेंगनाडु में चालुक्यों के साथ हुए युद्ध में उसने शत्रु-सेना को पराजित करके तथा उनके कई सेनापतियों का सिर काटकर उन्हें गंगैकोंडचोलपुरम् नगर की दीवालों पर लटका दिया था।

वेंगनाडु के युद्ध में पराजित एवं बन्दी सेनानायकों के साथ किये गये घोर अपमान का बदला चुकाने के लिए सोमेश्वर ने कुडलसंगम के मैदान में पुनः वीरराजेन्द्र को युद्ध करने की चुनौती दी। वीरराजेन्द्र तत्काल अपनी सेना के साथ उक्त मैदान में स्कन्धावार स्थापित करके युद्ध के लिए आ डटा। चालुक्यसेनाएँ भी वहाँ पहुँच कर लगभग एक माह तक अपने राजा की प्रतीक्षा करती रही। परन्तु भयाक्रान्त सोमेश्वर प्रथम युद्ध-स्थल पर आने से कतरा गया। सम्भवतः उस समय वह गम्भीर रोग से ग्रसित हो गया था। अन्ततः वीरराजेन्द्र ने चालुक्यसेना को सरलतया पराजित कर तुंगभद्रा नदी के तट पर एक अन्य 'विजयस्तम्भ' स्थापित कराया। कुछ समय बाद अपनी लम्बी बीमारी तथा उपर्युक्त पराजय से कुण्ठित एवं ऊब कर सोमेश्वर प्रथम ने 1068 ई० में तुंगभद्रा नदी में

डूबकर आत्महत्या कर ली। चोलों के अतिरिक्त सोमेश्वर प्रथम ने तत्कालीन अनेक राज्यों से युद्ध किया तथा अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। चालुक्य-अभिलेखों में उसे मगध, वंग, कन्नौज, पांचाल, खस, कुरु,आभीर एवं नेपाल आदि प्रदेशों का विजेता कहा गया है। संभवतः अभिलेखों का यह वर्णन अतिरंजना पूर्ण है। विल्हण ने सोमेश्वर के कनिष्ठ पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ द्वारा दक्षिण में पाण्ड्य एवं लंका पर तथा पूर्वी भारत में गौड़ तथा कामरूप जैसे दूरस्थ प्रदेशों पर किये गये आक्रमणों का उल्लेख किया है। उसने चक्कूट, भालकूट, मारसिंह, मदमर्दन, वीरमार्त्तण्ड, राजनारायण, धारावर्षोत्पाटन, सेवणदिशपट्ट, विन्ध्याधिपमल्लशिरच्छेदन आदि उपाधियाँ धारण की थी।

सोमेश्वर प्रथम ने अपनी कूटनीति एवं 'लौह-रक्तनीति' के वल पर मालवा एवं गुर्जर राज्यों के अतिरिक्त वेंगी राज्य को भी अधिकांश समय तक अपने पूर्ण प्रभाव में रखा। चोलों के विरुद्ध छिड़े दीर्घकालीन युद्धों में यद्यपि उसे अनेक बार पराजय मिली तथापि उसने अपनी विजिगीषु-नीति, साहस एवं धैर्य का परित्याग कभी नहीं किया। शांतिकाल में उसने कला एवं साहित्य के विकास में भरपूर सहयोग देकर एक महान् रचनात्मक शासक होने का परिचय दिया। राजधानी कल्याणी में उसने अनेक भव्य प्रासादों का निर्माण कराकर उसे अत्यन्त सुरम्य नगरी बना दिया। वास्तु एवं स्थापत्य कलाओं के विकास में उसका योगदान उल्लेखनीय है।

सोमेश्वर द्वितीय (1068—1076 ई०)

1068 ई० में सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय चालुक्य-राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसने अपने अनुज विक्रमादित्य षष्ठ को गृहयुद्ध की विभीषिका से राज्य को सुरक्षित रखने के लिये गंगवाड़ी प्रदेश का शासक बना दिया। इसकी राजधानी गोविन्दवाड़ी (वर्तमान बेल्लारी जनपद में गोविन्दाबाद) थी। विक्रमादित्य अपने पिता सोमेश्वर प्रथम की राजनीति में सक्रिय सहयोगी होने के कारण महत्वाकांक्षी हो गया था। वह मन ही मन में पिता के राज्य का उत्तराधिकारी बनना चाहता था। परन्तु उसकी इस महत्वाकांक्षा की सम्पूर्ति न हो पाई और सोमेश्वर द्वितीय को ही उत्तराधिकार प्राप्त हुआ।

विक्रमांकदेव चरितम्' के अनुसार कल्याणी का अधिपति बनने की लालसा में उसने शक्तिशाली चोलनरेश वीरराजेन्द्र की पुत्री से विवाह किया (एनमेत्य जयकेशिपार्थिवः प्राथितादधिकमर्पयन्धनम्। निश्चलामकृत हासचन्द्रिकां कौङ्कण प्रणायिनी मुखेन्दुषु)। 1968-69 ई० में वीर राजेन्द्र ने अपने दामाद की महत्वाकांक्षा की तुष्टि के लिए उत्साही गंगवाड़ी की चालुक्यसेना के साथ कल्याणी-नरेश सोमेश्वर द्वितीय पर आक्रमण कर दिया। उसने रात्रि (गूटी) को घेर कर कम्पिलनगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। आगे बढ़कर उसने करदिकल (आधुनिक करदी) में अपना 'विजयस्तम्भ' स्थापित कराया। इस अभियान में वीरराजेन्द्र ने अपनी राजनीतिक योग्यता एवं कुटनीतिक क्षमता का परिचय देते हुए अंततः युवराज विक्रमादित्य षष्ठ, वेंगीनरेश विजयादित्य तथा कलिंग के गंग राजकुमार के बीच एक सन्धि कराई तथा अपनी पुत्रियों का विवाह क्रमशः विक्रमादित्य षष्ठ तथा कलिंग के गंग राजकुमार के

साथ सम्पन्न करके विक्रमादित्य का रट्टपाड का स्वतन्त्र शासक नियुक्त कर दिया। परन्तु वीरराजेन्द्र का यह राजनीतिक दवाव सोमेश्वर प्रथम के राज्य पर अधिक समय तक न रह सका। उसकी शक्तिशाली अश्वसेना ने वीरराजेन्द्र चोल को दक्षिणी कर्नाटक से वाहर खदेड़ करके अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त कर लिया। 1070 ई० में वीरराजेन्द्र की मृत्यु हो गई। विक्रमादित्य को वदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में एक ओर अपने भाई सोमेश्वर द्वितीय का निरन्तर दवाव सहन करना पड़ा। दूसरी ओर वेंगी के चालुक्यों से अपने साले अधिराजेन्द्र की राजगद्दी को सुरक्षित रखने में उसे निरन्तर कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था (इन्तुदीधितिषु शारदींष्वसौ मन्मथस्य करदीपिकास्वि। दुश्चरित्रमनुजस्व चिन्तयन् न प्रसादं भजन्नराधिपः)। 1074 ई० के एक चालुक्य-अभिलेख में इस बात का संकेत किया गया है कि इस तिथि तक सोमेश्वर द्वितीय एवं विक्रमादित्य के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता अवश्य हो चुका था तथा विक्रमादित्य अपने भाई के अधीन बंकापुर में शासन कर रहा था। अभिलेखों के सूचनानुसार 1075 ई० में वेंगीनरेश कुलोत्तुंग की सहायता लेकर सोमेश्वर ने विक्रमादित्य षष्ठ एवं उसके समर्थक सामन्तों तथा-कदम्ववंशीय जयकेशि एवं विजयादित्य, होयसल विट्टिगविष्णुवर्धन् एवं उच्छंग के पाण्ड्यशासकों के अतिरिक्त अपने अनुज जयसिंह आदि की शक्तियों को कुचलने की योजना वनाई। दोनों पक्षों की युद्धसंगत तैयारियाँ 1075 ई० तक पूरी हो गई। 1076 ई० के प्रथम चरण में कर्नाटक (कोलार जनपद) के नांगिली नामक स्थान पर दोनों पक्षों की सेनाओं के मध्य घमासान युद्ध हुआ। कुलोत्तुँग ने इस युद्ध के फलस्वरूप विक्रमादित्य की राजधानी गंगवाड़ी पर अपना अधिकार कर लिया। किन्तु विक्रमादित्य की सेना ने चालुक्यनरेश सोमेश्वर द्वितीय को बन्दी बना लिया। इस प्रकार 1076 ई० में विक्रमादित्य षष्ठ ने कल्याणी के राजसिंहासन पर अपना राज्याभिषेक कराकर इस उपलक्ष में 'चालुक्य-विक्रम-संवत्' का प्रचलन किया।

विक्रमादित्य षष्ठ (1076—1126 ई०)

महत्वाकांक्षी विक्रमादित्य षष्ठ ने 1076 ई० के प्राथमिक चरण में अपने भाई सोमेश्वरद्वितीय को एक युद्धस्थल पर बन्दी बनाकर मृत्युपर्यन्त उसे कारागार में रखा (द्रविडपतिरगात्क्वचित्पलायय न्यविशत् बन्धनधाम्नि सोसदेवः) तथा स्वयं कल्याणी-राज्य का अधिपति बन गया। 1076 ई० अपने राज्यारोहण की स्मृति में उसने एक नवीन् संवत् 'चालुक्य-विक्रम-संवत्' का प्रचलन किया।

चोलराजवंश के ऐतिहासिक वंशानुक्रम का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य षष्ठ के सिंहासनासीन होने के समय चोल-राजगद्दी पर उसका साला अधिराजेन्द्र आसीन था। परन्तु थोड़े ही समय बाद चोलों ने अपने शासक के विरुद्ध विद्रोह करके उससे न केवल राजगद्दी छीन ली अपितु उसकी हत्या भी कर दी। इस विद्रोह का नेतृत्व राजेन्द्र द्वितीय (कुलोत्तुँग प्रथम) ने किया। फलतः 1070 ई० में वह चोलराजसिंहासन पर आसीन हो गया। ध्यातव्य है कि अधिराज एवं कुलोत्तुंग में चोलसिंहासन के अधिकार को लेकर निरन्तर तनाव एवं संघर्ष वना हुआ था, जिसमें सोमेश्वर द्वितीय कुलोत्तुंग प्रथम के तथा विक्रमादित्य षष्ठ अधिराज के पक्षधर थे।

कुलोत्तुँग के चोल-शासक बनने पर सोमेश्वरद्वितीय ने अपने विद्रोही भाई विक्रमादित्य षष्ठ के विनाश के लिए उससे सैनिक सहायका की याचना की। कुलोत्तुँग ने विक्रमादित्य षष्ठ के राज्य पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया। परन्तु सोमेश्वरद्वितीय इन्हीं युद्धों की कालावधि में विक्रमादित्य षष्ठ द्वारा बन्दी बना लिया गया फलतः उसका राज्य विक्रमादित्य के अधीन हो गया (सोमेश्वराद्‌बाहुबलेन राज्यं ग्रहीतवानार्जितकीर्तिलक्ष्मीः) ।

कुलोत्तुँग के शासनकाल के अन्तिम चरण में 1118 ई० में एक बार पुनः चोल-चालुक्य-संघर्ष का भीषण सिलसिला चल पड़ा। विक्रमादित्य षष्ठ ने अपने पिता सोमेश्वर प्रथम द्वारा वेंगीराज्य पर डाले गए राजनीतिक दबाव को पुनः स्थापित करने के लिए 1115 ई० में ही वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। संयोगवश, 1118 ई० में युवराज के पद पर अभिषिक्त होने के लिए चोल सम्राट् एवं पिता कुलोत्तुँग द्वारा बुला लिए जाने पर विक्रमचोल ने जिस समय वेंगीराज्य को छोड़कर राजधानी गंगैकोंडचोलपुरम् के लिए प्रस्थान किया, उसी समय विक्रमादित्य षष्ठ ने मौके का लाभ उठाकर चोल-सेना को परास्त करके अपने सेनापति अनन्तपाल को वेंगी का शासक बना दिया। आगे बढ़कर उसने स्वयं गंगवाड़ी पर आक्रमण किया एवं कोलार क्षेत्र को जीतकर उसे अपने राज्य में मिला लिया।

गंगवाड़ी राज्य में उस समय होयसल नरेश विट्टिग अथवा विष्णुवर्धन् शासन कर रहा था। विष्णुवर्धन् ने अतीव महत्वाकांक्षी होने के कारण धीरे-धीरे पाण्ड्यों एवं कदम्बों की सहायता प्राप्त कर अपने राज्य को चालुक्यों की अधीनता से मुक्ति प्राप्त कर लिया था। विक्रमादित्य षष्ठ ने होयसलनरेश विष्णुवर्धन् को परास्त कर गंगवाड़ी राज्य को अपने अधीन कर लिया। उसने इस युद्धाभियान में आगे बढ़कर पाण्डयों एवं कदम्बों को भी पराजित किया। तत्कालीन राजनीतिक समीकरणों को देखते हुये उसने अन्ततः विष्णुवर्धन् को क्षमा-दान करके उसे अपने अधीनस्थ शासक के रूप में शासन करने की अनुमति प्रदान कर दी।

विक्रमादित्य षष्ठ की इन सामरिक उपलब्धियों के अतिरिक्त तत्कालीन लंका नरेश विजयबाहु के साथ उसके कूटनीतिक-सम्बन्ध भी विशेष उल्लेखनीय हैं। 1083 ई० में लंका में अपना एक दूत-मण्डल भेजकर उसने दोनों राज्यों के मध्य परस्पर मैत्री-सम्बन्ध को सुदृढ़ कर लिया।

मूल्यांकन—विक्रमादित्य षष्ठ अदम्य महत्वाकांक्षी तथा महान् योद्धा था। हैदराबाद-संग्रहालय में सुरक्षित एक आभिलेखिक साक्ष्यानुसार उसने अपने अग्रज सोमेश्वर द्वितीय से बलपूर्वक राज्य को अपहृत कर लिया तथा अपनी कीर्ति को स्थायी बनाया था (सोमेश्वरात् बाहुबलेन् राज्यं गृहीतवानार्जित कीर्तिलक्ष्मीः)। सिंहासनासीन होने के पूर्व उसने अनेक युद्धों में सफलता प्राप्त की। कल्याणीनरेश के रूप में उसकी शत्रुता चोलनरेश कुलोतुंग से बनी रही। दोनों ही नरेश साहस, शौर्य, कूटनीति एवं पराक्रम से एक दूसरे से बढ़कर थे। चोल नरेश की कूटनीतिक चालों को नाकाम करने में विक्रमादित्य षष्ठ की योग्यता सदा स्मरणीय रहेगी। उसने लौह-रक्त-नीति के बल पर लगभग 51 वर्ष तक कल्याणी-राज्य की कीर्तिपताका को सर्वोच्च बनाये रखा।

विक्रमादित्य ने अपने राज्याभिषेक की तिथि (11 फरवरी 1976 ई०) पर एक नये संवत् का प्रचलन किया, जिसे 'चालुक्य-विक्रम-संवत्' नाम से सम्बन्धित किया गया। उसका शासन लम्बी अवधि तक बना रहा, जिसका अधिकांश काल शांतिमय तथा रचनात्मक प्रतीत होता है। उसने राजधानी कल्याणी को वैभवशाली बनाने (श्रीकल्याणपुरे बहुदिवस स्थिर-निवासिनि) के अतिरिक्त दूसरा प्रमुख नगर अनन्तपुर अथवा वनवासी था। विद्या एवं विद्या-व्यसनी ब्राह्मणों के प्रति उसे बड़ा लगाव था। नीरुगुंद के ताम्रपट्ट लेख से ज्ञात होता है कि अपने राज्य में विद्या एवं धर्म की अभिवृद्धि हेतु उसने 500 तमिल ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें अपने राज्य में न केवल बसाया अपितु उनके भरण-पोषण के लिए नीरुगुंद नामक गाँव को अग्रहार-दान के रूप में प्रदान किया (द्रविड़-देश गतेभ्यो नानगोत्रेभ्यो नानवेदशाखा-शास्त्र-पारगम्यस्त्रिशतसंख्याकेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः श्रीमत्त्रिभुवनमल्लदेवेन कोकलि-पंचशत-देश-मध्यविक्कगसप्तत्यन्तर्व्वर्त्ती नीरुगुंदनामा ग्रामः। धारा—पूर्वकमग्रहारीकृत्य दत्तः। पंचशतेभ्यः एव ब्राह्मणेभ्यः)। केवल शौर्य में ही नहीं अपितु धर्म-दान तथा विद्या प्रेम के क्षेत्र में भी उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी कुलोत्तुंग से बढ़त प्राप्त की। अपने शासन के 22वें वर्ष में उसने तुंगभद्रा नदी के तट पर एक मन्दिर एवं अन्य धार्मिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं के संचालन हेतु विपुल दान दिया। 1105 ई० में नर्मदा नदी के तट पर उसने 'तुला-पुरुष-दान' तथा चंद्रदेवी नदी के तट पर दान-कर्म सम्पन्न करके उसने अपनी दानवीरता की कीर्ति स्थापित कर ली।

विक्रमादित्य षष्ठ का विद्या तथा विद्वानों के प्रति बड़ा दृढ़ अनुराग था। संस्कृत के महाकवि विल्हण तथा न्यायशास्त्रज्ञ विज्ञानेश्वर जैसे महान् कवि एवं आचार्य उससे पोषित थे। विल्हणकृत 'विक्रमांकदेवचरितम्' उच्च कोटि का ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसके कुल 18 सर्गों में विक्रमादित्य का चरित्र आख्यात है। इसी समय में विज्ञानेश्वर ने 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर 'मिताक्षरा' नामक सुविख्यात टीका निबद्ध किया। इसी प्रकार विक्रमादित्य ने अपने शासन काल में नगर, मन्दिर, प्रासाद तथा स्थापत्यादि विन्यासों की भी अभिवृद्धि की थी।

सोमेश्वर तृतीय (1126—1138 ई०)

कल्याणी के चालुक्य राजवंश के इतिहास में सोमेश्वर तृतीय शान्तिप्रिय शासक हुआ। सम्भवतः 1126 ई० में उसका राज्यारोहण हुआ। इस उपलक्ष्य में उसने **'भूलोकमल्ल-वर्ष'** नामक एक नवीन संवत् का प्रचलन करके **'भूलोकमल्ल'** विरुद् को धारण किया।

सोमेश्वर तृतीय के शासनकाल में होयसल विष्णुवर्धन ने न केवल अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी अपितु उसने अपनी शक्ति बढ़ाकर बलपूर्वक चालुक्य राज्य के नोलम्बाड़ी, हंगल तथा बनवासी आदि प्रदेशों को अपहृत करके उन्हें अपने राज्य की सीमा भी बढ़ा ली। सोमेश्वर तृतीय की शान्ति-प्रियता का लाभ उठाकर चोलनरेश कुलोत्तुंग द्वितीय ने आन्ध्र प्रदेश को जीत लिया, जिसे कुछ समय बाद चालुक्यों ने उससे पुनः मुक्त करा लिया।

सोमेश्वर तृतीय को प्राचीन भारतीय नरेशों में उत्कृष्ट कोटि का विद्वान् एवं शिल्पशास्त्रज्ञ माना जाता है। उसने **'मानसोल्लास'** नामक नितान्त प्रामाणिक

शिल्पशास्त्रग्रन्थ की रचना की। अपनी विद्वत्ता के कारण तत्कालीन समाज में सोमेश्वर तृतीय 'सर्वज्ञभूप' के रूप में लोकविश्रुत था।

जगदेकमल्ल द्वितीय (1138—1151 ई०)

सोमेश्वर तृतीय के पश्चात् उसका पुत्र जगदेकमल्ल द्वितीय राजगद्दी पर वैठा। इस नरेश के शासनकाल में चालुक्यों के अधीन कतिपय सामन्तशासकों ने अपनी-अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का प्रयास किया परन्तु उसने उनके विद्रोहों को एक-एक करके कुचल दिया। होयसल विष्णुवर्धन ने अपने राज्यविस्तार का क्रम जगदेकमल्ल द्वितीय के शासनकाल में भी वनाये रखा। वह अपनी उक्त सैन्य अभियानों में प्राप्त सफलताओं के फलस्वरूप स्वयं धारवाड़प्रदेश के बंकापुर नगरी में जाकर रहने लगा। उसने राजधानी द्वारसमुद्र की रक्षा का भार अपने पुत्र जयसिंह के ऊपर सौंप दिया। इसी प्रकार कदम्ब शासकों ने भी अपना विद्रोहात्मक दवाव उस पर वनाये रखा। जगदेकमल्ल द्वितीय का शासनकाल 1138 ई० से 1151 ई० तक रहा।

तैलप तृतीय (1151—1156 ई०)

1151 ई० में जगदेकमल्ल द्वितीय का भाई तैलप तृतीय चालुक्य अधिपति हुआ। उसके शासन में आने तक होयसल, कलचुरि, काकतीय एवं यादववंशीय सामन्त-शासक गण पर्याप्त शक्तिशाली हो चुके थे। वे अपनी-अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का प्रयास करने लगे, जिन्हें दवा पाना तैलपतृतीय के लिए बड़ा दुष्कर कार्य था। चालुक्य राज्य पर अपनी-अपनी सत्ता-स्थापना की होड़ में तदैवाड़ी के कलचुरि के सामन्त शासक विज्वल ने सर्वाधिक सफलता प्राप्त की। उसने 1057 ई० के लगभग चालुक्य राज्य पर अधिकार स्थापित कर लिया। विज्वल ने 1157 ई० से 1178 ई० तक कल्याणीराज्य पर शासन किया तदुपरान्त 1181 ई० तक उसके तीन पुत्रों ने क्रमशः राज्य किया।

सोमेश्वर चतुर्थ (1181—1189 ई०)

1181 ई में तैलप तृतीय के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने तत्कालीन कलचुरि शासक आहवमल्ल को परास्त करके कल्याणी पर अधिकार कर लिया। आहवमल्ल ने कल्याणी मे भागकर श्रवण वेलगोला एवं वनवासी की ओर शरण ले ली। 1189 ई० से यादव वंशीय शासक भिल्लम ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करके सोमेश्वर चतुर्थ से उत्तरी चालुक्य-प्रदेशों को जीत लिया। इसी प्रकार होयलनरेश वल्लाल द्वितीय तथा काकतीय राजा रुद्र ने भी अपने विद्रोहों एवं क्रमिक आक्रमणों के फलस्वरूप 1189 ई० तक चालुक्य प्रदेशों को अपने-अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार 1200 ई० तक कल्याणी के चालुक्यवंश का पूर्णतया पतन हो गया।

---

14 | पाण्ड्य राजवंश का इतिहास

ईसा की सातवीं एवं आठवीं शती में धुर दक्षिणी भारत में चोलों के अतिरिक्त एक अन्य शक्तिशाली राज्य का उदय हुआ था, जो 'पाण्ड्य राजवंश' के नाम से प्रसिद्ध है। इस राज वंश का प्रारंभिक इतिहास लगभग अज्ञात है। संगम साहित्य से इतना पता अवश्य चलता है कि पाण्ड्य राजा गड्ढजेडियन ने तलैयालंगानम् नामक स्थान पर अपने शत्रु को पराजित किया था। पाण्ड्यों का उल्लेख अशोक के अभिलेखों में भी हुआ है **(चोडापाण्ड्यासतिपुता)**। इससे यह पता चलता है कि पाण्ड्यों का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु उनके प्रारम्भिक शासकों के नामोल्लेख को छोड़कर उनसे सम्बन्धित ऐतिहासिक विषय में अन्य सूचनाओं का नितान्त अभाव है। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार संभवतः ईसा की छठीं शती में पड़ोसी राज्य कलभ्रों के आक्रमणों के फलस्वरूप पाण्ड्यों की शक्ति को गंभीर क्षति पहुँची थी। परन्तु छठीं शती के अन्तिम वर्षों में धीरे-धीरे पाण्ड्यों ने अपनी शक्ति को संगठित करके तमिलनाडु प्रदेश के कुछ भागों पर अपनी शक्ति पुनः स्थापित कर ली। संयोगवश, इसी समय पाण्ड्य-शक्ति के नवसंगठन एवं नेतृत्व का दायित्व पराक्रमी कुडुगौन (590—620 ई०) के कंधों पर आया, जिसने पाण्ड्य राजवंश की गरिमा को पुनः स्थापित करके उसे एक शक्तिशाली राज्य के रूप में स्थायित्व प्रदान किया। उसने अपने समसामयिक पल्लवनरेश **सिंहविष्णु** की तरह कलभ्रों को पराजित करके मदुरा, तिनेवेल्ली तथा वर्तमान केरल प्रदेश के अधिकांश क्षेत्रों पर अपना शासन आरम्भ किया। उसकी राजधानी मदुरा (मदुरै) थी। परान्तक **नेडुंजडैय्यन** (765—815 ई०) के शासनकाल के तेलंतितुकुडि-अभिलेख की सूचनानुसार उसने अपने पड़ोसी अनेक अर्द्धवर्बर जातियों को पराजित करके सुदूर दक्षिण भारत में एक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक नवयुग की शुरुआत की थी।

प्रथम पाण्ड्य राजवंश का इतिहास

कुडुंगोन (580—620 ई०)

कुडुंगोन को प्रथम पाण्डय राजवंश का संस्थापक माना जाता है। उसने कलभ्रों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप विजयी हुई पाण्ड्य शक्ति को संयोजित करके न केवल अपने शत्रुओं को पराजित किया अपितु तमिल देश में पाण्ड्य राजशक्ति की नींव डाली। इस नवोदित पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा थी। आठवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में शासन करने वाले पाण्ड्य नरेश नेडुंजडैय्यन के शासनकाल में जारि वेलविककडि

अभिलेख से कुडुंगोन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर किञ्चित प्रकाश पड़ता है। वह एक महान विजेता था तथा उसने अनेक दुर्गों तथा शत्रु-नगरों को स्वबाहुबल से विनष्ट किया था।

मारवर्मन् अवनिशूलमणि (620-645 ई०)

सर्वप्रथम पाण्ड्य शासक कुंडुंगौन ने छठीं शताब्दी के अंतिम चरण में कलभ्रों को परास्त करके पाण्ड्य-राजवंश की शक्ति को तमिलनाडु में पुन:स्थापित किया। उसके बाद मारवर्मन अवनिशूलमणि तथा शेन्दन (जयन्तवर्मन्) क्रमश: राज्याधिकारी हुए। परन्तु उक्त दोनों नृपतियों के विषय में अभी तक विस्तृत ऐतिहासिक सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। इनके विषय में इतना अवश्य पता चलता है कि शेन्दन अथवा जयन्तवर्मन् का चेर प्रदेश (केरल) पर भी अधिकार था।

अरिकेशरि मारवर्मन् (पराँकुश) (670-700 ई०)

अरिकेशरि मारवर्मन् प्राथमिक पाण्ड्य नरेशों में महान् योद्धा एवं सफल शासक सिद्ध हुआ। उसने पाण्ड्य-राज्य के विस्तार के लिए लौह-रक्त-नीति का अनुसरण किया तथा अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। 'पन्दिककोवै' काव्य में सम्भवत: इसी नृपति की उपलब्धियों का यशोगान किया गया है। नीलकण्ठ शास्त्री प्रभृति विद्वान् उसे इस काव्य का नायक स्वीकार नहीं करते हैं, परन्तु उक्त संभावना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता है।

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि अरिकेशरि मारवर्मन् एवं कूण पाण्ड्य एक ही व्यक्ति के अलग-अलग नाम थे। संभवत: प्रारम्भ में वह जैन धर्मावलम्वी था। उसका विवाह एक चोल राजकुमारी के साथ हुआ था, जो शिवोपासिका थी। इसी चोल राजकुमारी के विशेष आग्रह पर शैवसन्त सम्बन्दर मदुरानगरी में आये थे, जिनके आध्यात्मिक प्रभाव के कारण अरिकेशरि मारवर्मन् ने जैन धर्म का परित्याग करके शैव धर्म को अपना लिया था।

अरिकेशरि मारवर्मन् ने केरल तथा अन्य पड़ोसी राज्यों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया। उसने अपने पड़ोसी राज्य पल्लवों के शत्रु, वातापि के चालुक्यों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। पल्लव राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को क्षीण करने के लिए उसने चालुक्यनरेश विक्रमादित्य प्रथम की सहायता लेकर तत्कालीन पल्लव शासक परमेश्वरवर्मन् प्रथम पर आक्रमण किया। इस अभियान में उसे आंशिक सफलता अवश्य प्राप्त हुई, परन्तु इससे मारवर्मन् प्रथम को कोई स्थायी साम्राज्यिक लाभ प्राप्त न हो सका था।

कोच्चाडैयन अथवा 'रणधीर' (700—730 ई०)

अरिकेशरि मारवर्मन् 'परांकुश' के पश्चात् उसका पुत्र कौच्चाडैयन अथवा 'रणधीर' 700 ई० में राजा हुआ। उसने अपने पिता की विस्तारवादी नीति का अनुसरण किया तथा पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करके कोंगू प्रदेश (वर्तमान कोयम्वटूर एवं सलेम जनपद क्षेत्र) को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। अपनी सामरिक सफलताओं के बल पर उसने चेरों तथा चोलों पर भी प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

वेलविक्कुडि-ताम्र-पत्र-लेख में उसे मंगलापुरम् के मराठोंका विजेता आख्यात किया गया है। नीलकण्ठ शास्त्री ने मंगलापुरम् की पहचान मंगलौर कर्नाटक प्रदेश में स्थित से की है, जिस पर कोच्चाडैयन ने विजय प्राप्त की थी। संभवतः बाद में उक्त क्षेत्र को चालुक्यनरेश विक्रमादित्य प्रथम के राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। ऐसा लगता है कि मंगलापुरम् की विजय पाण्ड्य एवं चालुक्य दोनों ने मिलकर की थी। कोच्चाडैयन ने अपने सामरिक अभियानों के परिणामस्वरूप तिरुनेलवेल एवं ट्रावन्कोर के मध्य स्थित पर्वतीय राज्यों के शासक आय अथवा आयवेल को पराजित करके उसके विद्रोह का दमन किया था। संभवतः उसने शैगूयू तथा उद्कोदु क्षेत्रों पर भी विजय प्राप्त की थी, यद्यपि इन स्थानों की सही स्थिति की पहचान अभी तक नहीं की जा सकी है।

कोच्चाडैयन की 'रणधीर' उपाधि उसके युद्ध-प्रेम को प्रतिध्वनित करती है। इसके अतिरिक्त उसने कोंगकोर्मान् तथा मदुराकर-नाटकन की भी उपाधियाँ उपर्युक्त विजयों के परिणामस्वरूप ही धारण की थीं।

मारवर्मन् राजसिंह प्रथम (730-769 ई०)

कोच्चाडैयन 'रणधीर' के शासनकाल की समाप्ति के उपरान्त सम्भवतः 730 ई० के लगभग मारवर्मन् राजसिंह प्रथम राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह महापराक्रमी एवं महत्वाकांक्षी शासक सिद्ध हुआ। उसने पल्लव-राजगद्दी को लेकर छिड़े गृह-युद्ध में नन्दिवर्मन् द्वितीय के विरुद्ध संघर्षरत उसके चचेरे भाई चित्रमाय का साथ दिया। पल्लव राजकुमार चित्रमाय को कांची के राजसिंहासन पर बैठाने के लिए उसने स्वयं नन्दिवर्मन् से संघर्ष किया तथा उसे नेडुवयल, कुरुमडै, कोडम्बलूर, मण्णिकुरुच्चि तथा तिरुमंगई आदि स्थलों पर हुए युद्धों में पराजित किया। परन्तु पल्लवनरेश के पराक्रमी सेनापति उदयचन्द्र ने अन्ततः कुम्बकोनम् के निकट नन्दिग्राम (अथवा अन्दिपुरम) के मैदान में मारर्मन् राजसिंह प्रथम एवं विद्रोही पल्लव-राजकुमार चित्रमाय की संयुक्त सेनाओं को चारों ओर से घेर लिया। उसने पाण्ड्यनरेश के युद्ध व्यूह को तोड़कर तथा विद्रोही चित्रमाय को मारकर अन्ततः नन्दि-पल्लवमलन के लिए राजसिंहासन सुरक्षित कर लिया। तदन्तर उसने मारवर्मन् राजसिंह को पराजित करके उसके द्वारा बन्दी नन्दिवर्मन् को मुक्त करा लिया तथा उसे पल्लव-राजसिंहासन पर विधिवत् प्रतिष्ठापित कर दिया।

पल्लवों के विरुद्ध हुए युद्धों के फलस्वरूप अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः संगठित करके मारवर्मन् राजसिंह प्रथम ने पेरियलूर के मैदान में शत्रुओं को पराजित करके कावेरी नदी पार किया। आगे बढ़कर उसने मलकोंगम् (वर्तमान तिरुचिरापल्ली तथा तंजोर जनपदों की सीमा पर स्थिति) क्षेत्र को भी जीत लिया। यहाँ के शासक मालवाराज ने पराजित हो जाने के बाद उससे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। 750 ई० के लगभग मारवर्मन् राजसिंह प्रथम को गंगनरेश एवं उसके अधिराट् चालुक्यनरेश की संयुक्त सेनाओं पर भी विजय प्राप्त हो गयी। इस विजय को उसकी सामरिक सफलताओं में शीर्षस्थ सफलता मानी जाती है।

इस प्रकार मारवर्मन् राजसिंह प्रथम ने अपनी उपर्युक्त विजयों के बल पर

उत्तराधिकार में प्राप्त छोटे से पाण्ड्य राज्य को कावेरी नदी के दक्षिण में स्थित पांडिक्कोंडमुडि क्षेत्र तक विस्तृत कर दिया। वेलिविक्कुडि-ताम्रपत्रों के अनुसार उसने अपने शासनकाल में उरैयूर, वंजि, मदुरा आदि नगरों के दुर्गों एवं भवनों का जीर्णोद्धार कराया तथा वहाँ विविध प्रकार के दान आदि लोकोपकारी मङ्गल कार्यों को सम्पन्न किया।

जटिल परान्तक नेडुंजडैयन अथवा वरगुण प्रथम (765—815 ई०)

मारवर्मन् राजसिंह के शासनकाल के पश्चात् 765 ई० में उसका पुत्र जटिल परान्तक नेडुंजडैयन (अथवा वरगुण प्रथम) राजगद्दी पर बैठा। वह पाण्ड्य राजवंश का महान् एवं सफलतम शासक सिद्ध हुआ। उसके कतिपय लेख शासन के तीसरे वर्ष से लेकर तैतालीसवें वर्ष तक की अवधि के प्राप्त हुये हैं। इन अभिलेखों से उसकी सामरिक उपलब्धियों तथा प्रशासकीय योग्यताओं का पता चलता है। वेलविक्कुडि-अभिलेख के अनुसार उसने पेण्णागडम् (तंजोर के निकट स्थित) के समरांगण में पल्लव शासक नन्दिवर्मन् द्वितीय तथा उसके सहयोगी नाट्टक्कुरुम्बु के शासक आयवेल की सम्मिलित सेनाओं पर विजय प्राप्त की थी। **नीलकण्ठ शास्त्री** प्रभृति विद्वानों ने नाट्टक्कुरुम्बु राज्य-क्षेत्र का समीकरण कुरुम्बनाडु राज्य से करना समीचीन बताया है।

मद्रास-संग्रहालय में सुक्षित उसके शासनकाल के कतिपय ताम्रपत्रों की सूचनानुसार उसने तगदूर (सलेम जनपद में स्थित धर्मपुरी) के राजा अडिगैमान को पुगलियूर, आयिरवेलिअमिरूद आदि युद्धों में पराजित किया तथा उसे बन्दी बनाकर अपनी राजधानी मदुरा के कारावास में डाल दिया। उक्त पराजित राज्य से विपुल सम्पत्ति, सैन्य-सामग्री, हाथी, घोड़े आदि छीनकर वरगुण प्रथम ने वहां के राजा की शक्ति को अत्यन्त क्षीण कर दिया। अन्ततः तगदूर के शासक ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। वरगुणा का उक्त सामरिक अभियान निरन्तर गतिशील रहा। उसने आगे बढ़कर बेड़ाद राज्य (दक्षिणी ट्रावन्कोर) पर अधिकार कर लिया। 774 ई० के लगभग कावेरी नदी के दक्षिणी-तट पर स्थित पेन्नागडम् के युद्ध में उसने तत्कालीन पल्लवनृपति नन्दिवर्मन द्वितीय की सेना को परास्त किया। **नीलकण्ठ शास्त्री** के अनुसार पल्लव नरेश नन्दिवर्मन् द्वितीय ने पाण्ड्यों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए उपर्युक्त राज्यों के शासकों के साथ मिलकर उनके विरुद्ध एक मोर्चा तैयार किया। इस संयुक्त मोर्चे में कोंगू, केरल तथा अडिगैमान आदि राज्य सम्मिलित थे। पाण्ड्य नरेश वरगुण प्रथम ने क्रमशः इन्हें पराजित करते हुए अन्ततः शक्तिशाली पल्लवसाम्राज्य की सीमा में प्रवेश किया।

अपनी सामरिक सफलताओं के साथ उसने पल्लव-शासित तोन्दईनाडु में पेन्नार नदी के तट पर अरशूर के मैदान में अपना स्कन्धावार स्थापित किया। यहाँ घटित हुये भयंकर युद्ध में उपर्युक्त मोर्चे में सम्मिलित सेनाओं का नेतृत्व पल्लवनरेश नन्दिवर्मन् द्वितीय ने किया। परन्तु इस शक्तिशाली संघ पर अन्ततः उक्त पण्ड्यनरेश को ही विजय प्राप्त हुई। पल्लव शासक नन्दिवर्मन् वरगुण प्रथम के उक्त अभियान में यद्यपि अनवरत बाधक बनता रहा परन्तु अपनी प्रत्येक योजना में विफल हो जाने के कारण अंततः वरगुण प्रथम द्वारा संचालित राज्य-विस्तार की योजना को रोकने में असफल रहा।

उपर्युक्त युद्धों में प्राप्त सफलताओं के फलस्वरूप वरगुण प्रथम का प्रभुत्व तिरुचिरापल्ली के आगे तंजोर, सलेम, कोयम्बटूर आदि क्षेत्रों तक स्थापित हो गया।

वरगुण प्रथम ने अपने शासनकाल में विविध प्रकार के दान, पुण्य यज्ञ आदि अनुष्ठानों का विधान किया। उसके उपर्युक्त कार्यों की विस्तृत सूचना उसके वेलविक्कुडि-अभिलेख से प्राप्त होती है। उसने करवंडपुरम् (वर्तमान तिरुनेलवेलि जनपद में स्थित कलक्काड) के एक दुर्ग का निर्माण कराया। काँजीवाप्पेरूर (सम्भवतः कोंगूराज्य में स्थित) नामक स्थान पर उसने एक विशाल विष्णु-मन्दिर का निर्माण कराकर स्वयं 'परमवैष्णव' की उपाधि धारण की। उसने कतिपय विशाल एवं भव्य शिव-मन्दिरों का भी निर्माण कराया। इन निर्माणात्मक कार्यों से उसकी धार्मिक सहिष्णुता का पता चलता है। वह महान् साम्राज्य-निर्माता तथा अपने समय में तमिल देश का सर्वाधिक प्रभावशाली एवं पराक्रमी शासक हो गया था। अपने शक्तिशाली शत्रुओं को पराजित करके उसने 'परान्तक' की उपाधि धारण की। विद्यानुरागी तथा विद्वानों का महान् संरक्षक होने के कारण उसे **'पंडितवत्सल'** के विरुद् से भी विभूषित किया गया था।

श्रीमारश्रीवल्लभ (815—862 ई०)

जटिल परान्तक नेडुंजडैयन की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र श्रीमारश्रीवल्लभ राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसके शासनकाल की अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ दलवयपुरम् तथा वृहद्शिन्नमनूर-ताम्रपत्रों से ज्ञात होती हैं। वह अपने पिता की तरह महापराक्रमी एवं महत्वाकांक्षी शासक हुआ। उसे दक्षिण भारतीय महान् प्रजापालक शासकों में परिगणित किया जाता है। उसे अपनी प्रजा का पूर्ण स्नेह प्राप्त था (**प्रेमपात्रं प्रजानां**)।

श्रीमारश्रीवल्लभ ने भी अपने पूर्वजों द्वारा संचालित साम्राज्य-विस्तारवादी नीति को अपनाया। सैन्य अभियानों के प्रारंभिक चरण में उसने विलिनन्, कुन्नूर तथा सिंगलम् पर विजय प्राप्त की। अपने सैन्य-अभियानों को आगे बढ़ाकर उसने श्रीलंका राज्य के तत्कालीन शासक सेन प्रथम के ऊपर आक्रमण किया। सिंहली बौद्ध महाकाव्य **महावंश** से ज्ञात होता है कि उसने श्रीलंका राज्य में भयंकर विनाश लीला की तथा उसके उत्तरी-क्षेत्रों को जीतकर अन्ततः युद्ध के दरम्यान उस राज्य की राजधानी पर अपना अधिकार कर लिया। सेन प्रथम ने पाण्ड्यों से महातलित के समरांगण में बुरी तरह पराजित होने के उपरान्त, अपनी प्राण-रक्षा के लिए मलय प्रदेश में भागकर शरण ले लिया। विजयी पाण्ड्यों की सेना श्रीलंका से विपुल सम्पत्ति अपहृत करके स्वदेश लौट आयी। **महावंश** के अनुसार अन्ततः दोनों राज्यों में एक युद्ध-सन्धि सम्पन्न हुई। फलतः पाण्ड्य नरेश ने सेन प्रथम को उसके अपहृत राज्य को उसे पुनः सौप दिया।

ज्ञातव्य है कि पल्लव नरेश दन्तिवर्मन् पाण्ड्यों की प्रवर्द्धमान सैन्य-शक्ति को रोकने में लगातार असफल होता रहा। परन्तु उसका उत्तराधिकारी पुत्र नन्दिवर्मन् तृतीय अपने पिता की अपेक्षा अधिक कूटनीतिज्ञ एवं शक्तिशाली सिद्ध हुआ। उसने अपने समसामयिक शक्तिशाली पांड्यनरेश श्रीमारश्रीवल्लभ की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने

के लिए गंगों, चोलों तथा राष्ट्रकूटों आदि को मिलाकर एक शक्तिशाली संयुक्त मोर्चा तैयार किया। उत्तरी अर्काट जनपद के वाण्डिवाश क्षेत्र में स्थित तेल्लारु नामक समरांगण में पाण्ड्यों एवं पल्लवों द्वारा संगठित मोर्चे के बीच भयंकर युद्ध हुआ। पांड्यनरेश श्रीमारश्रीवल्लभ इस शक्तिशाली मोर्चे के साथ हुए युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ तथा पल्लव नरेश नन्दिवर्मन् तृतीय को अपनी उक्त व्यूहरचना में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। नन्दिवर्मन् तृतीय ने इस विजय के उपलक्ष्य में 'तेल्लारेरिंद' की उपाधि धारण की। पल्लव सेना उपर्युक्त युद्ध में अशातीत सफलता प्राप्ति के उत्साह में पाण्ड्य राज्य में प्रविष्ट हो गई। पल्लवों ने पाण्ड्य राज्य के वेंगई नदी के तट तक के क्षेत्रों को जीतकर उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

उल्लेखनीय है कि श्रीमारश्रीवल्लभ उपर्युक्त पराजय से हतोत्साहित नहीं हुआ। फलस्वरूप उसने शीघ्र ही अपनी सैनिक-शक्ति को संगठित कर लिया। 859 ई० में कुम्भकोनम् के निकट हुए युद्ध में उसने पल्लव नरेश नन्दिवर्मन् तृतीय एवं उसके सहयोगी अन्य राज्यों की सम्मिलित सेना को निर्णायक रूप से पराजित करके अपनी उपर्युक्त पराजय का बदला चुका लिया। परन्तु पांड्यनरेश की यह विजय अधिक स्थायी न रह सकी। बाहूर दानपत्रों से ज्ञात होता है कि पल्लवसेना ने, जो पहले कुम्भकोनम् के युद्ध में पाण्डयों से पराजित हो चुकी थी, अपने सम्राट् नृपत्तुंग पल्लव के नेतृत्व में अरिसि नदी के तट पर पांड्यों को पराजित करके अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर ली। पल्लवों की पुनर्विजय स्थापित होने के बावजूद तंजोर (थंजाउर) में पांड्यनरेश श्रीमारश्रीवल्लभ का प्रभुत्व अब भी यथावत् बना रहा। इस तथ्य की पुष्टि यहाँ से प्राप्त कतिपय पांड्य-अभिलेखों से होती है।

महावंश के अनुसार श्रीलंका के राजा सेन प्रथम का भतीजा तथा उसका उत्तराधिकारी सेन द्वितीय (851-885 ई०) ने पांड्यों द्वारा अपने पूर्ववर्ती राजा के पराजय का बदला चुकाने के लिए तत्कालीन पल्लव नरेश से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। संयोगवश, पांड्य राज्य की राजगद्दी के लिए सक्रिय दावेदार एवं विद्रोही राजकुमार माया पांड्य द्वारा उसे समर्थन एवं शक्ति प्राप्त हो गई। विद्रोही राजकुमार मायापांड्य स्वयं को पांड्य-राजसिंहासन का वैध दावेदार मानता था। सेन द्वितीय ने पल्लव-सेना की सहायता प्राप्त करने के उपरान्त विद्रोही पांड्य राजकुमार माया को अपने साथ सम्मिलित करके श्रीमारश्रीवल्लभ के राज्य को क्रमशः आक्रान्त कर दिया। उपर्युक्त सम्मिलित सेना ने पाण्ड्य राजधानी मदुरा को घेर लिया। **नीलकण्ठ शास्त्री** का अनुमान है कि श्रीलंका नरेश के संयुक्त मोर्चे द्वारा आक्रमण पांड्य-राज्य पर उस समय हुआ होगा जब श्रीमारश्रीवल्लभ अरिसी के युद्ध में व्यस्त था। जो भी हो, **महावंश** के अनुसार श्रीमारश्रीवल्लभ लंका नरेश के उक्त आक्रमण से भयाक्रांत होकर अपने परिवार के साथ हाथी पर बैठकर मदुरा से बाहर भाग गया तथा बाद में उसने पत्नी सहित आत्महत्या भी कर ली। इस अभियान में श्रीलंका-नरेश ने मदुरा नगरी में भयंकर विनाशलीला की। अन्ततः वहाँ वरगुण द्वितीय को पांड्य-राजसिंहासन पर बैठाकर वह स्वदेश लौट आया। परन्तु महावंश के उपर्युक्त वर्णन के विपरीत पांड्यअभिलेखों में श्रीमारश्रीवल्लभ को श्रीलंका-राज्य का विजेता कहा गया है। यह संभाव्य माना जा सकता है कि श्रीमारश्रीवल्लभ ने प्रारम्भ में लंका के राजा द्वारा किये गये विद्रोह का

दमन किया हो, जिसके प्रतिशोध में लंका के उक्त शासक ने पल्लव नरेश से मिलकर पांण्ड्यों को पराजित किया था।

वरगुण द्वितीय (862—882 ई०)

श्रीमारश्रीवल्लभ की मृत्यु के उपरान्त उनका ज्येष्ठ पुत्र वरगुण द्वितीय 862 ई० में सिंहासन पर बैठा। सिंहली-बौद्ध-महाकाव्य महावंश के अनुसार वरगुण द्वितीय को पाण्ड्य राजगद्दी का स्वामी श्रीलंका के राजा सेन द्वितीय के प्रधान सेनानायक ने बनाया था। शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में उसे शक्तिशाली चोलों से संघर्ष करना पड़ा। संभवत: 850 ई० के अनन्तर किसी समय पल्लव-सामन्त विजयालय चोल ने पांड्य राज्य के अधीनस्थ शासक मुत्तरैयरि से तंजोर प्रदेश को छीन लिया तथा उसने वहाँ अपना शासन स्थापित करके एक दुर्गादेवी का मन्दिर निर्मित करवाया। वरगुण द्वितीय ने पल्लवों के बढ़ते हुये राजनीतिक प्रभाव को रोकने के लिए चोल राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसकी विजयिनी सेना तंजोर जनपद में कावेरी नदी के तट पर स्थित 'इडवै' नामक ग्राम तक पहुँच गई। परन्तु इसी समय पल्लव-राजसिंहासन के लिये भयानक गृहयुद्ध छिड़ जाने से वह पल्लवों की कूटनीतिक गुटबन्दी का शिकार हो गया।

पाण्ड्यनरेश वरगुण द्वितीय को कुछ समय बाद पल्लव-युवराज अपराजित का सामना करना पड़ा। अपराजित के नेतृत्व में चोल शासक आदित्य प्रथम तथा पश्चिमी गंग राजा पृथ्वीपति की सेनाएँ भी पाण्ड्यों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हुई। वरगुण द्वितीय ने चोलराज्य के 'अलवै' नामक दुर्ग को जीतने के उपरान्त पल्लवराज्य की सीमा में प्रवेश किया। यहाँ अपराजित के नेतृत्व में गंग एवं चोलनरेशों की सम्मिलित सेनाओं ने कुम्भकोनम् के निकट पुड्मवियम् के मैदान में वरगुण द्वितीय को बुरी तरह पराजित कर दिया। उदयेन्दिरम्-ताम्रपत्र के अनुसार इससे पाण्ड्यों की शक्ति को महान् क्षति पहुँची तथा पश्चिमी गंगनृपति पृथ्वीपति युद्ध-स्थल पर ही मारा गया (**यः श्री पुरम्बियमहाहवमूर्धाधीरः पाण्ड्येश्वरं वरगुणं सहसा विजित्या। कृत्वार्थ्वुक्तमपराजित शब्दमात्मप्रा सुहृदस्त्रिदिव जगाम्**)।

तत्कालीन दक्षिण भारतीय राजनीति पर इस युद्ध का गम्भीर प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप वरगुण द्वितीय कावेरी नदी के दक्षिणी भाग के आगे न बढ़ सका। कावेरी नदी के तट तक उसके राज्य की सीमा सिमट कर रह गई। पाण्ड्य राज्य का शेष भाग, जो कावेरी के उस पार पड़ता था, चोल शासक आदित्य प्रथम के अधीन हो गया। इस विजय ने चोल नरेश की साम्राज्य-विस्तारवादी महत्वाकांक्षा को और बलवती बना दिया। फलस्वरूप उसने तोंडमंडलम् पर आक्रमण करके अपने अधिराज अपराजित पल्लव को मार डाला तथा सम्पूर्ण पल्लव-राज्य को अपने चोलराज्य में सम्मिलित करके वह स्वयं राजाधिराज बन गया।

वरगुण द्वितीय महान् शिव-भक्त था। संभवत: वह पुत्रहीन था। पल्लव शासक अपराजित के संयुक्त गुट से पराजय के बाद पाण्ड्य राज्य में क्रमश: गृहयुद्ध तथा अशांति का वातावरण छाने लगा। अस्तु, उसके शासनकाल के अन्तिम वर्षों में संभवत: 880 ई० के लगभग अनुज परान्तक वीरनारायण पाण्ड्य ने उसे राजसिंहासन से अपदस्थ करके पाण्ड्य राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

परान्तक वीरनारायण (880—900 ई०)

वरगुण द्वितीय को राज्य-सत्ता से अपदस्थ करने के बाद परान्तक वीरनारायण ने 880 ई० में पाण्ड्य शासन को अपने अधीन कर लिया। दलवयपुरम् के कतिपय ताम्रपत्र उसी के शासनकाल में निर्गत हुये थे। कोंगू-प्रदेश तथा कावेरी के दक्षिणी भू-भाग सम्भवतः उसकी विजयों के परिणामस्वरूप क्रमशः पाण्ड्य-राज्य के अंग वन गये थे। वृहत्‌शिन्नमनूर-ताम्र-पत्रों के अनुसार उसने अपने सफल सैन्य-अभियानों के द्वारा खरगिरि और कोंगू प्रदेशों को जीत लिया। तत्कालीन आभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उसने उग्र नामक किसी राजा को भी पराजित करने का श्रेय प्राप्त किया था। परन्तु चोलनरेश आदित्य प्रथम ने कोंगू प्रदेश पर आक्रमण करके कुछ ही समय वाद उसको परान्तक वीरनारायण पाण्ड्य से अपहृत कर लिया। परान्तक ने अपने शासनकाल में अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया।

मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय (900—920 ई०)

परान्तक वीरनारायण के उपरान्त उसका पुत्र मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय 900 ई० में राजसिंहासन पर बैठा। वृहत्‌शिन्नमनूर के ताम्रपत्रों को इसी नरेश के शासन के 16वें वर्ष में उत्कीर्ण कराया गया था। उसने अपने असंगठित राज्य को पुनः संगठित करते हुये श्रीलंका के शासक कस्सप पंचम से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। तत्कालीन चोलनरेश परान्तक प्रथम ने लगातार पाण्ड्यराज्य को आक्रान्त कर रखा था। परान्तक प्रथम चोल ने 901 ई० में पाण्ड्यराज्य पर आक्रमण करके राजधानी मदुरा को जीत लिया। इस विजय के उपलक्ष में उसने 'मदुराई-कोंड' की उपाधि धारण की। चोलशासक परान्तक प्रथम से अपने राज्य को सुरक्षित करने के लिए राजसिंह द्वितीय ने श्रीलंकानरेश कस्सप पंचम से सैनिक सहायता की याचना की। पाण्ड्यनरेश की सहायता के लिए श्रीलंकानरेश ने अपनी सेना राजधानी मदुरा भेजी। पाण्ड्य एवं श्रीलंका की इस सम्मिलित सैन्य-शक्ति ने वेल्लूर पाल्यम के मैदान में चोलों से डटकर युद्ध किया। परन्तु चोल सेना के समक्ष पाण्ड्यों एवं सिंहलियों की सम्मिलित सेना अंततः पराजित हो गई। आत्मरक्षा के लिए मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय श्रीलंका देश भाग गया। फलतः सम्पूर्ण पाण्ड्य-राज्य पर चोलों का अधिकार हो गया। सिंहली-वौद्ध-महाकाव्य महावंश के अनुसार उस समय श्रीलंका में दप्पुल चतुर्थ का शासन चल रहा था। दप्पुल ने पहले राजसिंह को सैनिक सहायता देने की स्वीकृति दे दी परन्तु वाद में वह अपने वादे से मुकर गया। राजसिंह द्वितीय कुछ समय तक श्रीलंका में रहने के बाद अपने खोये हुये राज्य को प्राप्त करने के पुनर्प्रयास में ननिहाल केरल प्रदेश चला आया। यहाँ आकर उसने अपने नाना केरल नरेश की सहायता से अपने खोये हुये पाण्ड्य-राज्य को पुनर्गठित करने का प्रयास प्रारम्भ किया।

920 ई० के लगभग चोलनरेश परान्तक प्रथम ने पाण्ड्य-शक्ति को कुचलने के लिए पुनः मदुरा पर आक्रमण किया। परान्तक की सेना से इस बार भी मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय पराजित हो गया। विजेता परान्तक प्रथम ने मदुरा नगर में अपना वीराभिषेक कराने के लिए श्रीलंकानरेश उदय चतुर्थ से राजसिंह द्वितीय के उस राजमुकुट को सौंपने के लिए कहा, जिसे पाण्ड्यनरेश दप्पुल चतुर्थ के अतिथि-राजगृह में

छोड़कर वह केरल भाग आया था। एतदर्थ चोलों की एक शक्तिशाली सेना श्रीलंका पर आक्रमण करने के लिये भेजी गई। परन्तु श्रीलंका के शासक ने उस राजमुकुट को वापस करने से इन्कार करते हुये शक्तिशाली चोल-सेना को बुरी तरह पराजित कर दिया। इस प्रकार राजसिंह द्वितीय चोलों के साथ जीवनपर्यन्त संघर्ष करते हुए भी अन्त तक असफल एवं लड़खड़ाता ही रह गया। फलतः पाण्ड्य राज्य पर चोलों का आधिपत्य पूर्ववत् बना रहा।

मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय यद्यपि चोल-शक्ति से सदा पराजित होता रहा तथापि उसका व्यक्तित्व शौर्ययुक्त माना जा सकता है। शिन्नमनूर-अभिलेख में उसकी प्रारम्भिक विजयोंका उल्लेख करते हुए उसे वंजी तथा उलप्पिलिमंगलम् के युद्धों का विजेता कहा गया है। उसे कोडम्बलूर तथा तन्जोर के राजाओं पर विजयप्राप्ति का भी श्रेय दिया गया है। उसने 'श्रीलंकाराजशिखामणि', 'मन्दरगौरव' तथा विकटपाट' आदि विरुदों से अपने को अलंकृत किया था।

मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय की चोलों से अनवरत पराजय के परिणामस्वरूप प्रथम पाण्ड्य राजवंश की शक्ति पर्याप्त क्षीण हो गई। उसकी मृत्यु के अनन्तर पाण्ड्य राज्य पर चोलों का वर्चस्व स्थापित हो गया।

वीरपाण्ड्य—मारवर्मन् की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र वीरपाण्ड्य ने एक बार पुनः बची हुई पाण्ड्य-शक्ति को पुनर्गठित करके अपने राज्य को चोलों से मुक्त कराने का प्रयास किया। उसके कार्यकाल में गंडरादित्व चोल शक्तिशाली चोल-साम्राज्य का अधिपति था। वह अपने पिता परान्तक चोल की तुलना में दुर्बल एवं अयोग्य था। वीरपाण्ड्य ने उसके विरुद्ध विद्रोह करके पाण्ड्यराज्य की स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उसने विद्रोहात्मक युद्ध में उपर्युक्त चोलनरेश का सिर काटकर **'चेरन्तलैकोंड'**, कोविरपांडय, (चोलनरेश का सिर काटने वाला) की उपाधि धारण की।

चोल नरेश गंडरादित्य की मृत्यु के एक वर्ष के उपरान्त उसके अनुज अरिंजय के उत्तराधिकारी सुन्दरचोल परान्तक द्वितीय ने 957 ई० के लगभग वीरपाण्ड्य की बढ़ती हुई शक्ति को समाप्त करने के लिए पाण्ड्य-राज्य पर आक्रमण कर दिया। वीरपाण्ड्य की सहायता इस राजवंश के परम्परागत मित्रराज्य श्रीलङ्का के तत्कालीन नरेश महिंद चतुर्थ ने की। चोलों एवं पाण्ड्यों की सेनायें कम से कम दो बार पृथक्-पृथक् युद्धभूमियों में परस्पर लड़ीं, जिनमें दोनों ही बार विजयश्री चोलों को प्राप्त हुई। चेवूर के युद्ध में सुन्दरचोल ने वीरपाण्ड्य को इस तरह भयाक्रान्त कर दिया कि उसने भागकर सह्याद्रि की पर्वतीय उपत्यका में छिप कर आत्मरक्षा की थी। तिरुवालंगाडु-ताम्रपट्ट-लेख के अनुसार सुन्दरचोल के उत्तराधिकारी पुत्र आदित्य द्वितीय ने वीरतापूर्वक वीरपाण्ड्य को पराजित कर, अंततः उसका सिर काट लिया। इस विजय के उपलक्ष में उसने **'वीरपाण्ड्यतलैकोंड'** की उपाधि धारण की। इसके विपरीत लीडन-ताम्रपत्र-अभिलेख में लिखा गया है कि आदित्य द्वितीय ने वीरपाण्ड्य के साथ युद्ध-स्थल में उसी प्रकार युद्ध किया जिस प्रकार सिंह-शासक मदमस्त हाथी के साथ संघर्ष किया करता है। उक्त अभिलेख में इस युद्ध का परिणाम घोषित नहीं किया गया है। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि चोलशासक ने वीरपाण्ड्य को निर्णायक रूप से अवश्य पराजित कर दिया था।

पाण्ड्य राज्य की पतनोन्मुख अवस्था—वीरपाण्ड्य की 966 ई० में मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के साथ काण्डुगोन द्वारा स्थापित पाण्ड्य-राज्य दो-तीन शताब्दियों तक चोल-राज्य-शक्ति के अधीन बना रहा। इस कालान्तराल में शक्तिशाली चोलसाम्राज्य एवं उसकी विस्तारवादी महाशक्ति के सम्मुख पाण्ड्य-राज्य अपनी स्वतन्त्रता की कल्पना तक नहीं कर सका। इन स्थितियों में भी एक छोटे से अधीनस्थ राज्य के रूप में उसकी राजवंशीय इयत्ता बनी रही। पाण्ड्य राज्य की शक्ति का पुनर्संवर्धन 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य (1216-1229 ई०) के शासनकाल में पुनः गतिशील होने लगा। उसने अपनी सामरिक शक्ति के बल पर पाण्ड्य राज्य की खोई हुई गरिमा को पुनस्थापित करके द्वितीय पाण्ड्य राजवंश की नींव डाली।

पाण्ड्यराज्य का पुनरुत्थान—10 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में चोलसम्राट् परान्तक प्रथम द्वारा पराजित होने के उपरान्त पाण्ड्य-राज्यशक्ति लगभग क्षीण हो चुकी थी। वीरपाण्ड्य ने उसे संगठित करने का प्रयास अवश्य किया, परन्तु शक्तिशाली सुन्दरचोल तथा आदित्य द्वितीय ने उसकी शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अन्ततः आदित्य द्वितीय ने समराङ्गण में ही वीरपाण्ड्य का सिर काटकर पाण्ड्य-राज्य को पूर्णरूपेण अपने अधीन कर लिया तथा उसे विशाल चोल साम्राज्य का अंग बना लिया।

चोलों के अधीनस्थ पाण्ड्यों ने अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए टिट्टिभ प्रयत्न अवश्य किया परन्तु वे अन्त तक असफल ही होते रहे। राजेन्द्र चोल, कुलोतुङ्ग प्रथम और कुलोतुङ्ग तृतीय ने पाण्ड्यों को स्वतन्त्र राज्यशक्ति के रूप में किसी भी दशा में उभरने न दिया। यद्यपि वीरपाण्ड्य से लेकर सुन्दरपाण्ड्य के बीच इस राजवंश की तिथियाँ, वंशानुक्रम आदि का यथेष्ट इतिहास लगभग अज्ञात सा है, तथापि कुछ सूचनाएँ इनके ताम्रपट्ट-अभिलेखों से इधर मिलने लगी हैं। तिमुवालंगाडु-ताम्रपट्टों के अनुसार 994 ई० के लगभग राजराज प्रथम चोल ने मदुरा पर आक्रमण करके वहाँ के शासक अमरभजंग को वन्दी बना कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था। तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारी पुत्र राजेन्द्र चोल ने जिस समय (1018 ई०) पाण्ड्य-राज्य की राजधानी मदुरा पर आक्रमण किया, उस समय वहाँ का अज्ञातनामा शासक युद्ध-स्थल को छोड़कर भाग गया। उसने विजयोपरान्त अपने पुत्र जटावर्मन-सुन्दरचोल को पाण्ड्य राज्य का शासक नियुक्त किया। राजेन्द्र चोल के उत्तराधिकारी राजाधिराज (1044-54 ई०) के शासन में वीरकेरलन मानाभरण और सुन्दरपाण्ड्य आदि शक्तिशाली पाण्ड्य राजकुमारों ने चोलों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। चोलों ने बलपूर्वक इस विद्रोह का दमन कर दिया। चोलाधिप वीरराजेन्द्र (1062-63, 1067 ई०) ने अपनी दमन नीति के द्वारा पाण्ड्यशासक वीरकेसरी का वध करके पाण्ड्य राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

कुलोतुङ्ग प्रथम (1070-1120 ई०) के शासनकाल में जटावर्मन श्रीवल्लभ ने पर्याप्त संघर्ष के बाद कुछ वर्षों के लिए पाण्ड्यराज्य को चोलों से मुक्त अवश्य करा लिया, परन्तु अन्ततः जैसा कि एक चोल-अभिलेख में उल्लिखित है, उसने जटावर्मन का सिर काटकर समरांगण में फेंक दिया और पाण्ड्यराज्य को पुनः अपने अधीन कर लिया।

विक्रमचोल (1118-1135 ई०) के शासनकाल में भी संघर्ष का क्रम बना रहा। राजाधिराज द्वितीय (1163-1179 ई०) के शासनकाल में पाण्ड्यों के बीच उत्तराधिकार का गृह युद्ध-चल रहा था, जिसमें उसने कुलशेखर पाण्ड्य की ओर से उसके प्रतिद्वन्द्वी राजकुमार पराक्रम पाण्डय को पराजित किया था। इसी बीच श्रीलङ्कानरेश ने वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करके कुलशेखर को पदच्युत कर दिया तथा वीरपाण्ड्य को मदुरा के राजसिंहासन पर अभिषिक्त करवा दिया। परन्तु चोल एवं श्रीलंका के नरेशों के बीच छिड़े लम्बे संघर्ष के बाद राजाधिराज द्वितीय ने वीरपाण्ड्य को अन्ततः पदच्युत करके कुलशेखर को पुनः पाण्ड्यशासक नियुक्त कर दिया।

कुलोत्तुंग तृतीय (1178-1216 ई०) के शासनकाल में वीरपाण्ड्य एवं विक्रमपाण्ड्य के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। इस गृह-युद्ध में पुनः श्रीलंकानरेश ने हस्तक्षेप करके वीरपाण्ड्य को पाण्ड्य-सत्ता दिलाने में सहायता की। कुलोत्तुंग तृतीय ने स्वसमर्थित राजकुमार विक्रमपाण्ड्य की सहायता करने के लिये पाण्ड्य-राज्य पर 1182, 1189 तथा 1205 ई० में कुल तीन बार आक्रमण किया।

कुलोत्तुंग तृतीय ने 1182 ई० में वीरपाण्ड्य को बुरी तरह पराजित करके विक्रमपाण्ड्य को मदुरा का शासक नियुक्त किया। वीरपाण्ड्य ने सिंहलीसेना की सहायता से 1189 ई० तक कई बार चोलों के विरुद्ध विद्रोह किया, लेकिन उसे राजसिंहासन की प्राप्ति में अन्ततः असफलता ही हाथ लगी।

पाण्ड्यों की राजनीति में एक नया मोड़ विक्रम पाण्ड्य के उत्तराधिकारी जटावर्मन् कुलशेखर (1190-1216 ई०) के शासनकाल में तब आया, जब उसने कुलोत्तुंग तृतीय की अधीनता मानने से न केवल इन्कार कर दिया, अपितु उसके विरुद्ध उसने कुछ सामरिक सफलतायें भी प्राप्त कर लीं। एक चोल अभिलेख के अनुसार 1905 ई० के लगभग कुलोत्तुंग तृतीय ने जटावर्मन् कुलशेखर को पराजित करके पाण्ड्य राज्य एवं मदुरा नगरी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। कुलशेखर के उत्तराधिकारी मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य (1216 से 1239 ई०) ने चोलों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी तथा कुलोत्तुंग तृतीय को पराजित करके उससे उदयपुर तथा तंजोर आदि भू-भागों को अपहृत कर लिया। उसने त्रिचनापल्ली तथा पट्टकोट्टई क्षेत्र तक स्वतन्त्र पाण्ड्राज्य का विस्तार किया तथा कुछ समय के लिये चोलों को अपने अधीन भी कर लिया। किन्तु चोलों ने होयसलों की सहायता से अन्ततः पुनः अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली।

---

15 | चोल राजवंश

प्रारम्भिक इतिहास

दसवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में प्रायद्वीपीय सुदूर दक्षिण भारत में कई शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण राजशक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। इन राजवंशीय शक्तियों में प्राचीन चोड अथवा चोल तथा पाण्ड्य राजवन्श अपनी सामरिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं।

चोडमंडलम् अथवा चोल राज्य मोटे तौर पर पेन्नार एवं वेल्लारू नदियों के मध्य स्थित था। यह राज्य पूर्वी-समुद्र-तट से जुड़ा हुआ था। इसके प्रमुख राजनीतिक केन्द्रों में कावेरीपट्टनम् (कावेरी नदी के तट पर), उरगपुर (त्रिचनापल्ली के निकट वर्त्तमान उरैयूर), तंजुवुर (तंजोर अथवा थंजाउर), काञ्ची तथा गंगैकोंडचोलपुरम् आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसा लगता है कि चोलों ने अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य में समय-समय हुए परिवर्तनों के कारण अपनी सत्ता को तमिलनाडु प्रदेश के किसी न किसी क्षेत्र में सुरक्षित करने का सतत प्रयास किया था। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रारम्भिक उत्थान के दिनों में उरगपूर अथवा उरैयूर (वर्त्तमान त्रिचनापल्ली-जनपद में अवस्थित उरैयुर) को तथा अवान्तर युगों में शक्ति-विस्तार के साथ क्रमश: कावेरीपट्टनम्, तंजुवुर (थंजावुर अथवा तंजोर) काञ्ची तथा गंगैकोण्डचोलपुरम् नगरों को अपनी राजधानी बनाया। इन नगरों में काञ्ची एवं गंगैकोंडचोलपुरम् सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजधानी केन्द्र थे। गंगैकोंडचोलपुरम् आगे चलकर दीर्घकाल तक चोलों की प्रधान राजधानी बनी रही।

चोल राज्य दक्षिण भारत में एक कबायली शक्ति के रूप में प्राक्मौर्यकाल में भी विद्यमान था। महाभारत तथा मेगस्थनीज विरचित 'इन्डिका' में चोलों का उल्लेख मिलता है। अशोक के कतिपय अभिलेखों में चोलों को दक्षिण भारत में उसके साम्राज्य के अन्तर्राज्यों (सीमान्त राज्यों) में परिगणित किया गया है (चोडापाण्ड्यासतिय-पुता)। संस्कृतवैय्याकरण एवं आचार्य कात्यायन ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'वार्तिक' में चोलों का उल्लेख किया है। अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त सिंहली बौद्ध-महाकाव्य-महावंश में भी चोलों का उल्लेख प्राप्त है।

संगम युगीन साहित्य (लगभग 100 ई० से 300 ई० के मध्य) में तमिलभाषी चेर (केरल) पाण्ड्य (दक्षिण तमिलनाडु) राजवंशों के साथ चोलराजवंश का विशद् उल्लेख मिलता है परन्तु ईसा की तीसरी शती से नौवीं शती के अन्त तक चोल राजवन्श का

इतिहास लगभग असम्वद्ध एवं अज्ञात-सा है। ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त शताब्दियों में दक्षिण भारत मुख्य रूप से चालुक्यों, राष्ट्रकूटों एवं पल्लवों के पारस्परिक संघर्ष एवं शक्ति-संवर्द्धन का इतिहास बन गया था। चोलवंश के शासक इस काल में अधिकांशतया पल्लव नरेशों के अधीन सामन्त शासक के रूप में सर्व प्रथम उरगपुर अथवा उरैयूर तथा कावेरी नदी के तटवर्ती क्षेत्रों पर शासन कर रहे थे। पल्लवों के आधिपत्य में उनके सामन्तशासक के रूप में चोलों ने धीरे-धीरे उक्त क्षेत्र के आस-पास अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया। चोल शासक विजयालय (850 ई० से 871 ई०) ने दक्षिण में पाण्डयों के अधीनस्थ मुत्तरैयरों से तन्जोर-क्षेत्र को अपहृत कर लिया। तिरुवालंगाडु-ताम्रपत्र-अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विजयालय ने उरैयुर के स्थान पर तन्जोर नगर को अपनी राजधानी बना लिया। उसको तन्जोर (थंजाउर) नगर अपनी राजरानी के समान आकर्षक लगती रही। उसने वहाँ निशुम्भसूदिवी देवी (दुर्गा) का एक भव्य मन्दिर निर्मित करवाया—

'सदृञ्चित्रामलकाभिरामाम् व्याप्ताम्बरामात्मवधूमिवासौ।
तञ्जापुरीं सौधसुधाँरागां जग्राह रन्तु रविवंशदीपः॥
अथप्रतिष्ठाप्य निसुम्भसूदनीम् सुरासुरैरञ्चितपादपंकजाम्।
चतुस्समुद्राम्बरशोभिनीम् भुवम्बभारमालामिव तत्प्रसादतः॥

इस विजय के फलस्वरूप चोलों ने अपनी शक्ति एवं राज्य की सीमा को विस्तृत कर लिया। विजयालय के उत्तराधिकारी आदित्य प्रथम के प्रयासों के फलस्वरूप 9वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में चोलों ने धीरे-धीरे अपनी शक्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाकर दक्षिण भारतीय अन्य शक्तिशाली छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर अन्ततः अपनी स्वतन्त्र शासन-शक्ति स्थापित कर ली। इस प्रकार चोलों की प्राथमिक राजधानी उरगपुर से हटकर तन्जोर (थंजावुर अथवा तंजाउर में स्थापित हो गई।

प्रमुख शासक

आदित्य प्रथम (871-907 ई०)

871 ई० में विजयालय का पुत्र आदित्य प्रथम चोल राजगद्दी पर आसीन हुआ। प्रारम्भ में वह पल्लव नरेश अपराजित के अधीन सामन्त शासक था। उसने अपने पराक्रम के बल पर पांड्यनरेश वर्गुण के विरुद्ध तत्कालीन पल्लव शासक अपराजित के साथ मिलकर युद्ध में सफलता प्राप्त की थी। पल्लव नरेश अपराजित ने इस युद्ध में आदित्य प्रथम से मिली सैनिक सहायता के बल पर प्राप्त अपनी सफलता से प्रसन्न होकर तन्जोर के आसपास के विजित पाण्ड्य प्रदेशों को चोल राज्य के भू-भागों में सम्मिलित कर दिया। तिरुवालंगाडु-ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि आदित्य प्रथम ने कुछ समय बाद अपनी साम्राज्यविस्तारवादी महत्वाकांक्षा के वशीभूत होकर पल्लव शासक अपराजित के विरुद्ध विद्रोह करके उसे पराजित कर दिया तथा अन्ततः उसकी हत्या करके विशाल पल्लवराज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया—

"अपराजितमप्यसौ रणे जितवान् पल्लवमल्लसत्बलम्।
दयितामपि तस्यमेदिनीं स्ववशीकृत्य तथाप्यभूत कृती।

इसी प्रकार कन्याकुमारी-अभिलेख से पता चलता है कि उसने हाथी पर आरूढ़ पल्लव नरेश को वलात् गिरा कर मार डाला तथा इस उपलक्ष में 'कोदन्डराम' विरुद् को धारण किया—

"आदित्यवर्म्मभववदस्य पुत्रः कोदण्ड रामाभिधयाप्रसिद्धः ।
उत्पत्य मत्तद्विरदेषु संस्थञ्जधान यः पल्लवराजभौजौ ॥"

नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार अपराजित की हत्या के साथ हुये पल्लवसत्ता के पतन का यह निर्णायक युद्ध सम्भवत: 890 ई० में हुआ । आदित्य प्रथम के द्वारा पल्लव राज्य पर अधिकार स्थापित हो जाने के फलस्वरूप चोल राज्य की सीमा अव वढ़कर राष्ट्रकूट राज्य की सीमा तक पहुंच गई ।

महत्वाकांक्षी चोल नरेश आदित्य प्रथम की बढ़ती हुई राज्य शक्ति से भयभीत होकर गंगनरेश पृथ्वीपति द्वितीय ने स्वत: उसकी अधीनता स्वीकार कर ली । तदुपरान्त आदित्य प्रथम ने चोल-सेना के साथ पाण्ड्यशासित कोंगूप्रदेश पर आक्रमण किया । उसने अपने इस सामरिक अभियान में तत्कालीन पाण्ड्य शासक वीरनारायण को पराजित करके कोंगू-देश पर विजय प्राप्त कर ली । आदित्य प्रथम ने तत्कालीन राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की पुत्री इलंगोनपिच्चि से अपना दूसरा विवाह करके उसे अपनी प्रधान महामहिषी मनोनीत किया । उसका प्रथम विवाह पल्लव राजकन्या से हुआ था । इसी प्रकार चेरनरेश स्थानूर्वी के साथ उसका मैत्री सम्वन्ध तत्कालीन अनेक साक्ष्यों से ज्ञात होता है । संभवत: उसने अपने पुत्र परान्तक प्रथम से उसकी पुत्री का विवाह करके दोनों राज्यों में मैत्री-सम्वन्ध को सुदृढ़ किया था ।

907 ई० में आदित्य प्रथम की मृत्यु हो गई । वह व्यक्तिगत रूप से शैवोपासक था । उसने अपने परम आराध्य शिव की अनुरक्ति में कावेरी नदी के तट पर अनेक भव्य एवं विशाल शिव-मन्दिरों का निर्माण भी करवाया था ।

परान्तक प्रथम (907-955 ई०)

907 ई० में आदित्य प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र परान्तक प्रथम चोल-राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ । राजसिंहासन पर वैठते ही उसे तत्कालीन राष्ट्रकूट शासक कृष्ण द्वितीय का कोपभाजन बनना पड़ा । राष्ट्रकूटों के इस कोप का कारण कृष्ण द्वितीय के दौहित्र तथा परान्तक प्रथम के सौतेले भाई कन्नर देव को राज्याधिकार से वञ्चित रखा जाना माना जाता है । राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय अपने नाती कन्नर देव को चोलाधिपति बनाना चाहते थे । इस उद्देश्य से सम्भवत: 910-911 ई० में उसने अपने सामन्त शासक बाण एवं वेदुम्वों के साथ परान्तक प्रथम पर आक्रमण कर दिया । इस संघर्ष में परान्तक प्रथम की सहायता गंग नरेश पृथ्वीपति ने की । फलत: वल्लाल-क्षेत्र (उत्तरी अर्काट में तिरुवल्लभ स्थान) में दोनों के मध्य एक निर्णायक युद्ध लड़ा गया । इस युद्ध में अन्तत: कृष्ण द्वितीय अपने सामन्तों के साथ पराजित हुआ । कन्याकुमारी से प्राप्त एक लेख में, जो राजेन्द्र चोल के शासनकाल का प्रतीत होता है, राष्ट्रकूटनरेश पर विजय-प्राप्त करने के उपलक्ष में परान्तक प्रथम द्वारा 'वीरचोल' नामक विरुद् धारण करने का उल्लेख मिलता है—'यज्जिगायविजयोपमद्युतिः कृष्णराजमजितन्नराधिपैः । भूरि विक्रम विर्वद्धितद्युतिर्व्वोर चोल इति तेन कीर्त्यते" ॥

परान्तक प्रथम को अपने सामरिक जीवन में सर्वाधिक शक्ति एवं पराक्रम को शक्तिशाली पाण्ड्य-राज्य जीतने में लगाना पड़ा। अपने प्राथमिक युद्धाभियानों में उसने तत्कालीन पाण्ड्य-राज्य के शासक राजसिंह द्वितीय को पराजित करके उसने मदुरा-राज्य छीन लिया। इस महत्वपूर्ण विजय के उपलक्ष में उसने **'मदुरान्तक'** तथा **'मदुराइकोंड'** की उपाधि धारण की। सिंहलीबौद्ध-महाकाव्य **'महावंश'** के अनुसार पाण्ड्य एवं सिंहल राज्यों के मध्य गम्भीर मैत्री-सम्बन्ध बने हुये थे। फलतः चोल नरेश परान्तक प्रथम द्वारा मदुराई (मदुरा) के उपर्युक्त युद्ध में पराजित होने पर तत्कालीन पाण्ड्य-नृपति राजसिंह द्वितीय ने शक्तिशाली सिंहल के शासक कस्सप पंचम से सैनिक सहायता की याचना की। सिंहल-नरेश ने उसकी सहायता करने के लिये अपनी सिंहली-सेना पाण्ड्य राज्य में भेज दी। इस प्रकार वेल्लूर के मैदान में पाण्ड्यों एवं सिंहली सेनाओं की सम्मिलित सेना के साथ परान्तक प्रथम ने डटकर युद्ध किया तथा अन्ततः उन्हें पराजित कर दिया। इस महान् विजय के उपलक्ष में परान्तक प्रथम ने **'संग्रामराघव'** की उपाधि धारण की। इस प्रकार चोल शासक परान्तक प्रथम ने पाण्ड्यों को लगातार कई युद्धों में पराजित करके धीरे-धीरे पाण्ड्य-शासित कई क्षेत्रों को अपने शक्तिशाली चोल राज्य में सम्मिलित कर लिया।

उपर्युक्त विजयों के फलस्वरूप परान्तक प्रथम का राज्य उतर में पेण्णारक्षेत्र से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक विस्तृत हो गया। उसके शासनकाल के अन्तिम वर्षों में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय ने अपने समकालीन चोलों के प्रतिद्वन्द्वी एवं दुश्मन राज्यों को एक जुट करके एक संयुक्त सैनिक-मोर्चे के साथ चोल साम्राज्य की उत्तरी-सीमा को आक्रान्त कर दिया। इस संयुक्त अभियान में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। फलतः कृष्ण प्रथम ने शक्तिशाली चोलों को जीतकर तोंडमण्डलम्-क्षेत्र को उनसे अपहृत कर लिया तथा उसे राष्ट्रकूटराज्य में मिला लिया। उसने अपने दक्षिण भारतीय अभियान को और आगे बढ़ाकर पश्चिमी गंग राज्य के शासक बूतुग द्वितीय की सैनिक सहायता से तक्कोलम् के युद्ध में परान्तक प्रथम चोल को दोबारा पराजित किया। इस युद्ध में गंग शासक बूतुग ने चोल राजकुमार राजादित्य की हत्या भी कर दी थी। इस बात की पुष्टि लीडेन अनुदान-पत्र से भी होती है :

> **"राजादित्यस्य वीरो रविकुलतिलकः कृष्णराजं ससैन्यम्।**
> **संक्षोभ्याक्षोभ्यमाजौ निजनिशितशरैस्संपतत्भिस्समन्तात्॥**
> **नागेन्द्रस्कन्धवर्ती विदलित हृदयस्तत्रिशातेषु पातै।**
> **रारुह् योच्चैर्व्विमानन्त्रिभुवन-महितो वीर-लोकञ्जगाम॥"**

राष्ट्रकूटों के साथ हुये परान्तक प्रथम चोल के इन युद्धों के परिणामस्वरूप चोलों की प्रवर्द्धमान शक्ति एक बार पुनः बिखर सी गयी। राष्ट्रकूटों ने चोलों द्वारा अधिकृत तोंडमण्डलम् तथा मदुरा के आस-पास स्थित भू-भागों को अपने विशाल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

परान्तक प्रथम के कई पुत्र थे। गंगनरेश बूतुग तथा केरल एवं कोडुम्बालूर के शासकों के अभिलेखों में परान्तक की ग्यारह रानियों का उल्लेख मिलता है। उसके पुत्रों में राजादित्य, गंडरादित्य, अरिकुलकेशरि, उत्तमशील तथा केरिञ्जय अथवा अरिदिगै

के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

परान्तक शैव था । शिव की अभ्यर्चना के लिए उसने **दभ्रसभा** का निर्माण कराया था । उसने विशाल एवं भव्य चिदम्बरम्-मन्दिर के गर्भ-गृह में स्थापित शिव-नटराज **चिदम्बरम्** की परम दिव्य प्रतिमा के लिए कीमती आभूषणों की व्यवस्था की थी ।

परान्तक प्रथम के उत्तराधिकारी एवं अशांतिकाल

परान्तक प्रथम की मृत्यु के बाद 955 से 985 ई० तक अर्थात् लगभग तीस वर्ष का समय चोल राजवंश का सर्वाधिक अशान्ति का काल माना जा सकता है । उसकी मृत्यु के उपरान्त चोल राज्य में धर्मान्ध तथा कमजोर शासकों का जो क्रम मिलता है, उसमें क्रमशः गंगरादित्य (953 ई० से 965 ई० तक) अरिंदिगै 956 ई० से 957 ई० तक) तथा **सुन्दर चोल** (परान्तक द्वितीय) (956 ई० से 973 ई० तक) क्रमशः चोल-सिंहासन पर आसीन हुए । उपयुक्त नरेशों में सुन्दर चोल अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक साहसी तथा पराक्रमी सिद्ध हुआ । उसने तत्कालीन पाण्ड्यनृपति महाराज वीरपाण्ड्य के राज्य पर आक्रमण करके चेवूर के मैदान में न केवल उसे पराजित किया अपितु समरांगण में ही उसकी हत्या भी कर दी । इस घटना की सूचना **करकन्दै** तथा लीडन-दान-पत्रों से मिलती है :

"चेवूर नाम निपुरे निज चारूचाप
मुक्तातिशात शरराशि निरन्तराशः ।
शातासि भिन्न रिपु दन्ति गिरिन्द्र निर्थ्य,
वक्तापगा बहुविधां निरवर्त्तयत् सः ।।"

लीडन-ताम्र-पत्र से इस बात की भी सूचना मिलती है कि उक्त युद्ध में उसका युवराज एवं पुत्र आदित्य द्वितीय भी सम्मिलित हुआ था—

"स वीरपाण्ड्येन स हेलमाजौ,
चिक्रीढ बालो मनुवंश दीपः ।
मतंगजेनेव मदोत्कटेन,
मृगेंन्द्रशाबो बलगर्व्वितेन ।।"

बाद में उसने पाण्ड्यों के मित्र-राज्य सिंहल देश पर भी आक्रमण किया, जिसमें दुर्भाग्यवश, वह अन्ततः असफल रहा । सम्भवतः उसकी मृत्यु के कुछ माह पूर्व उसके युवराज पुत्र आदित्य द्वितीय को मार कर उत्तर चोल ने राजसिंहासन को स्वयं हथिया लिया ।

चोल-राज्य में अशांतिकाल का अवसान—985 ई० में परान्तक द्वितीय (सुन्दर चोल) का कनिष्ठ पुत्र अरिमोलिवर्मन् प्रथम उपनाम राजराज प्रथम चोल राजसिंहासन पर आसीन हुआ । अपनी अनेक सामरिक सफलताओं तथा साम्राज्यशासन हेतु नवीन सफल प्रशासन प्रणाली के कारण उसे चोल-राजवंश का सबसे महान् शासक माना जा सकता है ।

राजराज प्रथम (985-1014 ई०)

उत्तराधिकार में युवराज अरिमोलिवर्मन् प्रथम को 985 ई० में अशान्त एवं अव्यवस्थित छोटा-सा कमजोर चोलराज्य प्राप्त हुआ। चोलराजसिंहासन पर आसीन होने के पूर्व उसे उत्तर चोल के शासन-काल में ही 'युवराज' के रूप में सैन्य-संचालन तथा शासन-कार्य का अनुभव प्राप्त हो चुका था। **नील कण्ठ शास्त्री** का मत है कि वह शक्तिशाली होने के साथ-साथ कूटनीतिज्ञ भी था। यही कारण है कि उसने उत्तम चोल द्वारा युवराज आदित्य द्वितीय की असाभाविक हत्या का प्रतिशोध लेने के वजाय उससे अपने लिए भविष्य में राजसिंहासन की प्राप्ति को उत्तम चोल से सुनिश्चित करवा लिया था। यही कारण है कि उत्तर चोल के शासन काल के उपरान्त राजसत्ता उसके पुत्रों के हाथ में न जाकर सीधे राजराज प्रथम के अधिकार में आ गई। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त छोटे से कमजोर चोल राज्य को विशाल, वैभवसम्पन्न तथा परमशक्तिशाली वना दिया। अपने पूर्वज परान्तक प्रथम की लौह-रक्त-नीति का अनुसरण करते हुए उसने 'राजराज' की उपाधि धारण की। **नीलकण्ठ शास्त्री** के मतानुसार उसने तीस वर्ष तक शासन किया, जिसे चोल-साम्राज्य का सर्वाधिक रचनात्मक काल माना जा सकता है।

युद्ध एवं राज्य-विस्तार—दसवीं शती के अन्तिम चरण में दक्षिण भारत के राजनीतिक क्षितिज पर नये-नये ऐतिहासिक परिदृश्य उभरने लगे थे। उत्तरी भारतीय राजनीति में विवादित कान्यकुब्ज राज्य पर समय-समय पर अपना प्रभुत्व वनाए रखने की होड़ में तथा दक्षिणी भारत में विद्रोही चोलों के साथ लगातार चल रहे युद्धों के फलस्वरूप राष्ट्रकूटों की शक्ति इस अवधि तक पर्याप्त क्षीण हो चुकी थी। 173 ई० में कल्याणी के चालुक्य-नरेश तैलप ने अपनी शक्ति का विस्तार करके अन्तिम राष्ट्रकूट शासक कर्कद्वितीय की राजसत्ता को अन्तिम रूप से समाप्त करके कर्नाटक में अपनी (कल्याणी के चालुक्य) स्वतन्त्र राज्य-सत्ता स्थापित कर ली थी। इस प्रकार राष्ट्रकूट-राजसत्ता के अधोपतन से जुड़ी उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थितियाँ दक्षिण भारतीय चोलों की साम्राज्य-विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अनुकूल सिद्ध हुई। 985 ई० में चोल-सिंहासन पर विराजमान राजराज प्रथम ने अपनी प्रशासनिक योग्यता एवं सामरिक-क्षमता के बल पर दक्षिण भारत में अव स्थित अनेक छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर चोल राज्य को क्रमश: एक विशाल साम्राज्य के रूप में निर्मित एवं प्रतिष्ठित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया।

सामरिक उपलब्धियाँ—राजराज प्रथम ने चोल राज्य को हर दृष्टि से शक्तिशाली एवं वैभवसम्पन्न वनाने के लिए राजा वनने के ठीक बाद क्रमश आठ वर्षों तक अथक प्रयास किया। उसने ग्राम्याँचलों से लेकर राजधानी-केन्द्र तक अनेक प्रशासकीय सुधार एवं नवीन व्यवस्थाएँ प्रस्तुत की उसके द्वारा निर्गत आभिलेखिक अनुशीलन के उपरान्त **डा० वी० वेंकय्या** का कथन है कि उसने अपने शासन-कार्य को संभालने के बाद आठ वर्ष तक कोई महत्वपूर्ण सामरिक अभियान न करके केवल चोल राज्य की आन्तरिक स्थिति को मजवूत किया। राजराज प्रथम ने अपना सामरिक अभियान अपने शासन के नवें वर्ष अर्थात् 994 ई० में शुरू किया, जो क्रमश: 1002 ई० तक चलता रहा। उसके शासन काल के 29वें वर्ष में उत्कीर्णित तंजोर-अभिलेख की आरम्भिक पंक्तियों में उसके द्वारा

युद्धाभियानों का क्रमिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। उक्त अभिलेख से उसकी निम्नोक्त सामरिक उपलब्धियों का परिज्ञान होता है।

1—पाण्ड्य, केरल तथा लंका राज्यों पर विजय—सिंहल (लंका) के शासक महेन्द्र पंचम ने चोलनरेश राजराज प्रथम के विरुद्ध केरल एवं पाण्ड्य राज्यों के शासकों की सहायता की थी। **नीलकण्ठ शास्त्री** के अनुसार उक्त तीनों राज्यों के नरेशों ने महत्वाकांक्षी चोल नरेश राजराज प्रथम के विरुद्ध एक संयुक्त सैनिक-मोर्चे का गठन किया। राजराज चोल ने इस संयुक्त मोर्चे के व्यूह-भेदन-हेतु सर्व प्रथम केरल राज्य पर आक्रमण किया। कांडलूर (त्रिवेन्द्रम) के मैदान में उसने केरल के शासक भास्कर रविवर्मन् को पराजित किया। इस विजय के उपलक्ष में उसने **'कांडलूर शालैक्ककलमरुत्'** की उपाधि धारण की। केरल राज्य पर उपर्युक्त विजय की सूचना राजराज प्रथम के शासन के चतुर्थ वर्ष के बाद के अभिलेखों में वर्णित मिलती है। ज्ञातव्य है कि राजराज प्रथम के शासनकाल के अभी तक प्राप्त अधिकांश अभिलेख उसके शासनकाल के आठवें वर्ष या इसके बाद के ही हैं।

केरल राज्य पर विजय-प्राप्ति के पश्चात् राजराज चोल का युद्धाभियान पाण्ड्य राज्य को जीतने के लिए अग्रसर हुआ। इस ओर अपने प्रथम अभियान में उसने पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा को जीत कर वहाँ के शासक अमरभुजंग को युद्धभूमि में बन्दी बना लिया—

> **"अमरभुजंगग्रहणाद्राजभुजंगास्ततोतिभितधियः।**
> **निभृतकुटिलभोगाः क्वापि निलेतुं समभ्यलषन् ॥"**

अपने दूसरे अभियान में उसने कोल्लम् एवं कोंडुगोलूर के शासकों को पराजित करते हुए मलयनाडु (कुर्ग), कान्दलूर एवं विलिन्द जैसे दुर्ल्लंघ्य दुर्गों को जीत लिया—

> **"जलनिधिपरिधम् विलिन्दमुच्चैः स्फुरदुरुवप्रमभेद्यमन्यौधैः।**
> **रविकुलतिलकस्य दण्डनाथो विजयपरमाकुल मन्दिराञ्जिगाय।"**

चोलों की उक्त विजयों की सम्पुष्टि राजराज प्रथम चोल के 20वें वर्ष के एक अन्य अभिलेख से भी होती है। उक्त अभिलेख की प्राथमिक पंक्तियों में आख्यात है कि राजराज प्रथम ने राजधानी मदुरा को बलात् अधिगृहीत कर लिया तथा संपूर्ण पाण्ड्य राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त युद्धाभियानों में तत्कालीन श्रीलंका (सिंहल) के राजा महेन्द्र पंचम् ने केरल एवं पाण्ड्य शासकों को चोलों के विरुद्ध हुए युद्ध में भरपूर सैनिक सहायता प्रदान की थी। उक्त सैनिक सहायता के प्रतिशोध में राजराज प्रथम चोल ने अपने प्रबल जहाजी बेड़े की सहायता से दक्षिणी-समुद्र को पार करके श्रीलंका देश की राजधानी अनुराधपुर को बुरी तरह आक्रान्त कर दिया (**नौभिस्तीर्त्वा जलनिधिमसौ चस्य दण्डः प्रचण्डो, लंकानाथं निरदहदतस्तेन रामोभिभूतः**)। सिंहल-नरेश महेन्द्र पंचम इस युद्ध में चोलों से बुरी तरह पराजित हुआ तथा अपनी प्राण-रक्षा के लिए राजधानी अनुराधपुर से भागकर दूरस्थ दक्षिणी-पूर्वी सिंहल राज्य में

अज्ञात स्थान पर छिप गया। तिरुवालंगाडु-ताम्रपत्रों के अनुसार उपर्युक्त विजय के परिणामस्वरूप राजराज प्रथम चोल का संपूर्ण उत्तरी-सिंहल राज्य पर अधिकार हो गया। उसने उक्त विजित सिंहल राज्य का नाम **'मामुण्डीचोलमण्डलम्'** रखा तथा **'पोलोन्नरुवा'** नगर को इसकी राजधानी बनाया। इस विजय के उपलक्ष में उसने 'जनन्नाथ' की उपाधि धारण की तथा राजधानी पोलोन्नरुवा का नया नाम **'जननाथमंगलम्'** रख दिया। 993 ई० के तिरुमंगलम्-अभिलेख में ईलम् (सिंहल) राज्य को उसके विजित राज्यों में परिगणित किया गया है। संभवत: उपरोक्त राज्यों पर राजराज प्रथम की विजय 989 ई० से 993 ई० के बीच स्थापित हुई होगी। राजराज प्रथम चोल ने सिंहल देश में विशुद्ध द्राविड़-वास्तु-शैली में कतिपय भव्य एवं विशाल शिव-मन्दिरों का निर्माण करवाया।

पश्चिमी-गंग राज्य पर विजय—राजराज प्रथम चोल के शासन के छठें वर्ष का एक अभिलेख (990-991 ई०) कर्नाटक प्रदेश से प्राप्त हुआ है। उक्त अभिलेख में उसे 'चोलनानरायण' कहा गया है। इस अभिलेख में नोलम्बों एवं गंगों के विरुद्ध उसके विजयाभियानों का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि उसने नोलम्बवाड़ी तथा तडिगैपाडि के शक्तिशाली गंग-शासकों को जीतकर अन्तत: उन्हें अपने विशाल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था।

कल्याणी के पश्चिमी-चालुक्यों से युद्ध—पश्चिमी-चालुक्य राजवंश के प्रतापी नरेश तैलप द्वितीय ने 980 ई० के लगभग तत्कालीन चोल नरेश उत्तम चोल को पराजित किया था। तैलप द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त 997 ई० में उसका योग्य पुत्र सत्याश्रम कल्याणी की राजगद्दी पर आसीन हुआ। इधर उत्तम चोल के पश्चात् चोल नरेश राजराज प्रथम सिंहासन पर विराजमान हो चुका था, जो सत्याश्रय का समकालीन था। दोनों उदीयमान शक्तिशाली राजवंशों में पारस्परिक शक्ति की जोर-आजमाईश पूर्वी-चालुक्यों के वेंगी-राज्य पर प्रभुत्वस्थापना की होड़ में पहले से ही चल ही रही थी। इसी बीच चालुक्य के बल पर 993 ई० में वेंगी के वैध शासक दानार्णव की हत्या करके उसके साले तेलगू-जटाचोडभीम ने वेंगी के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। दानार्णव के दोनों पुत्रों ने अपनी आत्मरक्षा के लिए चोल-साम्राट् राजाराज प्रथम से राज्याश्रय देने की याचना की। राजराज प्रथम ने उनके साथ सद्‌व्यवहार किया तथा दोनों राजकुमारों को सब प्रकार से सुरक्षित रखने का पूर्ण आश्वासन दिया। कुछ समय बाद राजराज प्रथम ने उपर्युक्त राजकुमारों को वेंगी के राजसिंहासन को दिलाने के लिए जटाचोडभीम को अपनी राजाज्ञा प्रेषित किया। जटाचोडभीम ने चोल नरेश राजराज प्रथम के उक्त प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इसी अवसर की तलाश में तैयार बैठे राजराज प्रथम चोल ने वेंगी पर सीधा आक्रमण करके कुटिल जटाचोडभीम की निर्मम हत्या कर दी तथा वेंगी राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने वेंगी राज्य को दानार्णव के ज्येष्ठ पुत्र शक्तिवर्मन् को सौंपकर उस पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया। फलत: शक्तिवर्मन् प्रथम राजराज प्रथम चोल के पूर्ण प्रभाव में सुरक्षित रहकर वेंगी राज्य पर शासन करने लगा। वेंगी राज्य की सुरक्षा करने की आड़ में राजराज प्रथम ने उसके आस-पास के अन्य राज्यों को भी जीतने की योजना बनानी शुरू कर दी। इस प्रकार चोल नरेश राजराज प्रथम के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के

लिए कल्याणी के तत्कालीन महत्वाकांक्षी नरेश सत्याश्रय ने 1006 ई० में वेंगी राज्य पर आक्रमण कर दिया। परम शक्तिशाली चालुक्याधिपति सत्याश्रय के साथ हुए कई प्राथमिक युद्धों में शक्तिवर्मन् एवं राजराज प्रथम की सम्मिलित सेनाओं का प्रयास निरर्थक सिद्ध हुआ। इन युद्धों में आशा के विपरीत परिणाम निकले। फिलहाल, शक्तिशाली चालुक्य-सेना के बल पर किसी तरह सत्याश्रय ने अपने अभियानों में वेंगी के कुछ भागों पर विजय प्राप्त करने में सफलता भी प्राप्त कर ली। परन्तु राजराज प्रथम ने सत्याश्रय को अपने उक्त अभियान में मिल रही सफलताओं को देखते हुए बाद में अपनी सागर-सी उमड़ती हुई विशाल चोल-सेना को युद्ध-भूमि में उतार दिया। तिरबालंगाडु-ताम्रपत्र-अभिलेखों से ज्ञात होता है कि चोलों की उमड़ती हुई सेना को देखकर चालुक्याधिपति सत्याश्रय घबड़ा कर अन्ततः युद्ध-भूमि से पलायित हो गया—

> "सत्याश्रयो यत्बलसिन्धुरोधात्कष्टं परित्यज्य पलायितोऽपि।
> कष्टाश्रयश्चित्रमिदञ्च चित्रन्तैलप्रभावद्रवणं यदस्य ।।"

सत्याश्रय के पराभव के मूल में राजराज प्रथम की यथा समय सामरिक नीति में परिवर्तन किया जाना प्रमुख कारण माना जा सकता है। राजराज चोल ने अपनी रणनीति में परिवर्तन करके अपने युवराज एवं पराक्रमी पुत्र राजेन्द्र चोल के नेतृत्व में 9 लाख सैनिकों की एक विशाल सेना को कल्याणी के चालुक्य राज्य की दक्षिणी सीमा पर सीधा आक्रमण करने के लिए भेज दिया। 1007-1008 ई० के होट्टूर अभिलेख के अनुसार युवराज राजेन्द्र चोल की विशाल चोल सेना ने क्रमशः सान्तलिगे, बनवासी, कादम्बलिगे तथा कोगली, ऊकल्लु (धारवाड़-जनपद में स्थित ऊकल) आदि प्रदेशों को जीतकर दोनवूर (वर्तमान दोनूर, बीजापुर-जनपद) में अपना सैन्य-स्कन्धावार स्थापित कर लिया। उसने अपने इस युद्धकाल में क्रमशः विजय-प्राप्ति के अतिरिक्त कल्याणी के वैभव-सम्पन्न चालुक्य-राज्य में धन-जन को गम्भीर क्षति पहुँचाई। चोल-सरदारों ने इस युद्धाभियान में चालुक्यों के मानमर्दन हेतु अभियानपथ में आने वाली चालुक्य राज्य की महिलाओं तक को अपमानित किया।

राजराज प्रथम के तंजोर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि इन युद्धोंके दरम्यान अपहृत की गयी चालुक्य-राज्य की विपुल धन-सम्पत्ति को अन्ततः तंजोर (थंजाउर) नगर में निर्मित विशाल शिव-मन्दिर को प्रदान कर दिया गया। राजेन्द्र चोल ने चालुक्यों की राजधानी मान्यखेट पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। फलतः वेंगी राज्य में स्कन्धावार बनाकर युद्धरत चालुक्य-शासक सत्याश्रय को विवश होकर अपनी राजधानी की सुरक्षा हेतु तथा युद्ध में हारे हुए अपने प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने के लिए वेंगी-युद्धाभियान को समाप्त करना पड़ा। सत्याश्रय को बड़ी कठिनाई के साथ राजेन्द्र चोल की सेना को तुंगभद्रा के दक्षिणी किनारे तक पीछे हटाने में उसे सफलता प्राप्त हो सकी थी।

वेंगी राज्य को चालुक्याधिपति सत्याश्रय के आक्रमणों से पूर्णतया मुक्त कराने के बाद राजराज प्रथम ने कलिंग राज्य पर आक्रमण करके उसे अपने विशाल चोल-साम्राज्य में मिला लिया।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थित मलय, श्रीविजय एवं कटाह आदि द्वीप-राज्यों पर विजय—राजराज प्रथम ने श्रीलंका (सिंहल) द्वीप पर तो अपना आधिपत्य पहले ही स्थापित कर लिया था। कुछ समय बाद उसने अपने शक्तिशाली जहाजी वेड़ों की सहायता से बंगाल की खाड़ी को पार कर दक्षिणी-पूर्वी एशिया में विद्यमान श्रीविजय (पालेमवंग), कटाह (कोडा) तथा मलाया (मलय) आदि द्वीपीय राज्यों पर आक्रमण करके जीत लिया तथा उन्हें अपने विशाल चोल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। तिरुवालंगाडु-अभिलेख में राजेन्द्र प्रथम के द्वारा कटाह-द्वीप पर किये गये अभियानों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है (अवजित्य कराट्टमुन्नैतैर्न्निजदण्डैरभिलंछितार्णयः)। दक्षिणी-पूर्वी एशियाई उक्त द्वीपों पर राजराज प्रथम द्वारा स्थापित चोल-आधिपत्य के परिणामस्वरूप भारत का पूर्वी-एशिया के अन्यदेशों के साथ कालान्तर में व्यापार एवं वाणिज्य सम्पर्क और अधिक विकसित हो गया।

मूल्यांकन—राजराज प्रथम एक महान् विजेता एवं साम्राज्य-निर्माता था। उसके साम्राज्य में तुंगभद्र नदी के दक्षिण में स्थित सम्पूर्ण दक्षिण भारतीय भू-भाग, उत्तरी श्रीलंका, कलिंग तथा श्रीविजय-मलयद्वीप आदि राज्य सम्मिलित हो चुके थे। आन्ध्र प्रदेश का वेंगी-राज्य भी उसके साम्राज्य का अंग बन चुका था तथा उसकी अधीनता में ही शासित था। उसने पास शक्तिशाली नौ-सेना थी। फलतः द्वीपान्तरों में अपना प्रभुत्व एवं आधिपत्य स्थापित करके भारतीय संस्कृति, वाणिज्य एवं व्यापारिक सम्पर्क को उक्त देशों में प्रसारित एवं संवर्द्धित करने में उसने महत्वपूर्ण योगदान किया।

राजराज प्रथम दक्षिण भारतीय नरेशों में महापराक्रमी तथा श्रेष्ठतम् सम्राट् माना जा सकता है। उसने चोल राज्य की अत्यन्त शक्तिहीन स्थिति को न केवल संबल दिया, अपितु उसने अपने पराक्रम के बल पर उसको विस्तृत एवं विकसित करके उसे एक महान् साम्राज्य के रूप में निर्मित एवं प्रतिष्ठित भी किया। अपनी साम्राज्य-विस्तारवादी महत्वाकांक्षा की सम्पूर्ति के लिये उसने सफल सामरिक-अभियानों का सहारा लिया तथा दक्षिण भारत एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया के बहुसंख्यक राज्यों (द्वीपों) को जीतकर उन्हें अपने विशाल चोल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इन राज्यों में गंग, चेर, पाण्ड्य, सिंहल, मलय, चालुक्य, कलिंग, श्रीविजय आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

साम्राज्य-निर्माता के साथ-साथ राजराज प्रथम एक कुशल एवं योग्य प्रशासक भी था। उसकी संगठित एवं शक्तिशाली सेना, सुसज्जित सशस्त्र जहाजी वेड़े तथा मलय, श्रीविजय एवं अरब सागर के तटीय देशों के साथ विकसित व्यापारिक सम्बन्धों के फलस्वरूप चोल राज्य अत्यन्त सुदृढ़ समृद्ध एवं शक्तिशाली हो गया। अपने विशाल साम्राज्य की भूमि को पैमाईश तथा सर्वेक्षण कराकर उसने दक्षिण भारत में स्वस्थ स्वायत्तशासी लोकप्रशासन को प्रोत्साहित किया। उसके द्वारा प्रचलित स्थानीय ग्राम अथवा लोक-प्रशासन-प्रणाली उसकी प्रशासकीय क्षमताओं और निर्माणकारी व्यक्तित्व का परिचय प्रस्तुत करती हैं।

राजराज प्रथम ने अन्तर्देशीय एवं समुद्रतटीय बाह्य देशों में विकसित व्यापार से

उपलब्ध विपुल धन का सदुपयोग चोल साम्राज्य के सांस्कृतिक समुन्नयन एवं प्रजाजनों के कल्याण के लिये किये गये निर्माणात्मक कार्यों में दिल खोल कर किया।

राजराज प्रथम अपने व्यक्तिगत जीवन में शैव-धर्मावलम्वी था। उसने **'शिवपादशेखर'** की उपाधि अपने आराध्यदेव शिव की भक्ति में ही धारण की थी। उसके द्वारा निर्मित तंजोर का विशाल **'राजराजेश्वर मन्दिर'** अथवा (**बृहदीश्वर शिव-मन्दिर**) अपनी द्राविड़-वास्तु एवं स्थापत्य-शिल्प आदि कलात्मकता तथा वैभव सम्पन्नता के लिए विश्वविख्यात है। इसे द्राविड़ियन-चोल-मन्दिर-वास्तु कला शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। अपने व्यक्तिगत जीवन में शैवधर्मानुयायी होते हुये भी वह अन्य धर्मों के प्रति पूर्ण सहिष्णु था। चोल-अभिलेखों में उसके द्वारा कतिपय विष्णु-मन्दिरों के निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। उसके द्वारा प्रचलित सिक्कों पर कृष्ण-मुरलीधर तथा विष्णु-पद-चिन्ह् आदि का अंकन विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार उसने शैलेन्द्र नरेश **श्रीमारविजयोतुङ्गवर्मन्** द्वारा निर्मित **चूड़ामणि** नामक बौद्ध-विहार के निर्माण हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान किया था। अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का परिचय देते हुये उसने तंजोर के **'राजराजेश्वर-मन्दिर'** की भित्तियों पर अनेक वौद्ध-प्रतिमाओं का निर्माण कराया था।

राजराज प्रथम एक महत्वाकांक्षी एवं अतिशक्तिशाली नरेश था। वह महान् विजेता, सफल प्रशासक, विद्यानुरागी, कलाविद्, निर्माता एवं प्रतिभासम्पन्न शासक के रूप में भारतीय इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। उसने रविकुलमाणिक्य, मुम्मडिचोलदेव, तेलंग-कुल-काल, चोड़मार्त्तण्ड, केरलानाथ, जयगोंड आदि अनेक उपाधियाँ धारण की थीं। विषम परिस्थितियों में अव्यवस्थित चोल राज्य को उत्तराधिकार में प्राप्त कर उसने उसे महान् साम्राज्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसका शासन-काल १०१४ ई० तक बना रहा। राजराज प्रथम ने अपने साम्राज्य-विस्तारवादी-नीति तथा सफल प्रशासनिक कार्यों के द्वारा चोल साम्राज्य को विस्तृत, वैभवसम्पन्न एवं सुदृढ़ बना दिया था।

राजेन्द्र प्रथम (1012-1044 ई०)

राजराज प्रथम ने अपने पुत्र राजेन्द्र प्रथम को 1012 ई० में युवराज-पद पर अभिषिक्त करके उसे भावी सम्राट् के रूप में प्रशिक्षित कर दिया था। 1014 ई० में राजेन्द्र प्रथम को चोल राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। अपने पिता की भाँति वीर, कूटनीतिज्ञ एवं साम्राज्य-विस्तारवादी-महत्वाकांक्षा से युक्त राजेन्द्र प्रथम ने युवराज के रूप में ही सैन्य-संगठन सांसारिक दक्षता एवं राज्य-संचालन का पूर्ण अनुभव प्राप्त कर लिया था। राजेन्द्र प्रथम चोल ने उत्तराधिकार में प्राप्त चोल-साम्राज्य की सीमा का विस्तार करके उसे तत्कालीन भारतीय राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली एवं वैभवसम्पन्न बना दिया। उसने भारतीय चोल-साम्राज्य की राजनीतिक प्रभुता को दक्षिणी-पूर्वी-एशिया के द्वीप समूहों में पूर्ण रूपेण स्थापित करके द्वीपान्तरों में भी भारतीय शौर्य, कूटनीति एवं संस्कृति की अमिट छाप अंकित की थी।

युद्ध एवं साम्राज्य-विस्तार

केरल एवं पाण्ड्य राज्यों की विजय—युवराज के रूप में राजेन्द्र प्रथम चोल ने शक्तिशाली चालुक्य नरेश सत्याश्रय के राज्य पर आक्रमण करके उससे वलपूर्वक रायचूर, बनवासी, हैदराबाद, मान्यखेट और रट्टपाडि आदि क्षेत्रों को छीनकर पश्चिमी चालुक्यों को अपने पराक्रम का परिचय दिया। राजसिंहासन पर आसीन होने के उपरान्त सर्वप्रथम उसने केरलों के शक्तिशाली विद्रोहों को दबाकर उन्हें शक्तिहीन कर दिया। तिरुवालगाडु-ताम्रपत्रों में वर्णित है कि निर्भीक एवं पराक्रमी मधुरान्तक राजेन्द्र प्रथम सह्य पर्वत की दुर्गम श्रेणियों को लाँघते हुये अपनी विशाल चोल सेना के साथ केरल राज्य में प्रविष्ट हुआ। वहाँ केरलों तथा उनके सहायक नृपतिगणों के साथ उसका भीषण संग्राम हुआ। केरलों को उसने बुरी तरह पराजित करके उन्हें अपने अधीन कर लिया तथा अपनी राजधानी वापस लौट आया—

> "अतिलंध्यति सह्यमपनीतभयो मधुरान्तकस्सपदि केरलेश्वरम्।
> सबलं रुरोध तदनु क्षितिपक्षयकारि युद्धमभवत् भयंकरम्॥
> जित्वा केरलभूपति भृगुतेश्छित्वा तपोरक्षिताम्।
> पृथ्वीं पार्त्थिवनन्दनो निजपुरं प्रायात् स धाम श्रियः॥"

राजेन्द्र प्रथम ने केरल देश पर अपनी उक्त विजय अपने शासनकाल के छठें वर्ष अर्थात् 1018 ई० में की। सम्भवतः इसी वर्ष में उसने शक्तिशाली पाण्ड्य राज्य पर भी आक्रमण किया था, जिसका उल्लेख तिरुवालंगाडु-ताम्रपत्र में किया गया है। उपर्युक्त दोनों राज्यों के शासन-कार्य को देखने के लिए 1018-1019 ई० में उसने अपने पुत्र को मदुरा नगरी का राज्यपाल नियुक्त किया।

सिंहल राज्य पर विजय—राजेन्द्र प्रथम के शासनकाल के कतिपय अभिलेखों में सिंहल (लंका) राज्य की विजय का उल्लेख मिलता है। तिरुवालंगाडु ताम्रपत्रों में राजराज प्रथम द्वारा सिंहल द्वीप पर किए गए आक्रमण का उल्लेख करते हुये अभिलेखकार ने उसको श्रीरामचन्द्र के सदृश साहसी एवं महापराक्रमी आख्यात किया है—

> "बद्ध्वा जेतुञ्जलनिधिजले राघवेन्द्रः कपीन्द्रैः,
> लंकानाथं कथमपि शरैस्तीक्ष्णभृगैर्ज्जघान।
> नौभिस्तीर्त्वा जलनिधिमसौ यस्य दण्डः प्रचण्डो,
> लंकानाथं निरदहद्वतस्तेन रामोभिभूतः॥"

महावंश के विवरण के अनुसार राजेन्द्र प्रथम का सिंहल-देश पर आक्रमण मन्दिर (महेन्द्र) पंचम् के शासनकाल के 36वें वर्ष में हुआ था। चोल अभिलेखों में अनेकत्र राजेन्द्र प्रथम चोल द्वारा किए गये सिंहल-आक्रमण का उल्लेख मिलने के साथ-साथ सम्पूर्ण ईलम्मन्डल (सिंहल राज्य) पर उसके स्वामित्व एवं शासन का विवरण भी प्राप्त होता है। सिंहल राज्य को चोल-साम्राज्य में मिलाकर राजेन्द्र प्रथम ने वहां के शासक महिन्द (महेन्द्र) पन्चम् को लगातार 12 वर्ष तक अपने वन्दीगृह में कैद कर रखा था। सम्भवतः इसी बन्दीगृह में 1029 ई० के लगभग उपर्युक्त सिंहल नरेश की मृत्यु हो गई थी।

उत्तरी-पूर्वी भारतीय राज्यों पर विजय—कतिपय महान् चोल नरेशों के प्रशस्ति-पत्रों से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र चोल ने अपने पुत्र विक्रम चोल के नेतृत्व में उत्तरी-पूर्वी भारतीय राज्यों की विजय के लिए अपनी हस्ति-प्रधान विशाल षडंग-चोल सेना को भेजा था। पूर्वी-भारत की बहुसंख्यक पर्वतीय गहरी नदियों को पार करने में हस्ति (हाथी) सेना से बड़ी सुविधा प्राप्त हुई। हाथियों के ऊपर सवार होकर चोल-सैनिकों ने दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पूर्व की सघन पहाड़ियों एवं मार्ग में पड़ने वाली गहरी नदियों को पार कर लिया। विक्रम चोल ने इस अभियान-पथ में पड़ने वाले कलिंग, (उड़ीसा) बस्तर (पूर्वी मध्य प्रदेश कर एक सम्भाग) इन्द्ररथ तथा दक्षिणी कोसल आदि राज्यों पर सरलतापूर्वक विजय प्राप्त कर ली। उसका यह सामरिक-अभियान क्रमशः उत्तरी-पूर्वी भारतीय राज्यों की ओर आगे बढ़कर दण्डभुक्ति के शासक धर्मपाल, दक्षिणीराठ के राजा रणसूर, पूर्वी-बंगाल के तत्कालीन नरेश गोविन्दचन्द्र तथा इस क्षेत्र से होकर बहने वाली गंगा नदी के दूसरे छोर पर विद्यमान पाल राज्य के शासक महीपाल के विरुद्ध हुआ तथा उक्त युद्धों में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इन युद्धों में राजेन्द्र प्रथम को आद्योपान्त सफलता के साथ-साथ विपुल सम्पत्ति भी प्राप्त हुई। उक्त राज्यों को जीतकर विक्रम चोल ने अपनी विजयिनी चोल-सेना सहित गंगानदी के पवित्र जल में स्नान किया। तिरुवालंगाडु-ताम्रपत्र-अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र प्रथम ने गंगा के पावन जल को अपनी सेना द्वारा मंगवाया अपनी राजधानी में संग्रहीत करवाया तथा अपने विशाल चोल साम्राज्य को पवित्र कर दिया (**गंगाजलैपरियितुं स्वकीयां येष पृथ्वीं रविवंशदीपः**)। इसी पवित्र भावना की संपूर्ति के लिए राजेन्द्र प्रथम ने चोल युवराज विक्रम चोल के नेतृत्व में चोल सेना को भेजकर गंगानदी के तटवर्ती तत्कालीन उत्तरी-पूर्वी भारत में विद्यमान राज्यों पर विजय प्राप्त करने का उसे उत्तरदायित्व सौंपा था। चोल-अभिलेखों द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त सूचनाओं को नितान्त प्रमाणिक मानते हुए **नीलकण्ठ शास्त्री** का मत है कि युवराज विक्रम चोल द्वारा पराजित बंगाल का तत्कालीन शासक धर्मपाल संभवतः वहाँ का कोई स्थानीय शासक था। उसे महान् पालवंशीय शासक नहीं माना जा सकता है। ऐसा लगता है कि युवराज विक्रम चोल द्वारा पराजित उक्त पालवंशीय शासक महीपाल महान् पालवंशीय नृपतिगणों का कोई निकटस्थ सम्बन्धी रहा होगा।

राजेन्द्र चोल प्रथम के उपयुक्त उत्तरी-पूर्वी भारतीय राज्यों पर किए गए चोल विजय-अभियानों के उद्देश्य को लेकर विद्वानों में मतभेद है। **वी० वेंकैय्या** का मत है कि चोलों का उक्त अभियान संभवत; साम्राज्य-विस्तारवादी महत्वाकांक्षा से प्रेरित न होकर धार्मिक भावना अथवा तीर्थ-यात्रा जैसा अभियान प्रतीत होता है। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी धार्मिक अथवा तीर्थ-यात्रा की भावना की सन्तुष्टि-हेतु युवराज विक्रम चोल के नेतृत्व में चोलों का एक दल उत्तरी-पूर्वी भारत में प्रवाहित गंगा नदी के पवित्र जल में स्नान करने तथा वहाँ से गंगा-जल लाने के लिए भेजा था।

इस प्रकार **आर० डी० बनर्जी** की धारणा है कि संभवतः किसी कर्नाट प्रमुख ने किसी समय बंगाल में जाकर वहाँ अपना एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया था। इसी कर्नाट-प्रमुख के वंशज आगे चलकर बंगाल प्रदेश में सेन राजवंश के नाम से विश्रुत हुए। त्रिलोचन शिवाचार्यकृत-सिद्धान्त-सारावली' नामक ग्रन्थ की एक टीका में इस

बात का उल्लेख मिलता है कि राजेन्द्र प्रथम ने अपने उक्त उत्तरी-पूर्वी भारतीय अभियान में वहाँ से गंगाजल के साथ-साथ कतिपय लब्धप्रतिष्ठ शैव-ब्राह्मणों को भी शैवधर्म को प्रतिष्ठित करने के लिए अपने साथ लाकर कांची नगर में बसाया था।

इतिहासविदों के उपर्युक्त मतों को कई दृष्टियों से विशेष यौक्तिक नहीं माना जा सकता है क्योंकि राजेन्द्र चोल ने युवराज विक्रम चोल के नेतृत्व में एक विशाल सेना उत्तरी-पूर्वी भारतीय राज्यों की विजय हेतु ही भेजा था, न कि किसी तीर्थ-यात्रा आदि के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये। उसने उत्तरी-पूर्वी भारतीय पराजित राजाओं को गंगा जल से पूरित कलशों को अपनी नई राजधानी गंगैकोंण्ड चोलपुरम में ले आने का आदेश दिया था। राजेन्द्र प्रथम ने संभवत: भारतीय सांस्कृतिक एकता को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए तथा आर्यावर्त्त में सर्वाधिक समादृत गंगा एवं उससे जुड़ी आर्य-संस्कृति को दक्षिण भारत में स्थायी महत्ता प्रदान करने के लिए पूर्वोत्तर-भारतीय विजित राजाओं द्वारा आनीत गंगाजल को बड़े समादर के साथ अपनी राजधानी गंगैकोंण्डचोलपुरम् के 'चोलगंग' नामक नवनिर्मित तडाग में एकत्र करवाया था (**चोलगंगमिति ख्याताप्रथितन्निजमन्डले**)। इस उपलक्ष में उसने '**गंगैकोंडचोल**' की उपाधि भी धारण की थी। उसने इसी गंगाजल से अभिषिक्त एक '**जयस्तम्भ**' भी निर्मित करवाया था (**गंगाजलमयन्देवो जयस्तम्भ बयधन्त सः**)। राजेन्द्र प्रथम ने उक्त गंगाजलपूरित तडाग के चतुर्दिक् अपनी नवीन राजधानी-गंगैकोण्डचोलपुरम्' का कलात्मक विन्यास करवाया, जो तमिलनाडु प्रदेश के वर्तमान तिरुचिरापल्ली-जनपद में आज भी अवस्थित है।

उपर्युक्त विवरण से राष्ट्रीय एकता की स्थापना में उसकी महत्ता का पता चलता है। उत्तरी-पूर्वी भारत की विजय-स्थापना के मूल में अन्तर्निहित उक्त उद्देश्य, राजेन्द्र चोल की एवं दक्षिण भारतीय समाज की पवित्र गंगा नदी एवं उसके जल के प्रति गहरी सांस्कृतिक निष्ठा का परिचायक है। सम्भवत: राजेन्द्र चोल ने गंगा-जल के संग्रह के बहाने उत्तरी-भारतीय एवं दक्षिणी-भारतीय राज्यों के बीच राजनीतिक एवं सांस्कृतिक एकता को स्थापित करने का प्रयास किया था। इस सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उसने उत्तर भारत में चिरकाल से पूज्य, मोक्षदायिनी एवं सुरनदी के रूप में सभी के द्वारा समादृत गंगा नदी के जल को मंगवाकर अपने विशाल दक्षिण भारतीय साम्राज्य की राजधानी 'गंगैकोंड चोलपुरम्' में प्रतिष्ठित किया। गंगा-जल के प्रति प्रदर्शित चोलनरेश राजेन्द्र प्रथम की भक्ति एवं एतज्जन्य महत्ता का दूरगामी प्रभाव भारत के दक्षिणी भू-भागों पर आज भी परिलक्षित होता है। दक्षिण भारत में गंगा नदी एवं उसके तट पर स्थित तीर्थों के प्रति आज भी लोगों की बड़ी गहरी निष्ठा है। इसी प्रकार उत्तरी भारतीय लोगों में दक्षिण भारतीय कृष्णा, कावेरी, गोदावरी आदि नदियों एवं वहाँ के मन्दिरों एवं तीर्थों के प्रति गम्भीर सांस्कृतिक समादर अद्यावधि बना हुआ है।

दक्षिणी-पूर्वी एशियाई श्रीविजय-राज्य पर विजय—दक्षिणी पूर्वी एशियाई द्वीप-समूहों की भौगोलिक स्थिति प्राचीन काल से ही बड़ी महत्वपूर्ण रही है। भारत, चीन एवं जापान आदि देशों के मध्य स्थित ये द्वीप-समूह महत्वपूर्ण व्यापारिक एवं सांस्कृतिक कड़ी के रूप में हिन्द महासागर में बिखरे हुए हैं। चोल साम्राज्य की आर्थिक

स्थिति बहुत कुछ इन द्वीपों पर उसकी प्रभुता स्थापित होने के कारण विकसित हुई थी। इतिहासकार **कोदीस** (Coedes) के अनुसार मलाया, जावा, सुमात्रा तथा आस-पास के अन्यान्य द्वीप-समूह सुप्रसिद्ध श्रीविजय राज्य के अन्तर्गत समाहित थे। तिरुवालंगाडु-ताम्र-पत्रों में अभिलिखित उल्लेख के अनुसार राजेन्द्रचोल ने अपने विशाल जहाजी बेड़ों की सहायता से समुद्र को पार करके कटाह राज्य को जीत लिया (**अविजित्यकटाहमुन्नतैर्निजवंडैरभिलंधितार्णयः**) और वहाँ के शासक **विजेयोत्तुंगवर्मन्** को बन्दी बना लिया तथा उसकी राजधानी '**श्रीविजय**' पर अधिकार कर लिया। उक्त साहसिक सैन्य-अभियानों में सागर की उत्तालतरंगों को रौंदते हुए चोलों ने हिन्द-महासागर में अवस्थित बंगाल की खाड़ी को एक झील बना डाला था। कुछ समय बाद श्रीविजय-राज्य में राजा ने बन्दीगृह में चोल नरेश की अधीनता स्वीकार करते हुए उससे मुक्ति की याचना की। राजेन्द्रचोल ने श्रीविजय-नरेश को अपना सामन्त शासक बनाकर उसे मुक्त कर दिया। उक्त घटना की सम्पुष्टि राजेन्द्रचोल के शासनकाल के आठवें वर्ष के **करैंडे-ताम्रपत्र-अभिलेख** से होती है।

राजेन्द्र चोल द्वारा श्रीविजय राज्य पर स्थापित उक्त विजय के कारणों अथवा उद्देश्यों पर विद्वानों में मतभेद है। **के० आर० हाल** के अनुसार दक्षिण भारतीय चोलों का चीन देश के साथ व्यापारिक सम्पर्क निरन्तर विकास पर था। श्रीविजय राज्य दक्षिणी-पूर्वी एशियाई चीन, जापान, इण्डोनेशिया आदि देशों के साथ विकसित व्यापारिक एवं वाणिज्यिक सम्पर्क के मध्य एक महत्वपूर्ण राज्य-केन्द्र के रूप में बहुत ही महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थान रखता था। अतः राजेन्द्र प्रथम ने उसे जीतकर अपने चोल-साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग बनाना आवश्यक समझा। **की०जी० कृष्णन्** का मत है कि कम्बुज-नरेश को श्रीविजय-राज्य की बढ़ती हुई शक्ति से अपने राज्य को खतरा प्रतीत होने लगा था। अतः उन्होंने अनेक उपहारों द्वारा चोल-नरेश राजेन्द्र प्रथम को प्रसन्न करके सर्वप्रथम उसे अपना मित्र बना लिया। कुछ समय बाद उसने चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम से श्रीविजय-राज्य को चोल साम्राज्य के अधीन करने की याचना की। परिणामतः चोल-सेना श्रीविजय राज्य पर विजय-स्थापना के लिए अग्रसर हो गई। परन्तु इस मत की संपुष्टि किसी अन्य प्रामाणिक स्रोत से नहीं की जा सकी है। **नीलकण्ठ शास्त्री एवं रमेश चन्द्र मजूमदार** आदि विद्वानों का मत है कि चोल एवं श्रीविजय-राज्य के बीच हुए उक्त संघर्ष का प्रमुख कारण सम्भवतः चोलों का दक्षिणी-पूर्वी-एशियाई देशों के साथ निरन्तर बढ़ रहे व्यापारिक सम्बन्धों में श्रीविजय-राज्य द्वारा किसी न किसी प्रकार का गतिरोध उपस्थित करने के कारण हुआ था। तथ्य जो भी हो, श्रीविजय राज्य पर अन्ततः अपनी विजय स्थापित करके राजेन्द्र प्रथम चोल ने दक्षिणी-पूर्वीएशियाई देशों के साथ भारतीय व्यापार की वृद्धि का मार्ग निश्चयतः प्रशस्त कर दिया था। उसकी जल-सेना ने अपने उपर्युक्त सामुद्रिक द्वीप-राज्यों के विजयाभियान के समय ही न केवल श्रीविजय-राज्य को, अपितु अंडमान-निकोबार, बर्मा देश के अराकान तथा पेगू आदि प्रदेशों को भी जीत लिया था। इन विजयों के परिणामस्वरूप उपर्युक्त द्वीप-समूहों में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार तथा वाणिज्य एवं व्यापारिक सम्बन्ध पूर्णतया सुदृढ़ तथा संवर्द्धित हो गया।

केरल, पाण्ड्य एवं सिंहल आदि शासकों के विद्रोहों का दमन—जिस समय राजेन्द्र प्रथम अपनी विशाल चोल सेना के साथ श्रीविजय-राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए हिन्द सागर के उस पार युद्धों में व्यस्त थी , उसी समय चोलों के सैनिक दवाव की शिथिलता का आकलन करके दक्षिण भारत के कतिपय राज्य अपनी स्वतन्त्र-सत्ता की स्थापना का प्रयास करने लगे थे । संभवतः उक्त सामारिक परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए केरल, पाण्ड्य तथा सिंहल राज्यों के शासकों ने परस्पर एक संयुक्त मोर्चे का गठन करके चोल सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया । इस संयुक्त-मोर्चे का नेतृत्व पाण्ड्य-शासक सुन्दरपाण्ड्य कर रहा था । राजेन्द्र प्रथम ने अपने युवराज पुत्र राजाधिराज को उक्त विद्रोह को शान्त करने के लिए भेजा । राजाधिराज ने भारी रक्तपात करते हुए बलपूर्वक उपर्युक्त राज्यों के विद्रोह को दबाकर उन्हें शान्त कर दिया । तथापि सिंहल-नरेश विकम्रबाहु के नेतृत्व में चल रहा चोल शासक के विरुद्ध उक्त विद्रोह फिर भी गतिशील बना रहा । राजाधिराज ने अपनी चोल-सेना की सहायता से विद्रोह सिंहल सेना को पराजित करके वहाँ के राजा का सिर काट लिया । इस प्रकार राजेन्द्र प्रथम ने अपने शासनकाल के अन्तिम चरण में उपर्युक्त शक्तिशाली राज्यों के विद्रोहों को बलपूर्वक दवा दिया तथा उन्हें अपने अधीन पूर्ववत् सामन्त-शासक बने रहने के लिए विवश कर दिया । राजेन्द्र चोल का शासनकाल 1044 ई० तक रहा । उसने गंगैकोंडचोल, वीरराजेन्द्र, कडारकोंड, मुडिगोंडचोल, पंडितचोल तथा परकेशरिवर्मन् आदि विरुदों को धारण किया । अपने शासनकाल में ही उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र राजाधिराज को युवराज-पद पर अभिषेक कराकर उसे अपना सम्भाव्य उत्तराधिकारी घोषित कर दिया ।

मूल्यांकन—चोल साम्राज्य की विस्तारवादी दिशा तो राजराज प्रथम ने ही दे दी थी, परन्तु उसे साम्राज्यिक स्वरूप के उच्चतम् शिखर तक विस्तृत एवं विकसित करने का दायित्व उसके योग्य पुत्र राजेन्द्र प्रथम ने पूरा किया । उसका सम्पूर्ण जीवन युद्धाभियानों में बीता, जिसमें सौभाग्यवश विजयश्री सर्वत्र उसका अनुगमन एवं वरण करती रही । अपनी सामरिक सफलताओं के लिए वह कभी-कभी औचित्य की सीमा भी लांघ जाता था । फलतः शत्रु-पक्ष में आने वाली महिलाओं, वृद्धों तथा बच्चों की मर्यादा-रक्षा की भी परवाह न कर, वह अपने निर्धारित लक्ष्य में सफलता लेकर ही चैन लेता था । अपने विशाल साम्राज्य के सीमान्त प्रदेशों पर उसकी बड़ी एवं क्रूर दृष्टि रहती थी, ताकि चोल-साम्राज्यशक्ति का दबाव उन पर सदा बना रहे । परन्तु उक्त वीरोचित क्रूरताओं के होते हुए भी वह एक योग्य प्रशासक, महान्-निर्माता तथा विद्यानुरागी, सुसंस्कृत तथा सांस्कृतिक समन्वयक नरेश था । उसने अपने विशाल साम्राज्य की गरिमा के अनुकूल, वैभव-सम्पन्न एक नितान्त मनोरम राजधानी केन्द्र **गंगैकोंडचोलपुरम्** का विन्यास करवाया । इस नगर की सांस्कृतिक गतिशीलता, शुचिता, सौन्दर्य तथा कलात्मक भव्यता अलौकिक थी । इस नगरी में निर्मित अत्यन्त कलात्मक सुविख्यात **'बृहदीश्वर मन्दिर'** द्राविड़-चोल-कला का एक भव्यतम् प्रतिमान है । कला के साथ-साथ उसने विद्या एवं शिक्षा के प्रसार हेतु बड़ी सक्रियता दिखाई । उसके शासन-काल में दक्षिण भारत में वैदिक-शिक्षा एवं दर्शन का प्रचुर विकास हुआ । उसके विद्यानुराग की पुष्टि उसकी उपाधियों यथा-पण्डितचोल, मुडिगुडचोल आदि से

भी होती है। उसके शासनकाल में चोल साम्राज्य अपने पूर्ण वैभव को प्राप्त हो गया। राजेन्द्र प्रथम ने विशाल चोल-साम्राज्य की समृद्धि के लिए वाणिज्य-व्यापार आदि की अभिवृद्धि करने के साथ-साथ सोने, चांदी तथा तांबे के सिक्कों का प्रचलन किया।

राजाधिराज (1044—1052 ई०)

राजेन्द्र प्रथम के पश्चात् युवराज राजाधिराज चोल 1044 ई० में चोल-राजगद्दी पर बैठा। अपने पिता के द्वारा चलाये गये कई सामरिक अभियानों में सफल सैन्य-संचालन के फलस्वरूप उसे विशाल चोल-साम्राज्य की सुरक्षा एवं प्रशासनिक-कार्यों का पूर्ण अनुभव युवराज के रूप में ही प्राप्त हो चुका था।

सामरिक उपलब्धियाँ

चोल-चालुक्य-संघर्ष—राजाधिराज के राजसिंहासन पर बैठते ही चोलों एवं कल्याणी के पश्चिमी-चालुक्यों के बीच संघर्ष पुनः प्रारम्भ हो गया। उस समय कल्याणी में चालुक्यराज्य का शासक सोमेश्वर प्रथम था। 1046 ई० के मणिमंगलम्-अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजाधिराज चोल ने कल्याणी राज्य पर आक्रमण करके वहाँ के अनेक सेना-नायकों को मार भगाया तथा सुप्रसिद्ध कम्पिलिनगर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। राजाधिराज चोल ने चोल सेना की सहायता से उक्त नगर में निर्मित भव्य चालुक्य-राजप्रासाद को ध्वस्त कर दिया। विजयिनी चोल-सेना क्रमशः आगे बढ़ते हुए चालुक्य-राजधानी कल्याणी पर भी अधिकार कर लिया। इस विजय के उपलक्ष में उसने कल्याणी नगर में अपना वीराभिषेक कराकर 'विजयराजेन्द्र' की उपाधि धारण की। उसने राजधानी कल्याणी से एक नितान्त कलात्मक एवं भव्य द्वारपालक की मूर्ति को अपहृत करके उसे तंजोर नगर के 'दारासुरम्' नामक स्थान पर स्थापित करवाया। इस मूर्ति पर श्रीविजयराजेन्द्रदेव का एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है, जिसमें उक्त द्वारपालक की मूर्ति के अपहरण का उल्लेख किया गया है (.......**श्रीविजयराजेन्द्रदेवोर्कल्याण पुरम्......कोंडुवददुरपालकर**.......)। परन्तु चोलों की उपरोक्त विजयों का प्रभाव संभवतः अधिक समय तक स्थायी न रह सका। सोमेश्वर प्रथम के अभिलेखों से पता चलता है कि 1050 एवं 1053 ई० के बीच उसने राजाधिराज की सेना को अपने प्रबल प्रतिरोध के बल पर तुंगभद्रा नदी तक पीछे खिसकने के लिए विवश पर दिया। 1053 ई० के मुलगुंड-अभिलेख से ज्ञात होता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोल-संरक्षित वेंगी-राज्य पर पुनः आक्रमण करने के लिये अपने एक पुत्र के नेतृत्व में चालुक्य-सेना को नियुक्त किया। इस अभियान में वह अन्ततः विजयी हुआ और वेंगी राज्य पर स्थापित उक्त विजय के उपलक्ष में उसके पुत्र ने **'वेंगीपुरनरेश्वर'** की उपाधि धारण की। सोमेश्वर प्रथम ने तत्कालीन वेंगी के शासक राजराज को बलपूर्वक अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया तथा आगे बढ़कर चोलों की उप राजधानी कांची को ससैन्य आक्रान्त करके उसने वहाँ से विपुल सम्पत्ति अपहृत कर ली।

सोमेश्वर प्रथम की उपर्युक्त सामरिक-सफलताओं को देखते हुए राजाधिराज ने चोल-राज्य की सुरक्षा करने के लिये अपने अनुज युवराज राजेन्द्र द्वितीय को आक्रान्ता

चालुक्यों से नये सिरे से संघर्ष प्रारम्भ करने का दायित्व सौंपा। 1055 ई० के मणिमंगलम्-अभिलेख में वर्णित है कि युवराज राजेन्द्र द्वितीय ने शक्तिशाली चोल सैनिकों की सहायता से चालुक्य-शासित 'रट्ठमंडलम्' प्रदेश को जीतकर वहाँ भारी विनाश-लीला की। आक्रान्ता चोल-सेना का सामना करने के लिए सोमेश्वर प्रथम पुनः आगे बढ़ा। फलतः कोल्हापुर के सन्निकट 'कोप्पम्' में दोनों प्रतिद्वन्द्वी राज्यों की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। चोल नरेश राजाधिराज शत्रु-सेना से घिर जाने के कारण अन्ततः समरांगण में ही मार डाला गया। परन्तु इसी बीच युवराज राजेन्द्र द्वितीय अपनी सेना के साथ कोप्पम् के मैदान में आ पहुँचा तथा चोलों की हो रही उक्त पराजय को उसने अपने पराक्रम एवं रण-कौशल के बल पर अन्ततः विजय में परिवर्तित कर दिया। भयविह्वल संपूर्ण चालुक्य-सेना अपने स्कन्धावार में अनेकों राजमहिलाओं, अश्वों, ऊँटों, हाथियों आदि को छोड़कर समर-भूमि से भाग खड़ी हुई। राजेन्द्र द्वितीय ने युद्ध-भूमि में ही अपना वीराभिषेक एवं राज्याभिषेक कराया तथा वहाँ से विपुल सम्पत्ति अपहृत करके अपनी राजधानी वापस लौट आया।

चोल, पाण्ड्य एवं सिंहल राज्यों के विद्रोहों का दमन—राजेन्द्र प्रथम चोल ने अपने शासनकाल में केरल, पाण्ड्य एवं सिंहल राज्यों को जीतकर उन्हें विशाल चोल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। परन्तु उक्त राज्यों के शासकगण कभी अकेले और कभी-कभी संयुक्त-संघ बनाकर चोल राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। उक्त राज्यों द्वारा संचालित इन्हीं सामरिक-विद्रोहों का दमन राजाधिराज ने युवराज के रूप में राजेन्द्र प्रथम के शासनकाल में किया था। उसके चोल-सम्राट् बनने के बाद उपर्युक्त राज्यों ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने की योजना बनाई। फलतः उपर्युक्त राज्यों ने समय-समय पर विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया। चोल-अभिलेखों से प्राप्त विवरणों से पता चलता है कि राजाधिराज चोल की विशाल सेना ने केरल, पाण्ड्य एवं सिंहल नरेशों की संयुक्त-शक्ति को कुचल कर उन्हें अनेक प्रकार से अपमानित किया। उसने सिंहल-नरेश विक्रमबाहु को बन्दी बनाकर उसका राजमुकुट उसके सिर पर से उतार लिया और उसकी राजमाता की नाककाट ली। चोल सेना ने सिंहल राज्य में भारी रक्तपात किया। पाण्ड्य-नरेश विक्रम ने युद्ध-काल में ही समरांगण से भाग कर सिंहल राज्य में शरण ले ली तथा किसी तरह आत्मरक्षा की थी। इस प्रकार उपर्युक्त राज्यों के संयुक्त विद्रोहों का दमन करके राजाधिराज चोल ने सिंहल राज्य के अधिकांश भू-भागों को अपने चोल-साम्राज्य में मिला लिया।

1052 ई० में कल्याणी के चालुक्य-नरेश सोमेश्वर के साथ हुए कोप्पम् के युद्ध में चालुक्य-सेना द्वारा राजाधिराज चोल की हत्या कर दी गई। उसका शासनकाल अधिकांशतः चोल शासित राज्यों द्वारा समय-समय पर किये गये विद्रोहों एवं संघर्षों को शान्त करने में ही व्यतीत हुआ। उसने अपने अनुज राजेन्द्र द्वितीय को अपना 'युवराज' नियुक्त किया था।

राजेन्द्र द्वितीय (1054-1063 ई०)

राजाधिराज चोल ने अपने पुत्रों को छोड़कर अपने छोटे भाई राजेन्द्र द्वितीय को चोल-साम्राज्य के युवराज-पद पर अभिषिक्त किया था। फलतः अग्रज राजाधिराज की

मृत्यु के उपरान्त उसे चोल-सत्ता प्राप्त हुई। वह महापराक्रमी शासक सिद्ध हुआ। उसने कल्याणी के चालुक्यों के विरुद्ध सामरिक अभियान चलाया, जिसके फलस्वरूप उसने अपने अग्रज की हत्या का न केवल प्रतिशोध लिया, अपितु वहाँ के शक्तिशाली शासक सोमेश्वर प्रथम को पराजित करके युद्ध-भूमि में ही अपना 'वीराभिषेक' कराया।

चोल-चालुक्य संघर्ष का पारस्परिक-क्रम राजेन्द्र द्वितीय के शासनकाल में भी चलता रहा। 1061 ई० में वेंगी के चोल-समर्थित शासक राजराज की मृत्यु हो गई। वेंगी के राजसिंहासन पर कल्याणी के चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम ने अपने प्रभाव को बलपूर्वक संचालित करके विजयादित्य सप्तम् के पुत्र शक्तिवर्मन् द्वितीय को अभिषिक्त कराया तथा उसके राज्य की सुरक्षा के लिए अपने प्रसिद्ध सेनापति **चामुण्डराज** को वेंगी में नियुक्त कर दिया। सोमेश्वर प्रथम ने वेंगी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के साथ-साथ चोलशासित **गंगवाड़ी** राज्य पर भी आक्रमण करने हेतु एक अन्य चालुक्य-सैन्यदल रवाना किया। फलतः चोल-चालुक्य-संघर्ष पुनः छिड़ गया। चोलों ने वेंगी राज्य को जीतकर चालुक्य सेनापति चामुण्डराज एवं वेंगी-नरेश शक्तिवर्मन् को मार डाला। चोल-सेना ने चालुक्यों द्वारा संचालित गंगवाड़ी-राज्य पर चल रहे अभियानों को **'कुडलसंगमम्'** के मैदान में वीरतापूर्वक जीतकर विफल कर दिया। इसी प्रकार राजेन्द्र द्वितीय ने बाद में सिंहल राज्य के विद्रोहों को भी दमन करके सिंहल देश के अधिकांश भू-भागों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। 1064 ई० में उसकी मृत्यु के साथ उसका राज्यकाल समाप्त हो गया।

वीर राजेन्द्र (1063-1070 ई०)

राजेन्द्र द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र राजमहेन्द्र की युवास्था में ही मृत्यु हो गयी थी। फलतः उसकी मृत्यु के बाद राजेन्द्र द्वितीय ने अपने अनुजवीर राजेन्द्र प्रथम को अपना 'युवराज' नियुक्त किया। राजेन्द्र द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त 1074 में वीरराजेन्द्र चोल-राजगद्दी पर आसीन हुआ।

1066 ई० में वीरराजेन्द्र ने चोल साम्राज्य के परम्परागत शत्रु पश्चिमीचालुक्यों को तुंगभद्रा नदी के तट पर पराजित करके सोमेश्वर प्रथम की शक्ति को पर्याप्त क्षीण कर दिया। दोनों राज्यों के बीच पुनः उक्त संघर्ष 'कुडलसंगमम्' के मैदान में हुआ, जिसमें अन्ततः चालुक्य-सेना बुरी तरह पुनः पराजित हुई। वीरराजेन्द्र ने तुंगभद्रा नदी के तट पर अपना एक **'विजय-स्तम्भ'** स्थापित कराया। इसी प्रकार उसने चालुक्यों के विरुद्ध चलाये गये एक अन्य युद्धाभियान में कम्पिलनगर तक के भू-भागों को जीत कर **करडिगलग्राम** (रायचूर जनपद) में अपना एक अन्य 'विजयस्तम्भ' स्थापित करवाया था।

वीरराजेन्द्र ने चालुक्यनरेश सोमेश्वर द्वितीय के प्रभाव से वेंगी राज्य को मुक्त कराकर उसे पुनः चोल साम्राज्य के अधीन कर लिया। उसने केरल, पाण्ड्य, सिंहल आदि राज्यों के साथ हुए युद्धों में भी सफलता प्राप्त की थी। उसकी मृत्यु 1070 ई० में हुई।

अधिराजेन्द्र (1070ई०)

चालुक्य-नरेश सोमेश्वर द्वितीय के विरुद्ध उसके अनुज विक्रमादित्य ने चोलनरेश वीरराजेन्द्र की सहायता की थी। वीरराजेन्द्र ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह करके उसे दक्षिणी-चालुक्य राज्य का शासक नियुक्त कर दिया। वेंगी में वीरराजेन्द्र ने, वहाँ के वास्तविक उत्तराधिकारी राजेन्द्र द्वितीय के स्थान पर, विक्रमादित्य के साले विजयादित्य सप्तम् को शासक बना दिया। उसके इस महत्वपूर्ण कूटनीतिक निर्णय से वेंगी का राजकुमार राजेन्द्र द्वितीय, चोल नरेश वीरराजेन्द्र का शत्रु तथा विद्रोही बन गया। वीरराजेन्द्र की मृत्यु के बाद उसने चोलसत्ता के विरुद्ध खुला विद्रोह कर दिया। दुर्भागयवश, चोल साम्राज्य में अधिराजेन्द्र के विरुद्ध असहयोग का वातावरण बनता गया और अन्ततः उसे मार भी डाला गया। इस अशांतिमय परिस्थिति का लाभ उठाकर राजेन्द्र द्वितीय ने वेंगी एवं चोल साम्राज्य को अपने हाथ में ले लिया। 1070 ई० में उसने **'कुलोत्तुंग प्रथम'** के नाम से चोल-राजगद्दी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

कुलोत्तुंग प्रथम (1070-1122 ई०)

कुलोत्तुंग प्रथम ने 1070 ई० में वेंगी राज्य को चोल-साम्राज्य में सम्मिलित करके चोल-साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने का प्रयास प्रारम्भ किया। उसका शासनकाल सतत् संघर्षों का काल माना जा सकता है।

चोल-चालुक्य-संघर्ष—कल्याणी का पश्चिमी-चालुक्य राज्य अपने पारिवारिक वैमनस्य के कारण सोमेश्वर द्वितीय एवं विक्रमादित्य षष्ठ के अधीन दो भागों में विभक्त हो चुका था। इधर वेंगी की राजनीति के सन्दर्भ में विक्रमादित्य षष्ठ कुलोत्तुंग प्रथम का विरोधी था। अतः चालुक्य शासक सोमेश्वर द्वितीय ने अपने छोटे भाई विक्रमादित्य षष्ठ के राज्य को हड़पने के लिए चोलनरेश कुलोत्तुंग प्रथम से सन्धि कर ली। कुलोत्तुंग ने इस राजनीतिक समीकरण का लाभ उठाते हुए 1075-76 ई० में विक्रमादित्य षष्ठ के विरुद्ध दक्षिणी-चालुक्य राज्यपर आक्रमण कर दिया। उसने गंगवाड़ी प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया तथा विक्रमादित्य षष्ठ की सेना को पराजित करके उसे वहाँ से भगा दिया। दोनों राजवंशों के उपर्युक्त संघर्ष का उल्लेख चोल-अभिलेखों के अतिरिक्त जैन-ग्रन्थ **'कलिंगत्तुपराणि'** तथा विल्हणविरचित **'विक्रमांकदेवचरित'** में भी आख्यात है।

कलचुरि राज्य पर विजय—वेंगी के शासक विजयादित्य सप्तम् के कमजोर शासनकाल (1072-73) का लाभ उठाकर त्रिपुरी के कलचुरि नरेश यशः कर्णदेव ने उस पर आक्रमण कर दिया। कलचुरि-अभिलेखों में कलचुरि-शासक यशः कर्णदेव को उपर्युक्त युद्ध में विजयी घोषित किया गया है। सम्भवतः 1075-76 ई० में चोल नरेश कुलोत्तुंग प्रथम ने कलचुरी शासक यशःकर्णदेव को पराजित करके वेंगी राज्य को कलचुरियों से मुक्त करा लिया उसने अन्ततः वेंगी को अपने अधीन कर लिया।

दक्षिणी-कलिंग राज्य पर विजय—दक्षिणी-कलिंग राज्य पर वेंगी का आधिपत्य बनाये रखना चोल नरेशों की कूटनीति के सर्वथा अनुकूल था। एतदर्थ लगभग 1069

ई० तक वे वेंगी के शासक को अपने अधीनस्थ बनाये रखने में सफल रहे। 1064 ई० में दक्षिणी-कलिंग राज्य ने वेंगी राज्य के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। तत्कालीन शक्तिशाली चोल नरेश कुलोत्तुंग प्रथम ने दक्षिणी कलिंग राज्य के विरुद्ध सामरिक अभियान चला कर अन्ततः उन्हें पराजित करके वेंगी राज्य के अधीन पूर्ववत् बने रहने के लिये विवश कर दिया।

सिंहल देश के साथ सम्बन्ध—सिंहल (श्रीलंका) के शासक विजयबाहु ने कुलोत्तुंग प्रथम के चोल-राजगद्दी पर आसीन होने के ठीक बाद चोल साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। सिंहली नरेश को अपने उक्त अभियान में सफलता प्राप्त हुई। सम्भवतः कुलोत्तुंग प्रथम ने प्रारम्भ में श्रीलंका नरेश के उक्त विद्रोह को दबाने का प्रयास किया था। परन्तु अपने उक्त प्रयासों में लगातार असफल होने के कारण कुलोत्तुंग ने सिंहल नरेश से अन्ततः मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। श्रीलंका राज्य के साथ अपने मैत्री-सम्बन्ध को सुदृढ़ करने के लिए उसने अपनी पुत्री का विवाह वहाँ के राजकुमार **बीरप्पेरुमाल** के साथ सम्पन्न किया। उपर्युक्त ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना हमें अधिकांशतः सिंहली बौद्ध-महाकाव्य **'महावंश'** से प्राप्त होती है।

चोल-चालुक्य संघर्ष—1118 ई० में कुलोत्तुंग प्रथम ने अपने पुत्र विक्रम चोल को, जो वेंगी राज्य का तत्कालीन शासक भी था, 'युवराज' पद पर अभिषिक्त करने के लिए चोल राजधानी 'गंगैकोंडचोलपुरम्' में बुला लिया। युवराज विक्रम चोल द्वारा वेंगी राज्य से प्रस्थान करते ही सम्पूर्ण वेंगी-राज्य में गम्भीर अराजकता पैदा हो गई **(वेंगीभूमिनायकरहिताजाता)**। सम्भवतः वेंगी राज्य में व्याप्त इस अराजकता का लाभ उठाकर तत्कालीन चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ ने उक्त राज्य पर आक्रमण कर दिया। अपने इस सफल अभियान में विक्रमादित्य षष्ठ ने वेंगी राज्य के अधिकांश भू-भागों पर अधिकार कर लिया। कुलोत्तुंग प्रथम के शासन के 49वें वर्ष के कतिपय शिलालेख 'द्राक्षारामम्' स्थान (वेंगी राज्यमें स्थित) से प्राप्त हुये हैं, परन्तु उसके उत्तराधिकारी पुत्र विक्रम चोल के 1127 ई० के पूर्व के लेख इस राज्य के उक्त किसी भी भू-भाग से अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सके हैं। अस्तु, उपर्युक्त मध्यावधि में कल्याणी के चालुक्यों द्वारा स्थापित वेंगी राज्य के उक्त भूभागों पर चालुक्य-आधिपत्य की सम्भावना को साक्ष्याभाव में इन्कार नहीं किया जा सकता है।

होयसल एवं अन्य राज्यों से संघर्ष—वस्तुतः कुलोत्तुंग प्रथम के शासनकाल का अन्तिम चरण चोल-साम्राज्य का पतनोन्मुख काल माना जा सकता है। उसकी वृद्धावस्था तथा तद्जन्य उद्भूत सामरिक शक्ति की कमजोरी का लाभ उठाकर होयसलनरेश विष्णुवर्द्धन ने चोल राज्य पर आक्रमण करके गंगवाड़ी एवं नीलम्बवाड़ी जैसे महत्वपूर्ण चोल शासित प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। होयसलों की विजयनी सेना ने आगे बढ़कर तलकाड प्रदेश एवं धुर दक्षिणी भारत में स्थित रामेश्वरम्-क्षेत्र तक क्रमशः सामरिक अभियान किया। तलकाड प्रदेश पर विजय प्राप्त करके होयसल विष्णुवर्द्धन ने **'तलकाडुकोंड'** की उपाधि धारण की। 1117 ई० में काकतीय शासक प्रोल ने चोल-अधिसत्ता से अपने को स्वतन्त्र घोषित करके अन्ततः कल्याणी के चालुक्यों की अधीनता स्वीकार कर ली। 1118 ई० में वेंगी राज्य का अधिकांश भू-भाग कल्याणी के चालुक्यों के अधीन हो गया था।

मूल्यांकन

सफलताओं एवं असफलताओं के समग्र आकलन के आधार पर कुलोत्तुंग प्रथम को एक कुशल एवं पराक्रमी शासक माना जा सकता है। उसने अपने शासनकाल में विशाल चोल साम्राज्य में भूमि-प्रशासन एवं कर-निर्धारण की एक लाभकारी प्रणाली लागू की। कुलोत्तुंग प्रथम ने भी अपने पिता राजराज प्रथम द्वारा प्रचलित तथा लोक-समादृत सोने के सिक्कों की तौल के बराबर नवीन स्वर्णमुद्राओं का प्रचलन किया। इन सिक्कों पर **'कटैकोंडचोलन्'** तथा **'मलैनडुकोंडचोलन्'** आदि कुलोत्तुंग प्रथम द्वारा धारण की गई उपाधियाँ अंकित की गईं। लगभग 1120 ई० तक अर्थात् 52 वर्ष की दीर्घ अवधि तक उसने राज्य किया।

विक्रम चोल (1120-1135 ई०)

लगभग 1120 ई० में अपने पिता कुलोत्तुंग प्रथम की मृत्यु के उपरान्त विक्रमचोल राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसने सर्वप्रथम 1126-27 ई० में अपने पूर्वजों द्वारा अधिकृत वेंगी राज्य को जीतने के लिए कल्याणी के चालुक्य शासक सोमेश्वर तृतीय के साथ युद्ध किया। इस युद्ध में उसे विजय प्राप्त हुई तथा वेंगी राज्य को उसने पुनः चोल साम्राज्य के अधीन कर लिया। अपनी उक्त सामरिक सफलताओं से उत्साहित विक्रम चोल ने होयसलों को पराजित करके गंगबाड़ी राज्य के कोलार-क्षेत्र को विशाल चोल राज्य में मिला लिया।

कुलोत्तुंग द्वितीय (1133-1150 ई०)

1133 ई० में विक्रमचोल ने अपने पुत्र कुलोत्तुंग द्वितीय को युवराज-पद पर नियुक्त किया। 1135 ई० में उसे उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। उसका शासनकाल अपेक्षाकृत शांतिमय रहा। वह अपने व्यक्तिगत जीवन में महान् शैवधर्मानुयायी था। अपनी धार्मिक भावनाओं की तुष्टि के लिए उसने चिदम्बरम् के सुप्रसिद्ध **नटराज-मन्दिर** के संवर्द्धन में प्रभूत धन-सम्पत्ति प्रदान किया। सम्भवतः शैवधर्म के प्रति विकसित अपनी कट्टरता के कारण उसने नटराज-मन्दिर के प्रागण में स्थापित **गोविन्दराज** (विष्णु) की अति भव्य प्रतिमा को वहाँ से हटवाकर समुद्र में फिकवा दिया था, जिसका उद्धार कालान्तर में महान् **वैष्णवाचार्य** तथा विशिष्टाद्वैतवादी **रामानुजाचार्य** ने तिरुपति के मन्दिर में उक्त प्रवाहित विष्णु-मूर्ति की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा स्थापित करके किया।

कुलोत्तुंग द्वितीय महान् साहित्यानुरागी था। उसने **'पेरियपुराणम्'** के रचयिता **शेक्किलार** को तथा **ओत्तक्कुत्तन, कम्बन** आदि महान् रचनाकारों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया था।

राजराज द्वितीय (1150-1173 ई०)

1146 ई० में युवराज-पद पर प्रतिष्ठित होने वाले कुलोत्तुंग द्वितीय के पुत्र राजराज द्वितीय ने 1150 ई० में चोल-राजसिंहासन प्राप्त किया। उसके शासन-काल के मरिमंगलम् में प्राप्त एक अभिलेख के विवरण के अनुसार काकतीय (तेलुंगर), पाण्ड्य (मीनवर), चेर (वल्लुवर), पल्लव (पल्लवर) तथा श्रीलंका (सिंगलन) आदि राज्यों

के राजा उसे प्रणामागमन से प्रसन्न करते रहते थे। **मणिमंगमम्-अभिलेख** में राजराज द्वितीय के विषय में संभवतः काव्यात्मक प्रशस्ति अधिक है। परन्तु प्रशस्तिगत उल्लेखों को सम्पूर्णतः नकारा की नहीं जा सकता है। ज्ञातव्य है कि राजराज द्वितीय के शासन-काल में पाण्ड्य राजगद्दी के लिए छिड़े गृह-युद्ध में पराक्रमपाण्ड्य एवं कुलशेखर पाण्ड्य के बीच गम्भीर संघर्ष चल रहा था। इस गृह-युद्ध में अनन्तः कुलशेखर पाण्ड्य ने अपने प्रतिद्वन्द्वी राजकुमार पराक्रम पाण्ड्य की हत्या कर दी। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त गृह-युद्ध में श्रीलंका नरेश पराक्रमबाहु प्रथम ने कुलशेखर के विरुद्ध पराक्रम पाण्ड्य को सैनिक सहायता प्रदान की थी। श्रीलंका द्वारा पाण्ड्य राज्य में चल रहे गृह-युद्ध में इस प्रकार सामरिक सहायता द्वारा किए जा रहे हस्तक्षेप के विरोध में अन्ततः कुलशेखर पाण्ड्य ने चोल नरेश राजराज द्वितीय से सैनिक सहायता प्रदान करने की याचना की। यह बहुत कुछ सम्भव भी माना जा सकता है क्योंकि चोलों के सबल विरोधी श्रीलंका के शासक पराक्रमबाहु प्रथम ने अपनी सेना पाण्ड्य-राज्य में भेज कर वीरपाण्ड्य को सिंहासन दिलाने में बड़ी सहायता की थी। श्रीलंका राज्य के उक्त हस्तक्षेप से दुःखित पाण्ड्य कुलशेखर ने अपने समर्थकों के साथ चोलनरेश राजराज द्वितीय से मैत्री-सम्बन्ध अवश्य स्थापित कर लिया होगा। परिणामतः राजाधिराज द्वितीय के नेतृत्व में चोल-सेना ने अन्ततः श्रीलंका की सेना को पराजित करके मदुरा के पाण्ड्य राजसिंहासन पर विद्रोही कुलशेखर को पुनः आसीन करा दिया। परन्तु उसके शासनकाल में होयसलों एवं कोंगू के चोलों की शक्ति पर्याप्त बढ़ चुकी थी। होयसल शासक ने चोलों से कोलार, कोंगू तथा कोयम्बटूर आदि क्षेत्रों को अपने क्रमिक सामरिक अभियानों के फलस्वरूप अपहृत कर लिया। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त शेष चोल साम्राज्य की सीमाएँ-फिलहाल सुरक्षित थीं। राजराज द्वितीय को चोल-साहित्य में 'मुक्तमिलकुत्ततिलैयन्' अर्थात् **'तमिल संरक्षक'** उद्घोषित किया गया है। **डी० सी० गाँगुली** उसके शासनकाल की समाप्ति 1173 ई० तथा **नीलकण्ठ शास्त्री** एवं **आर० सथियन थैयर** आदि विद्वान् 1173 ई० स्वीकार करते हैं।

राजाधिराज द्वितीय (1173-1179 ई०)

1173 ई० में राजाधिराज चोल-सिंहासन पर आसीन हुआ। उसके शासनकाल में पाण्ड्य-राज्य के राजसिंहासन को लेकर पुनः विवाद खड़ा हो गया था। संभवतः 1169 ई० के बाद के दिनों में कलचुरि-नरेश सोमेश्वर सोविदय अत्यधिक शक्तिशाली बन चुका था। उसने राजाधिराज चोल को पराजित करके चोल-शासित आन्ध्रप्रदेश के अधिकांश भू-भाग को अपने राज्य में मिला लिया।

कुलोत्तुंग तृतीय (1179-लगभग 1216 ई०)

1179 ई० में कुलोत्तुंग तृतीय चोल-सिंहासन पर बैठा। उसके 1190 तथा 1194 ई० के मध्यकाल के अभिलेखों की सूचनानुसार उसने सर्वप्रथम कोंगूदेश के विद्रोहों को शान्त किया।

कुलोत्तुंग तृतीय के शासनकाल में पाण्ड्य-राजगद्दी का विवाद तत्कालीन बने नवीन राजनीतिक समीकरणों के साथ उठ खड़ा हुआ। पाण्ड्य राज्य में वहां के दो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी राजकुमारों, जिनका नाम वीरपाण्ड्य एवं विक्रम पाण्ड्य था, के मध्य

राजसिंहासन-प्राप्ति हेतु गम्भीर गृहयुद्ध छिड़ गया। वीरपाण्ड्य की सहायता सिंहलनरेश पराक्रमबाहु कर रहे थे। इसके विपरीत दूसरे राजकुमार विक्रमपाण्ड्य की सामरिक एवं सैनिक सहायता चोल नरेश कुलोत्तुंग तृतीय ने की। कुलोत्तुंग तृतीय के शासन-काल के नवें वर्ष में उत्कीर्णित चिदम्वरम् से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार राजकुमार विक्रमपाण्ड्य की सहायता के लिए उसने अपनी चोल सेना को पाण्ड्य-राज्य में उतार दिया था। फलतः विक्रमपाण्ड्य ने चोलसेना की सहायता से राजधानी मदुरा नगर को जीत लिया तथा पाण्ड्य राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कुलोत्तुंग तृतीय ने अपनी इस विजय के उपलक्ष में राजधानी मदुरा में एक विजय-स्तम्भ निर्मित करवाया तथा पाण्ड्य-राज्य को पूर्णरूपेण अपने अधीन कर लिया।

कुलोत्तुंग तृतीय ने होयसल, बाण, चेर, गंग, काडव, मलैयान आदि राज्यों को जीतकर उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। उसके शासन काल के 23 वें वर्ष अर्थात् 1201-2 ई० में चोल-साम्राज्य में भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें जनता की सहायता के लिए उसने अपने राजकोष से विपुल धनराशि प्रदान की थी।

कुलोत्तुंग तृतीय महान् निर्माता, साहित्यसेवी तथा कला-प्रेमी सम्राट् हुआ। तंजोर-जनपद के त्रिभुवनम्-स्थल पर उसने सुप्रसिद्ध कम्पट्टरेश्वर (त्रिभुवनवीरेश्वर) का विशाल, अतिकलात्मक एवं भव्य मन्दिर निर्मित करवाया। इसके अतिरिक्त उसने अनेक पूर्व-निर्मित मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। उसके शासनकाल में निर्मित अनेक भव्य एवं कलात्मक राजप्रासाद, मण्डप, गोपुरम् एवं प्राकार आदि उसकी कला-प्रियता के परिचायक हैं। 1216 ई० तक शासन करके उसने महान् चोल-साम्राज्य की गरिमा को न केवल सुरक्षित किया अपितु उसे नूतन गोरव प्रदान कराया। उसे चोल-राजवंश का अंतिम महान् शासक माना जाता है।

चोल साम्राज्य का पतनोन्मुख-काल

राजराज तृतीय (1216-1246 ई०)

कुलोत्तुंग तृतीय के पश्चात् चोल साम्राज्य के पतन का क्रम प्रारम्भ हो गया। पाण्ड्य, होयसल एवं काकतीय तेलुगुचोड, देवगिरि के यादव आदि राजवंशों ने अपनी-अपनी शक्ति का क्रमशः विस्तार करके धीरे-धीरे अपने लिए स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली। 1216 ई० में कुलोत्तुंग तृतीय के उत्तराधिकारी के रूप में राजराज तृतीय चोल-राजगद्दी पर आसीन हुआ। तंजोर से प्राप्त राजराज तृतीय के अभिलेखों में उसके अधीनस्थ राज्यों द्वारा किये गये कई विद्रोहों का उल्लेख मिलता है। शासक के रूप में अक्षम, अयोग्य तथा कूटनीतिक अदूरदर्शिता के कारण उसे राजद्रोह एवं नाना प्रकार के विप्लवों का सामना करना पड़ा। इन विद्रोहों के फलस्वरूप चोल राज्य को लगातार जन एवं धन की भारी हानि उठानी पड़ी। इसके साथ ही साथ विशाल चोल-साम्राज्य धीरे-धीरे बिखरकर मात्र एक छोटा सा राज्य रह गया। पाण्ड्यशासक सुन्दरपाण्ड्य के साथ हुए युद्ध में राजराज तृतीय की शक्ति एवं प्रतिष्ठा दोनों को महान् क्षति पहुँची। पाण्ड्यों की शक्ति से पराभूत राजराज तृतीय को अनेक बार अपनी

प्राणरक्षा के लिये होयसलशासक सोमेश्वर के राजदरबार में जाकर शरण लेनी पड़ी। 1239-40 ई० में सोमेश्वर ने उसके राज्य की रक्षा के लिए श्रीरंगम् के निकट कण्णनूर को अपनी उपराजधानी बना लिया। चोलों की दयनीय स्थिति, राजराज तृतीय द्वारा पाण्ड्यों से भयाक्रान्त होना तथा चोल राज्य की कमजोर स्थितियों का लाभ उठाते हुए होयसलों ने उक्त चोल नरेश को अपने अधीन शासन करने के लिए धीरे-धीरे विवश कर दिया।

राजेन्द्र तृतीय (1246-1279 ई०)

राजराज तृतीय के शासन-काल के उपरान्त 1246 ई० में राजेन्द्र तृतीय चोल-राजसिंहासन पर बैठा। वह अपने पूर्ववर्ती चोल नरेश राजराज तृतीय से अधिक शक्तिशाली एवं महत्वाकांक्षी सिद्ध हुआ। युवराज काल में उसने सम्भवतः पाण्ड्य-राज्य को जीत लिया तथा शासक होने के पश्चात् उसने होयसल एवं काकतीय राज्यों को क्रमशः पराजित करके कुछ समय के लिए उन्हें चोल-राज्य में सम्मिलित कर लिया। होयसल राज्य पर चोलों की विजय-प्राप्ति के फलस्वरूप राजेन्द्र तृतीय अपने पड़ोसी शत्रु-राज्यों, प्रतिद्वन्द्वियों एवं विद्रोही शासकों से चारों ओर से घिर गया। होयसल नरेश ने चोलों के विरुद्ध शक्तिशाली पाण्ड्य-शासक सुन्दरपाण्ड्य की सहायता करना प्रारम्भ कर दिया। उधर 1250 ई० में काकतीयशासक गणपति ने चोलों पर आक्रमण करके कांची पर अधिकार कर लिया। सुन्दरपाण्ड्य ने भी होयसल नरेश की सहायता पाकर चोल राज्य पर आक्रमण कर दिया। पाण्ड्यों एवं होयसलों द्वारा संचालित उक्त सामरिक अभियान में अन्ततः चोल नरेश राजेन्द्र-तृतीय पराजित हो गया। फलतः विवश होकर उसने पाण्ड्यों की अधीनता स्वीकार कर ली। लगभग 1279 ई० तक वह पाण्ड्यराज्य के अधीन सामन्त शासक के रूप में बना रहा। इस प्रकार अपनी सामरिक शक्ति एवं लोकोपकारी शासन-तंत्र से भूरपूर समर्थ महान् चोल साम्राज्य अपनी आन्तरिक दुर्वलताओं तथा वाह्य राजनीतिक समीकरणों एवं उनकी संयुक्त-शक्तियों के सामने अधिक समय तक संघर्ष न कर पाने की स्थिति में अन्ततः पतनोन्मुख होने के लिए विवश हो गया। फलतः चोल-शासित तमिलनाडु प्रदेश पर शक्तिशाली पाण्ड्य राज्य की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई।

---

16 चोल युगीन संस्कृति

सामाजिक स्थिति

चोलयुगीन सामाजिक संरचना में उत्तरी भारतीय आर्य सामाजिक परम्परा का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। चोल शासित समाज में परम्परागत चारों वर्णों की अवस्थिति विशेष उल्लेखनीय है। **रोमिला थापर**[1] का मत है कि इस काल के समाज में वर्णों की व्यवस्था में विशेष बल केवल ब्राह्मणों एवं अब्राह्मणों के विभाजन पर ही अधिक दिया गया था। ब्राह्मणेतर वर्णों में क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों को, उत्तरी भारत की तुलना में, दक्षिणी भारतीय चोल सामाजिक-व्यवस्था में विशेष महत्ता प्राप्त नहीं थी, परन्तु शूद्रों की सामाजिक स्थिति की चर्चा यहाँ अनेकत्र मिलती है। चोल युगीन समाज में प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों एवं उपजातियों में विभाजित थे। व्यापारी एवं शिल्पी, श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप तत्कालीन समाज में अनेक उपजातियों के रूप में अस्तित्व में आ चुके थे। इसी प्रकार व्यावसायिक आधार पर अनेक नये-नये सामाजिक वर्गों का उदय होने लगा था। इनमें वलंगाई तथा इदंगाई वर्ग विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नवीन वर्गों की अनेक उपशाखाएँ कालान्तर में विकसित हुई। चोल युगीन समाज में शूद्रों का भी विभाजन कई कोटियों में हो चुका था। विशुद्ध शूद्र वे माने जाते थे, जिनके स्पर्श से मनुष्य अपवित्र नहीं होता था। अशुद्ध शूद्र वे होते थे, जिनके छूने से उच्च वर्णों के लोगों में अपवित्रता की बात तो उठती ही थी, साथ ही सात जिन्हें तत्कालीन हिन्दू-मन्दिरों में प्रवेश-प्राप्ति की अनुमति भी नहीं प्राप्त थी। इस प्रकार इस काल के समाज में वैदिक आर्य ब्राह्मण वर्ण परम्परा को पूर्ण सामाजिक महत्ता प्राप्त हो चुकी थी। समाज में विद्यमान ब्राह्मणेतर वर्णों के लोग ब्राह्मणों की सेवा एवं उन्हें सम्मान देना अपना वर्ण-धर्म समझते थे। समस्त महत्वपूर्ण सामाजिक पद ब्राह्मणों के अधिकार में होते थे। ब्राह्मणों में भी कई प्रकार के विभाजन विद्यमान थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों एवं शूद्रों के अतिरिक्त अन्य वर्णों में विभाजनजन्य भेदभाव अपेक्षाकृत कम थे। आर्थिक स्थितियों में सुधार एवं प्रगति होने के साथ ही साथ वर्णों की सामाजिक स्थिति में भी अपेक्षाकृत सुधार एवं सम्मान बढ़ जाता था। इस काल में अनेक जातियों एवं उपजातियों का विकास इस सम्भावना की ओर संकेत देता है कि वर्णसंकर अथवा मिश्रित-जातियाँ भी तत्कालीन समाज में विद्यमान थीं। समाज में वर्णधर्म के अनुपालन पर आग्रह होते हुये भी ऐसे अपवादों की कमी नहीं थी।

---

1. द्रस्टव्य रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ० 161

चोल युगीन समाज में वर्णधर्म की पारम्परिक सामाजिक मान्यता में परिवर्तन होने लगा था। ब्राह्मण वर्ण के लोग पौरोहित्य, यजन-याजन तथा अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य करते थे। इसके विपरीत कुछ ब्राह्मण भू-स्वामी तथा लम्बी जोत के किसान हो गये थे। ब्राह्मणों का एक वर्ग राजकीय उच्चपदों पर तथा सेना में भी कार्यरत था। ब्राह्मणेतर वर्ग चोल युगीन समाज में मुख्यतया दो प्रकार के उद्यमियों से संकुल था—शस्त्रजीवी तथा श्रमजीवी। श्रमजीवी वर्ग में अनेक छोटे-छोटे उपवर्ग थे, उदाहरणार्थ कृषि-कर्मी, शिल्पी, व्यवसायी आदि। चोल युगीन समाज में कृषिजीवी-शूद्रों को भी ग्राम-समुदायों का सदस्य बनाया जाता था। शिल्पी अथवा व्यवसायी वर्ग के लोग अपने को पारम्परिक वैश्य-वर्ण से सम्बद्ध मानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि चोलयुगीन समाज में क्षत्रियों का अपने वर्ण-धर्म के अनुपालन पर बड़ा गहरा आग्रह था। इस काल के क्षत्रियों ने सैन्य-कर्म एवं शस्त्र-जीवन को अपने वर्ण-धर्म के अनुकूल अधिक गम्भीरता से अपनाया। वे अपने पारम्परिक वर्ण-धर्म को छोड़कर अन्य कर्मों की ओर विशेष प्रवृत्त नहीं हुये।

चोल कालीन समाज में प्रायः सजातीय विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी। लोगों में अपनी जातीय श्रेष्ठता का बड़ा भाव रहता था। नवोदित जातियों अथवा उपजातियों (वर्णसंकर-जातियों) को पारम्परिक जातियों की तुलना में निम्न एवं हेय माना जाता था। जातीय वर्गों के आधार पर चोलयुगीन नगरों में बसे विभिन्न जातियों के अलग-अलग मुहल्लों के अलग-अलग संगठन हुआ करते थे।

मन्दिर-प्रतिष्ठान प्रायः शिक्षा के औपचारिक केन्द्र होते थे। मन्दिरों की संरचनात्मक श्रेष्ठता के आधार पर तत्युगीन विद्यालयों की श्रेष्ठता का साधारणतया वोध किया जा सकता है। ग्रामीण बच्चे प्रायः स्थानीय मन्दिरों में रहने वाले पुजारियों से शिक्षा प्राप्त करते थे। मन्दिरों के अतिरिक्त वौद्ध एवं जैन-विहारों तथा मठों में भी बच्चों की पाठशालाएँ चला करती थीं। प्रायः अध्यापकों को मन्दिर, मठ अथवा विहार के संरक्षक अथवा पुजारी के रूप में नियुक्त कर दिया जाता था। अध्यापक प्रायः ब्राह्मण वर्ण के लोग ही होते थे। बड़े मन्दिरों में महाविद्यालय-स्तर की शिक्षा-व्यवस्था संचालित थी। महाविद्यालयों की शिक्षा अत्यन्त नियमित एवं व्यवस्थित होती थी। पाठ्यक्रमों की सुनिश्चित योजना तथा छात्रों की नियमित उपस्थिति चोलयुगीन शिक्षा-व्यवस्था की उच्चस्तरीयता की परिचायक है। इस काल के महाविद्यालयों में **त्रिभुवनी, इन्नाईरम्, तिरुवडुतरई** एवं **तिरुवारियुर** विशेष उल्लेखनीय हैं।

चोल कालीन समाज में दास-प्रथा विद्यमान थी। परन्तु दासों के साथ किसी प्रकार के अमानुषिक व्यवहार की सूचना नहीं मिलती है। श्रमिकों की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। वे मजदूरी करके अपनी जीविका चलाते थे। चाण्डालों (अंत्यजों) के घर प्रत्येक दशा में वस्तियों से वाहर बने होते थे। उन्हें अस्पश्र्य तथा समाज में सबसे अधिक हेय सदस्य माना जाता था।

चोलकालीन शासनप्रणाली

चोलयुगीन शासन-व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी । सम्पूर्ण व्यवस्था का मूल केन्द्र स्वयं राजा था, जो सर्वशक्तिमान् तथा शासन-तन्त्र का सर्वोच्च अधिकारी होता था । चोलनरेशों की कतिपय उपाधियाँ, यथा-त्रिलोकसम्राट्, चक्रवर्तिगल, उदैयर आदि तत्कालीन शासनतंत्र में उनकी सार्वभौमिक-सत्ता की परिचायक हैं । शासकों एवं उनकी रानियों की बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण, तन्युगीन सर्वसम्मान्य विशाल एवं पवित्र मन्दिरों में उनकी स्थापना तथा उनके नामों पर मन्दिरों के नामकरण आदि से भी चोल-राजत्व की सार्वभौम गरिमा परिलक्षित होती है ।

चोल-राजवंश की प्रारम्भिक राजधानी उरैयूर थी । राजधानी का प्रथम परिवर्तन इस वंश के शासक विजयालय ने नवीं शताब्दी में किया तथा तंजोर तंजाउर अथवा (थंजाउर) को उसने अपनी नई राजधानी बनाया । इस वंश के यशस्वी नरेश राजेन्द्र चोल ने अपने शासन काल में नवविन्यासित नगर 'गंगैकोंड चोलपुरम्' को अपनी वैभवशाली राजधानी बनाकर उसे विशेष महत्ता प्रदान की । कांची लगभग संपूर्ण चोल-शासनकाल में चोल नरेशों की उपराजधानी बनी रही ।

राजा

चोल-राजतन्त्र में राजा वंशानुगत आधार पर ही सत्ताधिकारी होता था । उत्तराधिकार के लिए कभी-कभी गृह-युद्ध होते थे । परन्तु सामान्यतया राजवंश के ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकार प्रदान करने की परम्परा प्रचलित थी । प्रायः राजा अपने शासनकाल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को 'युवराज' पद पर अभिषिक्त कर देता था । फलतः युवराज के मनोनयन के साथ ही उत्तराधिकार के लिये भावी झगड़े की संभावना क्षीण हो जाती थी । युवराज अपने पिता के राजशासन में पूरी निष्ठा एवं उत्तरदायित्व के साथ हाथ बँटाता था । फलतः राजा बनने के पूर्व उसे शासन-कार्य का पूर्ण अनुभव प्राप्त हो जाता था । राजा युवराज के अतिरिक्त अन्य राजकुमारों को महत्वपूर्ण प्रान्तों का शासक नियुक्त करता था । इसी प्रकार साम्राज्य के उच्चतम् पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं उनकी पदमुक्ति भी राजा स्वयं ही करता था । उच्चाधिकारियों को उनकी सेवा के लिये उन्हें निश्चित एवं नकद वेतन न देकर वाञ्छित भू-खण्ड प्रदान किया जाता था ।

राजा चोल-शासन-सत्ता का सर्वोच्च अधिकारी होता था । शासन का स्वरूप मूलतः राजतंत्रात्मक था । यह वंशानुगत होता था । वह संपूर्ण साम्राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था पर अपनी दृष्टि रखता था । यद्यपि चोल-अभिलेखों में मौर्यों की भाँति आमात्य-परिषद् का उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि चोल राजाओं को निरंकुश अथवा अनियन्त्रित तानाशाह भी नहीं कहा जा सकता है । राजा ही धर्माध्यक्ष माना जाता था । इस प्रकार राजा कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा धर्मानुष्ठान आदि सभी का प्रधानतम् सूत्रधार होता था । चोल साम्राज्य में नव निर्मित मन्दिरों के नाम भी प्रायः सम्राटों के नाम पर ही रखे जाते थे । राजा को व्यक्तिगत स्तर पर समयानुकूल परामर्श देने के लिये, राजप्रसाद की व्यवस्था के लिए तथा प्रशासन के विभिन्न विभागों की सम्पन्न देख-रेख के लिये बड़ी संख्या में पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति की

जाती थी। सुन्दर चोल के शासनकाल में निर्गत **अन्बिल-ताम्रपत्रों** में राजा द्वारा एक ब्राह्मण सचिव अनिरुद्ध को भूमिदान करने का उल्लेख मिलता है, जिसमें राजा ने उसे 'ब्रह्माधिराज' की उपाधि से सम्मानित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा अपने शासकीय निर्णयों के औचित्य एवं अनौचित्य पर परामर्श हेतु विद्वान ब्राह्मणों से सहायता अवश्य लेता था। राजा को साम्राज्य-प्रशासन हेतु वाञ्छित परामर्श एवं सहयोग प्रदान करने वाले योग्य ब्राह्मणों को उनकी जीविका-हेतु, भूखण्डों एवं अन्य जायदादों को समय-समय पर प्रदान की जाती थी।

राजा के प्रशासकीय आदेशों को कार्यान्वित कराने का उत्तरदायित्व **'औलै'** नामक अतिविशिष्ट पदाधिकारी को सौंपा जाता था। **औलै** सर्वप्रथम राजा की इच्छानुसार एक कच्चा राजकीय आदेश-पत्र तैयार किया करता था, जिसकी जांच राजा द्वारा नियुक्त प्रवर-समिति के पदाधिकारी **औलनायकम्** किया करते थे। औलनायकम संभवत: राजा के प्रधान सेक्रेटरी के रूप में कार्य करता था उच्च पदाधिकारियों को **'पेसन्दरम्'** तथा उनसे अपेक्षाकृत निम्न कोटि के अधिकारियों को **'शेरुतरम्'** कहा जाता था। पेरून्दरम् राजा के केन्द्रीय प्रशासन में प्रधान कर्मचारी के रूप में कार्यरत थे धार्मिक व्यवस्था के क्षेत्र में राजा आमतौर पर अपने **'राजगुरू'** से ही परामर्श लेकर उस पर अन्तिम निर्णय लेता था। इनके अतिरिक्त विडैयाधिकारिन नामक अधिकारी कार्यप्रेषक किरानी के रूप में कार्यसम्पन्न करते थे।

स्थानीय कार्यालयों का कार्य केन्द्रीय कार्यालयों के अधीन ही संचालित होता था। सम्राट् स्वयं साम्राज्य के विभिन्न शासकीय कार्यों की जाँच पड़ताल करने के लिये समय-समय पर साम्राज्य के विभिन्न अंचलों में दौरा किया करता था। चोल शासकों के अभिलेखों में लेखा-विभाग की जाँच के लिए केन्द्रीय प्रशासन द्वारा नियुक्त **'ककाणियों'** नामक पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। ये अधिकारी प्रान्तों में स्थापित स्थानीय लेखाधिकारियों के आय-व्यय की लेखापरीक्षा सम्बन्धी कार्य भी संपन्न करते थे।

प्रशासकीय इकाइयां—प्रशासन की सुविधा के लिये सम्पूर्ण चोल साम्राज्य को अनेक मण्डलों (प्रान्तों) में विभक्त किया गया था। प्रान्तों का प्रशासन सामान्यत: चोल राजकुमारों के अधीन रख कर संचालित किया जाता था। प्रत्येक मण्डल अथवा प्रान्त को अनेक विशाल भू-क्षेत्रों में विभक्त किया गया था जिन्हें 'कोट्टम्' कहा जाता था। प्रत्येक **'कोट्टम्'** को अनेक **'नाडुओं'** अथवा जनपद सरीखे भागों में विभक्त किया गया था। प्रत्येक नाडु में अनेक **'कुर्रम्'** अथवा ग्राम-समूह सम्मिलित है। कुर्रम् में ग्राम-समूहों के अतिरिक्त नगरों को भी समाहित किया गया था। चोलनरेश राजराज-प्रथम के शासनकाल में बने तत्कालीन मण्डलों की कुल संख्या 8 या 9 थी। सामान्यत: अन्य चोल नरेशों के समय में भी लगभग यही संख्या मानी जा सकती है। मण्डल-प्रशासन से लेकर ग्राम-प्रशासन तक शासकीय कार्यों में सहायता करने हेतु स्थानीय सभायें भी होती थीं,[1]। नाडु' की स्थानीय सभा 'नाटूर' तथा नगर की स्थानीय

---

1. द्रष्टव्य: बर्टनस्टेन, पीजेंट स्टेट ऐन्ड सोसाइटी इन मेडीवल साउथ इंडिया, इण्ट्रोडक्सन।

सभा का नाम 'नगरत्तार' था। इसी प्रकार व्यवसायियों एवं शिल्पियों की सभाओं का नाम क्रमशः 'श्रेणी' और 'पूग' था।

स्थानीय स्वशासन अथवा स्वायत्त शासन—चोल शासन-प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता तत्कालीन चोल साम्राज्य में विकसित स्थानीय स्वशासन प्रणाली तथा उसके संगठन में दिखलाई पड़ती है। चोल नरेशों ने स्थानीय मामलों की प्रशासन-व्यवस्था के लिए एक उच्च स्तरीय समिति प्रणाली को लागू किया जिसे 'वारियम' कहा जाता था। चोल सम्राट् परान्तक प्रथम के शासन काल में चोल प्रशासनिक प्रणाली में सुधार किए जाने के लिए दो बार 'उतिमेरिर' की सभा आहूत हुई थी। 919 और 921 ई० के उत्तर मेरूर-अभिलेखों में स्थानीय महासभा द्वारा 'वारियम' के संविधान के सन्दर्भ में कतिपय सुधारों को इङ्गित किया गया है। चोल शासनतन्त्र में सभी ग्राम-समुदायों का एक शक्तिशाली संगठन किया जाता था। इन्हीं ग्राम-संगठनों द्वारा वहां की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आदि क्रियाकलापों को आवश्यकतानुसार दिशा-निर्देश किया जाता था। इन ग्राम-समुदायों की पंचायतें उत्तरी भारतीय ग्राम पंचायतों की तुलना में किञ्चित् बड़ी आकार की थीं और अपेक्षाकृत लोगों पर अधिक प्रभाव भी रखती थीं। प्रत्येक ग्राम-समुदाय में प्रमुख सदस्यों अथवा सर्वमान्य पन्चों की एक समिति होती थी, जो जमीन की व्यवस्था तथा अन्यान्य ग्रामीण विवादों का निपटारा स्वयं करती थी। इन ग्राम पन्चायतों की कार्यप्रणाली अपने में बहुत कुछ जनतन्त्रात्मक थी। यही ग्रामपन्चायतें अपनी अनेक समितियों एवं उपसमितियों के द्वारा स्थानीय प्रशासन तन्त्र को नियंन्त्रित करती थीं। इन ग्राम-समितियों को 'वारियम्' कहा जाता था। ग्राम-समितियों के सदस्य निर्वाचित होते थे। ग्राम-पन्चायतें ग्राम-प्रशासन और प्रतिरक्षा के अतिरिक्त अपनी विभिन्न समितियों की सहायता से किसानों की आवश्यकताओं की संपूर्ति में नाना प्रकार से सहयोग प्रदान करती थीं। ग्रामपन्चायतें गांवों में सिंचाई के साधनों, उपवन, तड़ाग आदि के विकास की भी व्यवस्था किया करती थीं। पन्चायतों के निर्वाचित सदस्यों से ही ग्राम की **स्थायीसमिति, उपवनसमिति, कृषि-समिति, न्यायसमिति, तड़ाग-समिति** तथा **प्रतिरक्षा समिति** आदि विविध प्रशासकीय छोटी-छोटी ग्राम-समितियों का गठन किया जाता था। चोल युगीन ग्राम-प्रशासन के सदस्यगण कभी-कभी अपने स्थानीय सामन्तों की लड़ाइयों में सशस्त्र भाग भी लेते थे। क्योंकि ये स्थानीय सामन्त वास्तव में गांव की भूमि के स्वामी हुआ करते थे। पन्चायतें अपने आदेशों को प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्ण करवाती थीं, जिन्हें प्रायः ग्राम्य-मन्दिरों की बाह्यदीवालों पर जड़ दिया जाता था। इस प्रकार के कार्यों के लिये अर्थ संग्रह सामुदायिक शुल्क के रूप में ग्राम वासियों से किया जाता था। परन्तु सामन्तीकरण के क्रमिक विकास के फलस्वरूप चोलों के शासनकाल में इस प्रकार के ग्रामीण-समुदायों की अपनी स्वायत्तता अवान्तर काल में क्रमशः क्षीण होती गई। धीरे-धीरे वे सामान्य प्रशासनिक इकाइयों के रूप में परिणत हो गए। इन बड़े ग्राम-समुदायों की एक-एक या दो-दो ग्राम्य इकाइयों में टूटकर क्रमशः संक्षिप्त होने की प्रक्रिया तेरहवीं चौदहवीं शताब्दियों में विशेष सक्रिय हो गई थी।

प्रशासन की केन्द्रबिन्दु ग्राम-सभायें थीं। गाँव का प्रत्येक वयस्क पुरुष इस प्रकार की सभा का सदस्य होता था। सभायें प्रशासन हेतु अध्यक्ष तथा समुदाय एवं निगम

समितियों का चुनाव करती थीं। इस प्रकार की प्रत्येक समिति किसी विशिष्ट संस्था, विभाग अथवा कार्य की देख रेख का कार्य करती थी। चोल अभिलेखों में मोटे तौर पर स्वशाक्त संस्थाओं के रूप में तीन प्रकार की ग्राम-सभाओं का उल्लेख मिलता है—

ऊर, सभा तथा नगरम्

ऊर—ऊर एक सामान्य प्रकार की ग्राम-सभा थी जिसमें ग्राम, पुर या नगर दोनों सम्मिलित थे। 'ऊर' का शाब्दिक तात्पर्य है 'पुर'। इसकी कार्यकारिणी समिति को **'आलुंगणम्'** कहा जाता था। ऊर सभा का प्रमुख कार्य था—अपने प्रतिनिधियों से दस्तावेजों के मसौदे तैयार कराकर उसे लिपिवद्ध कराना इसके प्रत्येक सदस्य को पारिश्रमिक के रूप में नकद-धनराशि प्रदान की जाती थी। कभी-कभी एक बड़े गाँव में व्यवस्था-हेतु दो 'ऊर' भी होती थीं। चोलअभिलेखों से 1227 ई० में 'शात्तमंगलम्' ग्राम में इस प्रकार के दो 'ऊर' होने की सूचना मिलती है। इसी प्रकार 1245 ई० में 'अमणकुंडि' तथा 'कुमारमंगलम्' नामक बड़े ग्रामों में दो 'ऊर' होने की सूचना भी विशेष उल्लेखनीय है। 'ऊर' का प्रमुख कार्य सार्वजनिक हित के लिए तालाव अथवा वाटिका-हेतु ग्राम-भूमि का अधिग्रहण करना, उसे कर मुक्त करना अथवा उस भूमि के लगान को स्वयं वसूल करना आदि था।

ग्राम-सभा—यह मूलरूप से 'अग्रहारों' अथवा ब्राह्मण-वस्तियों की संस्था थी। इसे चोल-साक्ष्यों में **'पुरुगुरि'** कहा गया है। इसके सदस्यों को **'पेरुमक्कल'** कहा जाता था। सभा अथवा महासभा नामक संस्था सम्भवत: काञ्ची के आसपास विशेष सक्रिय थी। क्योंकि तोडमंडलम् से प्राप्त अधिकाँश अभिलेखों में सभा के कार्यों का विशेष वर्णन मिलता है। सभा का संगठन जटिल होते हुए भी ग्राम शासन की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। वे **वारियम्** नामक अपनी विभिन्न समितियों के माध्यम से कार्य-संचालित करती थीं। सभा की कार्यसमिति के सदस्यों को **'वारियप्पेरुमक्कल'** कहते थे। सदस्यों के चुनाव में कतिपय अर्हताएँ आवश्यक थीं—यथा, सदस्य के पास कम से कम $\frac{1}{4}$ वेलि (लगभग $1\frac{1}{2}$ एकड़) जीन हो, अपनी भूमि पर उसका भवन निर्मित हो, उसकी आयु 35 वर्ष से 70 वर्ष के मध्य हो तथा वह वैदिक मन्त्रों का ज्ञाता हो आदि। सामान्यत: सदस्यों की कार्य-अवधि तीन वर्ष की होती थी।

विधिवत् मनोनीत अथवा निर्वाचित सदस्यों में से तीस सदस्य कुडूम्वुओं अथवा वाडों के लिये चुने जाते थे। इनके चुनाव की प्रक्रिया बड़ी रोचक थी। अर्ह व्यक्ति का नाम अलग-अलग ताड़-पत्रों के टुकड़ों पर लिखकर किसी बड़े पात्र में डाल दिया जाता था। तत्पश्चात् उसे अच्छी तरह मिलाकर एक अल्प वयस्क बालक द्वारा पात्र में से केवल उतने ही ताड़पत्रांकित नामों को निकलवाया जाता था, जितने सदस्यों का निर्वाचन करना रहता था। उपर्युक्त विधि से मनोनीत अथवा निर्वाचित 30 सदस्यों में से 12 ज्ञानवृद्ध सदस्यों को वार्षिक समिति में, जिसे **'सम्वत्सरवारियम्'** कहा जाता था, चुन लिया जाता था। इसी प्रकार 12 सदस्यों को उद्यान समिति (तोट्टवारियम्) के लिए तथा 6 सदस्यों को तड़ाग समिति (येरिवारियम्) के लिये चुना जाता था। सदस्यों की संख्या को ग्राम-प्रशासन की आवश्यकतानुसार घटाया अथवा बढ़ाया जा सकता था तथा उनकी सेवा के निमित्त कोई पारिश्रमिक-राशि निश्चित नहीं की जाती थी।

ग्राम-सभा का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। ये सभायें अपनी कार्यविधि में एक लघु गणतन्त्र मानी जा सकती हैं। ये वस्तुतः चोल-ग्राम-प्रशासन की आधारशिला थीं। गाँव की चल-अचल सम्पत्ति, अक्षय निधियाँ, जो प्रायः अग्रहार-दान के रूप में मन्दिरों के लिये प्रदान की जाती थीं, उस गाँव की सभा के अधीन होती थीं। वे मन्दिरों की व्यवस्था सम्बन्धी समस्त कार्यों की देख-रेख करती थीं। ग्राम सभा एवं समितियाँ मन्दिरों, धर्मशालाओं, चिकित्सालयों तथा वैद्यों आदि के लिये अक्षयनिधियों को अथवा स्वर्णादि-दान देने वालों को प्रोत्साहित करती थी। ये सभायें ग्राम्य-भू-विवादों पर अपना निर्णय, भू-स्वामित्व-निर्धारण तथा कृषि-उत्पादन में वृद्धि हेतु सिचाई आदि के कार्यों की व्यवस्था करती थीं। तालावों एवं उनकी प्रणालियों द्वारा सिंचाई हेतु जल-वितरण की व्यवस्था करना भी ग्राम-सभा का प्रमुख कार्य था। अनुपयोगी अथवा अभुक्त जमीन का अधिग्रहण, तदुपरान्त उस पर सिंचाई के लिये तालाव का निर्माण, उसका रखरखाव एवं परती-भूमि पर वृक्षारोपक्ष और उद्यान-निर्माण का कार्य भी सभा ही करती थी। ग्रामोपयोगी कार्यों के लिए ग्राम-सभाएँ राज्याज्ञा पर आश्रित नहीं थीं। उन्हें ग्राम-भूमि पर कर-रोपण अथवा कर-मुक्ति का भी अधिकार प्राप्त था। चोल युगीन ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि राजकेशरि के शासनकाल में 'नालूर' की सभा ने दूकानों से उपलब्ध कर **'अंगाणिक कूवि'** को सदा के लिये एक मन्दिर के नाम जमा करके उसे सुनिश्चित कर दिया था।

ग्राम-सभा कृषि-योग्य भूमि का उचित मूल्यांकन करने में केन्द्रीय सरकारी अधिकारियों की सहायता करती थी। भूमि का वर्गीकरण ग्राम-सभा की अनुमति के विना नहीं किया जा सकता था। यही सभा भूमिकर का संग्रह करती थी तथा संग्रहीत-राशि को राजकोष में जमा भी करती थी। इन्हीं सभाओं द्वारा ग्रामीण विवादों (मुकदमों) का फैसला किया जाता था। मन्दिरों का निर्माण, जीर्णोद्धार तथा उनकी आय-व्यय का उचित प्रवन्धन ग्रामसभाओं का ही उत्तरदायित्व था। गाँव की बाजारों का नियमन, क्रय-विक्रय की व्यवस्था आदि उक्त सभा के कार्यक्षेत्र में आते थे। अकाल, बाढ़, सूखा आदि दैवी-आपदाओं के समय यह सभा सहायताकोष द्वारा संग्रहीत धन से पीड़ित जनता की मदद करती थी। ग्राम्यशिक्षा, निर्माण-कार्य, सड़क-निर्माण, चिकित्सालय-स्थापना आदि अनेक लोकहितकारी कार्य ग्राम-सभाओं के द्वारा ही संचालित होते थे। ग्राम-सभा की बैठक प्रायः गाँव के मन्दिर में अथवा तालाव के किनारे तथा कभी-कभी वाटिका अथवा पेड़ के नीचे होती थीं। बैठक की तिथि, समय तथा स्थान की सूचना ग्रामवासियों को ढोल-पीटकर दी जाती थी। सभा की कार्यवाही सभी सदस्यों की उपस्थिति के उपरान्त ही प्रारम्भ की जाती थी। सभा द्वारा अनुमोदित प्रस्तावों को कार्यवाही समाप्त करने के समय लेखबद्ध कर लिया जाता था।

नगरम्—चोल-अभिलेखों में 'नगरम्' का उल्लेख प्रायः व्यापारिक केन्द्रों के प्रवन्ध-कार्य हेतु किया गया है। व्यापारी-समुदाय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रशासकीय सभा **'नगरम्'** थी। 'नगरम्' को व्यवस्था की दृष्टि से कई उपभागों में विभक्त किया गया था। मामल्लपुरम् से प्राप्त एक चोल-अभिलेख में 'नगरम्' के चार भागों का वर्णन मिलता है, जिसके प्रत्येक भाग में 100 मणै अथवा व्यापारिक भवन-स्थान सम्मिलित थे। 'नगरम्' का उल्लेख चिदम्बरम् से प्राप्त एक अभिलेख में ग्राम-सभा से पृथक्

प्रशासन इकाई के रूप में किया गया है। चोलशासक राजराज प्रथम के शासनकाल में उत्कीर्णित एक अभिलेख में, जो सुप्रसिद्ध राजराजेश्वर मन्दिर की दीवाल पर अंकित है, ऐसी ही चार **'नगरम्'** प्रशासन इकाइयों का उल्लेख किया गया है। **'नगरम्'** की प्रशासन-व्यवस्था में मुख्य रूप से व्यापारियों को ही सम्मिलित किया जाता था। विभिन्न व्यापारिक वर्गों, प्रतिष्ठानों तथा उद्योगों पर कर की दरों का निर्धारण तथा वसूली का दायित्व 'नगरम्' का ही होता था। **तक्कोलम्** (उत्तरी अर्काट) से प्राप्त एक अभिलेख में 'नगरम्' के प्रशासन के दो वर्गों का उल्लेख किया गया है—**नगरत्तर** तथा **व्यापारिनगरोत्तम्**। चोलयुगीन अभिलेखों, आवश्यक लेखों एवं कागजात की देखरेख के लिए नियुक्त लिपिक (**नगरकरणतार**) और लेखाधिकारी को **'नगरक्कण्णवक्कु'** कहा गया है।

नगरों में विक्रय हेतु लाई गई वस्तुओं पर उचित कर-निर्धारण एवं करसंग्रह का दायित्व 'नगरम्' का ही होता था। **राज राजेश्वर मन्दिर** पर अंकित एक चोल-अभिलेख के अनुसार फल, केसर, गन्ना, मसाले, पान, सुपाड़ी तथा खाद्यानों का विक्रीकर 'नगरम्' के कोष में संग्रहीत होता था। इसी प्रकार चोलकालीन नगरों में विकसित हथकरघों, चक्कियों (**चेक्किरै**), नामक-निर्माण उद्योगों (**उप्पायम्**) व्यापारिक-प्रतिष्ठानों (**अंगाडिपट्टम**), बाटों (**इडैवरि**), स्वर्णकारों (**तट्टोपाट्टम्**) आदि प्रतिष्ठानों से कर-संग्रह का कार्य 'नगरम्' के अधीन था। 'नगरम्' सभा संग्रहीत-धन का उपयोग नगरविकास यातायात की व्यवस्था, हाटबाजार की व्यवस्था तथा नगरों के व्यापारिक और औद्योगिक-विकास हेतु आवश्यकतानुसार समय-समय पर कर सकती थी।

नाडु—'नाडु', 'कोट्टम' की छोटी प्रशासकीय संस्था थी, जिसकी अपनी पृथक् सभाएँ होती थीं। 'नाडु' में अनेक ग्रामों का समूह अथवा 'कुर्रम' समाहित होता था। अतः इसे नगरम् तथा सभा या महासभा से बड़ी स्थानीय प्रशासन की संस्था माना जा सकता है। सम्भवतः 'नाडु' राजस्व-निर्धारण-सम्बन्धी वृहद् अधिकार रखती थी तथा उपर्युक्त ग्राम-सभा तथा नगरम् की प्रशासनिक संस्थाओं की गतिविधियों पर भी दृष्टि रखती थी। 'नाडु', अक्षय-सम्पत्ति का अधिग्रहण कर सकती थी तथा अपने नाम से दान देकर उसकी सम्यक् व्यवस्था करती थी। सम्भवतः 'नाडु' सभा के सदस्य उपर्युक्त सभाओं से मनोनीत हुआ करते थे। 'नाडु' सम्भवतः जनपद-प्रशासन की भाँति अपना कार्य सम्पादित करती थी।

आय-व्यय व्यवस्था—चोल साम्राज्य में आय के अनेक साधन थे। राज्य की आय का प्रमुख साधन भू-राजस्व था। चोल नरेशों ने कृषि-कर्म के समुचित उन्नयन के लिये सिंचाई के साधनों के सम्यक् विकास पर यथेष्ट ध्यान दिया था। भूराजस्व के निर्धारण तथा कृषि-योग्य भूमि के वर्गीकरण हेतु समय-समय पर भूसर्वेक्षण, वर्गीकरण तथा भूमि की नाप-जोख सम्पन्न की जाती थी। चोल-अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि राजराज प्रथम तथा कुलोत्तुंग प्रथम के शासन कालों में भू-राजस्व को निश्चित करने के लिए सम्पूर्ण राज्य की भूमि को पैमाइश की गई थी। इन सर्वेक्षणों से प्राप्त विवरणों को भू-पंजिकाओं में भलीभांति लेखबद्ध कर लिया जाता था। इससे कृषि योग्य-भूमि के स्वामित्व का निर्धारण भी हो जाता था। परन्तु कभी-कभी राजकीय पंजियों में दर्ज भू-स्वामी एवं जमीन पर कब्जा रखने वाले वास्तविक भू-स्वामी में अन्तर पाये जाने पर

सरकारी अधिकारियों की देखरेख में ग्राम-सभा वास्तविक भू-स्वामित्व के निर्धारण हेतु पुनः सर्वेक्षण करवाती थी। भू-स्वामित्व के निर्धारण की उपर्युक्त प्रक्रिया की पुष्टि तिरुमंगलम (तंजोर जनपद) से प्राप्त एक चोल-अभिलेख से होती है। भूमि-कर का निर्धारण सामान्यतः खेत की उर्वरता एवं वार्षिक फसलचक्र को ध्यान में रखकर किया जाता था। उपज की दृष्टि से भूमि को कुल बारह कोटियों, में विभाजन किये जाने का उल्लेख चोल-अभिलेखों में किया गया है। परन्तु इन अभिलेखों में भू-राजस्व की वास्तविक दरों का संकेत नहीं किया गया है। भूमि-कर सम्भवतः उपज का तिहाई हिस्सा निश्चित किया जाता था, जो अन्न अथवा धन किसी भी रूप में वसूल किया जाता था। प्रत्येक ग्राम तथा नगर में कुछ जमीन करों एवं उपकरों से मुक्त रहती थी। करमुक्त भू-खण्डों में, कारीगरों और शिल्पियों के आवास-स्थान (**कम्माणच्चेरि**), चांडालों की बस्तियाँ, मन्दिर, तालाब, नहरें तथा श्मशान-भूमि विशेष उल्लेखनीय है। भूमि-भवन-करों (काणि) से मुक्त सजीनों में कुम्हार, लौहकार, स्वर्णकार, बढ़ई, रजक, बकरों की बलि का स्थान भी महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। गाँव की भूमि की लगान प्रायः ग्राम-सभाएँ वसूल करती थीं, तथा संग्रहीत-कर को केन्द्रीय राजस्व-कोष में जमा किया जाता था।

चोल-अभिलेखों में भूमि-कर के अतिरिक्त अनेक प्रकार के करों एवं उपकरों की सूचियाँ द्रष्टव्य हैं—उदाहरणार्थ—**आयम** (राजस्व), **मरमज्जाडि** (उपयोगी वृक्षकर), **कडमै** (सुपाड़ी की बागात पर कर), **मनैइरै** (गृहकर), **कढ़ैइरै** (व्यापारिक प्रतिष्ठान-कर), **पेविर** (तेलघानी-कर), **किडाक्काशु** (नर-पशुधन-कर), **कडिमै** (लगान), **पाडिकावल** (गाँव-सुरक्षा-कर), **वाशल्पिरमम्** (द्वारकर), **मगन्मै** (स्वर्णकार, लौहकार, कुम्भहार, बढ़ई आदि के पेशे पर लगने वाला कर), **आजीवक्काशु** (आजीविकों पर लगने वाला कर) तथा शिल्प-कर आदि। करों की वसूली एवं केन्द्रीय कोष में जमा करने का कार्य अधिकांशतया स्थानीय-प्रशासन के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था। परन्तु कर-वंचन आदि दोषों से स्थानीय प्रशासन को दूर रखने के लिए केन्द्रीय राजस्व-अधिकारियों का दल समय-समय पर निरीक्षणार्थ दौरा किया करता था। राजस्व विभाग के प्रमुख अधिकारी **'वरित्पोत्तगकक्'** कहलाते थे। वे अपने-अपने अधिकार क्षेत्र के आय-व्यय का हिसाब रखते थे। नगरों में कर-संग्रह का उत्तरदायित्व **'नगरम्'** समिति के अधीन होता था, जो विभिन्न प्रकार के विक्री-करों तथा शिल्प-करों को वसूल करके केन्द्रीय कोष में जमा करती थी।

करों की वसूली में चोल शासन-तन्त्र बहुत कठोर था। तंजोर से प्राप्त तेरहवी शती के एक चोल-लेख के अनुसार चोल-राज्य का एक व्यक्ति, जिस पर दस वर्ष का लगान बकाया था, अपना गाँव चोरी से छोड़कर पाण्ड्य राज्य में जाकर बस गया। ग्राम-सभा ने कर-वसूली के निमित्त उस व्यक्ति की जमीन का अधिग्रहण करके उसे बेंच दिया तथा बकाया लगान की धनराशि को केन्द्रीय कोष में जमा कर दिया। कर-वंचकों को उत्पीड़ित करके उनसे कर-राशि बलपूर्वक वसूल की जाती थी। कर अदा न कर पाने की स्थिति में ग्राम-सभा उसकी सम्पत्ति को नीलाम (**समैविलै**) कर देती थीं। लगान न दे पाने की स्थिति में कभी-कभी मन्दिरों को भी अपनी जमीन बेचनी पड़ती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक चोलनरेशों के शासनकाल में कर-वसूली की व्यवस्था

अधिक मानवीय थी। परन्तु परवर्ती शासकों के शासनकाल में इस व्यवस्था में सामंतीकरण के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप शारीरिक उत्पीड़न को प्रश्रय दिया जाने लगा था। परवर्ती चोल अभिलेखों में कर अदा न कर पाने वाले व्यक्तियों एवं प्रतिष्ठानों के साथ की जाने वाली उत्पीड़नात्मक कार्यवाहियों की सूचनाओं से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। स्वायत्तशासी चोल-अर्थव्यवस्था के विघटन में सामन्तों की शक्ति के विस्तार का प्रमुख हाथ था। संचित राजस्व का उपयोग राजा साम्राज्य के सैन्य-संगठन, अन्तःपुर एवं राजमहलों की शान-शौकत, केन्द्रीय कर्मचारियों के वेतन, नगरविन्यास, दुर्ग-निर्माण, प्रासाद-निर्माण, राजमार्ग-निर्माण तथा सिंचाई आदि व्यवस्थाओं पर करता था। चोल नरेश केन्द्रीय राजस्व का उपयोग प्रायः विशाल मन्दिरों के निर्माण, बन्दरगाहों तथा समुद्री-जहाजी-बेड़ों के विकास पर अधिक किया करते थे। इसके अतिरिक्त राजस्व का बहुत बड़ा हिस्सा राजकीय दानों, यज्ञों तथा विभिन्न महोत्सवों पर भी खर्च होता था।

सैन्य संगठन—चोल-नृपतियों की सैन्य-शक्ति विशाल थी। **आर० सथियनथैयर** के अनुसार चोलों की कुल सैनिकों की संख्या डेढ़ लाख के आस-पास थी। उनकी अपनी स्थायी सेना होती थी जिसमें पैदल, गजारोही तथा अश्वारोही आदि सैनिक सम्मिलित थे। चोलों की अश्वसेना (मूनरुकैमहासनै) में घोड़ों को अरब देशों से आयात किया जाता था। गजसेना नदी-बहुल एवं जंगली क्षेत्रों पर आक्रमण के समय विशेष उपयोगी सिद्ध होती थी, क्योंकि उस पर सवार होकर अधिकांश सैनिक बड़ी-बड़ी नदियों एवं सघन जंगली-प्रदेशों को पार कर लेते थे। चोल-सेना में लगभग 60 हजार हाथी थे। यह संख्या देश-काल को ध्यान में रखते हुये किञ्चित् अतिरंजित प्रतीत होती है। महान् चोल नरेश राजराज प्रथम एवं राजेन्द्र चोल के शासनकाल में चोल नौ-सेना की शक्ति में विपुल विस्तार हो चुका था। उपर्युक्त नरेशों ने नौ-सेना के बल पर लंका, पूर्वी समुद्र-तटवर्ती राज्यों एवं दक्षिणी पूर्वी एशियाई द्वीपों पर विजय प्राप्त की थी। बंगाल की खाड़ी तो नौ-सेना के फलस्वरूप 'चोलों की झील' बन गई थी।

थल सेना अनेक दलों में विभक्त थी। उनमें **बड़पेर्र कैककोलस** (राजा की सुरक्षा में तैनात पदाति-दल) **कुंजिर-मल्लर** (गजारोही-दल), **कुदिरै च्चैवगर** (अश्वारोही-दल) तथा **बिल्लिगड़** (धनुर्धारी दल) विशेष उल्लेखनीय थे। पदाति सैन्य-दल में **कैककोलस** (अति शक्तिशाली बाहुबली) तथा **शैगुन्दर** (भाला चलाने में निपुण सैनिक) प्रमुख थे। राजा के अंगरक्षक विशेष विश्वसनीय व्यक्ति होते थे, जिन्हें **'वेलैक्कार'** कहा जाता था। अंगरक्षक स्थायी सैनिक होते थे। सेना की विभिन्न टुकड़ियाँ अलग-अलग गुल्मों अथवा छावनियों (**कडगम**) में रहती थीं। सैनिकों के प्रशिक्षण एवं अनुशासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। चोल-सेना में सभी वर्णों के व्यक्ति सम्मिलित थे। शांतिकाल में सैनिक सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास में योगदान करते थे। विजय प्राप्ति के उपरान्त सेनापति को सम्मानसूचक उपाधि से अलंकृत किया जाता था।

राजा सैन्य-संगठन का प्रधान होता था तथा युद्धकाल में प्रायः वही सेना का नेतृत्व करता था। राजा के अतिरिक्त युद्ध के समय युवराज (राजकुमार) एवं सेनाध्यक्ष भी आवश्यकतानुसार सैन्य-दल का नेतृत्व करते थे। सेना की टुकड़ियों को 'नायक' के

अधीन रखा जाता था। सेनाध्यक्ष को 'महादण्डनायक' कहा जाता था। शत्रु-देश पर आक्रमण के समय तथा विजय-प्राप्ति के उपरान्त चोल-सेना वहाँ की जनता के साथ बर्बरता के साथ व्यवहार करती थी। वे प्रायः स्त्रियों के साथ अभद्रतापूर्ण आचरण के अतिरिक्त पराजित जनता को लूटने में भी रुचि रखते थे। इस दोषपूर्ण व्यवहार के अतिरिक्त शेष चोल-सैन्य-संगठन नितान्त व्यवस्थित माना जा सकता है।

न्याय व्यवस्था—राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश राजा होता था। कतिपय चोल-अभिलेखों में **'धर्मासन'** अर्थात् अंतिम न्याय-प्राप्ति हेतु राजदरबार का उल्लेख मिलता है। धर्मासन का निर्णय **'धर्मासनभट्ट'** (स्मृतिशास्त्रज्ञ ब्राह्मण विद्वान) की सहायता से ही लिया जाता था। परन्तु **'धर्मासन'** तक पहुँचने में पहले वादी को न्यायालय की छोटी इकाइयों से प्राप्त निर्णयों से गुजरना पड़ता था। मुकदमों पर प्रारम्भिक निर्णय देने का अधिकार ग्राम पंचायतों को प्राप्त था। छोटे-छोटे मुकदमों का निर्णय स्थानीय निगमों द्वारा ले लिया जाता था। चोल-अभिलेखों में न्यायसमितियों को 'न्यायतर' कहा गया है। विवादों की प्रकृति के अनुसार 'न्यायतर' न्यायालय उन पर निर्णय लिया करती थी। विवादों पर अंतिम निर्णय **'धर्मासन'** न्यायालय का होता था।

चोलों की दण्ड-न्याय-व्यवस्था उदार थी। हत्या जैसे जघन्य अपराधों के अतिरिक्त अन्य अपराधों में आर्थिक दण्ड अथवा सामाजिक-अपमान करने का दण्ड दिया जाता था। अपराध सिद्ध होने पर अभियुक्त को एक हजार काशु (मुद्रा) तक अर्थदण्ड जमा करना पड़ता था। परन्तु कर-प्रवंचकों, चोरों, डाकुओं, बलात्कारियों एवं व्यभिचारियों को शारीरिक दण्ड, अर्थदण्ड देने के अतिरिक्त उनको सामाजिक अपमान प्रदान करने हेतु उन्हें गधे पर बैठाकर ग्राम अथवा नगर के मुहल्लों में घुमाया जाता था। संयोगवश हुए हत्या के अभियुक्त को गायों, भेड़ों, अथवा अधिक मात्रा में अर्थदन्ड में से कोई भी जुर्माने के रूप में जमा करना पड़ता था। परन्तु जान-बूझकर निर्मम हत्या करने के अभियोग में अभियुक्त को अंगच्छेद, मृत्यु-दन्ड अथवा आजन्म-कारावास की सजा भोगनी पड़ती थी। मृत्युदण्ड प्रायः हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा कर प्रदान किया जाता था।

चोलकालीन धार्मिक आन्दोलन

चोलयुग धार्मिक अभ्युत्थान के लिए उल्लेखनीय है। दक्षिण भारत में महान् पल्लव राजवन्श के उपरान्त शक्तिशाली चोल राजवन्श (850-1200 ई०) का विकास संभव हुआ। चोल नरेशों के शासनकाल में दक्षिण भारत में पौराणिक शैव एवं वैष्णव धर्मों का पुनर्जागरण बड़ी तेजी से लोकप्रिय एवं गतिशील किया गया। उपर्युक्त धर्मों के प्रचारक शैव-नायनारों तथा वैष्णव-आलवरों के धार्मिक गीतों, भजनों एवं प्रवचनों में अलौकिक जादुई शक्ति भरी हुई थी। फलतः दक्षिण भारत में हिन्दू धर्म की पुनर्स्थापना का व्यापक आन्दोलन इस युग की एक उल्लेखनीय घटना है। इन धर्मों की अतिशय लोकप्रियता एवं प्रभाव के फलस्वरूप दक्षिण भारत से जैन एवं बौद्ध धर्मों की जड़ें उखड़ने लगी और वे पश्चिमी दक्कन में आकर बसते जा रहे थे। चोल नरेश कट्टर शैव थे तथा

शैव-धर्म की स्थापना एवं प्रसार में गहरी रुचि रखते थे। प्राथमिक चोलशासक **आदित्य प्रथम** ने शिव-आराधना के लिए अनेक शिव-मन्दिरों का निर्माण कराया था। **आन्विलताम्रपत्रों** से विदित होता है कि उसने कावेरी नदी के दोनों तटों पर विशाल शिवमन्दिरों का निर्माण कराकर तमिल प्रदेश में शैव धर्म के प्रचार एवं प्रसार में योगदान किया था। इन मन्दिरों के निर्माण से सह्य पर्वत एवं समुद्रपर्यन्त तटीय भू-भागों के लोग शिवोपासक हो गये। आदित्य प्रथम का पुत्र एवं उत्तराधिकारी परान्तक भी शैव था। **तिरुवालंगाडु-ताम्रपत्र** में उसे शिवचरणकमलों पर अनुरक्त भ्रमर कहा गया है। उसने पुरारि (शंकर) की भक्ति में **'दभ्र-सभा'** को निर्मित कराया था। **(पुरारेरकृत स दभ्रसभा-भिधानमोकः) लीडन-दानपत्रों** से पता चलता है कि उसने **चिदम्बरम्** के **'नटराज मन्दिर'** को स्वर्णाभूषणों से अलंकृत करके अपनी शिव-भक्ति की पुष्टि की थी। महान् चोल-सम्राट **राजराज प्रथम** ने जो महान् शैव था, इस धर्म को लोकप्रियता की पराकाष्ठा पर पहुँचाने का प्रयास किया। उसने **तंजोर (थंजाउर)** में विश्वविख्यात **'राजराजेश्वर'** अथवा **'बृहदीश्वर'** मन्दिर का निर्माण करवाया। इस मन्दिर की ऊँचाई लगभग 70 मीटर रखी गई थी। इस विशाल मन्दिर के निर्माण से तत्कालीन समाज में शैवधर्म की व्यापक लोकप्रियता का आकलन किया जा सकता है। राजराज की **'शिवपादशेखर'** की उपाधि उसकी शैवधर्मपरायणता को इङ्गित करती हैं। राजेन्द्र चोल ने ब्राह्मणधर्म के पुनर्स्थापना के लिए वेद, वेदान्त आदि विषयों के पठन-पाठन हेतु अनेक विद्यालयों को भूमि-दान किया। उसने विश्ववन्द्य पवित्र गंगा-जल से तमिल देश की धरती पर **'गंगैकोंडचोलपुरम्'** नामक राजधानी का विन्यास किया तथा उसी पवित्र जल से अपना वीराभिषेक कराया। शैवधर्म को पुनर्स्थापित करने के लिये राजेन्द्र चोल ने अपनी उपर्युक्त राजधानी में परमभव्य, विशाल एवं द्राविड़ वास्तुकला की श्रेष्ठतम् कृति वृहदीश्वर शिव मन्दिर का निर्माण करवाया। उसके शासनकाल में शैवधर्म दक्षिण भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित हुआ। चोल शासक राजाधिराज ने वैदिक धर्म से अनुप्राणित होकर **अश्वमेघ-यज्ञ** सम्पन्न किया। इसी प्रकार **वीर राजेन्द्र चोल** (1062-63-1070 ई०) के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसके शासनकाल में वैदिक एवं पौराणिक धर्मदर्शन की शिक्षा एवं धर्म के पुनरुत्थान के लिये साम्राज्य में चतुर्दिक वैदिक विद्यालयों की व्यवस्था की गई थी। **कुलोत्तुंग प्रथम** के शासनकाल में संम्भवतः बौद्धधर्म का प्रभाव यत्रतत्र प्रभावशाली होने लगा था, तथापि दक्षिण भारत की अधिकांश जनता शैव एवं वैष्णव धर्मों की ही अनुगामिनी थी। चीन के सांग-राजवंश के समय के इतिवृत्तों से ज्ञात होता है कि उसके शासनकाल में चोल एवं चीन देश के राज्यों में दौत्यसम्बन्ध स्थापित थे। 1079 ई० के एक चीनी लेख के अनुसार कुलोत्तुंग प्रथम ने कैंटन के बौद्ध-विहार के लिए 6,00,000 स्वर्ण मुद्राएँ प्रदान की थी। कुलोत्तुंग प्रथम के पुत्र एवं उत्तराधिकारी **विक्रमचोल** ने 1128 ई० में अपने कुलदेवता **चिदम्बरम्** के नटराज मन्दिर के निर्माण को बढ़ाने के लिये विपुल धनराशि प्रदान की थी। **एस० के० आयंगर** की धारणा है कि वह संभवतः वैष्णव था क्योंकि उसी के राज्यकाल में अपने लम्बे-प्रवास के बाद वैष्णव आचार्य **रामानुज** काँची वापस लौटे थे। कुलोत्तुंग प्रथम शैव था। उसके समकालीन लेखक **ओट्टक्कूतन** के **कुलोत्तुंग शोलनउला** में कहा गया है कि अपने आराध्य शिव की भक्ति में अति अनुरक्ति के कारण उसने **चिदम्बरन्** के मन्दिर में स्थापित **'गोविन्दराज**

विष्णु की प्रतिमा को उठवाकर समुद्र में फेंकवा दिया था। कहा जाता है कि रामानुज ने इसी प्रतिमा को उठवाकर बाद में तिरुपति के विशाल वैष्णव मन्दिर में स्थापित करवाया था।

चोल शासकों द्वारा अपनाया गया शैव-धर्म तत्कालीन समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। इस काल में दार्शनिक ग्रन्थों का लेखन अधिक हुआ, जिनमें शैवसिद्धान्तों की व्यापक व्याख्यायें निबद्ध की गई हैं। नीलकंठ शास्त्री[1] का अनुमान है कि चोल नरेशों के राजगुरू शैव थे तथा वे शिष्यानुक्रम में ही उनके राजगुरू मनोनीत किए जाते थे। राजराज प्रथम तथा राजेन्द्र चोल के अभिलेखों में क्रमशः ईशानशिव तथा शर्वशिव को राजगुरुओं के रूप में परम श्रद्धेय एवं पूज्य उद्‌घोषित किया गया है। कुलोतुङ्ग प्रथम (1070-1120 ई०) के चोल-राजदरबार में इन गुरुओं के व्यापक प्रभाव की पुष्टि उसके अभिलेखों में इङ्गित है। इसी प्रकार कुलोतुङ्ग तृतीय (1182-1216 ई०) के अभिलेखों से भी राजदरबार एवं शासन पर शैव-गुरुओं के प्रभाव की सूचना मिलती है। हर प्रसाद शास्त्री द्वारा प्रकाशित 'कर्मक्रियाकाण्ड' की पांडुलिपियों में ईशानशिव की वंशपरम्परा में क्रमशः हुए शैवगुरुओं की सूची प्रदत्त है[1]—

"श्रीशाननामा शिवतुल्यधामा तस्याथ शिष्यो विमलेशनामा।
तस्यापि शिष्योस्ति (शिवै) शर्व विशवात्मा शिष्यो भवद्यस्य च सोमशम्भुः॥"

चोल-लेखों से ज्ञात होता है कि ईशानशिव के बाद विमलशिव क्रमशः चोलशासकों के राजगुरु मनोनीत हुए। चोलशासक राजेन्द्र प्रथम के विषय में यह अभिलेखिक सूचना मिलती है कि वह शर्वशिव एवं उनके शिष्यों तथा आर्यदेश, मध्यदेश तथा गौड़ देश में स्थापित शैवमठों के लिए आचार्य-भोग के लिये विपुल अन्नदान दिया करता था। शर्वशिव के शिष्य सोमशम्भु ने अनेक शैवसिद्धान्तग्रन्थों को निबद्ध किया था।

त्रिलोचनशिवाचार्य द्वारा प्रणीत 'सिद्धान्त-सारावली[2] से पता चलता है कि अपने उत्तर भारतीय अभियान के समय गङ्गा नदी में पवित्रस्नान करने के उपरान्त राजेन्द्र चोल ने स्वदेश लौटते समय अपने साथ उत्तर भारत के कतिपय महान् शैवाचार्यों को अपनी राजधानी में बुलाकर बसने का निमन्त्रण दिया था—

"राजेन्द्रचोल इत्याख्यः चोलभूपो महीं वसन्।
गंगा स्नानार्थममागत्य दृष्टवा शैवान्वरान्तदा॥
स्नात्वा प्रतिनिवृत्तस्सन् तान् समादाय शैवकान्।
स्वराज्ये स्थापयामास शैवाचार्य वरांस्तदा।
कांचीमध्ये चौमभूमौ सर्वत्रैव प्रविस्तराः॥"

उपर्युक्त साक्ष्यों के आलोक में यह कहना यथेष्ट लगता है कि चोलनरेश शैवधर्म के प्रचार-प्रसार एवं दक्षिण भारत में उसकी पुनर्स्थापना के लिए स्वयं बड़े प्रयत्नशील थे। शैवधर्म एवं सिद्धान्तों को व्यवस्थित करने तथा लोकजीवन तक उसे पहुँचाने के उद्देश्य से ही इस वंश के अधिकांश शासकों ने विशालतम् एवं भव्यतम् शिवमन्दिरों, शिवलिङ्गों

1. नीलकंठ शास्त्री, चोलाज पृ० 484
1. द्रष्टव्य, वी० एस० पाठक, शैवकल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० 38
2. द्रष्टव्य, आ० स० इ०, आ० रि०, 1911-12, 0 176.

तथा शैव प्रतिमाओं के निर्माण में गहरी रुचि ली थी। चोलयुगीन भक्तिगीतों और मन्दिरों एवं उनके निर्माता-शासकों की प्रशस्तियों से उक्त कथन की पुष्टि होती है। भक्तिगीतों के अतिरिक्त शैक्किमर द्वारा प्रणीत **'तिरुत्तोण्डार पुराणम्'** अथवा **'पेरिय-पुराणम्'** में शैवधर्म पर लिखे गए तत्कालीन अन्य ग्रन्थों का भाषानुवाद भी किया गया। इस पुराण को तमिल-शैव-साहित्य के इतिहास में अन्यतम् महत्ता प्रदान की गई है। शेक्किलार ने शैव-धर्मोपदेशक सुन्दरमूर्ति तथा नांवी अण्डार नाम्वी द्वारा रचित शैवधर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या करके उनके द्वारा प्रतिपादित शैवधर्म में गहरी भक्ति रखने को उपर्युक्त पुराण में मान्यता दी है। नाम्वी अण्डार नाम्वी ने चोलयुगीन शैवसिद्धान्तों को 11 पुस्तकों में संग्रह करके उन्हें संपादित किया है। इन संग्रह-ग्रन्थों ने शैवधर्म के विकास में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। इन संग्रहों की प्रशंसा में प्रसिद्ध शैवाचार्य उमापति ने **'तिरुयराइकाण्ड-पुराणम्'** (14वीं सदी) नामक प्रशंसा-गीत लिखा था। नाम्वी द्वारा संपादित संग्रह-ग्रन्थों में तत्कालीन शैव-धार्मिक स्थानों, मन्दिरों, मठों आदि के क्रियाकलापों का भी उल्लेख मिलता है।

चोल-युगीन समाज में शैवधर्म की भाँति वैष्णव-धर्म का भी व्यापक प्रचार, प्रसार एवं विकास हुआ। इन काल में बने विष्णु-मन्दिरों तथा विष्णु, लक्ष्मी आदि देवों की बहुसंख्यक मूर्तियों के निर्माण एवं उनकी पूजा-अर्चना आदि से वैष्णवधर्म के पुनर्जागरण एवं उसकी व्यापक लोकप्रियता का आकलन किया जा सकता है। **भागवत पुराण**[1] में एक स्थल पर आख्यात है कि द्रविड़-देश में, जहाँ ताम्रपर्णी, कावेरी तथा अन्य पवित्र नदियाँ प्रवाहित हैं, नारायण (विष्णु) के भक्त अधिक होंगे तथा वे विशुद्ध हृदय से भक्ति में संलग्न होंगे। भागवत पुराण की इस उक्ति से ज्ञात होता है कि सम्भवतः 7वीं सदी से 11 वीं सदी के मध्य द्रविड़-देश में हुए वैष्णवधर्म के आन्दोलन की सूचना सम्पूर्ण भारत को ज्ञात हो चुकी थी। **आर० जी० भण्डारकर**[2] का अनुमान है कि भागवत पुराण 12 वीं, एवं 13वीं सदी तक सम्पूर्ण देश में लोकप्रिय हो चुका था क्योंकि **आनन्दतीर्थ** (1199-1278 ई०) ने इसे महाभारत के समकक्ष मानकर, इसके धार्मिक एवं दार्शनिक तात्पर्यों को व्याख्यायित करने के लिये एक ग्रन्थ लिखा था। उनका अनुमान है कि द्रविड़ वैष्णव-भक्ति परम्परा 11 वीं सदी तक सम्पूर्ण देश में व्यापक लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी। इन वैष्णव-सन्तों को 'आलवर' कहा गया है। **कृष्णस्वामी आयंगर तिरुमङ्गै आलवर संत** को, जो आलवर सन्त परम्परा में आठवें महान सन्त थे, को 8वीं सदी के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न माना है। उक्त संत ने तमिलभाषा में सरस भक्तिगीतों को रचकर दक्षिण भारत में वैष्णव-धर्म के विकास की भक्तिगंगा प्रवाहित कर दी थी। आलवरों की तमिल-रचनाएँ वेदों के समान मान्य, पूज्य एवं पवित्र मानी जाती थीं। फलतः इन सन्तों की जगह-जगह भगवान विष्णु के समान प्रतिमाएँ बनाई गई तथा विष्णु की प्रतिमाओं के समान वे भी तमिल समाज में पूजी जाने लगीं। इस युग में तमिल-कविताओं के अतिरिक्त अधिकांश वैष्णव-धार्मिक-साहित्य संस्कृत भाषा में प्रणीत किया गया है। इन संस्कृत-ग्रन्थों के लेखक-आचार्य आलवरों से पृथक् वर्ग के थे।

---

1. भागवत पुराण, स्कन्ध 11, अ० 5, श्लोक 38-40।
2. आर० जी० भण्डारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० 55, 56।

प्रारम्भिक लेखकों में **नाथमुनि** ने 4000 भक्ति-गीतों का संग्रह एवं सम्पादन किया था। उन्होंने ही दक्षिण भारतीय द्रविड़ समाज में सर्वप्रथम आलवर सन्तों तथा तमिल-प्रबन्धों की पूजा की परम्परा डाली। वे **श्रीवैष्णव सम्प्रदाय** के आद्य, जनक एवं आचार्य थे। उन्होंने तमिल **'प्रबन्धम्'** को वेद के सदृश मान्यता प्रदान की तथा श्रीरंगम् के मन्दिर में **'प्रबन्धम्'** के भक्ति-गीतों के नियमित पाठ की शुरूआत की थी। वे राजेन्द्र चोल के समकालीन माने जाते हैं। उनके पौत्र **यमुनाचार्य** अथवा **आलवंडार** ने भी इस कार्य के विकास में योगदान दिया। इस परम्परा में महान् **वैष्णवाचार्य रामानुज** पैदा हुये; जिनका वैष्णव-आलवरों में पूर्ण अनुराग तथा विष्णु की भक्ति में अटूट विश्वास था। रामानुज का जन्म 1016 अथवा 1017 ई० में हुआ था। उनकी शिक्षादीक्षा काञ्चीवरम् में हुई थी। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। वेदान्तदर्शन के ज्ञाता होने के साथ ही वे अद्वैत-दर्शन तथा अद्वैतवाद में रुचि रखते थे। वे कुछ काल तक तत्कालीन विख्यात अद्वैत दर्शन के प्रचारक **यादव प्रकाश** के अनुयायी हो गये थे। परन्तु उनकी गम्भीर रुझान वैष्णवधर्म में थी। फलतः वे अपने अद्वैतवादी दार्शनिक उक्त गुरु से सन्तुष्ट न हो सके। फलतः वे अद्वैतवाद से विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णवधर्म के चिन्तन-मनन में जुट गये। प्रारम्भ में उन्होंने आलवर-सन्तोंके भजनों को पढ़ा और उनमें विवृत भक्ति-भाव को आत्मसात् किया। बाद में वे सुप्रसिद्ध वैष्णव यामुनाचार्य के सम्पर्क में आये और उनके शिष्य बन गये। अन्ततः वे अपने गुरू की मृत्यु के बाद सम्प्रदायाचार्य बन गये। त्रिचनापल्ली के निकट श्रीरंगम् के मठ में रहकर उन्होंने वैष्णवधर्म के अभ्युत्थान के लिए अनेक महान् कार्य किया। उन्होंने अपने शिष्यों के साथ भारत के प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा की थी। उन्हें वैदिक एवं पौराणिक-धर्मों तथा दार्शनिक-सिद्धान्तों का पूर्ण बोध था। सम्प्रदाय के प्रधान गुरू एवं उपदेशक के रूप में उन्होंने **शंकराचार्य** के मायावाद का खन्डन किया तथा स्वयं यह प्रतिपादित किया कि वेदान्त-कठोर ब्रह्मवाद की शिक्षा नहीं देता है। उन्होंने **'ब्रह्मसूत्र'** पर भाष्य तैयार किया, जिसमें ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति तथा वेदान्त-दर्शन का मूल भावनाओं के बीच सामंजस्य स्थापित किया गया है। उनका संदेश है कि आत्मा एवं ईश्वर में भेद नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा की उत्पत्ति ब्रह्म से ही हुई है। परन्तु आत्मा को वास्तविक सुख ब्रह्म में लीन होने में नहीं, अपितु ब्रह्म के सान्निध्य में रहने में ही है। उन्होंने जीवन भर मन्दिरों में हो रहे विविध प्रकार के कर्मकाण्डों में सुधार लाने तथा वैष्णव-धर्म को प्रतिष्ठित एवं इस सम्प्रदाय में एकता लाने का प्रयास किया। रामानुजाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के सभी वर्णों एवं जातियों को सम्मिलित किया। उन्होंने वैष्णव धर्म एवं सिद्धान्तों के लिये सरस श्लोकबद्ध भजन भी लिखा। अपने पूज्य गुरू यामुनाचार्य के आदेश पर उन्होंने अद्वैतवेदान्तवादी शंकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' पर वैष्णव-सिद्धान्तों को स्थायित्व देने के उद्देश्य से विलक्षण श्रीभाष्य लिखा। शंकराचार्य के आत्मा एवं ब्रह्मवादी-दर्शन के प्रचार से वैष्णवधर्म को गहरा आघात पहुँच रहा था। फलतः रामानुज के श्रीभाष्य के फलस्वरूप दक्षिण भारत में वैष्णव-धर्म के प्रचार-प्रसार एवं स्थापन में एक बार उफान सा आ गया। इसके फलस्वरूप वैष्णव-मत एवं सिद्धान्तों को तमिल-देश में विशेष मान्यता मिली। साथ ही साथ बौद्ध एवं जैन आदि नास्तिक मतों को भी शंकराचार्य के ब्रह्मवाद से कुछ मुक्ति मिलने के कारण तमिल समाज में पुनः

विकास करने का अवसर प्राप्त हुआ। रामानुज के द्वारा स्थापित वैष्णवधर्म की व्यापकता से चोलशासकों के कुल-धर्म पर भी प्रभाव पड़ने लगा था। फलतः चोलशासक कुलोत्तुंग द्वितीय ने इस धर्म के प्रति अनुदार भाव रखकर चिदम्बरम् के मन्दिर में स्थापित गोविन्दराजविष्णु की मूर्ति को उक्त मन्दिर के पूजास्थान से हटाकर समुद्र में फेंकवा दिया था। उसके उत्पीड़न से क्षुभित होकर रामानुज 1096 ई० में मैसूर के होयसल यादव-शासकों के राज्य में कुछ दिनों के लिये प्रवास पर चले गये थे। रामानुज की प्रशंसा में उनके योग्य शिष्य तिरुवरनगत्तु अमुदनार ने 'रामानुज-नूड़ड़नदादि' की रचना की। यह भक्ति-गीत आज भी दक्षिण में वैष्णवों का कण्ठहार बना हुआ है तथा इसे मन्दिरों में दैनिक प्रार्थनाओं में गाया जाता है। वैष्णव-मन्दिरों में रामानुज की पूजा विष्णु के एक अवतार के रूप में आज भी प्रचलित है। आज भी उनके अनुयायियों में वडकलै (औदीच्यज्ञान) तथा टेंकलै (दाक्षिणात्य ज्ञान) के सम्प्रदाय विद्यमान हैं। दक्षिण भारत के वैष्णव-धर्म के महान् उन्नायकों में निम्बार्काचार्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वे परम विद्वान्, भागवत, तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्म बेलारी जनपद के निम्बपुर नामक ग्राम में हुआ था। उनके जीवन का अधिकांश समय उत्तर भारत की यात्रा तथा मथुरा-वृन्दावन में बीता। दक्षिण भारत में संस्कृतज्ञानी वैष्णवमत प्रवर्तकों में उनका स्थान रामानुज के बाद माना जाता है। उनके मतानुयायियों का विश्वास है कि वे विष्णु के आयुध चक्रसुदर्शन के अवतार थे। निम्वार्क ने वैष्णव धर्म पर सुप्रसिद्ध सैद्धान्तिक-ग्रन्थ वेदान्तपारिजातसौरभ' की रचना की। इसमें 'ब्रह्मसूत्र' की लघुव्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसके अतिरिक्त उन्होंने दशश्लोकी 'सिद्धान्तरत्न' नामक लघुग्रन्थ भी प्रणीत किया था। उन्होंने वैष्णवधर्म में आत्मसमपर्ण का मत प्रतिपादित किया। उन्होंने राधाकृष्ण को परम आराध्य देव बताया तथा दर्शन में ईश्वर, आत्मा एवं संसार को अभिन्न बताते हुए उनकी स्थिति-भेद को व्याख्यायित किया। उन्होंने अपने वैष्णव-दार्शनिक-सिद्धान्तों को 'सिद्धान्तरत्न' में दर्शाया है। निम्बार्क द्वारा प्रतिपादित वेदान्त-सिद्धान्त में संसार, आत्मा तथा ईश्वर को परस्पर भिन्न एवं अभिन्न दोनों माना गया है। उनके अनुसार जड़जगत तथा जीवात्मा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता न होने के कारण वे अपनी अपनी सत्ता तथा क्रिया के लिए ईश्वर पर आश्रित हैं। उनके संप्रदाय का नाम **'सनक संप्रदाय'** कहा जाता है। इसी प्रकार कालान्तर में भी वैष्णव-सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा।

इस प्रकार चोल नरेशों के व्यक्तिगत उत्साह, शैव-नायनारों, संतों, वैष्णवआलवर-भक्तों, आचार्यों, कवियों आदि के प्रयास के फलस्वरूप तमिल देश में शैव एवं वैष्णव धर्मों का जागरण, पुनर्स्थापन तथा विकास हुआ था। इन धर्मों को स्थायी मान्यता देने में चोलयुगीन मन्दिरों एवं मूर्तियों का भी महान् योगदान स्वीकार किया जा सकता है। चोल शासकों ने इन धर्मों के मठों, मन्दिरों, विद्यालयों, प्रचार-केन्द्रों तथा आचार्यों के गुरु-भोग की व्यवस्था हेतु प्रचुर अन्न, धन तथा ग्रामादि का दान किया था।

चोल युगीन कला

दक्षिण भारत में तमिल प्रदेश के राजनीतिक पटल पर पल्लवों के उपरान्त चोलों का आगमन हुआ। चोलों ने पल्लवों को आक्रांत करके काञ्ची एवं तोण्डमण्डलम् पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। फलतः सत्ता के साथ-साथ उन्हें पल्लव-कल-परम्परा विरासत में प्राप्त हुई थी। 10वीं से 12 वीं सदी तक चोल, दक्षिण भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली एवं समृद्धिशाली शासक हुए। उनके सामरिक अभियान उत्तर भारत में गंगा नदी तक, दक्षिणी-पूर्वी एशिया में सुमात्रा, जावा श्रीविजय आदि राज्यों तक हुये थे। उन्होंने अपने वैभव के अनुकूल दक्षिण भारत में द्राविड़-कला-परम्परा को आगे बढ़ाया। महान् चोलशासकों ने अपने विशाल साम्राज्य में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराकर द्राविड़-कला-शैली को विकास के चरमशिखर पर पहुँचा दिया। चोलों के अनेक राजधानी केन्द्रों तथा उपगपुर (त्रिचनापल्ली के निकट उरैयूर) **तंजोर** (थंजाउर), **काञ्ची** तथा **गंगैकोंडचोलपुरम्** तथा अन्य नगरों में इस काल में निर्मित अनेक भव्य मन्दिर चोलयुगीन द्राविड़-वास्तु संस्थापत्य-कला के चूडान्त स्मारक माने जा सकते हैं।

वास्तुकला

प्रारम्भिक चोल मन्दिर—10वीं सदी के पूर्वार्द्ध में चोल शासकों ने सामान्यतया समसामयिक गंग, पल्लव, पाण्ड्य, सिंहल आदि राज्यों से अनवरत संघर्षरत रहकर चोल-साम्राज्य के निर्माण में अपनी शक्ति को लगाया। चोलों द्वारा निर्मित मन्दिर-निर्माण कला को अध्ययन की सुविधा के लिए दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—स्थानीय प्रारम्भिक मन्दिर-निर्माण कला तथा महान् चोल शासकों द्वारा निर्मित वृहत्तर विशाल मन्दिरों की निर्माण-कला। प्रारम्भिक स्थानीय मन्दिरों में तिरुकट्टलाई का **सुन्दरेश्वर मन्दिर**, नरतमलाई का **विजयालय मन्दिर**, कोलट्टूर का **मुचुकुन्देश्वर मन्दिर**, कोडुम्वेलुर, वालसुब्रह्मण्य एवं कननौर का **मुवरकोहल** (त्रिआपतन) मन्दिर तथा नरतमलाई का **कदम्बर कदम्बरमलाई** मन्दिर आदि विशेष उल्लेखनीय है। चोल नरेशों द्वारा अन्य प्रारम्भिक मन्दिर दक्षिणी अरकाट (तमिलनाडु प्रदेश) में भी निर्मित किये गये थे। इन मन्दिरों का निर्माण अधिकांशतया दशवीं शताब्दी में किया गया। इसी प्रकार प्रारम्भिक मन्दिरों में **नर्तमालै** में विजयालय द्वारा निर्मित **विजयालय चोडेश्वर-मन्दिर** कलात्मक नवीनताओं एवं विशेषताओं की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस मन्दिर का वृत्ताकार और वर्गाकार गर्भगृह, स्तंभाधारित मण्डप तथा स्तूपिकायुक्त बहुतलीय पिरामिडाकार **शिखर** पूर्ववर्ती द्रविड़ पल्लव-मन्दिरवास्तु-परम्परा का स्मरण कराता है। द्राविड़-परम्परा में **श्रीनिवासनल्लूर का कोरंगनाथ मन्दिर** पल्लव-परम्परा से किञ्चित् हटकर बनाया गया। इसे संभवतः चोल नरेश परान्तक प्रथम (907-953 ई०) ने निर्मित कराया था। इसमें वास्तुशास्त्रीय-माप के अनुकूल गर्भगृह तथा मण्डप मिलकर 15 मीटर लम्बा रखा गया है। मन्दिर की दीवार को स्तम्भों से विभक्त करके उसकी आलों में बड़ी किन्तु सुन्दर मूर्तियाँ तराशी गई हैं। इसका बाह्य भाग मिश्रित पशुमूर्तियों से अलंकृत किया गया है। इस प्रकार की मिश्रित पशुमूर्तियों के अंकन का पल्लव मन्दिरों में अभाव है। इस मन्दिर की वास्तुकला में बादामी एवं पट्टदकल के

चालुक्य-मन्दिरों की परम्परा का किञ्चित् प्रभाव नकारा नहीं जा सकता है। इस मन्दिर की विमान-भित्तियों पर **दुर्गा की दक्षिणामूर्ति** लक्ष्मी एवं सरस्वती के साथ अंकित है। इस पर बहुसंख्य मिथुनमूर्तियाँ प्रणय एवं विलासमुद्रा में उकेरी गई हैं। मन्दिर में निर्मित स्तम्भ पल्लव-परम्परा से मुक्त तथा नवोदित चोल-स्तम्भ-निर्माण परम्परा में निर्मित किये गए हैं। स्तम्भों के शीर्ष कर **पट्टबन्धन** का अलंकरण तथा ऊपर के फलक उकेरे गये हैं, जो एक दूसरे की शोभावृद्धि करते हैं। चोल द्राविड़ वास्तु एवं स्थापत्य-परम्परा में अनेक छोटे-बड़े मन्दिरों का निर्माण किया गया है।

तंजोर (थंजाउर) का राजराजेश्वर अथवा बृहदीश्वर मन्दिर—10वीं शती के अन्तिम चरण में **राजराज चोल** (985-1014) ई०) ने अपने सामरिक अभियानों एवं उसमें सतत् प्राप्त सफलताओं से चोल साम्राज्य की शक्ति एवं समृद्धि को चोटी पर पहुँचा दिया। उसने द्राविड़-कला-शैली को पूर्ण विकास का अवसर प्रदान किया। राजराज ने राजधानी **तंजोर** (मद्रास से 320 कि० मी० दक्षिणपश्चिम में स्थित वर्तमान थंजाउर) में **राजराजेश्वर शिव-मन्दिर अथवा बृहदीश्वर मन्दिर** का निर्माण कराया। इसको पूरा होने में लगभग 8 वर्ष लगे। वास्तु एवं मूर्ति दोनों दृष्टियों से इसे **द्राविड़-चोल-कला-शैली** का उत्कृष्ट मन्दिर माना जाता है। इसका विशाल आयताकार प्रांगण 160 मीटर लम्बा और 80 मीटर चौड़ा है। इसके सामने 80 मीटर लम्बा वर्गाकार दूसरा प्रांगण भी है, जिसमें पुजारियों के आवास तथा कतिपय लघु मन्दिर स्थित हैं। इसमें दो गोपुरम् निर्मित किए गए हैं। प्रथम प्रवेश-द्वार पर स्थित गोपुरम् संभवतः बाद में बना था। आवासीय प्रांगण पार करने पर मूल अथवा प्राचीन गोपुरम् पहुँचा जा सकता है, जिसे पार करके स्तंभों से सजे **प्रधान प्रांगण** में प्रवेश होता है। गोपुरम् से मन्दिर की ओर देखने पर **विमान** आकाश की ओर क्रमशः उठता चला गया है, जिससे जुड़ा विशाल मण्डप, स्तंभों पर टिकाया गया है। उससे छोटा मन्डप तथा एकदम सामने नन्दीमण्डप कलात्मक-निर्माण के साथ नभमण्डल से जुड़ता हुआ सा शोभायमान लगता है। **विमान** की ऊँचाई 60 मीटर है, जिसका शीर्ष-भाग पिरामिडाकार लगभग 3.50 मीटर ऊँचा है। इस प्रकार विमान लगभग 65 मीटर ऊंचा उठता हुआ एक अलौकिक कलात्मक छटा प्रस्तुत करता है। ऊँचाई की दृष्टि से **बृहदीश्वर-मन्दिर** द्राविड़-कला की अनुपम कृति है। इस मन्दिर के विमान को तीन भागों में विभाजित करके स्पष्ट समझा जा सकता है—

अधर में निर्मित गर्भगृह, प्रदक्षिणा-पथ एवं उसके ऊपर का भाग इस मन्दिर का प्रथम भाग माना जा सकता है। द्वितीय भाग के अन्तर्गत 13 तलों अथवा बन्धों में क्रमशः आकाश की ओर ऊपर उठता विमान का मध्य शरीर है। इसी प्रकार शीर्ष पर विद्यमान गुंबजाकार स्तूपिका तथा 125 मीटर के वर्ग पर निर्मित गर्भगृह की शैलभित्ति सीधे 16 मीटर उँची उठी हुई है। उस पर पिरामिडनुमा मध्य भाग 13 बन्धों अथवा स्तरों का है, जो ऊपर क्रमशः पतला होता हुआ अन्त में आधार तल की चौड़ाई का एक तिहाई ही रह जाता है। इसे राजराजेश्वर मन्दिर का तृतीय भाग माना जाता है। शिखर के शीर्ष पर गुंबजाकार अथवा अर्द्धवृत्ताकार स्तूपिका विमान की उर्द्ध-शोभा में चार चांद लगा देती है। मन्दिर के अधर-तल में वर्गाकार कक्ष में 2.25 मीटर चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ है। इसकी भीतरी दीवार पर सुन्दर चित्रांकन किया गया है। गर्भगृह में एक भव्य किन्तु

विशाल '**लिङ्गम्**' है जिसे 'वृहदीश्वर' कहा जाता है। देवस्थान-कक्ष के प्रवेश-द्वार पर ताखों में खड़े हुए दो मानवाकार द्वारपाल चैतन्यमुद्रा में निर्मित एवं खड़े किये गए हैं। इसी प्रकार **नन्दीमण्डप में एकाश्मक विशाल नन्दी (वृष) प्रतिमा स्थापित है**। अर्द्ध मण्डप के खानों में पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियां रखी गई हैं। इस प्रकार आधार तल से लेकर उर्ध्वगामीं स्तूपिका तक मन्दिर-संरचना की अलौकिक बनावट एवं उसका अनुपात अपूर्व कलात्मक सुख देता है। पर्सी ब्राउन का कथन है कि वृहदीश्वर-मन्दिर का विमान भारतीय वास्तुकला का निकष माना जा सकता है।

गंगैकोंडचोलपुरम् का बृहदीश्वर मन्दिर—राजराज-चोल के योग्य पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल (1014-1044 ई०) ने चोलसाम्राज्य को राजनीतिक सांस्कृतिक वैभव एवं सुयश की पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया था। उसने अपनी राजधानी **गंगैकोंडचोलपुरम्** में 1025 ई० के लगभग अपने से पूर्व परम्पराओं के सर्वश्रेष्ठ शिव मन्दिर का निर्माण कराया। इस मन्दिर का आधार जन्जोर के वृहदीश्वर-मन्दिर के लगभग ही रखा गया है परन्तु **मण्डप** की ऊँचाई उससे थोड़ा कम है। वास्तु-योजना में इसे तन्जोर के राजराजेश्वर-मन्दिर की अनुकृति कहा जा सकता है, तथापि मौलिकता एवं सुन्दरता लाने के लिए इसमें आवश्यकतानुसार अनेक कलात्मक सुधार किये गये हैं। मन्दिर का आधार 105 मीटर लम्बा तथा 50 मीटर चौड़ा है। मुख मण्डप की ऊर्ध्व लम्बाई 58 मीटर तथा चौड़ाई 33 मीटर है। मन्दिर चारों ओर से ऊँची दीवारों से घिरे प्रांगण में अवस्थित है। **गोपुरम्** पूर्व दिशा में बनाया गया है। महामण्डप, जो गोपुरम् से प्रवेश करने के बाद निर्मित दीखता है, 58 मीटर चौड़ा तथा 150 स्तम्भों पर पंक्तिबद्ध बनाया गया है। स्तम्भों के बीच यत्र-तत्र चौड़ी वीथी प्रदान की गई है। मण्डप की छत सपाट तथा नीची है। मण्डप के स्तम्भ साधारण ढंग से अलंकृत किये गये हैं, किन्तु बनावट में बड़े आकर्षक हैं। मण्डप एवं गर्भगृह को जोड़ता हुआ अन्तराल निर्मित है, जिसकी छत मण्डप की भांति सपाट है। अन्तराल के उत्तर एवं दक्षिण दो प्रवेशद्वार हैं, जिनसे होकर गर्भगृह में उतरा जाता है। विमान की योजना वृहदीश्वर-मन्दिर की भांति नियोजित है। शिखर पर लम्बवत् रेखाएँ उत्कीर्ण हैं। इन घुमावदार रेखाओं से शिखर का सौन्दर्य निखर उठा है। पर्सी ब्राउन ने इन्हीं लहरदार रेखाओं के कारण इस मन्दिर को गीतों की तरह संवेदना पैदा करने वाला महान् कलात्मक निर्माण कहा है। इसे द्राविड़-चोल-मन्दिर-कला की परिणति कहा जा सकता है।

अन्य मन्दिर—राजेन्द्र चोल के समय प्रचलित चोल-वास्तुकला लगभग एक शताब्दी तक चलती रही। फलतः इस अवधि में अनेक मन्दिरों का निर्माण किया गया। इनमें विशेष उल्लेखनीय दारासुरम् का ऐरावतेश्वर तथा त्रिभुवनम् का **कंपहरेश्वर-मन्दिर** है। ये मन्दिर तंजोर जनपद में विद्यमान हैं। ऐरावतेश्वर मन्दिर राजराजद्वितीय चोल के शासनकाल में निर्मित किया गया। कंपहरेश्वर मन्दिर का निर्माण कुलोत्तुंग के शासनकाल में सम्पन्न हुआ। इन मन्दिरों की बाक एवं स्थापत्य विन्यास-कला गंगैकोंडचोलपुरम् के वृहदीश्वर-मन्दिर के अनुकरण पर आधारित है।

चोल कालीन स्थापत्य कला

शक्तिशाली चोलों ने वास्तुकला के साथ-साथ द्राविड़-स्थापत्य कला को समुन्नत किया था। चोल-स्थापत्य को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों विभाजित किया जा सकता हैं। प्रारम्भिक चोल स्थापत्य कला-शैली तथा पराक्रम चोल स्थापत्य कला-शैली।

प्रारम्भिक चोल स्थापत्य कला-शैली का विकास 8वीं शती के 10वीं शती के मध्यवर्ती काल में हुआ। इसमें मूर्तिकला का विकास तथा उसका उत्तरोत्तर परिष्कार मुख्य रूप से तंजोर केन्द्र के प्रारम्भिक चोल-शासकों के शासनकाल में किया गया। सुप्रसिद्ध कलाविद् **पर्सीब्राउन** के अनुसार इस युग के स्थापत्य पर चालुक्य-स्थापत्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। परन्तु **मधुसूदन ढाकी**[1] का मत है कि प्रारम्भिक चोल स्थापत्य पर सर्वाधिक प्रभाव मुत्तरैयार तथा इर्रकुवेड़ नरेशों के युग को कला का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। परवर्ती चोल युगीन स्थापत्य कलाशैली का विकास 10वीं शती से 13वीं शती के मध्य स्वीकार किया जाता है। **डगलस बैरेट**[2], **पर्सीब्राउन**[3] तथा **ढाकी** चोल स्थापत्य-कला के प्राथमिक निर्माणों पर पल्लव-चोल संक्रमण कला-शैली की परम्परा के प्रभाव को स्वीकार नहीं करते हैं। उक्त विद्वानों के अतिरिक्त अन्य कलाविद् प्रारम्भिक चोल-स्थापत्व कला-शैली पर पल्लव-चोल संक्रमण युगीन स्थापत्य कला-शैली के प्रभाव की स्थापना करते हैं। **बालासुब्रह्मण्यम्** ने प्रारम्भिक चोल स्थापत्य को दो वर्गो में तथा **डगलस बैरेट** ने तीन वर्गो में विभाजित करने का सुझाव दिया है।

प्रारम्भिक चोल शासकों द्वारा निर्मित कलात्मक निर्माणों में प्रारम्भिक चोल स्थापत्य कला-शैली द्वारा प्रस्तुत कला-सज्जा की छटा दर्शनीय है। इस युग के कला-स्मारक मुख्य रूप से आलम्बाकम् तिरुपत्तुर, उत्तरमेरूर, तिरुवेल्लरैईत् एवं तंजोर आदि स्थानों पर स्थित हैं। पशुपतिकोइल तथा मद्रास के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित कावेरीपक्कम में निर्मित मूर्तियों में उपर्युक्त संक्रमण युगीन पल्लव-चोल स्थापत्य कला-शैली का प्रभाव स्पष्ट होता है। पशुपतिकोइल (तंजोर जनपद) से प्राप्त विष्णु की प्रतिमा, जो सम्पत्ति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में सुरक्षित है, पल्लव-चोल संक्रमण युगीन स्थापत्य-शैली का सुन्दर प्रतिमान है। विष्णु की शरीरयष्टि क्षीण किन्तु लम्वी है। वे कमलासन पर खड़े हैं। चतुर्भुज विष्णु की उर्ध्व स्थित भुजावों में क्रमश: चक्र एवं शङ्ख है। नीचे का बायाँ हाथ कटि पर तथा दहिना हाथ अभय-मुद्रा में विन्यस्त है। अलंकृत लम्वा किरीट, कटिसूत्र, यज्ञोपवीत, मुक्तामाला तथा अंतरीय सभी कुछ कलात्मकता से परिपूर्ण है।

प्रारम्भिक चोल-स्थापत्य-कलाकृतियाँ तंजोर के सन्निकट वरिष्ठेश्वर मन्दिर, कुंभकोनम के नागेश्वर मन्दिर, सिरिनिवासनल्लूर के कोरंगनाथ मन्दिर तथा पुड्डकोट्टई क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। उक्त मन्दिरों के देव-कोष्ठकों, स्तम्भों तथा मण्डपभित्तियों पर उत्कीर्णित मूर्तियों के अतिरिक्त वृक्षों के नीच आसीन शिव-दक्षिणामूर्ति, ब्रह्मा तथा चंडेश मूर्तियाँ वड़ी मनहर हैं। कुंभकोनम के नागेश्वर मन्दिर में निर्मित नारी-मूर्तियों में शारीरिक सौन्दर्य को उभारने का अद्भुद् संयोजन

मिलता है। छरहरी नारी-काया में कटि का समानुपातिक विन्यास तथा नाभि-प्रदेश पर त्रिवली का अंकन नयनाभिराम है। ध्यातव्य है कि इस कोटि की अधिकांश मूर्तियों का अंकन चोल नरेश राजराज प्रथम तथा राजेन्द्र चोल के शासनकाल में किया गया। प्रारम्भिक चोल स्थापत्य कला, जिसका अधिकांश निर्माण कावेरी नदी के तटवर्ती क्षेत्रों में किया गया, परवर्ती पल्लव-चोल-स्थापत्य कला शैली से अनुप्राणित है। उपर्युक्त मन्दिरों में प्राप्य स्थापत्य के अतिरिक्त तंजोर से लगभग दस मील दूर स्थित **तिरुपड़नममहादेव मन्दिर** की ग्रीवा भाग पर अनेक मूर्तियाँ उकेरीं गई हैं। इनमें **आलिंगनचन्द्रशेखर, वीणाधर, अर्धनारीश्वर तथा चन्द्रशेखर** की मूर्तियाँ चारों दिशाओं में अवलोक्य हैं। इनके अतिरिक्त मन्दिर के विभिन्न भागों में पार्वती सहित **शिव, वराह दक्षिणामूर्ति, ब्रह्मा, गंगाधर** तथा **लिंगोद्‌भव** आदि मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इस काल की मूर्तियों में **प्रायः भागवत्, देवी भागवत, रामायण तथा शिवपुराण** आदि में आख्यात अनेक लीलाओं का अंकन महत्वपूर्ण है। उपर्युक्त कलाशैली में निर्मित मूर्तियाँ अपेक्षाकृत लम्वी, काया पतली, शारीरिक अवयवों तथा मुद्राओं में सौम्यता दृष्टिगोचर होती है। इन मूर्तियों के वस्त्राभूषण में मर्यादा, कोमलता तथा भाव-संप्रेषण मोहक लगता है। विष्णु के विविध अवतारों का मूर्त्तन इस काल में बने कडियूर के शिव मन्दिर में अवलोक्य हैं। यहाँ के स्थापत्य का आकर्षक 'रामायण' की कथा का स्थापत्य-दृश्यांकन माना जा सकता है। इसी प्रकार कडियूर में अनेक विष्णु मन्दिर भी निर्मित किये गये हैं, जिनमें विष्णु एवं लक्ष्मी के अतिरिक्त विष्णु के अवतारों का अंकन किया गया है। कुम्भकोनम के निकटवर्ती शिवपुरम् ग्राम से सूर्य की दो प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है। **श्रीनिवासन** ने इनके लक्षणों का परीक्षण करके इनकी तिथि आठवीं शती प्रतिपादित किया है।

चोल साम्राज्य दसवीं शती के अन्तिम चरण में अत्यन्त विकासोन्मुखी हो चुका था। राजराज प्रथम (985-1014 ई०) की साम्राज्य-विस्तारवादी महत्वाकांक्षा के परिणामस्वरूप चोल राज्य धन-वैभव सम्पन्न हो गया। इसी शती में दक्षिण भारत के अधिकांश भाग में शैवमत का विशेष प्रचार एवं विकास हुआ। परवर्ती चोलस्थापत्य कला पर उक्त मत के विकास का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। ऐसा लगता है कि 10वीं शती के अन्तिम चरण में शैव एवं वैष्णव अनुयायियों में किञ्चित कट्टरता आ गई थी। इस वात की पुष्टि इस काल के धार्मिक साहित्य तथा कलात्मक निर्माणों से की जा सकती है। चोल शासक अधिकांशतया शैवमतानुयायी थे। फलतः शैव धर्म एवं कला के निर्माणों में उन्होंने गहरी रुचि ली। **करुंतट्टींगुडी** के वरिष्ठेश्वर मन्दिर में शैव-आचार्य-परम्परा के लक्षण विद्यमान है। इस मन्दिर में तत्युगीन महान् आचार्य अप्पर तथा **संबंदर** की मूर्तियों का अंकन किया गया है। फलतः इस काल में निर्मित मन्दिरों में रामायण एवं पुराणप्रोक्त वैष्णव धर्म से सम्वन्धित मूर्तियों का अंकन किया जाना लगभग समाप्त हो गया। परन्तु शैव धर्म एवं शिवाख्यानों से सन्दर्भित विविध मूर्तियों का निर्माण इस युग में विन्यस्त मन्दिरों की आकर्षक स्थापत्य कृतियाँ मानी जा सकती हैं। शिव की अनेक भव्य एवं विशाल मूर्तियों में उनके **कालारि, नरेश, भिक्षाटन** आदि रूपों का अंकन परवर्ती चोल स्थापत्य का मोहक अंक वन गया है। शैव धर्म के व्यापक प्रभाव का अन्दाज कडियूर तथा कुम्भकोनम के निकटवर्ती **शिवपुरम्** नामक गाँव से मिली वहुसंख्यक भव्य शिवमूर्तियों से लगाया जा सकता है। उपर्युक्त धार्मिक भावना

के प्रभाव में ब्रह्मा के स्थान पर सुब्रह्मण्य-स्कन्द की उपासना पर बल दिया जाने लगा। शिवोपासना के व्यापक प्रभाव के फलस्वरूप इस काल की कला की प्रकृति ही बदल गई। कडियूर शिववीरट्टणेश्वर[1] मन्दिर की भित्तियों पर शिव की लिंगोद्भव, दक्षिणामूर्ति तथा दुर्गा की प्रतिमाओं का मूर्त्तन किया गया है। उक्त मन्दिर के गर्भगृह की उत्तरी भित्ति पर शिव की चतुरतांडव-मूर्ति का अलौकिक अंकन है। इसमें शिव की मुखाकृति किञ्चित धुंधली है, किन्तु एक मुख घटवाद्य सहित उनकी नृत्य-रत-मुद्रा मनोहर है। यहीं एक अन्य प्रस्तर-खण्ड पर शिव की दक्षिणामूर्ति विन्यस्त है, जिसमें उनके ऊर्ध्व दो हस्तों में क्रमशः परशु और अक्षमाला है तथा अधोमुखी दाहिने हाथ में सम्भवतः डमरू एवं बायां हाथ घुटने पर आधृत है। शिव को दक्षिणाभिमुख-मुद्रा में बैठे हुये प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार कडियूर से उपलब्ध अर्धनारीश्वर शिव की प्रतिमा भी कलात्मक विन्यास का अद्‌भुत् संयोजन है। शिव अपनी अर्धांगनी पार्वती सहित बैठे हुये प्रदर्शित किये गये हैं। तीन भुजाओं से युक्त उक्त प्रतिमा में दो भुजाएँ शिव प्रतिमा की ओर अंकित है। सम्भवतः उनके एक हाथ में परशु अथवा शूल सुशोभित है तथा दूसरा हाथ नन्दी वृषभ की सींग पर टिका हुआ है। पार्वती वाले भाग में (नारी भाग में) विस्तीर्ण हाथ में विकच कमल सुशोभित है। मुखमण्डल पर कमनीय मुस्कान पुष्प-हास की तरह नयनाभिराम है। ऐसी ही एक अन्य अर्धनारीश्वर शिवप्रतिमा कुम्भकोनम के नागेश्वर मन्दिर से प्राप्त हुई है।

परवर्ती चोल प्रतिमाओं के मूर्त्तन में तत्युगीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का गम्भीर योगदान प्रतिभाषित होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि शक्तिशाली एवं महान् चोल नरेशों की अभिरुचि शैव धर्म एवं सम्प्रदाय के उत्तरोत्तर विकास में अधिक थी। फलतः देव-प्रतिमाओं के मूर्त्तन में अन्य पौराणिक देवों का स्थान भी शैव प्रतिमाओं ने ले लिया। ब्रह्मा, नदी-देवताओं तथा स्कन्द-सुब्रह्मण्य की मूर्तियों में ब्रह्मा के पूजन का स्थान स्कन्द सुब्रह्मण्यम् को प्राप्त हो गया। फिर भी, ब्रह्मा की कतिपय मूर्तियाँ, जो तिरुवाड़ी, पशुपति कोविल अथवा कडियूर के शिव-मन्दिरों से प्राप्त हुई है, प्रायः चतुर्मुखी है। परन्तु चतुर्मुखी ब्रह्मा की भुजाएँ दो ही हैं। भुजाओं की घटती हुई संख्या उनकी लोक-प्रियता में आ रही लघुता को इङ्गित करता है।

चोल स्थापत्य-कला में वास्तविक निखार ईसा की ग्यारहवीं शती में निर्मित विशालकाय मन्दिरों के मूर्त्तन में दृष्टिगोचर होता है। इस शती में निर्मित प्रतिमाएँ एरुंबुर, तंजोर (थंजाउ), दारासुरम्, चिदम्बरम् तथा गंगैकोंडचोलपुरम् के उत्कृष्ट मन्दिरों में प्राप्त होती हैं। गंगैकोंडचोलपुरम् के 'बृहदीश्वर मन्दिर' में चोल युगीन द्राविड़ वास्तु एवं स्थापत्य कलाओं का उत्तम, विलक्षण संगम एवं अद्‌भुद् संयोजन देखने को मिलता है। दक्षिण भारत में प्रचलित एवं बहुशः मान्य शिल्प-विधान एवं मूर्तिविज्ञान की खराद पर सर्वाङ्ग यथोचित, शिव एवं शैव मूर्तियों का मूर्त्तन भारतीय स्थापत्य का एक सुन्दर प्रतिमान है। उक्त मन्दिरों की मूर्त्तन-परम्परा में शिव की

---

1. पी० आर० श्रीनिवासन : रेयर स्कल्पचर्स ऑव द अर्ली चोल पीरियड, ललितकला, 5, पृ० 62-63।

अविरल व्यापकता को रूपायित किया गया है। उपर्युक्त मन्दिर में अंकित चंडेश अनुग्रह-मूर्ति कला-शैली एवं प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। इसमें पार्वती सहित चतुर्भुज शिव ललितासन-मुद्रा में आसीन हैं। उनका सिर तापसीजटा से भूषित है। आसन के नीचे भक्त चंडेश समर्पण-भाव में बैठा है। शिव अनुग्रह-मुद्रा में भक्त चंडेश की पुष्प मण्डित केशराशि को संवारते एवं कृपावर्षण करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। शिवराम मूर्ति के अनुसार उक्त मूर्ति को भारतीय स्थापत्य की उत्कृष्टतम् मूर्तियों में परिगणित किया जा सकता है। गंगैकोंडचोलपुरम् से ही शिव की कालारि अथवा महाकालेश्वर, त्रिपुरान्तक तथा किरातानुग्रह मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। संभवतः उक्त मूर्तियों का विन्यास महान् चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम के शासन काल में किया गया था। शिवराम मूर्ति का यह कथन पर्याप्त समीचीन प्रतीत होता है कि उसने अपने शासन काल में उत्तर भारतीय शिल्प-परम्परा को अपने युग की कला में समाविष्ट करने का प्रयत्न किया था। अब ब्रह्मा की मूर्ति को चतुर्मुखी होने के साथ-साथ दाढ़ी युक्त बनाया जाने लगा। पहले उनके मुखमण्डल पर दाढ़ी के अंकन का अभाव था। इसी प्रकार दारासुरम् के मन्दिर में निर्मित मूर्तियाँ भी बड़ी भव्य हैं। मन्दिर के अधिष्ठान में प्रयुक्त शिला-फलकों पर नृत्य-गान-रत मूर्तियाँ लयात्मक हैं। मन्दिर मे महान् शैव आचार्यों की जीवनचर्या का अङ्कन बड़ा प्रभावोत्पादक है। उक्त मन्दिर की बहुसंख्यक स्थानीय मूर्तियों में शिव की एक अर्धनारीश्वर मूर्ति अपने कलात्मक अङ्कन में अलौकिक है। इसमें शिव त्रिमुखी तथा अष्टभुजाओं से विभूषित है। शिर से सटा विलक्षण प्रभामण्डल है। गोपी नाथ राव के अनुसार भारतीय शिल्प शास्त्रीय परम्परा में शिव का उपर्युक्त मूर्त्तन-विधान अप्राप्त है। इस मूर्ति में अर्धनारीश्वर शिव के आठों हाथों में क्रमशः अक्षमाला, खड्ग, पाश, दर्पण तथा अन्य आयुध है। जे० एन० बनर्जी का मत है कि त्रिमुख-अंकन के माध्यम से शिव के रौद्र (उग्र), सौम्य तथा उमा (पार्वती) को प्रदर्शित किया गया है। इस मूर्ति में नन्दी का अंकन नहीं है। जबकि शास्त्रीय विधान में उसका अंकन होना चाहिए था। तंजोर (थंजाउर) से प्राप्त इस काल की अर्धनारीश्वर प्रतिमा में नन्दी का अंकन किया गया है। इसी प्रकार एरुंबुर तथा दारासुरम् से उपलब्ध नन्दिकेश्वर, कंकाल, गजांतक, नागराज, शरभ तथा भूतगणों के प्रतिमा अंकन में तत्कालीन स्थापत्यकारों की कुशलता दर्शनीय है। चिदम्बरम् के मन्दिर में शिव को त्रिपुरान्तक, वीणाधर, कल्याण-सुन्दर तथा नटराज रूपों में प्रदर्शित किया गया है। उपर्युक्त मन्दिर के पश्चिमी गोपुरम् में कतिपय ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिन पर नामांकन भी किया गया है। संभवतः नामांकित मूर्तियों का मूर्त्तन 12वीं 13वीं शती में विशेष लोकप्रिय हुआ। परिचयात्मक एवं नामाभिलेखयुक्त, मन्दिरों से प्राप्त मूर्तियों से सुब्रह्मण्य, श्री देवी, गणेश्वर अगस्त्य, गरुड़ासन विष्णु, अग्नि देव, काम देव, यम, विश्वकर्मा, दिग्पाल तथा सप्तमातृकाएँ आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं।

चोल युगीन मूर्तिकला में देवमूर्तियों के अतिरिक्त राजा, रानियों, राजदम्पतियों तथा अन्य लोक-मूर्तियों का भी प्रचुर अंकन किया गया है। तंजोर, गंगैकोंडचोलपुरम् तथा काड़हस्ति के मन्दिरों में मानवाकार द्वारपालों तथा राजदम्पतियों का अंकन पूरी कलात्मक भव्यता में किया गया है। इसी प्रकार मन्दिरों के टोडों, स्तम्भों तथा गोपुरम् के चोखटों आदि पर नाना प्रकार की लता एवं पुष्प-वल्लरियों का अंकन भव्यतम् बन

पड़ा है।

चोलयुगीन धातुकला—चोलनरेश शैव थे। उन्होंने अपने शासनकाल में अप्रतिम, विशाल एवं भव्य शैव-मन्दिरों का निर्माण कराया तथा उनके प्रकोष्ठों, अन्तर्भित्तियों आदि पर विविध देवी-देवताओं की मूर्तियों को अंकित कराया। ये मूर्तियाँ अपनी भव्यता, तकनीक एवं निर्माण-शैली के कारण अत्यन्त श्लाघ्य हैं। प्रस्तर-मूर्तियों से भी अधिक चोल कला में धातु अथवा कांस्य-मूर्ति-निर्माण-कला सजी एवं संवरी थी। धातु-मूर्तियाँ चोलकला के सर्वोत्कृष्ट पक्ष को प्रकाशित करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकारों ने न केवल हस्तकौशल एवं उत्कृष्ट कारीगरी का परिचय दिया है, अपितु उन्होंने इन मूर्तियों का निर्माण करके दक्षिण भारत में धातुमूर्ति-विन्यास की नवीन तकनीक एवं कलात्मक दृष्टि को प्रकाशित किया है। **प्रो० रुस्तम जे० मेहता** ने भारतीय धातुकला को राजवंशों के क्रमिक अनुक्रम के आधार पर विभक्त किया है—आंध्र तथा चालुक्य धातु-मूर्तियाँ, पल्लवकालीन धातु-मूर्तिकला, चोलयुगीन धातुमूर्तिकला तथा परवर्ती चोलयुगीन धातुमूर्तिकला।

दक्षिण भारतीय धातुमूर्तियाँ अधिकांशतया कांस्य-निर्मित हैं। इसे तकनीकी दृष्टि से 'पंचलौहमूर्ति' कला कहा जाता है। पंचलौह से तात्पर्य सोना, चाँदी, तांबा, पीतल तथा सफेद रंग के शीशे के मिश्रण से है। दक्षिण भारतीय शुद्ध कांस्य-प्रतिमाएँ आन्ध्र-सातवाहन तथा वातापि के चालुक्य युग में मिलती हैं। इन मूर्तियों पर सांची एवं अमरावती की प्रतिमाओं का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। परन्तु धातु-मूर्तियों का स्वतन्त्र एवं यथार्थ विकास चोलयुगीन कास्य मूर्तियों में ही दृष्टिगोचर होता है।

चोलयुगीन धातु-मूर्तियों में **'नटराज शिव'** की कांस्यमूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। **शिवनटराज** का धातु-मूर्त्तन बादामी गुफा में अवस्थित ताण्डवनृत्यरत शिव की पाषाण-प्रतिमा के अनुकरण पर किया गया है। इस प्रकार चोलयुगीन धातुमूर्तिकारों ने कांस्य-शैव-प्रतिमाओं को शास्त्रीय रूप प्रदान करने का भरपूर प्रयास किया था। धीरे-धीरे इनमें **अर्द्धनारीश्वर, कालसंहार, त्रिपुरान्तक, गंगाधर, विराटेश्वर** आदि अनेक शिव-प्रतिमाएँ निर्मित की गई। शिवप्रतिमाओं के साथ **पार्वती, स्कन्दकार्तिकेय, गणेश** आदि शैव देवी-देवताओं की असंख्यक मूर्तियाँ बनाई गईं। अधिकांश कलाविदों की धारणा है कि चोलयुगीन धातुमूर्तियों का प्रारम्भिक विकास उत्सवमूर्ति-परम्परा से क्रमशः स्वतन्त्र कला के रूप में हुआ था।

चोलयुगीन धातु मूर्तियों को अधिक लोकप्रिय स्वरूप चोल नरेश राजराज प्रथम के शासनकाल में प्राप्त हुआ। राजराज प्रथम ने तंजोर के बृहदीश्वर मन्दिर में धातुमूर्तियों को श्रद्धालुओं के दर्शन तथा पूजन के लिए स्थापित कराया। ये मूर्तियाँ मूल विग्रह-रूप में या शैव नायनार-सन्तों के रूप में वहाँ निर्मित की गई थीं। इनके साथ कतिपय कांस्य-प्रतिमाएँ भी बनाई गईं। इसके अतिरिक्त त्रिचनापल्ली के दक्षिणी तथा पश्चिमी क्षेत्रों में निर्मित मन्दिरों से भी अनेक धातुमूर्तियाँ प्राप्त हुई है। धातुमूर्तियों के निर्माण एवं विकास में चोलनरेश कुलोत्तुंग का योगदान विशेष महत्वपूर्ण है। उनके द्वारा बनवाए गए **कंपहरेश्वर** अथवा **त्रिभुवनेश्वर मन्दिर** में अनेक भव्य कांस्य-मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं।

चोलयुगीन धातुमूर्तियाँ 9वीं शती से 12वीं शती तक उत्तरोत्तर विकसित रूप प्राप्त करती गईं। 11वीं सती में निर्मित शैव-सन्तों की धातुमूर्तियाँ द्रविड़ देश मे विशेष लोकप्रिय हुईं। फलतः इनकी ढलाई का काम वहाँ बहुत तेजी से प्रारम्भ हुआ। शैव सन्तों में सुन्दरमूर्ति की धातु प्रतिमाएँ विशेष आकर्षक बनाई गई है। सुन्दरमूर्ति के प्रति लोगों में यह विश्वास था कि वे शिव के परमप्रिय शिष्य है। अतः उनकी प्रतिमा-पूजा शैव समाज में विशेष लोकप्रिय हो गई। धातुमूर्तिकारों में 'अगत्य तथा कस्यप' को चोलकालीन साक्ष्यों में सर्वश्रेष्ठ कलाकार आख्यात किया गया है। धातुमूर्तिकार संभवतः भ्रमणशील वर्ग के व्यक्ति होते थे, जो इस प्रकार की मूर्तियों को ढालने के लिए विभिन्न केन्द्रों के आग्रह पर जगह-जगह जाया करते थे। इस काल में धातु-मूर्ति ढालने वाले प्रधान केन्द्र थे—तंजोर, अर्काट, सलेम, प्रन्नाड, गंगैकोंडचोलपुरम् आदि।

तकनीकी एवं कलाकुशलता की दृष्टि से चोल-धातुमूर्तिकला शिल्पशास्त्रीय परम्परा से जुड़कर अपना एक विशिष्ट रूप प्राप्त कर लिया था। परिमार्जित एवं गोलाकार स्वरूप के साथ-साथ यथावश्यक भाव एवं मुद्रा को समाविष्ट किये हुए उपर्युक्त मूर्तियों को देखा जा सकता है। शरीर के अंगप्रत्यंग का सुन्दर गठन, शास्त्रीय अनुपात के अनुरूप वृषस्कंध, पतली कटि, अपूर्व सौन्दर्य एवं आनन्द युक्त मुख-मण्डल, शरीर-सौष्ठव आदि को स्वाभाविकता के साथ ढालने की परम्परा को इस युग की धातुकला का विशेष उल्लेखनीय पक्ष स्वीकार किया जा सकता है। मूर्तियों पर ढाले गये आभूषणों में हार, बाजूबन्द, कमरबन्द आदि को स्वाभाविक रूप दे दिया गया है। चोल धातुमूर्तियों में सांची-कला की तरह अलंकरण अंगों के अस्वाभाविक असन्तुलन के कारण नहीं बनते। अलंकरणों की निर्माण-शैली चोलकलाकारों की प्रौढ़ता को प्रतिबिम्बित करता है। माथे पर मुकुट, बाल-संवारने के विशेष ढंग और पारदर्शक परिधानों के अन्दर से शरीर के अंगों की लोच को स्पष्ट दिखाने में कलाकारों की निपुणता एवं कल्पनाशक्ति सर्वथा प्रशंसनीय है।

कलाविदों ने पूर्व और परवर्ती चोल-धातुकला को पृथक् करते हुए यह स्पष्ट किया है कि पूर्व चोल-धातु कलाकृतियों के मुखमण्डल पर शांति, सौन्दर्य भाव स्पष्ट एवं नाक बड़ी है, जबकि परवर्तीचोल कलाकृतियों के मुखमण्डल पर रूढ़िवादी भावना मिलती है। पूर्वचोल धातु-मूर्तियों में होठ एवं अधर को स्थूल, कमर पतली, शरीर छरहरा तथा पीन स्कन्ध से युक्त ढाला गया है, जब कि परवर्ती मूर्तियों में उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त घुटने की हड्डियाँ विशेष दर्शनीय हैं। आभूषणों की दृष्टि से दोनों युगों में साम्य है। प्रत्येक धातु-निर्मित मूर्तियों को देवमुकुट, कमरबन्द, बाजूबन्द से अलंकृत एवं वस्त्र को शरीर से चिपका हुआ ढाला गया है।

चोल कला की कतिपय विख्यात कांस्य-प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। ये प्रतिमाएँ अपनी विशेषताओं के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। त्रिचानापल्ली जिले में 'तिरुभरंगकुलम्' नामक स्थान से 10वीं शती की मन्च पर खड़ी 72 से० मी० ऊँची नटराज की एक कांस्य प्रतिमा मिली है, जो अब दिल्ली संग्रालय में सुरक्षित है। इसके मस्तक के पीछे एक अग्निशिखर युक्त अण्डाकार प्रभामण्डल है, जिससे मूर्ति में अनोखापन दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। मुख-मण्डल प्रसन्न तथा नृत्यमुद्रा में ऊपर उठा हुआ है।

घुटना जीवमुक्ति की भावना को उजागार करता है। **तिरुवलनकडु** (त्रिचनापल्ली) से प्राप्त 11वीं शती की **'अर्द्धनारीश्वर मूर्ति,** मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि नारी तथा पुरुष शरीर की पृथक् विशेषताओं को निखारने में कलाकार की पटुता देखते ही बनती है। इसके अतिरिक्त एक **सोमस्कन्ध मूर्ति** भी मिली है, जिसमें संक्रमण कालीन कलात्मक विशेषता दृष्टिगत होती है। इसी संक्रमणयुगीन कलात्मक विशेषता के अन्तर्गत निर्मित **त्रिशूलधारी शिव** की कतिपय मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। तंजोर में सुरक्षित 12वीं शती की **'चतुर्भुजी' महाकाली मूर्ति** विशेष उल्लेखनीय है। उक्त देवी का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में तथा बायें हाथ में भिक्षा-पात्र है। पीछे के दोनों हाथों में दो प्रकार के आयुध धारण कराये गये हैं। **वेंजामिन रोलां** ने इसके विकट रूप की व्याख्या करते हुये स्पष्ट किया है कि देवी के सामने के दो दाँत बाहर निकले हुये हैं। अतः इस विकट रूप-सम्पन्नामूर्ति को देवी के रूप में कल्पना करना कठिन है। इसी प्रकार **संजोर से परवर्ती चोल युगीन पार्वती** की एक कांस्य-प्रतिमा प्राप्त हुई है, जो 66 से० मी० ऊँची है। इसे अभंग-मुद्रा में ढाला गया है तथा शरीर का अंग-प्रत्यंग कमनीय एवं लालित्यपूर्ण है। **तंजोर** (थंजाउर) की आर्ट-गैलरी में सुरक्षित शान्त, सौम्य तथा लावण्यमय मुखमण्डल से युक्त **राम लक्ष्मण सीता'** की एक कांस्यप्रतिमा भी विशेष उल्लेखनीय हैं। नवग्रहों, वैष्णव-सन्तों तथा राजाओं एवं रानियों की प्रतिमाओं को कांस्यकला के माध्यम से बहुशः सजाया एवं सवारा गया है। **चिदम्बरम्** से प्राप्त एक प्रतिमा में चोल नरेश **राजराज प्रथम की मूर्ति को नटराज** के साथ ढाला गया है। उपर्युक्त सभी मूर्तियों में चोलयुगीन धातुमूर्तिकारों के अपूर्व कला कौशल, तकनीक तथा कल्पनाशक्ति को मुखरित देखा जा सकता है। अतः भारतीय धातुमूर्तिकला के विकास में चोलयुग का विशेष योगदान स्वीकार किया जा सकता हैं।

---

17 दक्षिण भारत : आर्थिक जीवन

आर्थिक गति विधियों में ह्रास के कारण :

ईसा की छठी सदी से बारहवीं सदी के मध्य का काल न केवल दक्षिण-भारत में अपितु उत्तर भारत में भी पूर्व स्थापित बड़े राज्यों के विकेन्द्रीकरण के लिये उल्लेखनीय है। उपर्युक्त कालावधि में राजनीतिक पटल पर निरन्तर बनते-बिगड़ते तथा बदलते राज्यों तथा राजाओं की सत्तास्थापना हेतु हो रहे संघर्षों का एक अटूट सिलसिला शताब्दियों तक चलता रहा। इन लड़ाइयों से भारी जन-धन की हानि होती रही। सामन्तशाही के उत्तरोत्तर विकास के परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में तो साम्राज्य विस्तार की होड़ सी लगी हुई थी। प्राय: शासकों का अधिकांश समय स्कन्धावारों में अथवा महत्वपूर्ण दुर्गों में वीराभिषेक कराने में ही नष्ट होता रहा। उनका जो योगदान सामाजिक तथा आर्थिक समुन्नयन के लिये होना चाहिये था, निश्चयत: नहीं हो सका। एक तरफ तो विभिन्न राज्यों में पारस्परिक प्रतिशोध एवं युद्धों का क्रम जारी था, दूसरी ओर सर्वत्र सामन्तीकरण की परम्परा तेजी से जड़ पकड़ती जा रही थी। राजाओं में श्रेष्ठता एवं बड़प्पन की स्थापना हेतु भूमिदान की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। फलत: कृषि योग्य जमीन का एक बड़ा हिस्सा इन अनुदानों के कारण करमुक्त होता जा रहा था। दक्कन के राष्ट्रकूट शासकों के दानपत्रों से ज्ञात होता है कि साम्राज्य में चतुर्दिक विस्तृत मन्दिरों, पंडितों, पुरोहितों तथा विद्यालयों को जोत का एक बड़ा हिस्सा दान दिया गया था। ऐसी भूमि से लगान की वसूली बहुधा माफ कर दी जाती थी और यदि वसूल भी की जाती थी तो बहुत कम। राष्ट्रकूटों के दानपत्रों में सहस्त्राधिक ग्राम दानों का उल्लेख, तत्कालीन भारतीय शासकों की दान देने की मानसिकता का परिचायक है। इतना ही नहीं, सामन्ती-व्यवस्था के बढ़ते प्रभाव के कारण भू-राजस्व एवं स्वामित्व का हस्तांतरण क्रमश: सामन्तों, उपसामन्तों, अधिकारियों तथा ग्राममुखियों को भी किया गया। इसका प्रमाण पूर्व मध्ययुगीन बहुसंख्यक ताम्रपत्रों (दान-पत्रों) के उल्लेखों से प्रस्तुत किया जा सकता है। दक्षिण भारत में सैनिकों को भी उनकी सेवाओं के लिए भूमि-प्रदान किये जाने की प्रथा प्रचलित थी। इन भू-दानों के कारण केन्द्रीय अर्थव्यवस्था एवं स्थानीय शासकों अथवा अंन्य अधिकारियों के बीच न केवल राजनीतिक सन्तुलन बिगड़ गया था, अपितु भू-राजस्व एवं उससे जुड़ी आर्थिक व्यवस्था भी चरमरा गई थी। अनुदान से प्राप्त नव-भू-स्वामियों को भूमि-कर का संग्रह करने तथा उसे स्वेच्छा से केन्द्रीय राजकोष में जमा करने की स्वायत्तता-प्रदान करने की नवीन व्यवस्था के फलस्वरूप उक्त युग में सामन्तीशोषण को पूरी छूट सी मिल गई थी। फलत: खेतिहर

मजदूर पर न केवल मनमाने करों का दवाव पड़ रहा था, अपितु आर्थिक समुन्नयन में विशेष महत्वपूर्ण अंग, अधिक उत्पादन के उत्साह, को भी दवाया जा रहा था। सामन्तों की प्रशासकीय एवं आर्थिक स्वायत्तता के क्रमिक विकास होने के कारण दक्षिण भारत में स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाले अनेक प्रशासनिक-खण्डों एवं प्रखण्डों का उदय होने लगा। राष्ट्रकूटों के शासनकाल में यह प्रक्रिया गतिशील रही। सामन्ती एवं उपसामन्ती सत्ता-खण्डों एवं प्रखण्डों के उदय के फलस्वरूप तत्कालीन आर्थिक इकाइयों का स्वरूप और भी लघुतर होता गया। फलतः शोषणपरक मनोवृत्तियों से युक्त भू-आभिजात्य वर्गों का तेजी से विकास हो चुका था।

भू-राजस्व में क्रमशः कमी आने के फलस्वरूप केन्द्रीय शासन द्वारा किए जाने वाले समाजार्थिक विकास-कार्य वाधित होने लगे। **राम शरण शर्मा** का मत है कि ग्राम या ग्राम-समूहों के आर्थिक विकास पर सामन्ती-स्वायत्तता के फलस्वरूप विकेन्द्रीकरण से तो प्रभाव पड़ा ही, साथ ही साथ, उन गाँवों का भी आर्थिक पतन प्रारम्भ हो गया जो इस सन्दर्भ में इन विकेन्द्रीकरण में सम्मिलित नहीं थे। यह पतन तत्कालीन व्यापारिक पतन के कारण अधिक संभव हुआ। तत्कालीन भारत में व्यापार-कर्म में आई गिरावट के कई कारण थे। भारत एवं रोम के वीच रेशम एवं मुलायम उत्तम कोटि के कपड़ों का जो व्यापार छठीं सदी ई० तक किसी न किसी रूप में चल रहा था, उक्त काल में उसमें वड़ी कमी आ गई थी। छठीं सदी के पूर्ववर्ती कालों में रोम में भारतीय रेशम एवं रेशमी कपड़ों की विशेष माँग एवं खपत थी। परन्तु 7वीं सदी में वाइजेंटाइन (रोम) के निवासियों ने चीन से रेशम के कीड़ों को पालने का ज्ञात तथा रेशम से कपड़े तैयार करने की कला को स्वयं विकसित कर लिया। अव वे अपनी आवश्यकता भर के लिए रेशम स्वयं तैयार करने लगे। फलतः उन्होंने भारत से इसका आयात करना वन्द कर दिया। इस प्रकार पाश्चात्य विश्व में निर्यात किये जाने वाले रेशम के व्यापार से होने वाली आय अवरुद्ध हो गई। दक्षिण भारत के समुद्रतटीय प्रदेशों एवं वहाँ के वन्दरगाहों से दक्षिणी-पूर्वी एशियाई द्वीप-समूहों के साथ इस समय भी न्यूनाधिक व्यापारिक सम्पर्क बना रहा। **रामशरण शर्मा** की धारणा है कि दक्षिण भारतीय वन्दरगाहों से थोड़ा बहुत व्यापारिक सम्पर्क उपर्युक्त द्वीपों से अवश्य बना हुआ था। परन्तु प्राय-द्वीपीय वन्दरगाहों में हो रहे व्यापार एवं आर्थिक लाभ का प्रभाव भारत के अन्य अर्न्तवर्ती क्षेत्रों पर विशेष नहीं था। फलतः व्यापारिक नगरों एवं गाँव के बीच की आर्थिक कड़ी पर्याप्त शिथिल हो चुकी थी। आर्थिक एवं व्यापारिक शिथिलता की पुष्टि मुद्रा-साक्ष्यों से भी होती है। 7वीं से 10वीं सदी के मध्य सोने के सिक्कों के प्रचलन का अभाव सम्पूर्ण भारत में देखा जा सकता है। यद्यपि राष्ट्रकूटों ने भारत के लम्वे भू-भाग पर लगभग तीन शताब्दियों तक शासन किया तथापि उनके शासनकाल में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं किया जा सका। इतना ही नहीं, उन्होंने सम्भवतः सिक्कों की कोई ऐसी शृंखला भी विकसित नहीं की, जिसके भरपूर उपयोग से आन्तरिक एवं वाह्य-व्यापार तथा विनिमय में तेजी अथवा गतिशीलता आती। इससे आर्थिक प्रगति की संभावनाओं पर दुष्प्रभाव पड़ा। उत्पादन के स्रोत गाँव अथवा ग्राम-समूह प्रायः आपस में वस्तुओं का विनिमय करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विवश हो गये। इतना ही नहीं, छोटे-छोटे अनेक राज्यों के उदय के कारण स्थान-स्थान पर जाँच-चौकियों की संख्या भी

पहले की तुलना में बढ़ गई। फलतः उन पर कई प्रकार के करों को चुकाना भी व्यापारकर्म में बाधक सिद्ध हुआ। देश में छोटे-छोटे अनेक राज्यों का उदय, उनमें निरन्तर तनाव, संघर्ष एवं विद्रोहों के कारण अन्तर्राज्यीय व्यापार में अनेक खतरे उत्पन्न हो गये। इस काल के साहित्य तथा ह्वेनसाँग के विवरण से इस बात की सूचना मिलती है कि व्यापारिक कारवाँ को, राज्यों में व्याप्त अशान्ति एवं असुरक्षा के वातावरण में, प्रायः डाकू लोग मार्ग में ही लूट लिया करते थे। 'कथासरित्सागर' से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त युग के व्यापारी लोग चुंगियों पर मनमाने कर-वसूल किये जाने के भय से प्रायः जंगली-मार्गों से गुजरते थे। इस प्रकार उक्त अधीत काल में व्यापारिक प्रगति अवरुद्ध सी हो गई थी तथा देश में आर्थिक समुन्नयन की गति शिथिल पड़ गई थी।

व्यापार की गति शिथिल पड़ने के कारण शिल्पियों, व्यवसाइयों तथा कारीगरों के उद्योग-धन्धों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। नगरों में औद्योगिक केन्द्र, जहाँ कारीगरों की हर समय आवश्यकता रहा करती थी, तैयार माल की बिक्री न हो पाने के कारण धीरे-धीरे बन्द होने लगे। वहाँ औद्योगिक उत्पादन के स्थान पर सैनिक स्कन्धावार अथवा सामन्ती शासन-केन्द्र बना दिये गये। कारीगरों एवं व्यापारियों को स्थानीय खपत के लिए जगह-जगह बँध जाना पड़ा। ग्रामदानों के समय वहाँ के कारीगरों को दानदाता का यह आदेश पालन करना अनिवार्य होता था कि वह अन्यत्र जाकर न बसे। दक्कन तथा द्रविड़-क्षेत्र में अनेक ऐसे दानपत्र मिले हैं, जिनमें दानदाता शासक द्वारा गाँव अथवा मन्दिर के आस-पास बसे कारीगरों को आदेश दिये गये हैं कि वे अन्यत्र जाकर न बसें। उक्त प्रदेशों में मन्दिरों तथा मठों को भूमि अथवा ग्रामदान के साथ कारीगर भी भेंट किए गये हैं। फलतः उन्हें विवश होकर शासक के आदेश का पालन करना पड़ता ही था। प्रायद्वीपीय पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित नगरों में व्यापारियों एवं श्रेणियों को भी कारीगर प्रदान किये गये थे।

कारीगरों की भाँति व्यापारियों को भी सम्भवतः अन्तर्राज्यों एवं विदेशों में व्यापार हेतु जाने पर बहुत कुछ मनाही थी। दक्कन से प्राप्त 7वीं एवं 8वीं शती के कतिपय लेखों में यह आदेश मिलता है कि व्यापारियों को नगर के एक ही बाजार में इकट्ठा न होने दिया जाय। इस पर **राम शरण शर्मा** का मत है कि इन आदेश-पत्रों से तत्कालीन बाजारों में व्यापारिक प्रतियोगिता के ह्रास का संकेत किया है। बाजार में व्यापारिक माल में संभवतः कमी आने लगी थी। व्यापारी अब स्थानीय आवश्यकताओं की सम्पूर्ति से अधिक वस्तुओं का आयात-निर्यात अथवा खरीद-बिक्री बन्द करने लगे थे। फलतः व्यापारियों में स्थानीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। यह प्रवृत्ति सामन्तीकरण की सहज देन मानी जा सकती है। इतना ही नहीं, कतिपय दानपत्रों में तो ग्राम-दानों के समय उनमें बसे किसानों को भी दान कर दिया गया था (धनजनसहित, जनता समृद्ध, सप्रतिवासीजनसमेत आदि का उल्लेख)। इस प्रकार सामन्तोपसामन्तीकरण से गाँवों का शोषण तो बढ़ गया लेकिन उनकी अर्थ-व्यवस्था में कोई सुधार नहीं हो सका।

इस प्रकार 6वीं से 10वीं सती तक उत्पादन के सभी उपादन—किसान, कारीगर, व्यापारी आदि सामाजिक गतिशीलता में उत्पन्न नाना प्रकार के अवरोधों के कारण अपने-अपने निवास-केन्द्रों से ही बँधे रह गये। इसके परिणामस्वरूप उक्तकाल में

आर्थिक-विकास लगभग गतिहीन हो गया तथा प्रगति अवरूद्ध हो गई। उनमें स्थानीय संकीर्णता आ गई। अधिक उत्पादन करने का सामाजिक उत्साह तथा वाणिज्य-व्यापार-कर्म चरमरा गया। सामन्ती-मनोवृत्ति के कारण श्रम एवं उत्पादन का शोषण चलता रहा। फलतः उत्साह एवं पूँजी दोनों में कमी होती गई। उत्पादन से जुड़े लोगों में स्थानीयता की भावना ने उन्हें धर्मभीरू तथा कायर बना दिया। इस युग के नवीन सामाजिक आदर्शों से पूरित कलिवर्ज्य में तो ब्राह्मण तक को पर्यटन की छूट नहीं दी गई है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी वर्ण को देश या विदेश-यात्रा पर जाने की स्वतन्त्रता नहीं रह गई थी। समुद्रयात्रा पर तो और भी कड़ा प्रतिबन्ध था। **'औशनस-स्मृति'** के अनुसार समुद्रयात्रा करने वाला व्यक्ति न केवल जाति-च्युत होता था, अपितु श्राद्ध-भोजन में वह आमन्त्रण का भी पात्र नहीं रह जाता था। 11वीं शती के विद्वान अरब पर्यटक **अल्बरूनी** ने लिखा है कि दक्कन क्षेत्र में ब्राह्मणों का आवास अन्य सामाजिक वर्गों से अलग रखा जाता था। वहाँ हिन्दुओं को तुर्कों तथा कर्णाटों के क्षेत्र में जाने की अनुमति नहीं थी। इतना ही नहीं, आलोच्यकाल के ग्रन्थों में **देश-धर्म** को तो नियत किया ही गया, कालान्तर में **ग्राम-धर्म**[1] को भी नियत कर दिया गया। **रामशरण** शर्मा के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व मध्यकाल में गाँव आत्मनिर्भर आर्थिक एवं प्रशासनिक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

पूर्वमध्यकालीन समाज में उत्पादन **स्थानीय आवश्यकताओं** के लिए ही किया जाता था। विकसित व्यापार के लिए अतिरिक्त उत्पादन की सम्भवतः आवश्यकता ही नहीं रह गई थी, क्योंकि अतिरिक्त उत्पादन प्रायः सामन्तों द्वारा हड़प लिया जाता था। परन्तु दक्षिण भारत में अब भी अनेक ऐसे क्षेत्र थे, जहां व्यापार विकसित था तथा मानव-उपयोग की आवश्यक वस्तुएँ जैसे नमक, अनाज, कपड़ा, लोहा, शक्कर आदि को सामान्यतया अर्न्तक्षेत्रीय माँग एवं पूर्ति के हिसाब से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाता था। शासकों, सामन्तों, अधिकारियों आदि की शौक एवं विलास की वस्तुएँ अन्य प्रदेशों से मंगाई जाती थीं। पूर्व-मध्यकाल में प्रायद्वीपीय भारत में अनेक समुन्नत बन्दरगाह थे, जिन्हें देश के अन्तर्वर्ती प्रदेशों तथा व्यापारिक-मार्गों द्वारा जोड़ा गया था। इसके अतिरिक्त नदियों द्वारा भी व्यापारिक माल बन्दरगाहों तक पहुँचाया जाता था। 9वीं एवं 10 वीं शती में भारत का व्यापारिक संपर्क अरब, चीन, पश्चिमी एशिया, दक्षिणी-पूर्वी एशियाई द्वीपों के साथ विकसित था। पल्लवों तथा चोलों के समय तमिल देश की आर्थिक प्रगति में उपर्युक्त विदेशी व्यापार विशेष सहायक सिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक तथा आर्थिक गतिविधियों की समीक्षा के आधार पर अन्ततः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गुप्तोत्तरकालीन भारत में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में आर्थिक प्रगति विशेष अवरुद्ध हुई। इसका प्रमुख कारण सम्राट् हर्षवर्धन के उपरान्त मध्यप्रदेश में उद्भूत एक दीर्घकालीन राजनीतिक शून्यता को माना जा सकता है। कान्यकुब्ज के राज्य को लेकर पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण की शक्तिशाली पाल,

---

1. द्रष्टव्य, बी० एन० एस० यादव: सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया; पृ० 165, 168.

प्रतीहार तथा राष्ट्रकूट राजवंशों की शक्तियाँ परस्पर संघर्षरत रही। शक्तिशाली साम्राज्य-शक्ति के अभाव में सामंती-शोषण तथा उनके द्वारा प्रस्तुत संकीर्ण आदर्शों एवं आदेशों में फँसी जनता 10वीं शती तक दबती, कुढ़ती तथा अधिक उत्पादन से विमुख बनी रही। परन्तु दक्षिण भारत में पश्चिमी चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों को छोड़कर अन्य राज्यों की आर्थिक स्थिति सामंती-व्यवस्था से शासित होने के बावजूद विशेष अवरुद्ध नहीं हो सकी। पल्लवों एवं चोलों द्वारा बनाये गये बहुसंख्यक मन्दिरों तथा अन्य सांस्कृतिक क्रियाकलापों को देखने से यही प्रतीत होता है कि यहाँ विकास की गति शिथिल अवश्य थी, परन्तु पतनोन्मुख नहीं थी।

कृषि-कर्म

दक्षिण भारत में कृषि के विकास का इतिहास बहुत पुराना है। यहाँ के निवासी नवपाषाणकाल में ही **उड़द, कुलथी** और रागी की खेती करने लगे थे। इन अन्नों के अवशेष **पैय्यमपल्ली, हल्लूर** तथा **टेक्कलकोटा** आदि स्थानों से प्राप्त हुये हैं। संगम साहित्य में **वेल्लाल** कृषकों का विशद् वर्णन मिलता है। पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत में कृषि योग्य भूमि का विस्तार करने के लिये पठारी झाड़ियों तथा जंगलों को काटकर वहाँ की जनजातियों को अग्रहारों में बसने वाले ब्राह्मणों अथवा सामन्तों के अधीन कर दिया गया। फलतः **कृषि-कर्म** योग्य अधिक भूमि का विकास सम्भव हुआ। इस काल की बदलती परिस्थितियों में सभी वर्णों के लोग कृषि-कर्म में रुचि लेने लगे थे। **अल्बरूनी** के उल्लेखों से पता चलता है कि राष्ट्रकूटों के शासनकाल में दक्कन के ब्राह्मणों का एक बड़ा वर्ग कृषि एवं व्यापार में संलग्न था। परन्तु खेती में मजदूरी का कार्य सामान्यतयः शूद्र वर्ग के ही स्त्रीपुरुष करते थे। कृषि-कर्म के विकास का संकेत 8वीं शती के पूर्वार्द्ध में रचित **'कामन्दकीयनीतिसार'**[1] से भी मिलता है। उक्त ग्रन्थ के उल्लेखानुसार जो व्यक्ति **'वार्ता'** अर्थात कृषि, व्यापार और पशुपालन आदि में निपुण होता है, वह कभी निर्धन नहीं हो सकता। अतः इस काल में 'वार्ता' के अन्तर्गत कृषि को पर्याप्त महत्व प्राप्त था। पुराणों[2] तथा परवर्ती नीति ग्रंथों[3] में 'वार्ता' के अन्तर्गत कृषि को विशेष महत्ता प्रदान किया गया है। 9वीं एवं 10वीं सदी में भारत में आने वाले अरब यात्रियों ने तत्कालीन भारतीय भूमि की उर्वराशक्ति तथा यहाँ उत्पन्न होने वाले अनाजों और फलों की प्रचुरता की प्रशंसा की है। **'अभिधानरत्नमाला'** में भूमि को कई कोटियों में विभक्त किया गया है—**उपजाऊ** (उर्वरा), **ऊसर** (इरिण) परती (खिल), रेगिस्तान (मरु), एवं **ऊसर** (मृत्सा या मृत्स्ना) आदि। उपर्युक्त ग्रन्थ में **शाद्वल** (घास के मैदान) **नड्वल** (सरकंडे वाली भूमि) वर्षा के जल से सिंचित काली, पीली, लाल मिट्टी के अतिरिक्त तालाबों और नदियों के जल से सिंचित भूमियों का भी विवरण मिलता है।

---

1. कामन्दकीयनीतिसार, 14
2. पौराणिक विवरणों के लिये द्रष्टव्य, सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म और समाज, पृ० 369-372
3. शुक्रनीतिसार, 1-311-12.

पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारत में कृषि-कर्म के सुव्यवस्थित विकास की सूचना तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों से प्राप्त होती है। यहाँ मिट्टी की प्रकृति के अनुसार अलग-अलग अन्नों का उत्पादन किया जाता था। **मेघातिथि** ने तो भूमि की बनावट के अनुसार अन्न के वपन एवं उपज को भी वर्गीकृत किया है। इस युग के लेखों तथा ग्रन्थों में विविध प्रकार के धान्यों का विशद् उल्लेख मिलता है। इस युग में पैदा होने वाले अनेक प्रकार के **चालव** (धान) **सरसों, प्रियंगु, जर्तिल, निवार, मसूर, कलाय, इल्ला, आढ़क की दाल, ईख, गेहूँ, जौ, मटर, मूँग, उड़द,** तिल, **कुलथी,** नारियल, **भंग,** अलसी तथा विविध प्रकार के शाकों के उत्पादन की सूची परवर्ती स्मृतिग्रंथों में दी गई है। **मार्कोपोलो** ने पाण्ड्य राज्य में **अदरक** और **दालचीनी** के उत्पादन पर प्रकाश डाला है। **याकूत** के अनुसार पाण्ड्य राज्य की पहाड़ियों पर **कपूर** प्रचुर मात्रा में उगाया जाता था। **इदरिसी** लिखता है कि मालाबार की पहाड़ियों एवं ढालों पर **इलायची** की पैदावार होती थी। अरबी लेखक **इब्नसईद** के विवरणों से ज्ञात होता है कि **मालाबार** के पहाड़ी ढ़लानों पर **इलायची** के अतिरिक्त **कालीमिर्च** भी उगाई जाती थी। गुजरात एवं काठियावाड़ प्रदेश **कपास** की खेती के लिए विख्यात थे। अरबी-यात्री **सुलेमान** ने अपने विवरणों में तत्कालीन दक्कन तथा भारतीय क्षेत्रों में खाद्यान्नों के प्रचुर उत्पादन का उल्लेख किया है। इस युग में कृषि-कर्म की समुन्नति का आकलन 11 वीं सदी के **'कृषि पराशर'** तथा 12वीं सदी **'वृक्ष्यायुर्वेद'** नामक कृषि-ग्रन्थों के प्रणयन से किया जा सकता है।

भू-स्वामित्व एवं वर्गीकरण—पूर्व मध्ययुगीन स्मृतिकारों ने भूमि-मापन, सीमा-विवाद, भूमि का विक्रय, गिरवीकरण, भूमि-अनुदान आदि की विशद् व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके उल्लेखों से ज्ञात होता कि भू-खण्डों का **राजा** वास्तविक मालिक हुआ करता था। इसकी पुष्टि **अग्नि पुराण**[1] तथा **'कृत्यकल्पतरु'** से भी होती है। **मेधातिथि** ने भी जखीरा में राजा को हिस्सेदार बताया है। तत्कालीन अभिलेखों एवं अन्य साक्ष्यों में भी **राजा** को ही भूमि का मूल स्वामी बताया गया है। **आर०जी० बसाक** के अनुसार भूमि का वास्तविक स्वामित्व ग्राम सभाओं के अधीन होता था। **रमेश चन्द्र मजूमदार**[2] के **बसाक** के मत की पुष्टि करते हुये प्रतिपादित किया है कि ग्राम सभाएँ ही गाँव से राजस्व वसूल करके सरकारी कोष में जमा करने के लिये उत्तरदायी होती थीं। इससे अंशतः सहमत **अनन्त सदाशिव अल्तेकर**[1] का मत है कि भूमि-खण्डों के स्वामी **व्यक्ति विशेष** अथवा परिवार थे न कि राज्य। इस सन्दर्भ में **जॉली** का मत विशेष ध्यातव्य है। उनके अनुसार भारतीय विधिशास्त्रों में **'स्वत्व'** शब्द का प्रयोग वास्तविक भू-स्वामी के लिए किया गया था। खेती करने अथवा कृषि-कर्म आदि के उपयोग में लाने वाले भूमि-मालिकों के लिए **'भोग'** शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार **भूमि-अधिकार-पत्र** के लिए शास्त्रकारों ने **'आगम'** शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार भूमि-खण्डों के मूलस्वामी राजा थे तथा उसको उपयोग करने के लिए उसका अस्थायी मालिकाना **व्यक्ति विशेष** को दिया जाता था।

---

1. अग्निपुराण, 70-6, 257
2. रमेश चन्द्र मजूमदार, कारपोरेट लाईफ इन ऐंश्यण्ट इण्डिया, पृ० 186.

पूर्वमध्यकालीन दक्षिण भारतीय भूमि-अर्थव्यवस्था में सामन्तों की भूमि विशेष उल्लेखनीय है। पुराणों, धर्मशास्त्रों तथा दानपत्रों में भूमि-दानों की महत्ता व्याख्यायित एवं स्थापित की गई है। इस काल में सम्पन्न किये गये भूमि-अनुदानों में भूमि-दान के साथ-साथ दानग्रहीता को कर-संग्रह, पुलिस-व्यवस्था तथा प्रशासन सम्बन्धी अधिकार भी दिये गये थे। दक्कन के कतिपय दान-पत्रों से तो यहां तक पता चलता है कि दान-ग्रहीताओं को दान में प्राप्त भू-सम्पदा के मुकदमों का निर्णय करने तक अधिकार प्राप्त था। गुजरात एवं महाराष्ट्र के 6ठीं एवं 7वीं शती के कतिपय अनुदान-पत्रों में अनुदानग्राहियों को कर वसूलने तथा अनुदानित ग्रामवासियों से बेगार कराने का भी विशेषाधिकार दे दिया गया था। सामन्तों को अपने अधिकार-क्षेत्र में दण्ड देने तथा राजा के लिए सैनिक-टुकड़ियों को संगठित करने का भी अधिकार प्राप्त था। सामंत लोग अपनी खेती पर श्रमिकों से बेगार लेते थे तथा उनसे अनेक तरह से कर भी वसूलते थे। इस प्रकार भूमि-स्वामित्व में किसान एवं राजा के बीच सामंतों एवं उपसामन्तों का आगमन, तत्कालीन अर्थव्यवस्था में बड़ा प्रभावी कदम सिद्ध हुआ।

कृषि-कर तथा राजस्व-व्यवस्था—पूर्वमध्ययुगीन समाज में खेतिहर किसान ही सबसे बड़े आर्थिक आधार थे। उनके द्वारा उपजाये गये खाद्यान्नों तथा अन्य उपयोगी फसलों से सामाजिक जीवन का भरण-पोषण तथा अन्य जरूरतें पूरी होती थीं। परन्तु सामंती-व्यवस्था के क्रमशः दृढ़ीकरण के फलस्वरूप प्रायःकिसानों की उपज का अधिक अंश प्रभुत्वसंपन्नवर्ग के लोगों द्वारा किसी न किसी रूप में अपहृत कर लिया जाता था। इस काल में लिखे गये धर्मग्रन्थों, स्मृतियों, भाष्यों तथा अभिलेखों से तत्कालीन भू-राजस्व-प्रणाली का ज्ञान होता है। लक्ष्मीधर (1100-1150 ई०) द्वारा प्रणीत कृत्यकल्पतरु की टीका से ज्ञात होता है कि करों के संग्रह के बिना राज्य का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता है। उनके अनुसार प्रजा की रक्षा करने के एवज में राजा को अतिकष्टकर कर को नियमतः वसूल करना चाहिए। परन्तु कर-संग्रह, किसी भी वस्तु के उत्पादन से लेकर उसके उपभोग के बीच केवल एक बार ही करना न्यायसंगत है। इस युग के टीकाकारों की व्याख्याओं में सामान्यतया यह व्यवस्था दी गई है कि भू-राजस्व के रूप में किसानों से उनकी उपज का अष्टांश ही संग्रह करना चाहिए। परन्तु आपातकाल में कर की दरों में बढ़ोत्तरी करने की भी व्यवस्था प्रदान की गई है, जो उपज का चतुर्थांश तक वसूल किया जा सकता है। इस काल के प्रसिद्ध भाष्यलेखक मित्रमिश्र के अनुसार राजा को खिल (परती भूमि) की उपज का दशांश, वर्षा के जल पर आश्रित अर्थात् असिचिंत भूमि के उत्पादन का अष्टांश और रबी की फसल पर उपज का षष्टांश (षडंश वृत्ति अथवा षड्भागभृत) शासकों द्वारा भू-राजस्व के रूप में वसूला जाता था। इस काल में सामान्तयता 'कर' के रूप में उपज का षष्टांश ही भू-राजस्व के रूप में वसूल करने की परम्परा विद्यमान थी। इस युग के अभिलेखों से पता चलता है कि बंजर-भूमि पर कर-संग्रह नहीं होता था।[1] दक्षिण भारतीय नरेशों के बहुसंख्यक दानपत्रों से भू-राजस्व के लिए भाग एवं भोगकर शब्दों का प्रयोग मिलता है। बी०पी० मजूमदार के अनुसार

---

1. द्रष्टव्य, वाकाटक गुप्त एज, पृ० 333

इस काल में **'भाग'** का वास्तविक तात्पर्य भू-राजस्व ही प्रतीत होता है । उनके अनुसार उक्त युग में **'कर'** शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया था ।[2] वास्तव में कर शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के करों के लिए रूढ़ हो चुका था । दक्षिण भारतीय दानपत्रों में प्राय: **'अष्टभागों'** का उल्लेख मिलता है । **अष्टभोग** का तात्पर्य है—1. **जखीरा** (निधि), 2. **निक्षेप** (भूमि के नीचे गाड़ा हुआ धन), 3. **जल** (तालाब आदि), 4. **खान** (पत्थर, धातु आदि), 5. **अक्षिणी** (उत्पादन अथवा व्यापार का लाभांश), 6. **आगामी** (भविष्य में प्राप्य लाभ), 7. **सिद्ध (कृषि-योग्य उर्वर भूमि)** तथा 8. **साध्य** (कृषि-योग्य बनाई गई नई भूमि) । कतिपय दानपत्रों में ग्यारह उपभोग्य-वस्तुओं को भी **'अष्टभोग'** बताया गया है । विद्वानों का विचार है कि तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था में राजस्व-संग्रह के लिए **'अष्टभोग'** शब्द गूढ़ हो चुका था । अत: ग्यारह भागों के लिए भी उसी पारस्परिक शब्दावली का प्रयोग किया जाने लगा था । **लल्लन जी गोपाल**[3] के विचार में 'भोग' को फल, फूल, ईंधन आदि वस्तुओं के रूप में प्रजाजनों द्वारा समय-समय पर राजा को नजराना दिये जाने के अर्थ में मानना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है । उनके मत की पुष्टि पूर्वमध्ययुगीन स्मृतिटीकाओं के उल्लेख से भी होती है । भू-राजस्व अनाज के रूप में संग्रह किया जाता था । कतिपय पल्लव कालीन शास पत्रों (चार्टरों) में 'दानग्रहीता' को भूमि-दान के साथ अठारह **'परिहारों'** को भी दान देने का उल्लेख मिलता है । इनकी सही-सही संख्या अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है। ऐसा लगता है कि इस काल में 'परिहार' भी कोई नया कर रहा होगा । इसी प्रकार का उल्लेख वाकाटक-अभिलेखों में भी मिलता है । वाकाटक शासक विन्ध्यशक्ति द्वितीय के बासिक-दानपत्र में चौदह **'परिहारों'** का उल्लेख किया गया हैं । **द्विजेन्द्रनाथ झा**[1] का अनुमान है कि ये नये प्रकार के करों का संकेत करते हैं । सम्भवत: इस कोटि के करों को कुछ बड़े कर-दाताओं पर ही लगाया जाता रहा होगा । पूर्वमध्ययुगीन कतिपय दक्षिण भारतीय अभिलेखों में **'धान्य'** तथा **'हिरण्य'** शब्दों को कर के रूप में प्रयुक्त किया गया है । **'धान्य'** कर सम्भवत: कुछ विशिष्ट प्रकार की उपजों पर लगाया जाता था । **'हिरण्य'** कर के प्रारूप पर विद्वानों में मतभेद मिलता है । **बूलर, शामशास्त्री, जे० एफ० फ्लीट, मेयर, आर० डी० बनर्जी, डी० आर० भण्डारकर, एन० जी० मजूमदार** आदि विद्वानों की धारणा है कि **'हिरण्य'** का वास्तविक तात्पर्य **'सुवर्ण'** था । परन्तु **सेनार्ट, कीलहार्न, फाँगले** तथा **यू० एन० घोषाल** आदि विद्वानों के अनुसार 'हिरण्य' सम्भवत: एक विशिष्ट प्रकार का कर था, जिसमें अनाज की जगह सिक्के लिए जाते थे । **बी० एन० एस० यादव**[2] का विचार है कि **एन० सी० बंद्योपाध्याय** के इस सुझाव को यौक्तिक माना जा सकता है कि **'हिरण्यकर'** सामान्यतया व्यापारिक पूँजी अथवा उनकी **वार्षिक आय** पर लगाया एवं वसूल किया जाता था । **लल्लन जी गोपाल**[3] का मत है कि उक्त प्रकार का कर सामान्यतया गाँवों की आय से संग्रह किया जाता था । **अल्बरूनी** ने भी अपने विवरणों में **हिरण्यकर** का उल्लेख किया है, जो जनता से सम्पत्ति कर के रूप में वसूल किया जाता था । गुजरात के

---

1. द्रष्टक, एपिग्रा इंडि०, 19 पृ० 121, टिप्पणी-3.
2. बी० पी० मजूमदार, लैंड रेवन्यू इन अर्ली मेडिवल इण्डिया, पृ० 21, 22.
3. लल्लन जी गोपाल, इकनोमिक लाइफ आंव नार्दर्न इण्डिया, पृ०, 39.

चालुक्यों के अभिलेखों में पारम्परिक करों के अतिरिक्त कतिपय नए करों का भी उल्लेख मिलता है। ये नए कर थे—**निधान, दानीभाग, मार्गणक** तथा **दण्डदशापराध** आदि। दानीभाग के रूप में ग्रामवासियों से समय-समय पर ईंधन, फल आदि उपयोगी वस्तुओं को भू-राजस्व के रूप में वसूल किया जाता था। **मार्गणक** कर प्रारम्भ में ग्रामवासियों से आपात्काल में ही वसूल होता था। लेकिन बाद में इसे भू-राजस्व का नियमित अंग बना लिया गया। **बर्नेड** ने तमिल देश में पल्लवों एवं चोलों के शासनकाल में प्रचलित तमिल **'मेलवरम्कर'** को उत्तर भारत के **'उपरिकर'** के सदृश बताया है, जिसे कृषि से उत्पन्न उपज में राज्य के अंश जैसी कोई चीज स्वीकार की जा सकती है। उपर्युक्त करों के अतिरिक्त ग्रामवासियों पर सामन्तों एवं उपसामन्तों द्वारा समय-समय पर अनेक प्रकार के अतिरिक्त कर लगाए एवं वसूल किये जाते थे।

दुर्भिक्ष—मानसूनी जलवायु के कारण खेती का कार्य अधिकांशतया मौसमी वर्षा पर ही निर्भर करता था। फलतः कभी-कभी अवर्षण के कारण सूखा पड़ जाता था, जिसके कारण दुर्भिक्ष की स्थिति आ जाती थी। पूर्व मध्य युग में यातायात के साधनों में सम्यक् विकास न हो पाने के कारण प्रायः अनाजों को दूर प्रदेशों तक पहुँचाना भी कठिन कार्य था। फलतः दुर्भिक्ष अथवा अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर निम्नआयवर्गीय किसान, मजदूर आदि लोग भुखमरी के शिकार हो जाते थे। दण्डिन् विरचित् दशकुमारचरितम् में तत्कालीन दुर्भिक्ष का विशद् उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार उल्लेख **'अपराजितपृच्छा' बृहन्नारदीयपुराण, लेखपद्धति** आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। 1033 ई० के लगभग पड़े महाअकाल का उल्लेख, फरिश्ता आदि अनेक अरब देश से भारत की यात्रा पर आए पर्यटकों ने भी किया है। **प्रबंधचिन्तामणि** से ज्ञात होता है कि चालुक्य नरेश भीम के शासनकाल में लोगों को गुजरात में महादुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा था। सूखा के अतिरिक्त दुर्भिक्ष के प्रमुख कारणों में नदियों की बाढ़, सामन्तों द्वारा निर्दयता पूर्वक जनता का शोषण तथा व्यापारियों द्वारा खाद्यान्नों की चोरबाजारी आदि भी उल्लेखनीय हैं।

सिंचाई—कृषि-कर्म को समुन्नत करने के लिए खेतों में सिंचाई की सम्यक् व्यवस्था करना आवश्यक होता है। पूर्वमध्ययुगीन दक्षिणी भारत में कृषि-कर्म को बढ़ावा देने, अधिक उत्पादन तथा सूखे से खेती को बचाने के लिए सिंचाई के अनेक साधनों को विकसित किया गया था। **अपराजितपृच्छा** में सिंचाई के साधनों में झील, तालाब, कूप, नदी, नहर आदि का उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारत में चोल नरेशों ने कावेरी नदी के तट पर बाँध-निर्मित करा कर किसानों को सिंचाई तथा अन्य उत्पादन से जुड़े कार्यों के लिए पानी की व्यवस्था की थी। उपर्युक्त नदी पर इस प्रकार के कई बाँध बाँधे गए थे, जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण बांध श्रीरंगम टापू के नीचे बांधा गया था। यह बांध 1225 मीटर लम्बा तथा 20 मीटर चौड़ा था। इसी प्रकार सिंचाई के लिए दक्षिण

---

1. द्विजेन्द्र नाथ झा, मौर्योत्तर तथा गुप्त कालीन राजस्व-व्यवस्था, पृ०, 62
2. द्रष्टव्य, बी० एन० एस० यादव, सोसायटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया पृ० 289.
3. लल्लन जी गोपाल, इकनोमिक लाईफ ऑव द नार्दर्न इण्डिया, पृ० 39.

भारत में बहुसंख्यक कृत्रिम झीलें बनाई गई थी । सौराष्ट्र प्रदेशों में सुदर्शन-झील का निर्माण तथा उससे नहरें निर्मित करवाकर आस-पास की भूमि की सिंचाई की व्यवस्था की गई थी । पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारत में तालाबों का उत्खनन अनेक प्रकार से उपयोगी होने के कारण धार्मिक कृत्य माना जाता था । चोल नृपतियों के शासनकाल में ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था के समुन्नयन हेतु तलाबों के उत्खनन-कार्य का अभियान सा चल पड़ा था । इसके उत्खनन तथा उसमें पूरित जल को सिंचाई आदि के लिये वितरण करने का दायित्व प्राय: स्थानीय स्वायत्तशासी समितियों अथवा ग्राम-सभाओं का होता था । कतिपय चोल-अभिलेखों में **कलिवनेरि**, कुलय **कलिंनगै**, **वारिधि** एवं **बाहुर** आदि बृहद् तड़ागों का उल्लेख किया गया है । समाज में ऐ रे शासकों का गुणगान किया जाता था, जो सिंचाई आदि कार्यों के लिए जलाशयों का निर्माण करवाते थे । महान् पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन् ने महेन्द्रवाड़ि में ऐसा ही एक सरोवर निर्मित करवाया था । इसकी परिधि सम्भवत: **कावेरीपक्कम** सरोवर से भी अधिक विस्तीर्ण थी । इससे लगभग 15 कि० मी० की परिधि में आने वाली कृषियोग्य भूमि की सिंचाई की जाती थी । कल्याणी के चालुक्य-नृपतियों ने भी अपने राज्य में पठारी भूमि की सिंचाई के लिये **अनन्त तड़ाग, भीम समुद्र तथा चैत्य** आदि सरोवरों का निर्माण तथा पुराने जलाशयों के जीर्णोद्वार पर विशेष ध्यान दिया था । महान् चोल शासक राजेन्द्र चोल के शासन काल में उत्खनित **गंगैकोंडचोलपुरम्** का महान् सरोवर लगभग 25 कि० मी० क्षेत्र में विस्तीर्ण था ।

कृषि-कर्म में उन्नति होने के बावजूद तत्कालीन सामन्ती-शोषणों के कारण किसानों एवं राजदूतों की आर्थिक दशा शोचनीय थी । इस काल में ब्राह्मणों, वैश्यों तथा शूद्रों की कृषि-कर्म में बढ़ती हुई प्रवृत्ति अथवा आवश्यकता के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन सामन्ती-शोषण से भी वर्णों के लोग संत्रस्त थे । फलत: जीविकोपार्जन के लिये गरीब ब्राह्मणों को किसानी के लिये अपने वर्ण-धर्म एवं कर्म से नीचे उतरना अपरिहार्य हो गया था ।

पशुपालन—दक्षिण भारत का पर्याप्त हिस्सा पठारी एवं जंगली है । ऐसे भू-भागों में कृषि-कर्म सम्पन्न करना दुरूह था । परन्तु उक्त क्षेत्रों में पशुपालन एवं वन-सम्पदा का विकास बड़ा ही सहज था । नवपाषाण कालीन दक्षिण भारतीय बहुसंख्यक पुरास्थलों से पशुपालन को इङ्गित करने वाले पुरावशेष उपलब्ध हुये हैं । पर्वतीय एवं पठारी उपत्यकाओं में बसने वाली जनजातियों का जीवनाधार मुख्यतया पशुधन ही था । संगमयुगीन साहित्यिक ग्रन्थों में पशुपालन एवं उनके बहुविध उपयोग का उल्लेख किया गया है । धुरदक्षिणी भारत में बसने वाली 'मरवा' जाति एवं वहाँ **प्रचलित वेत्ची-प्रथा** का वर्णन संगमकालीन कवियों का वर्ण्यविषय रहा है । ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में एक बहुत बड़ा वर्ग पशुपालन करने में संलग्न था तथा पशुधन से समय-समय पर मिलने वाली आय से जीविकोपार्जन करता था ।

पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों तथा अभिलेखों में भी पशुपालन एवं पशुधन के विकास का उल्लेख किया गया है । कल्याणी के महान् चालुक्य शासक **विक्रमादित्य षष्ठ के महादण्डनायक वासुदेव** ने पशुधन के विकास हेतु एक **गो-चरागाह-भूमि** का दान किया था । उल्लेख के अनुसार उक्त चरागाह में 12 **गोप्रचार** अर्थात निवर्तन गायों के चरागाह तथा 5 निवर्तन वाहक चरागाह बनाये जा सकते थे । गाँवों की परती भूमि का

उपयोग चरागाह के रूप में किया जाता था। चरागाहों अथवा अधिक सख्या में पशुपालन का स्थान गाँवों की कृषि-योग्य-भूमि से पर्याप्त दूर रखा जाता था, ताकि उनसे फसलों को कोई हानि न पहुँचे। कृषि-उत्पादन में वृद्धि हेतु उर्वरक के रूप में पशुओं से प्राप्त मल एवं मूत्रादि से निर्मित खाद का उपयोग किया जाता था। पशुपालकों को उर्वरक के वदले में कृषकगण अनाज प्रदान किया करते थे। पशुधन से मिलने वाली मानवोपयोगी वस्तुओं में ऊन, चमड़ा, दूध, दही तथा घी आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं। जंगलों में सेना के उपयोग के लिये हाथी पकड़ने तथा पालने का काम भी बड़ा लाभदायक माना जाता था। व्यापारिक माल अथवा कृषि-उत्पादन को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ढोने के लिये ऊँट, खच्चर, बैल भैंस तथा हाथी आदि पशुओं की बड़ी उपयोगिता थी। बैलों तथा भैंसों का उपयोग कर्षण-कार्य में अधिक किया जाता था। पशुपालन एवं पशुधन के विकास का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि स्थानीय प्रशासन एवं ग्राम-प्रशासन का प्रमुख दायित्व स्वक्षेत्रीय पशुओं का अनुपालन एवं रक्षण हुआ करता था। मन्दिरों की अर्थव्यवस्था में भी पशुधन एक महत्वपूर्ण अंग बन चुका था। अधीत काल में कई ऐसे संघर्ष पशु-अपहरण, चोरी अथवा पशुधन की प्राप्ति हेतु ही घटित हुए थे।

ईसा की 10वीं शती के कतिपय चोल अभिलेखों में पशुओं के विक्रय एवं उनके मूल्यांकन का संकेत किया गया है। 921 ई० के एक अभिलेख के अनुसार पेलप्पकुवूर नामक स्थल पर विक्रय हेतु लाई गई भेड़ों को 1 काशु में 9 भेड़ों के विक्रय की सूचना मिलती है इसी दर पर 1136 ई० में अभिलिखित एक लेख में तिट्टगुडि में 1 गाय को बेचा गया था। इसके विपरीत थंजाउर (तन्जोर) से उपलब्ध एक चोल-लेख में 1 काशु में मात्र 3 भेड़ों को प्रदान किये जाने की सूचना मिलती है। कालान्तर में मन्दिरों की महत्ता में अतिशय वृद्धि हो जाने पर पशुपालक श्रद्धालु लोग मन्दिरों को गाय, भेंड़ आदि दुग्धदायी पशुओं की भेंट भी चढ़ाने लगे। ग्राम-सभाएँ कर के रूप में पशुपालकों से पशुओं की संख्या के आधार पर शासकगणों के उपभोग के लिये चार या छह: नालि घी का वार्षिक संग्रह किया करती थीं।

उद्योग, वाणिज्य और व्यापार की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियां

गुप्तोत्तरयुगीन साहित्य तथा अभिलेखों से प्राप्त साक्ष्यों की ऐतिहासिक समीक्षा के आधार पर अधिकांश इतिहासकार यह मत प्रतिपादित करते हैं कि पूर्वमध्यकालीन (550-1200 ई०) भारत में शिल्पोद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य का ह्रास हुआ। इस काल में सिक्कों का अभाव भी उल्लेखनीय है। तत्कालीन सामन्ती-व्यवस्था की व्यापकता तथा राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप गाँवों में आत्मनिर्भर-अर्थव्यवस्था का प्रचलन हुआ। शिल्पियों तथा कारीगरों के अधिक उत्पादन का शोषण होने के कारण व्यावसायिक उत्पादन में भी कमी आ गयी। आत्मनिर्भर गाँव अपनी स्थानीय आवश्यकताओं भर के लिए ही उत्पादन करते थे तथा उसी में सिमटकर जीवन-यापन करते थे। फलतः व्यापार-विनिमय के लिए अधिक औद्योगिक उत्पादन अवरुद्ध हो गया तथा व्यापारिक गतिविधियाँ स्थानीय स्तर की बाजारों अथवा व्यापारिक केन्द्रों तक ही सीमित एवं संकुचित हो गईं। अधिक उत्पादन

में ह्रास का मूल कारण सामन्तों का नाना भांति शोषण भी था। क्योंकि वे मनमाने कर अथवा नियम लागू करके स्थानीय आवश्यकता से अधिक उत्पादित अंश को अपहृत कर लेते थे। पूर्व मध्ययुगीन साहित्य में व्यापारिकयात्राओं पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। संभवतः इन ग्रन्थों के रचनाकारों को तत्कालीन सामन्ती-व्यवस्था को वैध एवं शास्त्रीय-स्वरूप प्रदान करना अभीष्ट हो गया था। समुद्र-यात्रा करने वालों को जाति-च्युत करने का विधान किया गया तथा उन्हें सामाजिक अपमान प्रदान करने के लिए श्राद्ध-भोजन में आमन्त्रण न देने का विधान बनाया गया। इस प्रकार पूर्व-मध्यकाल में वाणिज्य एवं व्यापार को भारी आघात पहुँचा। इस काल में छोटे-छोटे राज्यों का उदय, उनके आपसी संघर्ष, मनमाने ढंग से चुंगी की वसूली तथा व्यापारिक माल को लूटे जाने के, संभावित बढ़े हुए खतरे आदि अनेक ऐसे कारण थे जिनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य-कर्म में अवरोध उत्पन्न हुआ था।

प्रमुख व्यवसाय एवं उद्योग

उपर्युक्त सामन्तोपसामन्तीकरण तथा राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न आर्थिक विसंगतियों एवं अवरोधों के होने के बावजूद दक्षिण भारत में उत्तर भारत की तुलना में शिल्पोद्योग एवं व्यापार की अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित थीं। शिल्पोद्योग पूर्वमध्ययुगीन आलोच्य भारत की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार था। नदियों अथवा अन्य व्यापारिक मार्गों द्वारा स्थानीय खपत से अधिक उत्पादित व्यावसायिक माल को प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में एकत्रित किया जाता था। उक्त युग में स्थापित विविध व्यावसायिक संगठनों (श्रेणियों) तथा व्यापारिक संगठनों (निगमों) से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में अनेक प्रकार के व्यवसाय एवं उद्योग विकसित अवस्था में अवस्थित थे। इन उद्योगों में **नमक उद्योग, वस्त्रोद्योग, मणिमाणिक्य उद्योग, धातु उद्योग मोती सीप उद्योग, मृद्भाण्ड उद्योग, तेल घी उद्योग** आदि विशेष उल्लेखनीय है।

नमक उद्योग

समुद्रतटीय भू-भागों में पारस्परिक नमक-निर्माण उद्योग संभवतः विभिन्न राज्यों के राजकीय संरक्षण में विकसित अवस्था में था दक्षिण भारतीय राजस्व-व्यवस्था में नमकोद्योग पर **उपकर** वसूल किए जाने का अनेकत्र उल्लेख किया गया है। यह अधिकांशतया मुद्राओं की राशि में अथवा अनाज-अंशों के रूप में संग्रहीत किया जाता था। नमक उद्योग के लिए विशेष प्रतिष्ठित केन्द्रों में **वरियूर, मकणिम, आयतुरे, कन्याकुमारी, तथा काबेरी-पत्तनम्** उल्लेखनीय हैं।

वस्त्रोद्योग

पूर्वमध्ययुगीन शिल्प-ग्रन्थों, साहित्यिक ग्रन्थों, अभिलेखों तथा विदेशी पर्यटकों द्वारा प्रस्तुत विवरणों से उक्त युग में वस्त्रोद्योग के विकास का पता चलता है। सुप्रसिद्ध शिल्प-ग्रन्थ **मानसोल्लास** में चोलमण्डल, कलिंग, अनिलवाड़, नागपट्टम तथा मुल्तान आदि प्रदेशों में वस्त्रोत्पादन-व्यवसाय आख्यात किया गया है। **मार्कोपोलो** तथा चीनी

लेखक **चीऊ-कोऊ-तोऊ** ने उक्त युग में मालावार में चल रहे सूती वस्त्रोद्योग का उल्लेख किया है। गुजरात-काठियावाड़ प्रदेश में उत्तर कोटि के कपास-उत्पादन के अतिरिक्त सूती वस्त्रोद्योग भी पर्याप्त विकसित था। अरव लेखक **इब्नसईद** दक्षिण भारत में विशेष कर कोरोमण्डल में कपड़ों की रंगाई-छपाई का व्यवसाय प्रगति पर था। इस काल में विकसित सूत एवं सिल्क के मिश्रण से वस्त्र-निर्माण का उद्योग चोल मण्डल में महत्वपूर्ण आर्थिक आधार बन चुका था। यहाँ के वस्त्रोद्योग की प्रशंसा **चाऊ-जु-कुआ** नामक चीनी लेखक ने भी किया है। **वारंगल** मे मोटे कपड़े तथा दरी निर्माण का-कार्य पर्याप्त विकसित था। ऐसा प्रतीत होता है कि अधीत काल में भारत से वस्त्रों एवं परिधानों को निर्यात भी किया जाता था।

मणि-माणिक्य उद्योग

चोलकालीन लेखों तथा पूर्वमध्ययुगीन ग्रन्थों में भारत में निर्मित मणिमाणिक्य, मोती आदि से युक्त नाना प्रकार के आभूषणों का उल्लेख मिलता है। भारत प्राचीन काल से ही वस्त्राभूषणों के निर्माण तथा उपभोग करने के लिए प्रसिद्ध रहा है। **अमरकोश, बृहत्संहिता रघुवंश, मानसोल्लास तथा अग्नि पुराण** में अनेकशः भारतीय आभूषणों की प्रशंसा की गई है।

धातु उद्योग

दक्षिण भारत में विभिन्न धातुओं को गलाकर उससे सुन्दर एवं उपयोगी उपकरणों के निर्माण का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। चोल कालीन भारत में विभिन्न धातुओं के मिश्रण से सुन्दर एवं आकर्षक मूर्तियों को ढालने की कला अपने विकास की पराकाष्ठा पर थी। चोलों के पूर्व चालुक्यों तथा पल्लवों ने भी धातुनिर्मित मूर्तियों के निर्माण पर ध्यान दिया था। मानवोपयोगी विविध लौह उपकरणों, जिनमें कृषि-उपकरणों के अतिरिक्त तलवार, ढाल, बरछे, भाले, कवच आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं, धातु-उद्योग के विकास के द्योतक हैं। चोल अभिलेखों में बहुमूल्य आभूषणों, ताम्र-पत्रों तथा विविध रत्नों के दान का उल्लेख मिलता है। **अग्निपुराण, मानसोल्लास** आदि ग्रन्थों में विभिन्न धातुओं के नानाप्रकार के उपयोगों एवं निर्माणों का सविस्तार वर्णन उपलब्ध है।

मृद्भाण्ड उद्योग

मृदभाण्ड निर्माण कला का विकास सभ्यता के विकास का एक अंग रहा है। दक्षिण भारतीय समाज में पशुपालन, कृषि-कार्य तथा नाना प्रकार के औद्योगिक जीवन में मृदभाण्डों का बहुशः निर्माण एवं उपयोग एक आवश्यकता थी।

व्यावसायिक संगठन

पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारत में ही नहीं, अपितु प्राचीन भारत के कोने-कोने में वर्ण एवं जाति के पारम्परिक व्यवसायों एवं उनके संगठनों का विकास महत्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय कौटुम्बिक व्यवसाय परम्परा का ज्ञान हमें उनके संगठनों के क्रिया-कलापों से ही ज्ञात होता है। शिल्पियों की हर युग के समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारतीय शिल्पियों एवं उनके संगठनों के विषय में सूचनाओं

की किञ्चित् कमी है। परन्तु चालुक्यों, पल्लवों, राष्ट्रकूटों तथा चोलों के अभिलेखों में जो भी उल्लेख उपलब्ध हैं, उनके आधार पर यह प्रस्तावित किया जा सकता है कि पूर्व युगों की अपेक्षा उनकी सामाजार्थिक स्थिति में गिरावट आ गयी थी। उनके द्वारा उत्पादित वस्तु तत्युगीन सामन्ती-व्यवस्था के फलस्वरूप प्रायः स्थानीय आवश्यकताओं की आपूर्ति तक सीमित होने लगी थी। कतिपय व्यवसाय जिन्हें समाजोपयोगी दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण माना जा सकता है, पूर्व कालों की अपेक्षा निम्नवर्गीय व्यवसायों में परिगणित कर लिया गया। इस प्रकार के व्यवसायियों को अस्पृश्य की सूची में रखा जाने लगा, जैसे धोबी, चर्मकार आदि। प्रायः व्यवसायिक समुदाय को सुविधा प्रदान करने के लिये उन्हें राजकीय भूमि में बसाया जाता था तथा उनके द्वारा तैयार माल को कर मुक्त रखा जाता था। वेंगी के चालुक्यों के एक अनुदान लेख में **कुम्भकार, तेली, लौहकार, स्वर्णकार, केशकार, धोबी तथा नारियल, सुपाड़ी, पुष्प** आदि के उत्पादकों को अलग भूमि प्रदान किये जाने तथा उन्हें बसाने का उल्लेख किया गया है। मूर्ति शिल्पी तथा वास्तुक को तत्कालीन समाज में बड़ा समादर था। चोल कालीन अभिलेखों में व्यवसायियों की अलग बस्तियों तथा उनके प्रशासन की पृथक् व्यवस्था का वर्णन मिलता है। प्रायः अग्रहार दोनों में उस गाँव के कारीगर भी दान-ग्रहीताओं के अधीन कार्य करने के लिये विवश हो जाते थे। मन्दिरों में सर्वाङ्ग व्यवस्था में कारीगरों की नियुक्ति का भी प्रविधान किया गया था। शिल्पियों अथवा व्यवसायियों के संगठन को परम्परया श्रेणी अभिधान प्राप्त था। इसी प्रकार व्यापारिक संगठनों को **निगम** कहा जाता था। दक्षिर भारतीय नरेशों के अधिकांश अभिलेखों में उपर्युक्त श्रेणी तथा निगम संगठनों का उल्लेख मिलता है। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य के **लक्ष्मणेश्वर लेख** में धातु उद्योगी एक श्रेणी का वर्णन प्राप्त होता है। इसके सदस्य कांसे तथा ताँबे से बने उपकरणों आदि का निर्माण करते थे। इस प्रकार बुनकरों की एक 'श्रेणी' का उल्लेख एक अन्य चालुक्य अभिलेख में विवृत है। यह अभिलेख पोरिगेड़े नगर के निकट स्थल से प्राप्त हुआ है। इसमें ड्रेणी प्रमुख की भी सूचना दी गई है। राष्ट्रकूटों के शासन काल में अनेक श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। कृष्ण द्वितीय के **मूलगुण्डि अभिलेख** में तीन सौ साठ नगरों की श्रेणियों के चार श्रेणी प्रमुखों द्वारा प्रदत्त एक दान का विवरण दिया गया है। इसी प्रकार राजाधिराज द्वारा दिये गये एक अनुदान पत्र से पता चलता है कि काञ्ची के आस-पास स्थित चौबीस तेलियों के संगठन ने यह तय किया था कि **तियेक्कचूर** के तेलियों को वहाँ के एक सुप्रसिद्ध मन्दिर में बलि तथा दीपदान की व्यवस्था अपने हाथ में लेनी चाहिए। श्रेणियों का शासन स्वायत्तशासी था। उनकी निजी सुरक्षा सेना तथा बैंक हुआ करती थी। 1077 ई० में अभिलिखित **येवूर** अभिलेख में आख्यात है कि शिवपुर की श्रेणी ने कुछ धनराशि ब्याज-प्राप्ति हेतु बैंक में जमा की थी। इसी धन के ब्याज से वहाँ पर निर्मित मन्दिर में होम एवं यज्ञादि की व्यवस्था की जाती थी। श्रेणियाँ अपनी वार्षिक आय के कुछ अंश को विभिन्न संगठनों के विकास हेतु दान दिया करती थीं। 1110 ई० के एक अभिलेख में संगतराश, धातु निर्माणकर्मी, बढ़ई, स्वर्णकार, लौहकार आदि की पृथक-पृथक् श्रेणियों द्वारा दिये गये दानों को उल्लेख किया गया है। अकेले ऐहोल नगर में पाँच सौ व्यापारियों के रहने तथा उनके द्वारा स्थापित श्रेणी का विवरण प्राप्त होता है।

दक्षिण भारतीय व्यापारियों के संगठन को प्रायः 'वाणञ्ज' कहा जाता था। संभवतः राजेन्द्र कालीन एक अभिलेख में एक महान् श्रेणी संगठन का उल्लेख करते हुए उसके उपविभागों आदि को निरूपित किया गया है। उक्त श्रेणी के उप-विभाग चतुर्दिक 1000 मण्डलों, 18 नगरों, 32 वेलपुरम् एवं 34 घाटिका स्थानों पर अवस्थित बताए गए हैं। इसके सदस्यगण एकत्रित होकर काट्टूर को एक बीरपट्टिन के रूप में परिवर्तित करवाया था। फलतः यहाँ के व्यापारी साम्प्रदायिक कर से मुक्त हो गए थे। दक्षिण भारत में व्यापारियों का एक विशिष्ट प्रकार का संगठन वलञ्जै नाम से प्रसिद्ध था।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि पूर्वमध्ययुग एवं मध्य युगीन दक्षिण भारत में व्यापारिक श्रेणियाँ एवं निगम पर्याप्त संगठित एवं समुन्नत स्थिति में थे। उनका योगदान सामाजिक, एवं आर्थिक विकास में तो था ही साथ ही साथ वे विभिन्न सांस्कृतिक कार्यों की अभ्युन्नति में भी पूर्ण सक्रिय रहते थे।

वाणिज्य एवं व्यापार

ऊपर निर्दिष्ट कठिनाइयों के होते हुए भी दक्षिण भारत में वाणिज्य एवं व्यापार चल रहा था। इस काल के ग्रन्थों तथा अभिलेखों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि देश के विभिन्न राज्यों में व्यापार होता था। व्यापारी माँग एवं पूर्ति का आकलन करके अनेक स्थानों से माल खरीद कर उपभोग वाले क्षेत्र में पहुँचाते थे। **'समराइच्चकहां'** में देश के विभिन्न अंचलों में स्थित **'हट्ट'** (बाजार) का विशद् उल्लेख किया गया हैं। पाल तथा प्रतीहार नरेशों के अभिलेखों में भी हाटों (बाजारों) में क्रय-विक्रय का उल्लेख मिलता है। हेमचन्द्र-रचित 'कुमारपालचरित' में अनहिलवाड़ा नगर की बाजारों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। 953 ई० के अहाड़ (उदयपुर) के एक अभिलेख के अनुसार वहाँ की बाजारों में कर्णाट, लाट, टक्क (चिनाव एवं रावी के बीच स्थिति) तथा मध्य देश के व्यापारी एकत्रित होते थे तथा अपने व्यापारिक माल पर उपकर चुकाते थे। व्यापारिक-समझौते की सूचना पेहोआ के 882-883 ई० के अभिलेख में भी मिलती है। यहाँ घोड़ा बेचने वाले व्यापारी भारत के विभिन्न राज्यों से आते थे। **मेघातिथि** ने व्यापार-कर्मियों के लिये यह आवश्यक बताया है कि उन्हें विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन एवं विक्रय अथवा उपभोग वाले क्षेत्रों की अच्छी जानकारी रखनी चाहिए। इतना ही नहीं, व्यापारियों को मालवा, द्रविड़, तमिल, मगध आदि राज्यों की भाषा का अच्छाज्ञान होना चाहिये तथा विभिन्न राज्यों की व्यापारिक-परम्पराओं एवं चुंगी-दरों तथा लोगों के स्वभाव से अवगत होना भी आवश्यक है। अतः इस काल में देश के विभिन्न राज्यों में आवश्यक उपभोग की वस्तुओं तथा प्रभुसम्पन्न राजाओं, सामन्तों तथा अधिकारियों के विलास की वस्तुओं का व्यापार होता रहता था। दक्षिण भारत से मोती, मूँगा, सोना, मूल्यवान पत्थर, चन्दन, कालीमिर्च, इलायची, नारियल, लवंग आदि का व्यापार देश के विभिन्न भागों में किया जाता था। इसी प्रकार मालवा से गन्ना, शक्कर, नील, अफीम आदि वस्तुओं का व्यापार होता था। सामन्ती उपभोग के लिए बंगाल प्रदेश के व्यापारिक केन्द्रों के साथ मलमल, रेशम, सुपारी, पटसन, हाँथीदात आदि वस्तुओं को दक्षिण भारतीय, भारतीय केन्द्रों में मंगोय्या जाता था। कलिंग (उड़ीसा) में

उत्पन्न होने वाले कतिपय स्वादिष्ट चावल की माँग सम्पूर्ण देश में थी, अतः व्यापारी उसे देश के विभिन्न अञ्चलों में विक्रय हेतु भेजा करते थे।

वाणिज्य एवं व्यापारिक सम्पर्क देश के अन्तर्वर्ती भागों तक ही सीमित नहीं था। पूर्व-मध्यकाल में दक्षिण भारत के समुद्र तटीय भागों में स्थिर वन्दरगाहों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक-सम्पर्क भी पर्याप्त विकसित था। इस युग के दक्षिण भारतीय प्रसिद्ध व्यापारिक वन्दरगाह थे—पश्चिमी तट पर **.वल, भड़ौच, सोमनाथ, खंयान, थाना** तथा पूर्वी समुद्रतट पर **शिकाकोस, कलिंग, पुरी, सप्तग्राम, ताम्रलिपि, कावेरीपत्तनम** आदि। पूर्व मध्यकाल में भारत का सामुद्रि. व्यापार पूर्ववर्तीकालों की अपेक्षा विशेष समुन्नत अवस्था में नहीं रह गया था। इस काल में हिन्दमहासागर पर अरब देश के व्यापारियों का वोलवाला था। भारतीय व्यापारी धन-जन की हानि होने की संभावना से समुद्र-व्यापार में जोखिम उठाने से कतराने लगे थे। **कथासरित्सागर**[1] में एक ऐसे ही व्यापारी के सन्दर्भ में प्राकृतिक-बाधाओं की कथा प्रस्तुत की गई है, जिसने अपने माँ-बाप की सलाह न मानकर, सुवर्णद्वीप की समुद्रयात्रा की थी। **वी० एन० एस० यादव**[1] की धारणा है कि भारतीय व्यापारियों के पश्चिमी एशियाई देशों के साथ चल रहे व्यापारिक-सम्पर्क में ह्रास की स्थिति मुख्यतया पूर्व मध्यकाल में अरवों एवं मुसलमानों के राजनीतिक एवं आर्थिकअभ्युदय के कारण हुआ था। इस काल में भारतीय व्यापारी इन देशों में अपने को असुरक्षित पाने लगे। उत्तरी-पश्चिमी भारत पर अरवों एवं तुरुष्कों (तुर्कों) के लगातार आक्रमण हो रहे थे तथा वे भारतीय भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए भीतर तक घुसने का प्रयास कर रहे थे। इन स्थितियों में भारतीय व्यापारियों का पश्चिमी-एशियाई देशों के साथ व्यापारिक-सम्पर्क का अवरुद्ध हो जाना स्वाभाविक था। इन बाह्य-आक्रान्ताओं के भय से देश का भीतरी व्यापार भी चरमरा गया। इन स्थितियों में पश्चिमी-समुद्रतट के बन्दरगाहों से होने वाले व्यापार को जो आघात पहुँचा ही, साथ ही साथ, उत्तरी-पश्चिमी स्थल-मार्गों से चल रहे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर भी इसका गम्भीर प्रभाव पड़ा। **कथासरित्सागर**[1] में स्थलमार्ग से जाने वाले व्यापारियों को ताजिकों द्वारा लूटने तथा उन्हें बन्धक बनाये जाने की कहानियाँ उपर्युक्त तथ्य को स्पष्ट करती हैं। अधिकांश व्यापारी तुर्कों की प्रताड़ना से भयाक्रान्त होकर उत्तरापथ छोड़कर दक्षिणापथ में जाकर बसने लगे। कालान्तर में अरव-व्यापारियों के ही प्रोत्साहन के फलस्वरूप भारत एवं मध्य एशियाई तथा भू-मध्य सागरीत देशों के वीच पुनः अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य एवं व्यापारिक सम्पर्क विकसित किया जा सका।

पूर्व मध्यकाल में वैश्यों का एक बड़ा वर्ग व्यापार-वृत्ति से हटकर कृषि एवं पशुपालन करने लगा। इन वैश्य-कृषकों ने लम्बी जोत वाले कृषि-कर्म को अपनाकर समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाने का प्रयास किया। 8वीं से 12वीं शताब्दियों के

1. कथासारित्सागर, 9. 6. 140-148.
2. वी० एन० एस० यादव, सोसायटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ० 271.
3. कथासरित्सागर, 7. 3. 3. 51.

बीच सम्पूर्ण भारत में व्यापारियों की कृषि-कर्म में बढ़ती प्रवृत्ति की सूचना तत्कालीन ग्रन्थों में आख्यात है। बी० पी० मजुमदार[2] का मत है कि वैश्यों ने भू-सम्पदा अर्जित करके तत्कालीन सामन्ती-व्यवस्था के अनुकूल अपने को आभिजात्य वर्ग में स्थापित करने का प्रयास किया। वैश्यों का व्यापार से हटकर कृषिकर्म की ओर उन्मुख होने के प्रमुख कारणों में पूर्व मध्यकालीन राजनीतिक विकेन्द्रीकरण, राज्यों में संघर्षों का सातत्य, पश्चिमी भारत पर अरबों एवं तुर्कों का आक्रमण तथा सामन्तवाद के बढ़ते प्रभाव को महत्वपूर्ण माना जा सकता है। व्यापार में असुरक्षा की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय पारम्परिक बाजारों के साथ सम्पर्क कट जाने से संभवतः इस काल में व्यापार की अपेक्षा खेती अधिक सुरक्षात्मक तथा लाभदायक हो गई। इसीलिए व्यापारियों का एक बड़ा वर्ग व्यापार से हटकर कृषिकर्म में प्रवृत हो गया। तत्कालीन-सामन्ती-व्यवस्था में इन खेतिहर-व्यापारियों को विविध प्रकार के करों, आर्थिक-शोषणों एवं दवावों द्वारा धीरे-धीरे पंगु बना दिया गया। फलस्वरूप उनकी सामाजिक स्थिति शूद्रों से भिन्न नहीं रह गई। जो व्यापारी अन्तर्राज्यीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लगे थे, उन्हें मार्ग में लुटेरों एवं डकैतों से बराबर खतरा बना रहता था।

पूर्व-मध्यकालीन भारतीय व्यापार एवं वाणिज्य के ह्रास का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण बहुसंख्यक **कर-चुंगियों** की स्थापना भी माना जा सकता है। सामन्तों, उपसामन्तों, अधिकारियों तथा राजा द्वारा मनमानी करों की वसूली से व्यापारी संत्रस्त हो चुके थे। इस काल के कतिपय दानपत्रों तथा **'स्कन्दपुराण'** आदि से पता चलता है कि ग्राम-दान के साथ ही उस गाँव के शिल्पी आदि भी दानग्रहीताओं को प्राप्त होने लगे थे। इन अनुदानों से यह इङ्गित होता है कि वैश्यों (व्यापारियों) की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में बड़ी गिरावट आ चुकी थी। **'ब्रह्माण्ड पुराण'** में वर्णित **कलिवर्ज्यों** में समुद्र-यात्रा (**समुद्रयात्रास्वीकराः**) तथा दूर-यात्रा (**महाप्रस्थानगमनम्**) को वर्जित-कर्म कहा गया है। इस प्रकार के संकीर्ण सामाजिक विधान से यह इङ्गित होता है कि इस युग में स्थानीयता बहुत अब तक दृढ़ एवं मान्य हो चुकी थी। फलतः व्यापारियों का दूरदेश-गमन अथवा समुद्र-मार्ग से परराष्ट्रों में व्यापार हेतु गमन करना सामाजिक अपराध समझा जाने लगा था।

पूर्व-मध्यकाल में वाणिज्य एवं व्यापार के पतन का संकेत इस काल में सिक्कों में प्रचलन की कमी से भी मिलता है। राष्ट्रकूटों के दीर्घकालीन शासन में संभवतः सिक्कों का प्रचलन ही नहीं हुआ। इतना ही नहीं, 550 ई० से 800 ई० तक दक्षिण भारतीय राजवंशों की कोई बहुमान्य सिक्का-प्रणाली भी प्रचलित नहीं हो सकी थी। अधिकांश राजस्व अनाज या वस्तु के रूप में ही संग्रह किया जाता था। इस काल के बाजारों में व्यापारिक-वस्तुओं के क्रय के लिए एक सर्वमान्य मुद्रा प्रणाली का सर्वत्र अभाव सा मिलता है। मुद्राओं का कम मिलना यह इङ्गित करता है कि तत्कालीन सामाजिक जीवन स्थानीयता की भावना में जकड़ गया था। तथा लोग स्थानीय वस्तुओं के उपभोग तक ही सीमित रहते थे। दूर देशों तथा राज्यों से लाई गई वस्तुओं को, मुद्रा के अभाव

---

2. बी० पी० मजूमदार, लैण्ड सिस्टम ऐण्ड फ्युडलिज्म इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० 62-63.

में, सामान्य प्रजाजनों द्वारा खरीदना सम्भव ही नहीं था। इस प्रकार पूर्व-मध्यकाल में सिक्कों की कमी, तत्कालीन वाणिज्य एवं व्यापारिक ह्रास की सूचक है।

प्रसंगानुकूल पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राजवंशों में प्रचलित मुद्राप्रणाली की रूपरेखा निम्नवत् ज्ञात की जा सकती है—

1. वादामी के चालुक्यवंश ने कई शताब्दियों तक दक्कन पर शासन किया। उनके द्वारा **वराह** के लांछन से युक्त अभी तक बहुत कम सिक्के मिले हैं। इस चिन्ह से युक्त मुद्राएँ दक्षिण भारत में कालान्तर में बहुत लोकप्रिय हुईं। क्योंकि वराह-लांछन को परवर्ती राजवंशों द्वारा प्रचलित स्वर्ण-मुद्राओं का आदर्श लांछन माना गया। दक्षिणी महाराष्ट्र तथा वेल्लारी-जनपद से कतिपय अभिलेखहीन वराह-सांछन-युक्त सिक्के अवश्य मिले हैं। परन्तु निश्चय के साथ इन्हें यह नहीं कहा जा सकता है कि ये चालुक्य शासकों द्वारा ही प्रचलित किये गये थे।

2. राष्ट्रकूट-राजवंश ने दक्षिण भारत में लगभग 650 से 900 ई० तक शासन किया। परन्तु आश्चर्य होता है कि अभी तक लेख-विहीन अथवा लेखयुक्त इस राजवंश का कोई सिक्का नहीं मिल सका है। राष्ट्रकूट-अभिलेखों में सुवर्ण, द्रम्म, कलंजु, गद्रांणक, काशु नामक सिक्कों का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु इनके प्रचलन के पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

3. कल्याणी के उत्तरकालीन चालुक्य नरेशों के कुछ सिक्के उपलब्ध हुये हैं। इन सिक्कों का प्रचलन **जगदेकलमल्ल** (1019.40 ई०), **सोमेश्वर प्रथम** (1068-76 ई०) तथा **तैलप तृतीय** (1150-82 ई०) ने किया था। ये सिक्के लेखयुक्त तथा सोने के हैं। परन्तु ज्ञातव्य है कि ये सिक्के उस काल के हैं, जब देश में व्यापार एवं वाणिज्य का पूर्ण विकास हो चुका था।

4. वेंगी के पूर्वी-चालुक्यवंश के शासकों द्वारा **स्वर्ण-मुद्राओं** का विशेष प्रचलन **शक्तिवर्मन्** के शासनकाल में ही परिलक्षित होता है। इस काल तक दक्षिण भारत का दक्षिणी-पूर्वी एशियाई द्वीपों के साथ वाणिज्य एवं व्यापारिक सम्पर्क विशेष विकसित हो चुका था।

5. पल्लव कालीन शासकों ने लेखविहीन **सिंह-चिन्हांकित, ताँबे,** चाँदी तथा सोने के सिक्कों का प्रचलन किया। परन्तु इस राजवंश के सिक्के काञ्ची एवं **कावेरीघाटी** में बहुत कम उपलब्ध हुये हैं। उत्खननों में पल्लव-मुद्राएँ **मण्टूर, कृष्ण नलगोण्ड, हैदराबाद** जैसे क्षेत्रों से ही प्राप्त हुये हैं। **एम० रामराव** उपर्युक्त सिक्कों को पल्लवों द्वारा प्रचलित न मानकर प्रायः उन्हें विष्णुकुण्डिन्-राजवंश के शासकों द्वारा प्रचलित मानते हैं।

6. **चोल राजवंश के शासकों ने चांदी** एवं सोने के सिक्कों का प्रचलन किया। उनके द्वारा प्रचलित सिक्कों पर **मछली, धनुष तथा चीता** के चिन्ह अंकित किये गये हैं। ये तीनों चिन्ह क्रमशः **चोल, पाण्ड्य** तथा **केरल** राज्यों के राजकीय चिन्ह प्रतीत होते हैं। इन सभी राज्यों पर अधिकार करने के उपरान्त चोलों ने उक्त चिन्हों से युक्त सिक्कों का प्रचलन किया था।

उपर्युक्त विमर्श से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दक्षिण भारत में 600 ई०

से लेकर 900 ई० के मध्य व्यापार एवं वाणिज्य में शिथिलता आने के कारण तथा स्थानीय बाजारों तक ही क्रय-विक्रय सीमित रहने के कारण सिक्कों का प्रचुर प्रचलन सम्भव न हो सका था । दसवीं शती से दक्षिण भारत में ही नहीं अपितु उत्तर भारत में भी वाणिज्य एवं व्यापार में प्रगति के साक्ष्य मिलने लगते हैं । अतः इस काल से चोलों, कल्याणी तथा वेंगी के चालुक्यों, पाण्ड्यों, होयसलों आदि राजवंशों ने चाँदी एवं सोने के सिक्कों का प्रचलन करके व्यापारिक अभ्युन्नति का मार्ग प्रशस्त किया ।

देशी एवं विदेशी व्यापार

पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारत में व्यापारिक गतिविधियाँ 700 ई० से 1000 ई० तक कुछ शिथिल अवश्य हुई थी, परन्तु उनमें गतिशीलता विद्यमान थी । **हेमचन्द्र** द्वारा विरचित **'कुमारपालचरित'** (प्रथमसर्ग), **'मोहराजपराजय'** (अंक 3), **रासमाला, मुनिकान्तिसागर, समराइच्चकहा, कुवलयमाला, मेधातिथि टीका** आदि साहित्यिक ग्रन्थों तथा तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस काल में भी अन्तर्राज्यीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर्याप्त गतिशील एवं विकसित था ।

विश्वरूप की याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका में काफिलों में चलने वाले व्यापारियों को **'नैगम'** कहा गया है । **'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित'** में एक व्यापारी की चर्चा की गई है जो काफिले का नेता **'सार्थवाह'** था । उसने अपने नौकरों से डुग्गी-पिटवाकर यह घोषणा करवाया था कि जो व्यापारी माल चाहेंगे उन्हें माल मिलेगा, जो सवारी चाहेंगे उन्हें सवारी, जो साथी चाहेंगे उन्हें साथी, जो खाद्यान्न चाहेंगे उन्हें खाद्यान्न तथा जो अंगरक्षक चाहेंगे उन्हें अंगरक्षक विक्रय किया जायेगा । इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि व्यापारिक-काफिलों की व्यवस्था बहुत ही सुनियोजित होती थी । व्यापारिक काफिलों को **'सार्थ'** कहा जाता था । **क्षीरस्वामी** ने **'अमरकोष की टीका'** में स्पष्ट किया है कि जो अपनी पूँजी लगाकर व्यापार करने वाले पान्थों का मुखिया होता था, वह **'सार्थवाह'** कहलाता था **(सार्थान् सधनान् सरतों पान्थान् वहति सार्थवाहः)** । सार्थवाह व्यापारिक माल को खच्चर, ऊँट, भैंसा तथा बैलगाड़ियों आदि पर लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर बेंचने के लिये ले जाते थे । **उपमितिभवप्रपंचकथा**[1] से ज्ञात होता है कि माल ढोने वाले व्यापारी भी धनार्जन करते थे । **त्रिषष्टिशलाकापुरुष**[2] से पता चलता है कि उस काल में सड़कें कच्ची तथा ऊँची-नीची होती थीं तथा गाड़ियों को चलने में कठिनाई हुआ करती थी । व्यापारियों की सुविधा के लिए मार्ग में जगह-जगह धर्मशालाएँ होती थीं । **समयमातृका, तिलकमन्जरी, प्रबन्ध-चिन्तामणि** आदि ग्रन्थों से पता चलता है कि व्यापारियों के लिये मार्गों में पानी की व्यवस्था रहती थी ।

व्यापारियों को यात्रा में सबसे बड़ा भय लुटेरों-दस्युओं से रहता था । सामंती व्यवस्था से मार्ग असुरक्षित हो गये थे । लुटेरों में दस्युओं के अतिरिक्त सामन्त भी सम्मिलित थे । **मेधातिथि** की व्यवस्था के अनुसार राजा को दस्युओं तथा राजाओं (सामन्तों) से व्यापारियों की सुरक्षा करना अभीष्ट है । **रासमाला**[1] से ज्ञात होता है कि

---

1. उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ० 867-68
2. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 4 पृ 235.

चालुक्यों के शासनकाल में व्यापारियों (**संयात्रिकों**) को डाकुओं के भय से गाँठों और वण्डलों में स्वर्णादि छिपाकर ले जाना पड़ता था। सम्भवतः कल्याणी के चालुक्यों के शासनकाल में देशी एवं विदेशी व्यापार समुन्नत अवस्था में था। व्यापारिक वस्तुओं में हाथी-दाँत, रेशम, हीरा, मोती, गरम मशाले, खाद्यान्न, आभूषण आदि सम्मिलित थे। व्यापारिक नगरों में प्रत्येक माल पर चुंगी की दरें अलग-अलग थीं। कतिपय **अरब-लेखकों** ने भारत के स्थल-मार्गों तथा व्यापारिक गतिविधियों का उल्लेख किया है। उनके विवरणों से तत्कालीन व्यापारिक नगरों की दूरी तथा मार्ग की कठिनाइयों की सूचना प्राप्त होती है। उन्होंने यह भी लिखा है कि प्रतीहार राजागण अरब एवं मुसलिम-व्यापारियों से नाराज रहते थे। **लल्लनजी गोपाल**[2] का मत है कि प्रतीहार-शासकगण भारतीय व्यापार को प्रश्रय देने के लिए तथा अरबी एवं मुस्लिम व्यापारियों को अपने राज्य में गतिरोध पैदा करने के पक्षधर थे। फलतः विदेशी व्यापारियों पर उपर्युक्त शासकों ने अनेक प्रतिवन्ध लगाये थे।

पूर्व-मध्यकाल में दक्षिण भारत की आर्थिक स्थिति उत्तर भारत से भिन्न थी। वस्तुतः गुप्तोत्तरकाल में उत्तर भारत में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के साथ सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा चरमरा गया था। स्थलमार्गों के द्वारा पश्चिमी एशियाई देशों के साथ होने वाले व्यापार में अनेक वाधाएँ उत्पन्न होने लगीं, जिनमें सामंतीसत्ता का उदय, लूटमार आदि की वृद्धि के साथ ही, उत्तर-पश्चिम की ओर से होने वाले अरव एवं तुरुष्क-आक्रमणों का विशेष योगदान रहा। इसके विपरीत दक्षिण भारत में, इस काल में, कई बड़े राज्यों का अभ्युदय हुआ। गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी नदियों की घाटी में अथवा ऐसी नदियों के किनारे वाले भू-भागों में, जिनका निकास समुद्र में होता था, व्यापारिक क्रियाकलाप पूर्ववत् चलता रहा। फलतः इन नदियों के तटवर्ती-क्षेत्रों तथा मार्गों पर अपनी-अपनी सत्ता-स्थापना हेतु दक्षिण भारतीय राज्यों में संघर्ष चलता रहता था। दक्कन-क्षेत्र के शासकों तथा तमिलक्षेत्र के शासकों की अधिकांश लड़ाइयाँ आर्थिक समृद्धि हेतु कृष्णा एवं कावेरी नदियों के तट पर ही लड़ी गईं।

दक्षिण भारत की धरती अधिकांशतया पठारी होने के कारण खनिज एवं वानस्पतिक सम्पदा से युक्त थी। इन पठारों से कई नदियाँ निकलती थीं, जिनके जल का उपयोग कृषि के लिए अधिक संभव नहीं था। फलतः दक्षिण भारतीय राज्यों का आर्थिक आधार मुख्यतया शिल्प, उद्योग तथा व्यापार ही था। नदी-मार्गों से अनेक व्यापारिक नगर जुड़े हुये थे तथा नदियों के किनारे-किनारे चलने वाले सार्थ-मार्गों से दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिणी-पूर्वी-समुद्र-तट उत्तर भारतीय व्यापारिक मार्गों तथा नगरों से जुड़े हुये थे (**एते गच्छन्ति बहवः पन्थानः दक्षिणापथम्**)। व्यापारियों की स्थानीय श्रेणियाँ होती थीं, जिन्हें सामान्यतया 'नगरम्' कहा जाता था। नगरम् जैसे छोटी श्रेणी-ईकाइयाँ तत्कालीन अधिकांश नगरों में स्थापित थीं, जो वड़ी-वड़ी श्रेणियों की उपशाखा के रूप में कार्य किया करती थीं। व्यापारिक श्रेणियाँ वस्तुओं की खरीद प्रायः उनके उत्पादक-स्थलों से ही किया करती थीं। परन्तु विदेशी-व्यापार करने के कार्य में उत्त

---

1. रासमाला, अध्याय 13, पृ० 235
2. लल्लनजी गोपाल, पूर्वोद्धृत, पृ० 117-118

श्रेणियों को राजकीय सहायता मात्र किञ्चित अपवादों में ही प्राप्त होती थी। राजकीय हस्तक्षेप विदेशी राज्यशक्तियों द्वारा श्रेणियों द्वारा संचालित व्यापार-कर्म में बाधा उपस्थित करने पर आवश्यक हो जाता था। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण श्रीविजय-राज्य के द्वारा श्रेणियों के व्यापार-कार्य में बाधा पहुँचाने का प्राप्त है। परन्तु ऐसी सहायता करते समय राजागण बाजारों अथवा कच्चे माल के केन्द्रों पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयास प्रायः नहीं करते थे। दक्षिण भारतीय व्यापारिक श्रेणियाँ बड़ी धनी थीं। कभी-कभी वे संपूर्ण गाँव को ही खरीदकर उसके आस-पास के मन्दिर को उसे दान कर देती थीं। ऐसी ही एक धनी श्रेणी जिसका नाम 'नानादेशी-श्रेणी' था, की व्यापारिक गतिविधियाँ संपूर्ण दक्षिण भारत में प्रसरित होने के अलावा दक्षिणी-पूर्वी एशियाई सुमात्रा आदि द्वीपों तक विस्तृत थीं। चोलों के शासनकाल में विदेशी-व्यापार में संलग्न अधिकांश श्रेणियाँ प्रायः चोलों की नौ-सैनिकों की सहायता पर ही निर्भर थीं।

पूर्व-मध्यकाल में भारत की सर्वाधिक संपन्न तथा प्रभावशाली श्रेणियाँ तथा **निगम** (वणिक्) दक्षिण भारत में ही अवस्थित थीं। **'अएवोल'** (ऐहोल) श्रेणी भारत में ही नहीं विदेशों में भी विख्यात थी। इस श्रेणी की उपशाखाएँ **बेलूर, नेल्लूर, कोलार, धारवाड़, मदुरा, काञ्ची** आदि नगरों में स्थापित थीं। इन्हें सर्वत्र **अयवोर के पाँच सौ स्वामियों के निकाय'** के रूप में अभिहित किया जाता था। इस श्रेणी के सदस्यगण अपना व्यापार **फारस, सुमात्रा, जावा, थाईलैण्ड, कम्बुज** आदि देशों के साथ व्यापक स्तर पर करते थे। दक्षिण भारत में व्यापारिक मार्गों पर ही अनेक बड़े नगरों का उदय एवं विकास हुआ था। इनमें कई नगर तो अपनी स्थिति एवं समृद्धि के कारण कालान्तर में कई राज्यों की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त कर लिये थे।

पूर्व मध्यकाल में दक्षिण भारतीय वाणिज्य एवं व्यापार की प्रगति का आकलन तत्कालीन राज्यों में बने बहुसंख्यक मठों, मन्दिरों आदि से भी किया जा सकता है। इस काल के अधिकांश बड़े कलात्मक-निर्माण, व्यापारिक नगर अथवा उसके सन्निकट स्थल पर ही किये गये। **ऐहोल, वारंगल, काञ्ची,** वातापि, **द्वारसमुद्र, बेलूर, श्रवणबेलगोला** आदि के बड़े एवं व्ययसाध्य मठ, मन्दिर आदि विशाल एवं भव्य कलात्मक निर्माण प्रायः श्रेणियों, वणिक-निगमों अथवा समृद्ध निकायों द्वारा ही पोषित एवं निर्मित कराये गये थे।

वास्तुशिल्पियों एवं निर्माताओं के संगठन अथवा श्रेणियाँ सत्तारूढ़ शासकों के आदेशानुसार अपने कोष से कलात्मक-निर्माण कराती रहती थीं। एलोरा का **कैलाश नाथ-मन्दिर,** जो कांची के **कैलाशनाथ**-मन्दिर की अनुकृति पर निर्मित है, एक लम्बी अवधि तक निगमों एवं **निकायों** की सहायता से ही निर्मित हुआ था। इसके निर्माणकाल में कई राजवंश परस्पर उठा-पटक के फलस्वरूप सत्तारूढ़ एवं सत्ताच्युत हुये थे। इस प्रकार, पूर्वमध्यकाल में दक्षिण भारत में उत्तर भारत की अपेक्षा समुन्नत व्यापारिक-स्थिति विद्यमान थी। दसवीं-ग्यारहवीं शती से दक्षिण भारत में ही नहीं, अपितु उत्तर भारत में भी वाणिज्य एवं व्यापार का पुनरुत्थान हो गया था। इसके परिणामस्वरूप तत्कालीन दक्षिण भारतीय राज्यों में सोने, चांदी के सिक्कों का विशेष प्रचलन तथा आर्थिक विकास के नए-नए आयाम उदित हुये थे।

ज्ञातव्य है कि पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत में साम्राज्य-विस्तारवादी महत्वाकांक्षा इतनी प्रवल हो चुकी थी कि उनमें पारस्परिक संघर्षों का क्रम चलता ही रहता था। फलतः विभिन्न भू-भागों में राजवंशों के सत्ताच्युत तथा सत्तारूढ़ होने का क्रम वना रहता था। किन्तु इस काल के कलात्मक-निर्माण पर उपर्युक्त श्रेणियों के योगदानों के फलस्वरूप उक्त घटनाओं का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। दक्षिण भारत में नगरों एवं तीर्थ-केन्द्रों के आर्थिक विकास के लिये महत्वपूर्ण कारणों में तत्कालीन औद्योगिक विकास विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है। प्रायः लघु-स्तर के उद्योगपतियों द्वारा तैयार किया गया माल तत्कालीन नगरों में वसने वाले वड़े व्यापारी खरीद लेते थे तथा उसे अन्तर्देशीय एवं विदेशी बाजारों में पहुँचाया करते थे। इस प्रकार के व्यापार-कर्म से बड़े नगरों के व्यापारी विशेष समृद्ध हो गये थे। लघु-उद्योग प्रायः कच्चे माल के उत्पादक-केन्द्रों में ही कार्य करते थे। उदाहरण के लिये दशार्ण (पूर्वी मालवा मध्यप्रदेश) में हाथी-दाँत उपलब्ध होने के कारण हाथी-दांत की बनी वस्तुओं कंघे, खेल के पांसे लघुकला कृतियाँ आदि के लिये विख्यात था। पेरिप्लस के विवरण के अनुसार कलिङ्ग देश (उड़ीसा प्रान्त) उत्तम प्रकार के मसलिन अथवा मलमल का कपड़ा बनाने के लिये प्रसिद्ध हो चुका था। रोम (इटली देश) के बाजारों में भारतीय रत्नों एवं मोतियों की बड़ी मांग थी, जिसका निर्यात दक्षिण भारतीय वन्दरगाहों से ही किया जाता था। संगम युगीन साहित्यिक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीय जौहरी रत्नों से वने अलङ्कारों के निर्माण में वड़े दक्ष थे। दक्षिण भारत के अधिकांश पुरास्थलों से उपलब्ध बहुसंख्यक रोमनसिक्कों से भी दक्षिण भारतीय आर्थिक समृद्धि एवं व्यापारिक उत्कर्ष का पता चलता है। दक्षिण भारतीय व्यापार-कर्म केवल पूर्वी अफ्रीका, अरव, रोम आदि पाश्चात्य देशों तक ही सीमित नहीं था, अपितु तत्कालीन व्यापारिक गतिविधियाँ दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों यथा-लङ्का, जावा, सुमात्रा, मलाया, वर्मा तथा चीन आदि देशों तक फैल चुकी थीं।

---

18 सातवाहन अथवा आन्ध्र राजवंश

वंश, समय और मूल-स्थान :

भारतीय कला एवं संस्कृति के विकास में आन्ध्र-सातवाहनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पुराणों में अनेकत्र सातवाहनों को 'आन्ध्रजातीय' अथवा 'आन्ध्रभृत्य' कहा गया है, जबकि अभिलेखों में उन्हें कहीं भी 'आन्ध्र' नहीं कहा गया है तथा सर्वत्र 'सातवाहन' अभिधान से संबोधित किया गया है। यत्र-तत्र प्राप्य "शालिवाहन' शब्द संभवत: सातवाहन का शुद्ध एवं मूल रूप जान पड़ता है। सातवाहनों के इतिहास पर शोध करने वाले जोगलेकर प्रभृति विद्वानों की धारणा है कि 'सातवाहन' का शुद्ध रूप 'सप्तवाहन' है, जिसका किञ्चित् सम्बन्ध सूर्यवंश से स्थापित किया जा सकता है। कतिपय सातवाहन नृपतियों द्वारा धारण की गई 'शातकर्णि' अथवा 'सातकर्णि' उपाधि से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

आन्ध्र-सातवाहन आर्य थे अथवा अनार्य, यह प्रश्न भी बड़ा विवादास्पद बना हुआ है। आन्ध्रों का निवास-क्षेत्र तथा उनके नामकरण की परम्परा उन्हें द्रविड़ अथवा आर्येतर सिद्ध करती है। उनके द्वारा नाम के पूर्व अपनी माता के नाम को जोड़ने की संस्कृति तत्क्षेत्रीय मातृसत्तात्मक समाज को इङ्गित करती है। परन्तु यदि सातवाहन युगीन ऐतिहासिक साक्ष्यों का सूक्ष्म अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात होता है कि वे आर्य- संस्कृति के महान् पोषक एवं संवर्द्धक थे। प्रो० के० गोपालाचार्य, डी० आर० भण्डारकर एवं आर० जी० भण्डारकर आदि विद्वानों ने उन्हें आर्येतर न मानकर सूर्यवंशी क्षत्रिय स्वीकार किया है। परन्तु इस मत को अधिकांश इतिहासकार विशेष तर्कसंगत नहीं मानते हैं। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने सातवाहनों को क्षत्रिय न मानकर उन्हें उस ब्राह्मण कुल से सम्बन्धित बताया है, जिसमें नागवंश का रक्त भी सम्मिलित था।[1] 'नासिक प्रशस्ति' में गौतमीपुत्र सातकर्णि को 'खतियदपमानमदनस' तथा 'एकब्राह्मण' घोषित किया गया है। इस मत के समर्थक विद्वानों में सर्वश्री बूलर, सेनार्ट, बारवले, जी० वेंकटराव तथा वी०वी० मिराशी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। नानाघाट अभिलेख से विदित सातवाहन नृपतिगणों द्वारा संपन्न किए गए विविध वैदिक यज्ञों के अनुष्ठानादि से भी उक्त मत की संपुष्टि होती है।

आदि स्थान :

सातवाहनों के मूल-स्थान के निर्धारण पर भी विद्वान् एकमत नहीं हैं।

---

1. द्रष्टव्य, राय चौधरी, एच०सी० : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐन्श्येण्ट इण्डिया, पृ०, 365, युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, 1972।

पौराणिक विवरणों के आलोक में कतिपय विद्वान् आन्ध्र-सातवाहन शासकों का मूल-स्थान आन्ध्र देश स्वीकार करते हैं। वी०ए० स्मिथ, आर० जी० भण्डारकर, रैप्सन, जे० वर्गेस प्रभृति इतिहासकार उन्हें मूलतः आन्ध्रदेशीय प्रस्तावित करते हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर इङ्गित किया जा चुका है कि इस धारणा का आधार आन्ध्र-सातवाहन ऐक्य की अवधारणा एवं पौराणिक साक्ष्यमात्र हैं। इसकी संतोषजनक पुष्टि सातवाहन युगीन पुरासाक्ष्यों से नहीं हो सकी है। यहाँ तक कि सातवाहन अभिलेख भी उक्त आशय की ओर संकेत नहीं देते हैं। इसके विपरीत हाथीगुंफा अभिलेख से सातवाहनों की भौगोलिक अवस्थिति पश्चिमी दक्कन प्रतीत होती है। अधिकांश सातवाहन सिक्के तथा अभिलेख इसी क्षेत्र से विशेष रूप से नानाघाट तथा नासिक संभाग से प्राप्त हुए हैं। प्रस्तुत संदर्भ में प्रो० सुधाकर चट्टोपाध्याय द्वारा प्रस्तुत कतिपय नवीनतम पुरातात्त्विक साक्ष्य भी ध्यातव्य हैं, जिनसे पश्चिमी दक्कन में सातवाहनों की मूलस्थिति प्रमाणित होती है।

प्रो० वी० एस० सुकथंकर आन्ध्रों को न केवल सातवाहनों से भिन्न मानते हैं, अपितु सातवाहनों को कर्नाटक प्रदेश का मूल निवासी प्रस्तावित करते हैं। म्याक डोनी एवं हीरहडगल्लि ताम्रपटों में उल्लिखित 'सातवाहनिहार' एवं 'सातहनिरट्ठ' पदों के आलोक में उक्त विद्वान् की धारणा है कि इन स्थानों का नामकरण सातवाहनों के मूल निवास-स्थान होने के कारण किया गया था। ये स्थान कर्नाटक प्रदेश के वर्त्तमान बेल्लारी जनपद में अवस्थित थे। कतिपय नवीन साक्ष्यों को संदर्भित करते हुए डॉ० आर० रामकृष्णनन् तथा प्रो० एच०वी० श्रीनिवास मूर्ति ने भी प्रो० सुकथंकर के उक्त मत की पुष्टि करते हुए कर्नाटक प्रदेश को सातवाहनों का मूल स्थान स्वीकार करना समीचीन बताया है। परन्तु इसे सर्वस्वीकार किए जाने के लिए अभी भी ठोस साक्ष्यों की अपेक्षा है।

सातवाहन राजवंश के सातकर्णि नामान्त नरेशों के कुछ पुरावशेष मध्य देश में प्राप्त हुए हैं। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने कतिपय साहित्यिक उल्लेखों को संदर्भित करते हुए सातवाहनों का आदि स्थान मध्य देश स्वीकार करना समीचीन बताया है। हाथीगुंफा लेख अथवा वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी के कतिपय दस्तावेज सातवाहनों का शासन-क्षेत्र पश्चिमी दक्कन के साथ-साथ मध्य दक्कन क्षेत्र तक इङ्गित अवश्य करते हैं। किन्तु इस प्रकार के अस्पष्ट एवं अल्प साक्ष्यों के आधार पर सातवाहनों का मूल-स्थान मध्य देश स्वीकार करने में बड़ी विप्रतिपन्नता प्रतीत होती है। सातवाहन नृपतिगणों द्वारा संचालित बहुसंख्यक सिक्के तथा अभिलेख पश्चिमी दक्कन के महाराष्ट्र प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं। इस राजवंश के प्रारंभिक अभिलेख मुख्यतः नानाघाट एवं नासिक से प्राप्त हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व प्रो० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने बौद्ध-ग्रन्थ 'सुत्तनिपात टीका' में उल्लिखित अश्मक एवं मूलक राज्य-क्षेत्रों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है, जो मूलतः आन्ध्र राज्य के अंग थे। प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अर्थशास्त्रोक्त अश्मक की राजाधानी प्रतिष्टान (वर्त्तमान पैठन) से किया है। पैठन महाराष्ट्र प्रान्त का एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक नगर था। नानाघाट अभिलेख में इस बात को

उद्घोषित किया गया है कि सातकर्णि प्रथम की राजरानी नागनिका महारठियों की राजकन्या थी। (मा...... बाला य महारठिनो अंगियकुल ... वधनस....)। उक्त अभिलेख में सातकर्णि प्रथम को दक्षिणापथ का शासक कहा गया है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में निर्मित शैलोत्कीर्णित बौद्ध एवं जैन गुफाएँ महाराष्ट्र प्रान्त में ही अवस्थित हैं, जिनके संरक्षण का श्रेय सातवाहन नृपतियों को प्रदान किया जाता है।

काल-निर्धारण :

पुराणों में प्राप्त विवरण के आधार पर दक्कन में आन्ध्रों के उदय की तिथि ई०पू० 30 स्वीकार की जा सकती है। वायु पुराण में राजवंश के 19 राजाओं की चर्चा आई है, किन्तु कुल नाम 20 दिये गये हैं। इन नरेशों की कुल शासनावधि 300 वर्ष बताई गयी है। इसी प्रकार मत्स्य पुराण में 19 शासकों का नामोल्लेख तो किया गया है, लेकिन इस राजवंश के राजाओं की संख्या 30 कही गयी है। इनका शासन 400 वर्षों का बताया गया है। ऐसा लगता है कि आन्ध्र-सातवाहन नरेशों की मूलशाखा में कुल 19 महत्त्वपूर्ण शासक हुए थे, जिन्होंने लगभग 300 वर्षों तक दक्कन पर स्वतन्त्र शासन किया था। इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मुख्य सातवाहन वंश के अधीन उनकी कोई उपशाखा भी रही हो। संभवतः मत्स्य पुराण के रचनाकारों ने इस उपशाखा के 11 शासकों को तथा उनकी कुल शासनावधि 100 वर्षों को जोड़कर सातवाहन शासनकाल की कुल 400 वर्षों में परिसमाप्ति स्वीकार किया है।

प्रमुख शासक

सिमुक :

विष्णु, मत्स्य एवं वायु पुराणों तथा 'हर्षचरित' से विदित होता है कि शुंग वंश के भृत्य तथा अंतिम शुंग शासक देवभूति का मंत्री कण्व वसुदेव ने अपने स्वामी की हत्या करके मगध पर अपनी राजसत्ता स्थापित कर ली थी। (अमात्यो वसुदेवस्तु बाल्या द्व्यसनिनं नृपम्। देवभूमिमथोत्साद्य शौङ्गः स भविता नृपः)। कण्व ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे। वसुदेव ने जिस कण्व राजवंश की नींव डाली थी, उसका शासन ई०पू० 72 से ई०पू० 27 तक चला। इसमें कुल चार प्रमुख शासक हुए, जिनका कुल शासन मात्र 45 वर्ष रहा (चत्वारः शुंगभृत्यास्ते नृपाः काण्वायना द्विजाः)।

पुराणों के अनुसार कण्व राजवंश के अंतिम शासक सुशर्मा को मारकर इस राजवंश का समापन किसी आन्ध्र जातीय भृत्य ने किया था (सेनाध्यक्षस्तु कण्वानां शातवाहनवंशजः। सिंहकस्वातिकर्णाख्यः शिमुको वृषलो बली)। पुराणों में उक्त आन्ध्रभृत्य को शिप्रक, शिशुक, शिमुक अथवा सिंधुक आदि नाम प्रदान किया गया है। इसी नृपति ने सातवाहन शासन की स्थापना की थी।

इतिहासकारों का अनुमान है कि सिमुक ने शुंगों तथा कण्वों से संभवतः विदिशा की भूमि को जीत लिया था। संभवतः यह घटना प्रथम शताब्दी ई०पू० के अंतिम चरण में घटित हुई होगी। सिमुक के विषय में अत्यल्प सूचनाएँ उपलब्ध हैं। फिर भी, नानाघाट चित्रफलक अभिलेख में उसके लिए रय (राजा) विरुद् सिरिमतो (श्रीमान्) विशेषण तथा सातवाहन वंश में उत्पन्न होने की सूचना मिलती है। प्रो० अजयमित्र शास्त्री ने हाल ही में सिमुक के द्वारा प्रचलित कुल सात सिक्कों पर भी प्रकाश डाला है। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा पैठन थी, जो उत्तरी गोदावरी तट पर स्थित थी।

कृष्ण :

विष्णु तथा भागवत पुराणों के अनुसार सिमुक के उपरान्त कृष्ण अथवा कन्ह सातवाहन राजसिंहासन पर आसीन हुआ। नासिक के एक शिलालेख में यह उल्लेख मिलता है कि उसके शासनकाल में वहाँ पर गुफा का निर्माण कराया गया था। ऐसा लगता है कि कृष्ण ने अपने राज्य का विस्तार नासिक तक कर लिया था।

शातकर्णि (सातकर्णि) प्रथम :

पुराणों में दी गई वंशावली में शातकर्णि को कृष्ण का पुत्र कहा गया है। (श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः)[1]। इसके विपरीत नानाघाट के लेख के आधार पर कतिपय इतिहासकार इसे सिमुकपुत्र मानना अधिक यौक्तिक मानते हैं। इस नरेश के विषय में हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी नानाघाट अभिलेख, हाथीगुंफा अभिलेख तथा साँची अभिलेख से मिलती है। उसकी राजधानी पैठन (प्रतिष्ठान) थी। उसने अपने पौरुष के बल पर सातवाहन राज्य की सीमाओं का विस्तार किया तथा उसे एक शक्तिशाली तथा गौरवशाली राज्य की प्रतिष्ठा दिलाया। नानाघाट अभिलेख में उसे एक राजसूय और दो अश्वमेध यज्ञों के अतिरिक्त अनेक यज्ञों के प्रतिपादन का श्रेय दिया गया है। उसने 'अप्रतिहत' उपाधि धारण की थी। अस्तु, सर्वश्री दिनेशचन्द्र सरकार, सुधाकर चट्टोपाध्याय तथा भण्डारकर प्रभृति विद्वानों ने शातकर्णि प्रथम को उपर्युक्त वैदिक यज्ञों का अनुष्ठाता स्वीकार किया है। डॉ० जार्ज बूलर ने इन यज्ञों की अनुष्ठात्री नागनिका को माना था किन्तु डॉ० सरकार की धारणा है कि नागनिका राजरानी के रूप में उक्त यज्ञों में सहधर्मिणी के रूप में अपने पति के साथ उपस्थित अवश्य रही होंगी किन्तु वे स्वयं मूल अनुष्ठात्री नहीं रही होंगी।

शातकर्णि की मृत्यु के उपरान्त उसके दोनों पुत्र शक्तिश्री एवं वेदश्री अल्पवयस्क थे। फलस्वरूप राजमहिषी **नागनिका** ने इनके वयस्क होने तक संरक्षिका के रूप में स्वयं शासन किया। इसी अवधि में उसने नानाघाट अभिलेख को उत्कीर्ण करवाया था। पुराणों में यद्यपि इसके बाद शासन करने वाले कई

---

1. भागवत पुराण, 12.1.23

शासकों की नामावली प्राप्त होती है लेकिन अन्य साक्ष्यों से इनकी पुष्टि न हो पाने के कारण इनमें से अनेक नरेशों का शासनकाल अज्ञात तथा अन्धकारपूर्ण है।

साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता है कि नागनिका के दो पुत्रों में वेदश्री की अल्पायु में ही मृत्यु हो गई तथा शक्तिश्री ने भी कुछ ही समय तक शासन किया था। इसी क्रम में एक सातवाहन राजकुमार शक्तिकुमार का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है, जिसका समीकरण कतिपय इतिहासकार नानाघाट अभिलेख में उल्लिखित 'हकुश्री' से करते हैं। जो भी हो, इस बात में कोई संशय नहीं है कि शातकर्णि प्रथम के उपरान्त कुछ काल तक सातवाहनों का इतिहास अंधकारमय रहा। पुराणों में सत्रह ऐसे शासकों का नामोल्लेख किया गया है, जो शातकर्णि प्रथम एवं गौतमीपुत्र सातकर्णि के मध्य क्रमशः राजशासन संभालने के लिए आते गए, परन्तु उनका शासनकाल सातवाहन शक्ति के उत्तरोत्तर ह्रास का काल ही माना जा सकता है। इस बीच सातवाहन राजसिंहासन पर बैठने वाले नृपतिगणों में शक्ति में तो कमजोर, किन्तु साहित्यसर्जना में अति निष्णात **'हाल'** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने विख्यात प्राकृत महाकाव्य **'गाहा सतसई'** (गाथासप्तशती) की रचना की थी। उसका कुल शासनकाल मात्र 5 वर्ष (20 ई० - 24 ई०) का था। संभवतः उसके शासनकाल में ही गुणाढ्य ने **'बृहत्कथा'** का प्रणयन किया था।

शक-क्षत्रप आक्रमण और सातवाहन शक्ति का ह्रास

दक्कन में शातकर्णि प्रथम की राज्यशक्ति के विस्तार ने पड़ोसी प्रतिद्वन्द्वियों को नए सिरे से शक्ति संवर्द्धन के लिए प्रेरित किया होगा। दुर्भाग्यवश उसकी मृत्यु के उपरान्त सातवाहन राजसत्ता लगातार कमजोर शासकों के हाथों में आती रही, जिसका लाभ महत्त्वाकांक्षी प्रतिद्वन्द्वियों ने अवश्य उठाया होगा। सातवाहनों की उदीयमान शक्ति पर प्रथम एवं असरदार आघात भूमक के क्षहरातवंशी शकों ने किया था। इस बात की किञ्चित् परोक्ष सूचना हमें **'पेरिप्लस ऑव इरीथ्रियन सी'** के वृत्तान्त से मिलती है। इसमें कहा गया है कि ज्येष्ठ सारगोनस के शासनकाल में सुप्पर (सोपारा) और कलियोना (कल्याण) बन्दरगाह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उन्मुक्त एवं पूर्ण सुरक्षित नगर थे। किन्तु जब से कलियोना (कल्याण) सैण्डरीज के अधिकार में आया, यहाँ असुरक्षा व्याप्त हो गई। सारगोनस के समीकरण पर विवाद है, परन्तु सारगोनस को शातकर्णि का यूनानी रूपान्तरण मानना यौक्तिक प्रतीत होता है। अस्तु, ज्येष्ठ सारगोनस का समीकरण सातवाहन नरेश शातकर्णि प्रथम से करना पेरीप्लस के उल्लेख से पर्याप्त संगति रखता है। इस ग्रन्थ में आगे एक शक शासक **मैम्बरस** अथवा **मैम्बेनस** का वर्णन मिलता है जिसका अधिकार सौराष्ट्र, गुजरात एवं आगे बढ़कर राजपूताना तक फैल गया था। शक-क्षत्रप नहपान के सिक्के दक्षिण में नासिक तक से प्राप्त हुए हैं। इतना ही नहीं, उसके दामाद ऋषभदत्त के कई लेख नासिक तथा कार्ले से मिले हैं। इसी प्रकार, पूना के जुन्नार से उसके मंत्री अर्यमन का एक

अभिलेख भी उपलब्ध हुआ है। नासिक जनपद में स्थित जोगलथम्बी मुद्राभाण्ड को देखने से पता चलता है कि नहपान के द्वारा संचालित सिक्कों को गौतमीपुत्र शातकर्णि ने पुनर्टङ्कित करवाया था। अतः ऐसा माना जा सकता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि के पूर्व नहपान ने अभियान चलाकर सातवाहन साम्राज्य के कुछ क्षेत्रों यथा, कार्ले, पूना तथा नासिक आदि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

इस प्रकार सातवाहन साम्राज्य को सातकर्णि प्रथम के शासनकाल की समाप्ति से लेकर गौतमीपुत्र शातकर्णि के उदय के बीच लम्बी अवधि तक शक-क्षत्रप आक्रमणों के कारण राजनीतिक संकट एवं अव्यवस्था का सामना करना पड़ा।

गौतमीपुत्र सातकर्णि (शातकर्णि) :

पौराणिक सूचनानुसार सातवाहन नरेश महाराज शिवस्वाती तथा उसकी रानी गौतमी बलश्री का योग्य पुत्र गौतमीपुत्र शातकर्णि हुआ। वह महाप्रतापी तथा कुशल सेनानायक था। उसने धीरे-धीरे अपनी आन्तरिक स्थिति मजबूत करने के उपरान्त लगभग 15-16 वर्षों के भीतर अपने को एक सबल शासक बना लिया। उसका प्रथम सैनिक अभियान विदर्भ के क्षत्रपों के ऊपर हुआ, जिसमें उसकी विजय हुई। इस विजय के फलस्वरूप वेणातीर के पौनी अर्थात् प्राचीन कुशावती नगरी से क्षत्रपों का उच्छेद हो गया। उसने अपना अभियान और आगे बढ़ाते हुए पश्चिम की ओर महाक्षत्रप नहपान के राज्य पर आक्रमण किया। नासिक के सन्निकट संभवतः गोवर्द्धन स्थल पर शक-क्षत्रपों के साथ उसका भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में नहपान तथा उसकी सेना गौतमीपुत्र शातकर्णि से बुरी तरह पराजित हुई। अपनी इस महत्त्वपूर्ण विजय से उत्साहित गौतमी पुत्र ने नासिक की बौद्ध गुफाओं में रह रहे भिक्षुसंघ को 'अजकालकिय' भूमिदान किया। उक्त युद्ध को सातवाहन नरेश ने अपने शासनकाल के 18वें वर्ष में जीता था, जो संभवतः 125 ई० के आस-पास घटित हुआ।

महाक्षत्रप नहपान पर आक्रमण :

गौतमीपुत्र शातकर्णि ने शक-क्षत्रपों को सह्याद्रि क्षेत्र से निर्मूल करने के उद्देश्य से अपना सैन्य अभियान और आगे बढ़ाया। कार्ले की बौद्ध गुफाओं में बसे भिक्षु-संघ को उसके द्वारा दिया गया 'करजक' ग्राम-दान उक्त तथ्य की संपुष्टि करता है। नासिक के बाद के एक सातवाहन अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'क्षहरात वंश का समूल उच्छेद करने वाला' कहा गया है। गौतमीपुत्र की उक्त विजय से महाक्षत्रप नहपान की सेना का मनोबल पर्याप्त टूट गया। फिलहाल, इन पराजयों के बाद नहपान सातवाहन नरेश के आक्रमण से बचने के लिए अपने राज्य के दक्षिणी भाग में चला गया। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नहपान के चाँदी के सिक्कों का संग्रह करवाकर उन पर अपनी मुहर लगवाकर उन्हें अपनी मुद्रा के रूप में प्रचलित किया।

ज्ञातव्य है कि नासिक जनपद के **जोगलथंभी** नामक पुरास्थल से इस प्रकार की 13,250 से अधिक रजत मुद्राओं का संग्रह प्राप्त हुआ है।

उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के राज्यों पर आक्रमण एवं विजयें :

गौतमी पुत्र शातकर्णि की सैन्य-शक्ति अब तक पर्याप्त सुदृढ़ हो चुकी थी। महाक्षत्रप नहपान पर प्राप्त विजय ने उसमें साम्राज्य-विस्तार की महत्त्वाकांक्षा जागृत कर दिया। उसके पुत्र पुलमावी के नासिक की एक गुफा-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने उत्तरी भारत में कुकुर (आग्नेय, राजस्थान), उत्तरी सौराष्ट्र, आकरावन्ती (पूर्व एवं पश्चिमी मालवा) तथा अनूप (माहेश्वर का निकटवर्ती भू-क्षेत्र) जीतकर उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया। इसी प्रकार, दक्षिण भारत में उसने अपरान्त (उत्तरी कोंकण), असिक (खानदेश), अश्मक (अहमदनगर जनपद), मलक (पैठण तथा उसके समीपस्थ प्रदेश) सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़), कुकुर एवं विदर्भ प्रदेशों को जीत कर उन पर अपनी शासन-सत्ता स्थापित कर लिया। नासिक प्रशस्ति के अनुसार उसने आकर (पूर्वी मालवा) तथा अवन्ती (पश्चिमी मालवा) प्रदेशों को भी अपने राज्य में मिला लिया। उसके साम्राज्य में अब तक ऋक्षवत् (सतपुड़ा), पारियात्र (आबू गिरि), कृष्णगिरि (महाराष्ट्र स्थित कान्हेरी पर्वत), सह्यादि, श्रीस्तन (श्रीशैल), मंचगिरि, मलय, महेन्द्र (पूर्वी घाट), चकोर तथा सेटगिरि (श्वेतगिरि, जुन्नार के निकटवर्ती भू-भाग) आदि पर्वत-क्षेत्र समाहित हो चुके थे। उसके पुत्र वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी के **नासिक-अभिलेख** में आख्यात है कि वह **'खतियदपमानमदनस'** अर्थात् तत्कालीन क्षत्रिय नृपतिगणों के अभिमान को तोड़ने वाला तथा **'सक-यवन-पह्लव निसूदनस'** अर्थात् शक, पह्लव एवं यवन जातियों का विनाशक था। इतना ही नहीं, उक्त प्रशस्ति में उसे **खखरात-वय-निरवसेस करस'** (क्षत्रप राजवंश को निर्मूल करने वाला, भी कहा गया है। उक्त प्रशस्ति में उसके घोड़ों को तीनों समुद्रों का जल पीने वाला (**त्रिसमुद्रतोयपीतवाहनस्य**), अपराजित विजयपताका वाला (**अपराजितविजयपताकः अनेक समरविजितशत्रु संघस्य**), सभी मण्डलाधिपों का अधिराज (सर्वराज लोकमण्डल प्रतिगृहीतशासनस्य) तथा सातवाहन कुल की प्रतिष्ठा को फिर स्थापित करने वाला (**सातवाहनकुलयसमपतिथापनकरस**) घोषित किया गया है। इस प्रकार, गौतमीपुत्र शातकर्णि एक महान् योद्धा, सेनानायक तथा साम्राज्य विस्तारणवादी नरेश था। उसका शासनकाल 'कम से कम 24 वर्ष (106 ई० से 130 ई०) का माना जाता है।

आर०जी० भण्डारकर ने नासिक प्रशस्ति की कतिपय पंक्तियों में प्रदत्त सूचना के आधार पर यह मत प्रस्तावित किया है कि संभवतः अपने शासन के अंतिम वर्षों में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अपने पुत्र वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि के साथ संयुक्त रूप से शासन किया था। उनके अनुसार ऐसा मानने का सबसे सबल आधार यह है कि नासिक प्रशस्ति में वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि की उपलब्धियों का

कोई उल्लेख नहीं है, केवल गौतमीपुत्र शातकर्णि की उपलब्धियों का ही वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है। परन्तु **नीलकण्ठ शास्त्री, जी० जे० डुब्रील** तथा **हेमचन्द्र राय चौधरी** प्रभृति विद्वान् भण्डारकर के उक्त मत को विशेष समीचीन नहीं मानते हैं।

इन विद्वानों के अनुसार नासिक प्रशस्ति में एक स्थल पर यह इङ्गित किया गया है कि इस गुफा का निर्माण-कार्य गौतमीपुत्र शातकर्णि के आदेशानुसार प्रारम्भ हुआ था, जो पुलमावि के शासनकाल में जाकर पूर्ण हुआ। इसके अतिरिक्त अभी तक ऐसा कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाया है, जो उक्त दोनों राजाओं के संयुक्त शासन पर किञ्चित् प्रकाश डालता हो।

गौतमीपुत्र शातकर्णि महान् विजेता होने के साथ-साथ कुशल प्रशासक भी था। उसने अपने शासन-कार्यों में मानवीयता को प्रश्रय दिया। उसकी न्यायप्रणाली उदार थी तथा अपराधियों के प्रति भी उदार दृष्टिकोण रखा जाता था। उसने अपनी प्रजा पर धर्मानुकूल कर लगाया था। वह वैदिक धर्म के प्रति विशेष अनुरक्त था तथा सामाजिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था का पोषक था। वह परमविद्वान् तथा आगम आदि शास्त्रों का ज्ञाता था। उसकी निर्माणप्रियता उल्लेखनीय है। उसने नासिक जनपद में **'वेनकटक'** नामक नगर का उत्तमोत्तम विन्यास करवाया था।

डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार गौतमीपुत्र शातकर्णि को अपने जीवन के अंतिम वर्षों में कर्दमक शकों से युद्ध करना पड़ा। फलतः शकों ने उसे पराजित करके उससे साम्राज्य के उन प्रदेशों को छीन लिया जिसे उसने कभी महाक्षत्रप नहपान को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। **डॉ० सरकार** की धारणा है कि अपने सम्बन्ध को पुनः सुधारने के लिए ही गौतमीपुत्र शातकर्णि ने महाक्षत्रप रुद्रदामन के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया क्योंकि उस समय पश्चिमी दक्कन पर उसका प्रबल प्रभाव स्थापित हो चुका था। उसकी मृत्यु 130 ई० में हुई।

वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि

गौतमीपुत्र शातकर्णि की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र पुलुमावि राजा हुआ। पुराणों में उसका नाम 'पुलोमा' मिलता है। **टालेमी** ने उसे 'सिरो पोलेमाय' नाम से पुकारा है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के चारों पुत्रों में वही ज्येष्ठ पुत्र था। वह भी अपने पिता की भाँति महापराक्रमी हुआ, तथापि बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में उसे भी राज्य की सीमाओं को सुरक्षित रखना कठिन हो गया था। **टालेमी** (140 ई० के लगभग) लिखता है कि उस समय मालवा-उज्जयिनी में चष्टन तथा प्रतिष्ठान में पुलुमावि समकालीन शासक थे। **डॉ० वा०वि० मिराशी** के अनुसार पुलुमावि से चष्टन तथा उसके नाती (पोते) रुद्रदामन प्रथम ने नर्मदा नदी के उत्तरी क्षेत्र को अपहृत कर लिया था। 150 ई० के **जूनागढ़ अभिलेख** के अनुसार रुद्रदामन प्रथम ने पुलमावि के छोटे भाई

वाशिष्ठीपुत्र शातकर्णि को दो बार हराया, किन्तु बहुत निकट का रिश्तेदार होने के कारण उसका समूल विनाश नहीं किया। कतिपय विद्वान् पराजित सातवाहन नृपति शातकर्णि को वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि से समीकृत करना अधिक समीचीन मानते हैं, जो अपने पिता की भाँति 'शातकर्णि' उपाधि धारण करने लगा था। इस मत को समीचीन एवं तर्कपूर्ण इसलिए भी माना जा सकता है कि पुलुमावि शातकर्णि को जूनागढ़ लेख में '**दक्षिणापथपति**' कहा गया है। ज्ञातव्य है कि पुलमावि की यही उपाधि नासिक लेख में भी उल्लिखित मिलती है।

वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि को क्षत्रपों के साथ हुए संघर्ष में नर्मदा के उत्तरी भू-भाग को अवश्य छोड़ना पड़ा, किन्तु उसने इस क्षति की भरपाई कुन्तल राज्य (कर्नाटक) को जीतकर पूरा कर लिया। उसका एक शिलालेख कुछ वर्ष पूर्व वनवासी नगरी में अवस्थित मधुकेश्वर भगवान मन्दिर के प्रांगण से प्राप्त हुआ था। इस लेख से पता चलता है कि पुलुमावि ने कुन्तल प्रदेश जीतने के उपरान्त राजनीतिक सहयोग-प्राप्ति की इच्छा से वहाँ की एक राजकुमारी से विवाह किया था। इस अभिलेख में पुलुमावि के लिए 'शिवश्री' उपाधि प्रयुक्त की गई है। कुछ विद्वानों ने उक्त उपाधि के आधार पर उक्त सातवाहन नरेश को पुलमावि से भिन्न अथवा उसका उत्तराधिकारी मानना यथोचित बताया है क्योंकि पुराणों में पुलुमावि के उत्तराधिकारी का नाम 'शिवश्री पुलुमावि' मिलता है, जिसने २७ वर्ष तक राज्य किया था—

> **"सप्तविंशः सुतस्तस्य पुलोमा वै भविष्यति।**
> **शिवश्रीर्वै पुलोमा तु सप्तैव भविता नृपः॥"**

प्रो० वा० वी० मिराशी ने सातवाहनयुगीन कतिपय अभिलेखों एवं सिक्कों से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'शिवश्री' वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि का ही दूसरा विरुद् था तथा दोनों एक थे। उसका शासन लगभग 154 ई० तक चलता रहा। **मिराशी** उसके शासन की समाप्ति 160 ई० मानते हैं। उसके साम्राज्य में दक्षिण भारत के अधिकांश प्रदेश सम्मिलित थे तथा उसके सिक्के मद्रास से भी मिले हैं। उसने अपने बाहुबल तथा राजनय के चलते सातवाहन साम्राज्य की प्रतिष्ठा सुरक्षित किया था। उसने अपने शासनकाल में **नवनर** अथवा **नवनगर** का विन्यास कराया, जिसे **डॉ० भण्डारकर** ने पैठन से समीकृत किया है। उसी के संरक्षण में विश्वप्रसिद्ध अमरावती बौद्ध-स्तूप एवं स्थापत्यकला का उत्कीर्णन हुआ था। उसकी नौ-सेना-शक्ति विपुल थी। सातवाहनकालीन देशी-विदेशी वाणिज्य एवं व्यापार को भी पुलुमावि ने विस्तीर्ण किया था।

शिवश्री शातकर्णि :

पुराणों के अनुसार वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के उपरान्त शिवश्री शातकर्णि उत्तराधिकारी हुआ। उसका शासन लगभग 7 वर्ष तक चला। उसके शासनकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना की जानकारी नहीं हो सकी है।

यज्ञश्री शातकर्णि :

पुराणों में प्रदत्त सातवाहन वंशानुक्रम में यज्ञश्री शातकर्णि को शिवश्री अथवा शिवस्कन्द का उत्तराधिकारी बताया गया है। उसके राज्याभिषेक की संभावित तिथि 165 ई० के लगभग मानी जाती है। आभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर उसका शासन 194 ई० अर्थात् 27 वर्ष तक बना रहा। उसे सातवाहन राजवंश का अंतिम वीर एवं महान् नरेश स्वीकार किया जाता है।

यज्ञश्री शातकर्णि ने किञ्चित् शिथिल सातवाहन सेना को पुनर्संयोजित करके अपनी शक्ति को बढ़ाने का निश्चय किया। उसके सिक्के तथा अभिलेख महाराष्ट्र तथा आन्ध्रप्रदेश से बहुतायत में मिले हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उसने अपरान्त (उत्तरी कोंकण) को महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के उत्तराधिकारियों से अपहृत कर लिया था। उसके सिक्के गुजरात, काठियावाड़, अपरान्त, तमिलनाडु तथा मध्य प्रदेश से मिले हैं। इतना ही नहीं जैसा कि **वी० ए० स्मिथ** का मत है कि उसने उज्जैन के शक नरेशों के चाँदी के सिक्कों के समान अपनी मुद्राओं को प्रचलित किया। अस्तु, यह संभव है कि उज्जैन पर भी उसका अधिकार स्थापित हो गया हो। उसकी कतिपय मुद्राओं पर अंकित जहाज-चिह्न से यह धारणा बनाई जा सकती है कि उसके साम्राज्य की सीमाएँ पश्चिमी समुद्र-तट तक तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक विस्तीर्ण रही हों। उसके शासनकाल में वाणिज्य एवं व्यापार में विशेष उन्नति हुई। **पार्जिटर** के अनुसार उसकी देख-रेख में पुराणों का पुनर्संस्करण तैयार किया गया। महान् बौद्ध दार्शनिक **नागार्जुन** उसका मित्र तथा समकालीन था।

पतनोन्मुखकालीन अन्य सातवाहन नृपतिगण

यज्ञश्री के उपरान्त सातवाहन साम्राज्य क्रमशः शक्तिहीन होने लगा। उसके पश्चात् **माठरीपुत्र शकसेन** राजगद्दी पर बैठा। पुराणों में प्रदत्त वंशावली में उसका नाम नहीं मिलता है। अतः यज्ञश्री से उसका क्या रिश्ता रहा होगा, अज्ञात है। फिर भी, उसके समय के दो अभिलेख **कन्हेरी की गुफा** से मिले हैं, जिनमें से एक में उसके शासनकाल के 8वें संवत्सर का उल्लेख किया गया है। **मिराशी** उसके साम्राज्य में विदर्भ एवं आन्ध्र प्रदेश को सम्मिलित स्वीकार किया जाना तर्कसंगत बताते हैं।

माठरीपुत्र शकसेन के उपरान्त आन्ध्रप्रदेश में **विजय शातकर्णि** के राजा बनने की सूचना प्राप्त होती है। पुराणकारों ने उसका नाम वंशानुक्रम में यज्ञश्री के उपरान्त ही रखा है, जिसका शासनकाल मात्र 6 वर्ष का था। कुछ वर्ष पूर्व नागार्जुनकोंड से मिले एक लेख में उसकी उपाधि **'गौतमीपुत्र'** अंकित मिली है। ज्ञातव्य है कि यज्ञश्री भी 'गौतमीपुत्र' था। अस्तु, विजय एवं यज्ञश्री संभवतः भाई-भाई थे। यह संभव है कि विजय शातकर्णि ने अपने भतीजे शकसेन से अल्पकाल के लिए आन्ध्रप्रदेश अपहृत करके अपनी राजसत्ता स्थापित कर लिया हो। उसने **'विजयपुरी'** नगरी का विन्यास कराया तथा उसे अपनी राजधानी

बनाया। बाद में इक्ष्वाकुवंशीय नरेशों ने इसे नागार्जुनकोंड नाम से विकसित कर अपनी राजधानी बनाया। विजय शातकर्णि के उत्तराधिकारियों में क्रमशः **चण्डश्री शातकर्णि** (आन्ध्रप्रदेश पर शासन, लगभग 10 वर्ष), **रुद्र शातकर्णि तथा पुलुमावि** (पुराणों के अनुसार उसने 7 वर्ष शासन किया) का आन्ध्र प्रदेश पर शासन स्थापित रहा। पुलुमावि सातवाहन राजवंश का अन्तिम शासक था।

---

19 देवगिरि का यादव राजवंश

दकन में कल्याणी के चालुक्यों की शक्ति का ह्रास 1150 ई० के लगभग आरंभ हो चुका था। तैलप तृतीय के राजसिंहासन पर आसीन होते समय ही दक्कन की राजनीतिक परिस्थिति पर्याप्त विषम रूप धारण कर चुकी थी। सम्राट् के सामंतगण विशेष रूप से नए सामंत, जिनमें देवगिरि के यादव, वारंगल के काकतीय तथा द्वारसमुद्र के होयसल प्रमुख थे, धीरे-धीरे अपनी शक्ति का विस्तार करके स्वतंत्र शासक बन गए। चालुक्यों की सेवा में कई पीढ़ियों से अपने-अपने प्रान्तों में शासन करने वाले ये सामन्तगण कल्याणी के अयोग्य एवं कमजोर शासन की प्रतीक्षा कर रहे थे, ताकि उपयुक्त समय पाकर वे अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर सकें। संयोगवश तैलप तृतीय में न तो राजनीतिक और प्रशासनिक योग्यता थी और न ही उसके पास पर्याप्त सैनिक शक्ति ही रह गयी थी कि वह तत्कालीन विघटनकारी शक्तियों पर अंकुश लगाने में सफल होता। इतिहासकार **फ्लीट** का यह कथन प्रस्तुत संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है कि तैलप तृतीय के अभिलेखों की संरचना अन्य चालुक्य नरेशों की अपेक्षा किञ्चित कम है तथा इसके साथ ही साथ उसके अधिकांश सामंत राजाओं ने भी अपने अभिलेखों में उसे सम्राट के रूप में प्रायः स्वीकार नहीं किया है। सामंती राज्य संघ के रूप में गठित चालुकय साम्राज्य धीरे-धीरे विघटित होता चला गया। परिणामस्वरूप उत्तरी महाराष्ट्र प्रदेश देवगिरि के यादव, द्वारसमुद्र के होयसल, वारंगल के काकतीय, कुन्तल के कदम्ब तथा मैसूर के गङ्ग, विजय नगर राजवंश आदि राजवंशों ने धीरे-धीरे अपना स्वतंत्र शासन स्थापित कर लिया।

उत्पत्ति एवं वंश-परम्परा

दकन में देवगिरि के यादववंश का राजनीतिक प्रभाव विशेषकर 12वीं-13वीं शती में स्थापित देखा जाता है। परन्तु इस वंश का अभ्युदय नासिक-अहमदाबाद क्षेत्र में नवीं शती के मध्य में ही हो चुका था। धारवाड़ जिले से प्राप्त कतिपय अभिलेखों में यादव-सामंतों का विवरण मिलता है। प्रारम्भिक अवस्था में इस कुल के शासक राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। बाद में पश्चिमी दक्कन पर कल्याणी के चालुक्यों की अधीनता में इन्होंने शासनकार्य जारी रखा।

यादवों की उत्पत्ति-सम्बन्धी अनेक धारणाएँ प्राप्त हैं। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में प्रदत्त विवरण के अनुसार इनकी उत्पत्ति महाराज

ययाति के पुत्र यदु से हुई थी। इस प्रसंग में हेमाद्रिकृत 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' (1260-1270 ई०) को एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में उन्हें चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहा गया है। इसी बात की पुष्टि 13वीं शती के मराठी संत कवि ज्ञानेश्वरकृत भगवत् गीता की मराठी टीका में भी की गई है। इस ग्रन्थ में यादव शासक रामचन्द्र को चन्द्रवंशी क्षत्रिय उद्घोषित किया गया है। इस राजवंश से सम्बन्धित अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि यह वंश मथुरा से चलकर सर्वप्रथम द्वारिका में अवस्थित रहा। अवान्तरकाल में अपनी सैनिक एवं प्रशासकीय योग्यता के आधार पर यादवों का एक दल 9वीं शती के मध्य में नासिक-अहमदाबाद क्षेत्र में आकर बस गया :

"सर्वेऽपि पूर्वमथुराधिनाथाः कृष्णादितो द्वारवतीश्वरास्ते।
सुबाहुसूनोरनुदक्षिणाशाप्रशासिनो यादववंशवीराः॥"

उक्त परम्परा की संपुष्टि जैन अनुश्रुतियों से भी होती है। परन्तु इसके पुरातात्त्विक अथवा अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य अब तक अप्राप्य हैं। कर्नाटक से मिले कतिपय अभिलेखों से इस बात की सूचना अवश्य मिलती है कि 11-12वीं शती में इस प्रदेश में कतिपय यादव सामन्त शासकों का राज्य अवस्थित था।

यादव शैव एवं वैष्णव धर्मानुयायी प्रतीत होते हैं। उनके राजकीय ध्वज पर गरुड़ की आकृति तथा कतिपय सिक्कों पर गरुड़ तथा हनुमान की प्रतिमाएँ अंकित मिलती हैं।

मूल-निवास :

पी०बी० देसाई की धारणा है कि यादव शासकगण मूलतः कन्नड़ देश के निवासी थे। उनके इस मत का प्रमुख आधार यह है कि अधिकांश यादव अभिलेख कन्नड़ भाषा में ही अभिलिखित हैं। इसके अतिरिक्त यादव शासकों द्वारा धारण किया गया विरुद् **'कर्नाटकराजवंशाभिराम'** तथा कन्नड़भाषा से सम्बन्धित भिल्लम, दाडिप्प, राजुगि, वासुगि एवं वड्डिग आदि नामकरण भी उन्हें कन्नड़ मूल से जोड़ने की पुष्टि करते हैं। डॉ० आर० जी० भण्डारकर तथा सी० वी० वैद्य प्रभृति विद्वान् उन्हें कन्नड़मूल का न मानकर मराठा क्षत्रिय मानना अधिक यौक्तिक बताते हैं। डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर भी इसी मत की पुष्टि करते हैं तथा यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि यादव नरेशगण मूलतः महाराष्ट्र प्रान्त के निवासी थे। कालान्तर में राजसत्ता प्राप्ति के बाद वे अपने कुल को गौरव प्रदान करने के लिए मथुरा एवं द्वारिका के प्रसिद्ध यादववंश से सम्बन्ध जोड़ लिये। अल्तेकर द्वारा प्रस्तुत इस विचार के विपरीत वी० के० रजवाड़े की धारणा है कि यादव राजवंश के लोग मूलतः उत्तर भारत के ही रहने वाले थे। उन्होंने दक्कन की ओर अभिगमन किया था जहाँ कालान्तर में मराठों को जीतकर उन्होंने अपना शासन स्थापित कर लिया। इस वंश के राजा अपने को **'द्वारावतीपुरवराधीश्वर'** एवं **'विष्णुवंशोद्भव'** बताते थे। हेमाद्रिरचित **'चतुर्वर्ग चिन्तामणि'** में भी इस बात को स्पष्ट किया गया है कि यादववंश के लोग मथुरा से द्वारका तदुपरान्त

दक्षिणापथ में जाकर बस गए थे। उनके द्वारा द्वारका (द्वारावती) से जाकर चन्द्रादित्यपुर (चन्दोर, नासिक जनपद) में राज्य-स्थापना की संपुष्टि उसी राजवंश के 1169 ई० में जारी एक अभिलेख से भी होती है। जिनप्रभासूरिकृत **'नासककल्प'** नामक जैन-ग्रन्थ से भी यादव वंश का उत्तरी भारतीय मूल से सम्बन्धित होने की बात प्रमाणित होती है।

राजवंशीय इतिवृत्त :
सेउणदेश के प्रारम्भिक यादव सामन्त शासक:

दृढ़प्रहार—सेउण के यादव राजवंश के संस्थापक-शासक का नाम दृढ़-प्रहार माना जाता है। जैन परम्परा के अनुसार वह एक पराक्रमी पुरुष था तथा अपने पौरुष के बल पर डाकुओं से लोगों की रक्षा किया करता था। उसके इसी गुण के कारण लोग उसे अपना मुखिया मानते थे। जैन ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म एक यादव महिला के गर्भ से हुआ था, जिसके पति का कुछ काल पूर्व स्वर्गवास हो चुका था। डॉ० अल्तेकर के अनुसार दृढ़प्रहार के संभावित काल 860 ई० के लगभग मान्यखेट पर राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम का शासन चल रहा था। ज्ञातव्य है कि अमोघवर्ष प्रथम का प्रारम्भिक शासन अत्यन्त कमजोर तथा विद्रोहों से ग्रसित था। प्रतिहार शासक भोज प्रथम के साथ चल रहे राष्ट्रकूटों के संघर्ष के कारण नासिक-अहमदाबाद क्षेत्र में घोर अशान्ति व्याप्त थी। इसका लाभ संभवत: विन्ध्यजातियों के लुटेरों ने उठाने का प्रयत्न किया होगा जिनके दमन का दायित्व दृढ़प्रहार ने उठाकर काठियावाड़ क्षेत्र में अपनी सामरिक धाक स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। उसने एक सफल योद्धा के रूप में ख्याति अर्जित करने के उपरान्त नासिक से लगभग 42 मील दूर उत्तर-पूर्व की ओर चन्द्रादित्यपुर (वर्तमान चन्दोरनगर, जनपद नासिक) में अपनी शक्ति संगठित की। किन्तु दृढ़प्रहार की हैसियत एक वीर योद्धा तक ही सीमित रही। संभवत: उसे सामंत शासक होने का गौरव प्राप्त न हो सका था। यद्यपि आश्वी एवं वस्सैन ताम्रपत्रों में उसे द्वारावती का शासक कहा गया है, लेकिन इसे काव्यात्मक उल्लेख मानना ही यथोचित है। दृढ़प्रहार का कार्यकाल लगभग 860 ई० से लेकर 880 ई० तक था।

सेउणचन्द्र प्रथम—दृढ़प्रहार का पुत्र सेउणचन्द्र प्रथम ने प्रतीहारों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों को अपनी सामरिक सहायता प्रदानकर संभवत: सर्वप्रथम सामंतीय स्थान प्राप्त किया था। इसी नरेश ने देवगिरि के प्रसिद्ध यादववंश को शासकीय दर्जा दिलाया था, जिसके वंशज 12वीं-13वीं शताब्दियों तक महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा तेलंगाना क्षेत्र में सेउण देश के यादववंश के नाम से सम्मान पाते रहे। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने अपने नाम पर एक नगर बसाया, जिसे सेउणपुर के नाम से राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ। डॉ० अल्तेकर ने इस नगर की आधुनिक पहचान सिन्नर नगर से की है। उसका सामंती राज्य बहुत बड़ा न रहा होगा। संभवत: उसके राज्य की सीमा नासिक जनपद के बाहर न

रही होगी। सेउणचन्द्र का राज्यकाल सामान्यतया 880 ई० से 890 ई० के मध्य माना जाता है।

सेउणचन्द्र प्रथम के उत्तराधिकारीगण—सेउणचन्द्र के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों में क्रमशः दाढ़ियप्प, भिल्लम प्रथम तथा राजिरा भी सामंतीय स्तर से ऊपर न उठ सके। इन शासकों ने 890 ई० से 950 ई० के मध्य शासन किया।

यादव सामंत शासक राजिरा के पश्चात् सेउणपुर में एक वीर सामंत-राजा वंदुगि अथवा बड्डिग ने राज्य किया। उसकी वीरता पर प्रसन्न होकर राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय ने अपने छोटे भाई घोरप्प की पुत्री राजकुमारी वोहियव्वा का विवाह उसके साथ कर दिया था। इस वैवाहिक सम्बन्ध के फलस्वरूप उक्त यादववंश की राजनीतिक प्रमुखता में अवश्यमेव वृद्धि हुई थी।

बड्डिग के बाद 970 ई० के लगभग धाड़ियस राजा हुआ। उसने 985 ई० तक शासन किया। उसके शासनकाल में ही कल्याणी के चालुक्यों ने राष्ट्रकूट साम्राज्य को समाप्त कर पश्चिमी दकन में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था। किन्तु साक्ष्याभाव में इस राजनीतिक उथल-पुथल में धाड़ियस की भूमिका अज्ञात-सी है। हाँ, इतना अवश्य पता चलता है कि उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी भिल्लम द्वितीय हुआ, जिसने कमजोर राष्ट्रकूटों के साथ अनास्था प्रकट करते हुए अपनी राज्यास्था शक्तिशाली चालुक्यों के साथ स्थापित कर लिया।

यह सच है कि भिल्लम द्वितीय ने राष्ट्रकूट सामंत के रूप में राज्यभार ग्रहण किया था और उसका विवाह भी लक्ष्मी नामक एक राष्ट्रकूट राजकुमारी के साथ हुआ था, लेकिन वह अपने मित्र तैलप द्वितीय द्वारा राष्ट्रकूट सत्ता-पलट के लिए चलाए जा रहे अभियान में उसकी सामरिक सहायता प्रदान कर उसका प्रेमभाजन बन गया था। उसी के एक ताम्रपत्र लेख में विवृत है कि 'उसने श्रीदेवी को रणराजरंग (तैलप द्वितीय) के घर में पतिव्रता पत्नी के रूप में रहने को बाध्य किया।'[1] संगम्नेर अभिलेख से ज्ञात होता है कि भिल्लम द्वितीय ने परमार नरेश मुंज के विरुद्ध चालुक्यों द्वारा चलाए गए उस ऐतिहासिक अभियान में भी सहयोग किया था जिसमें न केवल परमार शक्ति का पतन हुआ बल्कि अन्ततः मुंज की हत्या कर दी गई थी। डॉ० अल्तेकर का यह अनुमान यौक्तिक प्रतीत होता है कि भिल्लम द्वारा चालुक्यों के समर्थन में उठाए गए कदमों के परिणामस्वरूप उसके राज्य की सीमा में वृद्धि अवश्य हुई होगी। संभवतः अहमदनगर एवं खानदेश का किञ्चित् भू-भाग उसके राज्य में इसी समय जोड़ा गया होगा।

भिल्लम द्वितीय—भिल्लम द्वितीय ने अपनी बढ़ती हुई सामर्थ्य के अनुरूप 'विजयाभरण' विरुद धारण करने के साथ ही साथ संगम्नेर नगर में विजयाभरणेश्वर नामक शैव मन्दिर का विन्यास करवाया था। संगम्नेर दानपत्र

---

1. द्रष्टव्य, जी० याजदानी : दकन का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ 495।

इसी मंदिर को दिए गए दान का विवरण देता है, जिसे भिल्लम ने अपने कार्यकाल में जारी किया था। उसने नासिक जनपद में अवस्थित सिंदिनगर (वर्त्तमान सिन्नर) को अपनी नई राजधानी के रूप में विकसित किया।

वेसुगि—भिल्लम द्वितीय के उपरान्त उसका पुत्र, वेसुगि, उसके राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासन के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है। हाँ, इस बात की सूचना अवश्य मिलती है कि उसका विवाह गुजरात के चालुक्य सामंत की पुत्री, नयिल्लादेवी के साथ संपन्न हुआ था। डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने उसका राज्यकाल लगभग 1005 ई० से 1025 ई० के मध्य प्रतिपादित किया है।

भिल्लम तृतीय—भिल्लम तृतीय लगभग 1025 ई० में वेसुगि का उत्तराधिकारी हुआ। उसके द्वारा जारी सुप्रसिद्ध कलसबुद्रक दानपत्र में उसे **'महासामन्त'** कहा गया है। उसके राजकीय सम्मान में किञ्चित् बढ़ोत्तरी का कारण यह माना जाता है कि वह तत्कालीन चालुक्य नरेश, जयसिंह प्रथम का विशेष कृपाभाजन था। प्राप्त साक्ष्यों से पता चलता है कि जयसिंह प्रथम ने अपनी पुत्री, आवल्लदेवी से उसका विवाह करके उसे महासामन्त बना दिया था। डॉ० अल्तेकर की धारणा है कि संभवतः भिल्लम तृतीय ने जयसिंह प्रथम के तथा परमार शासक भोज आदि के विपरीत चलाए गए अभियानों में पर्याप्त सामरिक सहायता प्रदान करके अपने राजकुल की प्रतिष्ठा में वृद्धि कर ली थी। सेउणचन्द्र द्वितीय के बस्सैन अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने कई युद्धों में न केवल सक्रियरूप से भाग लिया था अपितु 'संग्रामराम' की उपाधि भी धारण की थी। उसे दानपत्रों में **'यादव-नारायण'** भी कहा गया है तथा उसके द्वारा दिए गए अहमदाबाद जनपद में स्थित 'कलशग्राम' अग्रहारदान की भूरि-भूरि प्रशंसा भी मिलती है। डॉ० अल्तेकर के अनुसार भिल्लम तृतीय का शासन लगभग 1040 ई० तक बना रहा।

यादुगि एवं भिल्लम चतुर्थ—भिल्लभ तृतीय के उपरान्त लगभग 10 वर्षों की अल्पावधि में क्रमशः यादुगि एवं भिल्लम चतुर्थ सिन्दनगर के राजसिंहासन पर आसीन हुए। दुर्भाग्यवश इन सामंत शासकों के विषय में सूचनाओं का अभाव है। ऐसा लगता है कि इन शासकों के काल में विशेष उपलब्धि नहीं हो सकी थी। किन्तु भिल्लम चतुर्थ के पुत्र एवं योग्य उत्तराधिकारी सेउणचन्द्र द्वितीय के राज्यकाल में इस राजवंश का भाग्य-चक्र उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त करता रहा।

सेउण चन्द्र द्वितीय—अहमदाबाद जनपद के देओललि नामक स्थान से प्राप्त सेउणचन्द्र द्वितीय के शक संवत् 974 (1052 ई०) में उसकी उपलब्धियों की प्रशस्ति मिलती है। इस अभिलेख में उसकी तुलना वराहरूपी विष्णु से करते हुए प्रशस्ति की गई है कि उसने अपने वंश की श्री को उसी प्रकार बढ़ाया जिस प्रकार भगवान विष्णु वराह ने संपूर्ण पृथ्वी का उद्धार करके उसकी श्री की अभिवृद्धि

किया था। डॉ० अल्तेकर उसके राज्यारोहण की तिथि 1050 ई० प्रतिपादित करते हैं। डॉ० पी०वी० देसाई प्रभृति विद्वान् भी अल्तेकर के उक्त मत का समर्थन करते हैं।

सेउणचन्द्र द्वितीय के सिंहासनारोहण के पूर्व तत्कालीन कलचुरि नरेश, कर्ण ने संभवतः सेउण की यादव-शक्ति को पर्याप्त क्षति पहुँचायी थी। सेउणचन्द्र द्वितीय ने अपने पौरुष से कलचुरियों एवं अन्य प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों से प्रतिशोध लेकर अपने वंश की प्रतिष्ठा में वृद्धि की। 1069 ई० के एक अभिलेख में इस बात का उललेख मिलता है कि उसके मंत्रि-परिषद् में सात सदस्य ऐसे थे, जो अपने पौरुष एवं व्यक्तित्व के बल पर ऊँची-ऊँची उपाधियों से युक्त थे। सेउणचन्द्र **'महामण्डलेश्वर'** का विरुद् धारण करता था तथा अपनी सामरिक क्षमता के कारण कल्याणी के तत्कालीन शासक, परमर्दिदेव (विक्रमादित्य षष्ठ) का अत्यन्त प्रिय हो चुका था :—

"समुद्धृतो येन महाभुजेन द्विषांविमर्दात्परमर्दिदेवः।
आस्थापि चालुक्य प्रदीपः कल्याणराज्येऽपि स एव येन॥"[1]

इस प्रकार हेमाद्रि द्वारा प्रस्तुत उक्त साक्ष्य से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य षष्ठ के राज्यारोहण कराने में सेउणचन्द्र द्वितीय की बड़ी अहम भूमिका थी। किन्तु जैसा डॉ० अल्तेकर का सुझाव है इस काल में जारी अस्वि अभिलेख में प्रदत्त साक्ष्य सेउणचन्द्र के योग्य पुत्र, एरम्मदेव को ही विक्रमादित्य के भाग्य को चमकानेवाला कहा गया है।

एरम्मदेव—सेउणचन्द्र द्वितीय के उपरान्त उसका पुत्र, एरम्मदेव राजा हुआ। वह कल्याणी के शक्तिशाली नृपति, विक्रमादित्य षष्ठ का महामण्डलेश्वर मनोनीत हुआ। उसके राज्यकाल में जारी अस्वि अभिलेख में उसे विक्रमादित्य को राजसिंहासन दिलाने में विशेष सहायक कहा गया है जबकि हेमाद्रि ने इसी बात का श्रेय सेउणचन्द्र द्वितीय को दिया है। जो भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ने कल्याणी के राजसिंहासन को लेकर छिड़े युद्ध में सोमेश्वर द्वितीय एवं विक्रमादित्य षष्ठ नामक प्रतिद्विन्द्वियों में विक्रमादित्य की ही समारिक सहायता की होगी। उसका विवाह योगल्ला नामक राजकुमारी के साथ हुआ था। डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार उसका शासनकाल 1085 से लेकर 1105 ई० के मध्य माना जा सकता है।

सिंहराज—एरम्मदेव के उपरान्त लगभग 1105 ई० में छोटा भाई, सिंहराज उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपने अधिराज, विक्रमादित्य षष्ठ, के कर्पूरव्रत की समाप्ति के शुभ अवसर पर कर्पूरहाथी प्रदान कर उसे सहायता प्रदान की थी। सिंहराज का राज्यकाल 1120 ई० तक बना रहा। उसकी मृत्यु के उपरान्त लगभग 50 वर्षों का यादववंश का इतिहास लगभग अज्ञात-सा है। केवल

---

1. चतुर्वर्गचिन्तामणि, व्रतखण्ड, श्लोक, 29।

अंजिनेर अभिलेख से इतना ही पता चलता है कि 1142 ई० में सेउणचन्द्र नामक एक यादव राजा नासिक-क्षेत्र पर राज्य करता था। डॉ० आर० जी० भण्डारकर हेमाद्रिकृत **'चतुर्वर्ग चिन्तामणि'** में प्रदत्त यादव राजवंश सूची में उक्त राजा के नाम के अभाव में उसे यादव-शासक का उपसामंत मानना ही यौक्तिक बतलाया है। 1145 ई० के लगभग इस वंश का अगला राजा मल्लुगि हुआ, जो अपने स्वामी कल्याणी-नरेश, तैलप तृतीय, के प्रति विशेष निष्ठावान था तथा जिसने उसके प्रतिद्वन्द्वी कल्चुरि-नरेश, विज्जण, के विरुद्ध तैलप तृतीय को सैनिक सहायता प्रदान की थी।[1] मल्लुगि के शासन का समापन लगभग 1160 ई० में हुआ। उसके बाद उसके दो पुत्र, अमरगांगेय तथा कर्ण में, से ज्येष्ठ पुत्र, अमरगांगेय, उसका उत्तराधिकारी हुआ। परन्तु थोड़े ही समय के बाद उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका पुत्र अमरमल्लुगि, राजा हुआ। हेमाद्रि द्वारा प्रदत्त यादववंशावली में अमर मल्लुगि के उपरान्त गोविन्दराज तदुपरि कालियबल्लाल के राजा बनने की बात आई है। डॉ० अल्तेकर की यह धारणा अधिक समीचीन प्रतीत होती है कि ये तीनों राजगद्दी को लेकर न केवल परस्पर संघर्षरत थे अपितु ये कमजोर एवं अयोग्य भी थे। संभवतः राजधानी सिन्नेर की इस अराजक एवं परस्पर संघर्ष की परिस्थितियों से ऊबकर अमरगांगेय के अनुज, कर्ण, तथा उसका वीर पुत्र, भिल्लम पंचम, अपनी सामरिक शक्ति को नए ढंग से बढ़ाकर एक अन्य यादव प्रदेश की नींव डालने में व्यस्त थे। ज्ञातव्य है कि कर्ण संभवतः अपने अग्रज, अमर गांगेय, का उपसामंत था। उसका पुत्र, भिल्लम पंचम वीर, होने के साथ-साथ राजनीतिक सूझबूझ का भी धनी था। उसने तत्कालीन कमजोर कलचुरि नरेश की क्षीण शक्ति का आंकलन करके अपने लिए राज्य का निर्माण करने में अंततः सफलता प्राप्त की तथा बाद में सिन्नेर में पूर्वजों द्वारा परम्परया स्थापित यादव-राज्य को भी अपने नए राज्य में सम्मिलित करके देवगिरि को अपनी राजधानी बनाया।

स्वतंत्र शासक

भिल्लम पंचम—देवगिरि के यादव-राजवंश को स्वतंत्र एवं साम्राज्य विस्तारवादी एक महान् राजवंशीय गौरव दिलाने का श्रेय भिल्लम पंचम को दिया जाता है। उसके राज्यारोहण के समय दक्षिणापथ की राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी तेजी से बदल रही थीं। कल्याणी के चालुक्य-शासक, सोमेश्वर चतुर्थ, के राज्य पर एक ओर से कलचुरियों का तथा दूसरी ओर से होयसलों का सामरिक दबाव बढ़ता जा रहा था। फलतः चालुक्य शक्ति क्रमशः ह्रासोन्मुखी थी। इधर लिंगायत-संप्रदाय के उत्तरोत्तर अभ्युदय-प्राप्ति तथा राज्य के आन्तरिक विद्रोहों के कारण कलचुरियों की शक्ति भी पर्याप्त क्षीण हो चुकी थी। अपने चतुर्दिक व्याप्त उपर्युक्त राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाते हुए यादव-नरेश, भिल्लम,

1. द्रष्टव्य, सूक्तिमुक्तावली, श्लोक 5-9.

की साम्राज्य विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा प्रबल हो गई। उसने अपनी सेना को नए ढंग से संगठित करके यादव-साम्राज्य को विस्तृत करना प्रारम्भ किया। महाकवि हेमाद्रि के वर्णनानुसार अपनी विजय-यात्रा के दौरान उसने सर्वप्रथम कोंकण के अन्तल नामक नरेश से श्रीवर्द्धन नामक बन्दरगाह छीन लिया, राजा प्रत्यंडक को पराजित किया, मंगल वेष्टक राज्य शोलापुर के शासक, विल्लण, की समरभूमि में हत्या की, कल्याण के शक्तिशाली दुर्ग को जीत लिया। इतना ही नहीं, अपना सामरिक दबाव बढ़ाकर उसने तत्कालीन होयसल-नरेश को न केवल पराजित किया अपितु उसका वध भी कर दिया :

"यः श्रीवर्धनमाससाद नगरं क्षोणीपतेरन्तलात् ।
यः प्रत्यण्डकभूभृतं च समरे दुष्टं व्यजेष्ट क्षणात् ।।
यो वा मंगलवेष्टकं क्षितिपतिं श्रीविल्लणं जाध्निवान् ।
कल्याणश्रियमप्यवाप्य विदधे यो होसलेशं व्युसम् ।।"

डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत की असामान्य राजनीतिक अनिश्चितता की स्थितियों ने भिल्लम पंचम की महत्त्वाकांक्षा को सम्राट् स्तर तक पहुँचने के लिए प्रेरित किया। एतत्कार्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण तत्कालीन कल्चुरि नरेशों की क्रमानुगत क्षीणशक्ति को भी माना जा सकता है। भिल्लम पंचम ने अपनी राजनीतिक उपलब्धियों हेतु इसीलिए कोंकण तथा मध्य महाराष्ट्र के बीच अवस्थित उपर्युक्त राज्यों पर सफल अभियान संचालित किया था। इधर भिल्लम पंचम के पैतृक राज्य (सेउणदेश) में उसके चचाजात शासकों की निरन्तर कमजोर स्थिति बनी हुई थी। हेमाद्रि के वर्णन से ज्ञात होता है कि यादववंश की 'भाग्यश्री' ने अंततः सेउणदेश के सिन्नेर राजसिंहासन पर भिल्लम पंचम को आसीन कराकर उसके कमजोर चाचा द्वारा शासित पैतृक राज्य का उसे स्वामी बना दिया। डॉ० अल्तेकर के अनुसार राजधानी सिन्नेर पर भिल्लम पंचम के आधिपत्य की निश्चित तिथि का तो पता नहीं है किन्तु इसे 1180 ई० के लगभग रखना समीचीन प्रतीत होता है।

भिल्लम पंचम अपनी पैतृकभूमि (उत्तरी महाराष्ट्र में स्थित सेउणदेश) की प्राप्ति से ही संतुष्ट न हुआ। उसकी साम्राज्य-विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा एक विशाल स्वतंत्र-साम्राज्य स्थापित करने की ओर बनी हुई थी। उसने, जैसा कि अल्तेकर की धारणा है, सर्वप्रथम गुजरात एवं मालवा की विजय के लिए अभियान किया। इस समय उसे दक्षिण की ओर से कोई विशेष खतरा नहीं था क्योंकि उस समय कल्याणी के चालुक्य एवं कलचुरि न केवल परस्पर संघर्परत थे, अपितु दोनों शक्तिशाली होयसलों के विरुद्ध लोहा लेने में भी पूर्णतया व्यस्त थे। अपने राज्य के दक्षिण व्याप्त इन परि।स्थतियों का लाभ उठाते हुए उसने अपने राज्य की उत्तरी सीमा को असुरक्षित करने के उद्देश्य से मालवा एवं गुजरात के क्रमशः परमारों और चालुक्यों को पराजित करके उन्हें शक्तिहीन करना अभीष्ट समझा। विना

इन राज्यों को पराजित किए हुए भिल्लम का दक्षिणी राज्यों के विरुद्ध निःशङ्क अभियान संचालित करना यथेष्ठ न था।

भिल्लम पंचम द्वारा गुजरात एवं मालवा पर आक्रमण उसकी महत्वाकांक्षा के साथ ही साथ सामयिक राजनीति की दृष्टि से भी अनुकूल सिद्ध हुआ। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि गुजरात के तत्कालीन गुजरात-नरेश, अजयपाल ने अपने दुष्कर्मों से प्रजाजनों को नाराज कर दिया था और अन्ततः 1176 ई० में उसे अपने ही द्वारपाल के हाथों प्राण भी गंवाना पड़ा था। उसका ज्येष्ठ पुत्र, मूलराज द्वितीय, (1176-78 ई०) बाल्यावस्था में ही राजसिंहासन पर आसीन कराया गया, जिसे राज्य-शासन का कोई अनुभव न था। फलतः इस बालक चालुक्य शासन की कमजोरी का लाभ उठाते हुए परमार-नरेश, विन्ध्यवर्मन्, गुर्जरों से मालवा को अपहृत कर लिया था। दोनों राज्यों के बीच व्याप्त राजनीतिक वैमनस्य का सर्वाधिक लाभ अंततः भिल्लम पंचम ने उठाया।

भिल्लम पंचम ने, जैसाकि 1189 ई० के **मुतुगि अभिलेख** में वर्णित है, अपनी सामरिक शक्ति के कारण 'मालवों के सिर का प्रचण्ड दर्द' तथा 'गुर्जर रूपी हंसों के समूह के लिए घन-गर्जन' बन गया था। उक्त आभिलेखिक वक्तव्य काव्यात्मक भले ही हो किन्तु सत्यांश से परे नहीं है। भिल्लम पंचम ने अपनी विशाल सेना के साथ, जिसमें 2 लाख पदादि और 12 हजार अश्वारोही सैनिक सम्मिलित थे, मालवा एवं गुजरात को आक्रान्त कर दिया। सूक्तमुक्तावली की भूमिका में मुतुगि अभिलेख के कथन के आशय को निम्नवत् संपुष्ट किया गया है—

"गुर्जरभूभृत्कटके कंटकविषमेऽतिदुर्गमे येन।
भगदत्त कीर्तिभाजा दुष्टगजः स्वेच्छया नीतः॥"

भिल्लम पंचम के इस अभियान में मालवा एवं गुजरात के नरेश यादव शक्ति के सम्मुख पराजित हुए तथा मारवाड़ (राजपूतों) तक के क्षेत्र को उसने आक्रान्त कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि नड्डुल (नाडौल) के तत्कालीन चाहमान-नरेश केल्हण, जो भिल्लम की सेना को पराजित करने का स्पष्ट दावा करता है, ने यादव सेना के प्रयास को आगे बढ़ने से निश्चयतः रोक दिया होगा। इस बात की सूचना हमारे पास नहीं है कि भिल्लम ने अपना अभियान गुजरात से बाहर उत्तर में अन्य किसी प्रदेश पर भी चलाया था। यद्यपि मुतुगि अभिलेख में उसे अंग, वंग, नेपाल और पंचाल के नृपतिगणों को पराजित करने का श्रेय प्रदान किया गया है किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य से सर्वथा परे है।

गुजरात, मालवा एवं मारवाड़ (राजपूताना भू-प्रदेशों) पर चलाए गए अभियानों में भिल्लम पंचम के साम्राज्य में कोई क्षेत्रीय विस्तार का लाभ न हुआ, किन्तु इससे उसमें अप्रतिम आत्म-विश्वास की प्राप्ति अवश्य हुई। उसने अपनी सामरिक शक्ति का आकलन करके दक्षिण में अपने साम्राज्य को विस्तृत करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। जिस समय भिल्लम पंचम गुजरात और मालवा में युद्धरत था, उस समय कर्नाटक के ऐतिहासिक पटल पर परिवर्तनों का दौर चल

रहा था। यहाँ की कलचुरियों की शक्ति को, जिसे कुछ वर्ष पूर्व होयसल शासक बल्लाल के आक्रमणों ने कमजोर कर दिया था, को 1183 ई० में चालुक्य-शासक सोमेश्वर चतुर्थ ने लगभग समाप्त ही कर दिया। सोमेश्वर के समर्थ सेनापति प्रहम ने अपनी रणचातुरी एवं हस्तिसेना के प्रबल दबाव के फलस्वरूप कलचुरि शक्ति को पूर्णरूपेण समाप्त करने में सफलता प्राप्त की थी, जिसका उल्लेख इसी काल के एक लेख में मिलता है।[1]

यद्यपि कल्याणी नरेश सोमेश्वर चतुर्थ को ब्रह्म नामक एक अतिशय योग्य सेनापति प्राप्त था तथापि सामयिक साम्राज्यिक दबाव को झेलने में वह अधिक समय तक साहस न जुटा पाया। एक तरफ होयसल शासक, बल्लाल, के मन में साम्राज्यिक स्थिति प्राप्त करने का सङ्कल्प प्रबल हो रहा था तो दूसरी तरफ भिल्लम पंचम भी अपनी साम्राज्यिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति की ओर अग्रसर हो चुका था। इस प्रकार चालुक्य-साम्राज्य की सीमा दोनों ओर से आक्रान्त होने की स्थिति में ही थी कि लगभग एक साथ उत्तर से भिल्लम पंचम ने तथा दक्षिण की ओर से होयसल बल्लाल ने चालुक्य-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया।

सोमेश्वर चतुर्थ ने सर्वप्रथम शक्तिशाली बल्लाल की सेना का मुकाबला करने का निश्चय किया। सेनापति ब्रह्म के नेतृत्व में चालुक्य-सेना होयसल-सेना के विरुद्ध आ डटी। किन्तु इस बार के युद्ध में सेनापति ब्रह्म की रणचातुरी विशेष कामयाब नहीं हो सकी क्योंकि उसके शक्तिशाली हस्ति-संगठन को द्रुतगामी होयसल, घुड़सवारों ने तितर-बितर कर दिया तथा चालुक्य-सेना को बुरी तरह पराजित कर दिया। सोमेश्वर चतुर्थ ने अपनी इस पराजय के बाद राजधानी कल्याणी की रक्षा में प्राण गँवाने के बजाय जयिंतपुर तथा बनवासी को राज्यशासन का नया केन्द्र बनाकर किसी तरह अपने अस्तित्व के अनुरक्षण में संलग्न रहा। संकट के इन दिनों में उसके कदम्ब सामन्त-शासक, कामदेव, ने बड़ी सहायता पहुँचाई तथा उसी के बल पर 1189 ई० तक सोमेश्वर चतुर्थ का राजनीतिक जीवन गतिशील बना रहा। राजधानी कल्याणी पर होयसल बल्लाल ने अपना उत्तराधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त की या नहीं, प्रमाणाभाव में इस पर कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है। इस संदर्भ में प्रो० अल्तेकर की यह धारणा यौक्तिक प्रतीत होती है कि बल्लाल को इस युद्ध में अधिक सलफता प्राप्त हुई थी तथा उसने कल्याणी पर भी अधिकार कर लिया था इसके फलस्वरूप चालुक्य-नृपति, सोमेश्वर, को अपनी पूर्व राजधानी से दूर बनवासी में जाकर बसना पड़ा था।

उत्तर की ओर से सोमेश्वर चतुर्थ के विरुद्ध भिल्लम पंचम ने भी क्रमशः सैन्य अभियान संचालित कर दिया था तथा चालुक्यों के प्रमुख दुर्गकेन्द्र लिङ्गमुगूर, तरडगडिनाड, बेलबोला, किसुकाड़नाड और अन्ततः राजधानी कल्याणी पर

---

1. द्रष्टव्य, ए० इं० णं, पृष्ठ 96।

अपना अधिकार कर लिया था। 1189 ई० के **अण्णिगेरे अभिलेख** के अनुसार भिल्लम 'कर्णाट श्रीबल्लभ' अर्थात् कर्नाटक राजलक्ष्मी का प्रिय बन गया था। अब तक कर्नाटक पर उसका अधिकार हो चुका था।

भिल्लम पंचम के जीवनकाल में सर्वाधिक संघर्ष का समय होयसलों के साथ हुए युद्धों में व्यतीत हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है होयसल शासक, बल्लाल ने सोमेश्वर के विरुद्ध चलाये गए अपने प्रारंभिक अभियानों में आशातीत सफलता प्राप्त कर लिया था तथा संभवतः राजधानी कल्याणी पर भी अपना अधिकार स्थापित करने में सफल हो चुका था। होयसल सेना जहाँ एक ओर अपनी उक्त उपलब्धियों पर हर्षित थी वहीं युद्धों के चलते क्रमशः शक्ति क्षीण भी हो चुकी थी। ऐसा कहने का किञ्चित् आधार यह है कि भिल्लम पंचम ने कल्याणी के दुर्ग पर अपना साम्राज्यिक गरुड़ध्वज फहराने में अंततः सफलता प्राप्त कर ही लिया था। कल्याणी में अपनी पराजय से दुःखी होयसल-शासक बल्लाल को कल्याणी के ऐतिहासिक दुर्ग का परित्याग करके अपनी राजधानी, द्वारसमुद्र, की ओर वापस लौटना पड़ा था। हेमाद्रि के वर्णनानुसार कल्याणी नगरी में पराभव के समय होयसल शासक मार दिया गया था। परन्तु इस सम्बन्ध में डॉ० अल्तेकर का सुझाव है कि यदि उक्त कथन होयसल-शासक बल्लाल के सम्बन्ध में है, तो विशेष मान्य नहीं है। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि कोई होयसल राजकुमार, नगर की प्राचीरों की रक्षा करते हुए मारा गया हो। जो भी रहा हो, इतना तो समझा ही जा सकता है कि होयसल शासक, बल्लाल, द्वारा विजित दक्षिणी चालुक्य-साम्राज्य भी अन्ततः भिल्लम पंचम के अधिकार में आ गया था। ऐसा इसलिए संभव माना जा सकता है क्योंकि भिल्लम की यादव सेना ने लौटते समय होयसल-सेना का पीछा मैसूर राज्य (कर्णाटक राज्य) के हरसन जनपद तक किया था। भिल्लम द्वारा जारी कतिपय अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने 1187 ई० में अपने प्रशासनिक वर्षों की गणना एक नवीन संवत् में प्रवर्तित करते हुए शुरू की। यह संवत् राज्यारोहण के समय से जुड़ा है या कल्याणी की विजय से, निश्चय के साथ कुछ कहा नहीं जा सकता है। डॉ० अल्तेकर इस नए संवत् के प्रवर्तन को कल्याणी के युगान्तकारी विजय से जोड़ना ही अधिक समीचीन मानते हैं।

होयसल-नरेश, बल्लाल, दक्कन में अपने परिवार की प्रतिष्ठा के संवर्द्धन हेतु अपनी शक्तिशाली साम्राज्यिक स्थिति बनाने के प्रति सचेष्ट था। कल्याणी में भिल्लम पंचम की सेना से प्राप्त पराभव से उसकी यह योजना विशेष प्रभावित नहीं हुई। यही कारण है कि कल्याणी के पराभव के उपरान्त कुछ ही वर्षों में उसने अपनी सैनिक-क्षमता को पुनर्गठन द्वारा बढ़ाकर दक्षिणी चालुक्य-राज्य पर आक्रमण कर दिया। इसी काल के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि जून, 1189 ई० तक होयसलों ने बनवासी और नोलंबवाडि पर विजय प्राप्त करके अपना सामरिक अभियान जारी रखा। कल्याणी नगरी पर पुनः अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने के

उद्देश्य से संचालित इस अभियान की नीति में सर्वप्रथम होयसल सेना ने बीजापुर एवं धारवाड़ पर आक्रमण किया।

होयसल-शासक, बल्लाल द्वितीय, की इस नवीन सामरिक चाल को यादव-शासक, भिल्लम, ने समय रहते समझ लिया। उसने 12,000 घुड़सवार सैनिकों तथा 2 लाख प्यादों से युक्त एक शक्तिशाली सेना के साथ होयसल-नरेश से लोहा लेने के लिए प्रस्थान किया। उसने धारवाड़ जनपद के गदग स्थल पर अपना स्कन्धावार स्थापित किया था, जिसका उल्लेख गदग अभिलेख में किया गया है। होयसल एवं यादव सेनाओं के बीच यह घोर संग्राम धारवाड़ के निकट स्थित सोरतुर के मैदान में हुआ। इस युद्ध में होयसल बल्लाल को भिल्लम पंचम के विरुद्ध पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। विजयप्राप्ति के उत्साह में होयसल नरेश ने क्रमश: आगे बढ़कर एरंबर (हैदराबाद राज्य में स्थित येलबुर्ग), कुरुगोद (बेल्लाल के निकट स्थित स्थान), गुत्ति (बेल्लारी से लगभग 50 मील पूर्व में दूर स्थित) तथा हंगल प्रभृति यादव-शासित दुर्गों को जीतकर भिल्लम की सेना को मालप्रभा तथा कृष्णा नदियों के पार खदेड़ने में सफलता प्राप्त की। तदुपरान्त लगभग 25 वर्ष तक ये नदियाँ उपर्युक्त दोनों महत्त्वाकांक्षी शक्तियों के बीच सीमा-रेखा बनी रहीं। उक्त घटना की ऐतिहासिक पुष्टि 1192 ई० के बल्लाल द्वितीय के गदग अभिलेख से होती है।

1198 ई० के एक होयसल-लेख, **बेलूर-अभिलेख,** से ज्ञात होता है कि बल्लाल द्वितीय ने किस प्रकार अपनी तलवार को भिल्लम पंचम के सिर रूपी सान पर तेज किया और जैतुगि के कमलमुखरूपी म्यान में प्रवेश करा दिया था। बल्लाल द्वितीय का उक्त दावा किञ्चित् अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि इस दावे को स्वीकार कर लेने पर उसने न केवल उच्छंग के पाण्ड्य-नरेश, कामदेव, तथा यादव सेनापति, जैतुगि, की हत्या की अपितु अपने प्रतिद्वन्द्वी भिल्लम पंचम को भी मौत के घाट उतार दिया होगा। किन्तु गदग अभिलेख का आशय संभवत:, जयसिंह की हत्या को अभिव्यंजित करना प्रतीत होता है, जो भिल्लम पंचम का प्रमुख सहायक था। प्रो० अनन्त सदाशिव अल्तेकर की धारणा है कि 1198 ई० के उक्त बेलूर अभिलेख को महाराज बल्लाल के निर्देशन में अग्निशर्मन ने तैयार किया था। अस्तु, यदि भिल्लम पंचम होयसल सेना के साथ युद्ध करते हुए सोरतुर की युद्ध-भूमि में मारा गया होता तो अभिलेख में वह उसका वर्णन बड़ी शान से करता। हाँ, इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि वृद्ध भिल्लम होयसलों से पराजित होने पर बुरी तरह टूट गया तथा अपनी शिथिल परिस्थितियों से उबरने के पूर्व ही 1191 ई० में दिवगंत हो गया।

मूल्यांकन—भिल्लम एक स्वाभिमानी तथा स्वनिर्मित नरेश था। पैतृक सम्पत्ति से विरत होकर उसने अपने बाहुबल से दक्षिणी महाराष्ट्र तथा उत्तरी कोंकण में अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी। उसकी शक्ति का संगठन केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित न होकर गुजरात एवं मालवा प्रदेशों तक

बना हुआ था। वह देश, काल और परिस्थिति के आंकलन में निपुण था और यही कारण है कि उसने ठीक सही वक्त पर कर्नाटक की राजनीति में पहल प्रारम्भ करके क्रमशः चालुक्यों एवं होयसलों को भारी शिकस्त देने में सफलता प्राप्त की थी। उसके राज्य का विस्तार उत्तर में नर्मदा-क्षेत्र से लेकर दक्षिण में कृष्णा घाटी तक हो चुका था। उसने यादव-साम्राज्य की स्थापना की तथा देवगिरि को राजधानी नगर होने का गौरव प्रदान किया। (**चक्रे पुरं देवगिरिं गिरीश प्रसाद संसादितदिव्यशक्तिः**)। उसके व्यक्तित्त्व में शक्ति की गजब की आँच थी। इस बात का आंकलन केवल इस बात से किया जा सकता है कि सोरतुर की निर्णायक विजय-प्राप्ति के बावजूद विजयी प्रतिद्वन्द्वी बल्लाल में कृष्णा नदी पार करके महाराष्ट्र में प्रवेश करने की हिम्मत नहीं थी। उसने परमेश्वर, महाराजाधिराज एवं परमभट्टारक प्रभृति उपाधियों को धारण किया था। संक्षेप में, भिल्लम एक कुशल सैनिक, कूटनीतिज्ञ एवं दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था।

जैतुगि (1191 ई० से 1210 (1) ई०)

डॉ० अल्तेकर के अनुसार जैतुगि 1191 ई० के अंतिम दिनों में राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसके शासनकाल के कतिपय अभिलेख प्राप्त हुए हैं तथा हेमाद्रि ने भी अपने ग्रन्थ 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में उसके राजनीतिक कृतित्व पर प्रकाश डाला है।

जैतुगि के राज्यारोहण के समय यादव-राजवंश की परिस्थिति ठीक न थी। उसे उत्तराधिकार में शक्तिशाली होयसलों की शत्रुता एवं प्रतिद्वन्द्विता प्राप्त हुई थी। परन्तु उसमें सैन्यसंगठन तथा विपरीत परिस्थितियों से लड़ने की विलक्षण क्षमता थी। विपत्तियों से न घबड़ाकर जैतुगि ने सर्वप्रथम यादव-सेना का पुनर्गठ किया तथा उत्साही होयसल-सेना को भावी युद्ध में शिकस्त देने के लिए कमर कस ली। बल्लाल द्वितीय के विरु द्ध संघर्ष करते हुए उसने होयसल-सेना के छक्के छुड़ा दिया तथा होयसलों के नोलंब-सामंत को पराजित करके सिरगुप्प तथा बेलारी क्षेत्रों में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसने अपनी सुसंगठित सैनिक शक्ति के बल पर होयसल नरेश बल्लाल को देवगिरि एवं कल्याणी पर विजय प्राप्ति का अवसर ही नहीं दिया बल्कि उसे मालप्रभा-कृष्णा नदियों को सीमा-रेखा मानकर उस पार ही बने रहने को विवश कर रखा था।

जैतुगि ने यादव-साम्राज्य को विस्तार देने के प्रयास में तेलंगाना प्रदेश को जीतने के लिए अभियान किया। यहाँ के काकतीय नरेश एवं उसके सामंतों की शक्ति पर्याप्त बढ़ चुकी थी। इस अभियान के पीछे यादवों की यह धारणा विशेष प्रेरक मानी जा सकती है कि वे चालुक्यों के उत्तराधिकारी हैं। अस्तु, पूर्व चालुक्य राजवंश के अधीन रहनेवाले सभी सामन्तों को देवगिरि की यादव-प्रभुसत्ता को स्वयं स्वीकार कर लेनी चाहिए। काकतीयों को जैतुगि एवं उसकी यादव-सेना की यह मंशा न केवल असंगत प्रतीत हुई वरन् उन्होंने अपने को यादवों से श्रेष्ठतर शक्ति भी माना था।

जिस समय जैतुगि ने काकतीय राजवंश के विरुद्ध अभियान छेड़ा उस समय काकतीय नरेश, रुद्र, का शासन चल रहा था । 1195 ई० में यादव-सेना तेलंगाना प्रदेश को रौंदती हुई काकतीयों के लिए महाकाल सिद्ध हुई। हेमाद्रि के वर्णनानुसार इस आक्रमण में काकतीय शासक, रुद्र, युद्ध भूमि में मारा गया। सिंहण द्वितीय के पोटण लेख के वर्णनानुसार जैतुगि ने इस अभियान में राजा रुद्र की बलि देकर वैदिक पुरुषमेध यज्ञ पूरा किया :

"तिल्लंगाधिपतेः यशोर्विशसनं रौद्रस्य रौद्राकृतेः।
कृत्वापुरुषमेधयज्ञविधिना लब्धास्त्रिलोकीजयः ॥"

काकतीय नरेश के मारे जाने पर उसकी सेना में भगदड़ मच गई और इसी आपा-धापी में यादव सेना ने रुद्र के भतीजे, गणपति, को बन्दी बना लिया । उसे देवगिरि के बन्दीगृह में रखा गया। काकतीय राजवंश में उक्त आक्रमण के फलस्वरूप व्यापक अराजकता और अनिश्चितता व्याप्त हो गई। राजकुमार गणपति के पिता महादेव अपने पुत्र के बन्दी बनाए जाने के उपरान्त बची हुई काकतीय सैनिक शक्ति-बल पर यादव-सेना का विरोध चालू कर रखा। अपने एक सेनापति, रचेर्ल, की सहायता से महादेव ने 1196 ई० में अपने भाई, रुद्र, के उपरान्त काकतीय राजगद्दी प्राप्त की थी। परन्तु शक्तिशाली यादव-आक्रमणों के चलते महादेव को युद्धभूमि में ही समय बिताना पड़ा तथा जैसा कि एक काकतीय लेख में वर्णित है उसकी हत्या भी यादवों ने रुद्र के समान युद्ध-भूमि में ही कर दी। परिणामस्वरूप काकतीय साम्राज्य पर जैतुगि का अधिकार हो गया। कुछ समय तक तो तेलंगाना राज्य का नेतृत्व देवगिरि से ही संचालित किया गया। किन्तु अंततः हिन्दू कूटनीति की सिद्ध परम्परा का अनुसरण करते हुए जैतुगि ने बन्दी गणपति को काकतीय राज्य पर शासनकरने का दायित्व इस शर्त पर सौंप दिया कि वह पूर्ण स्वामिभक्ति से साथ देवगिरि के यादव सामन्त के रूप में शासन कर सकता है। संभवतः 1198-1230 ई० में उसे काकतीय राज्य-संचालन का दायित्व प्रदान किया गया क्योंकि इस काल के उपरान्त जारी काकतीय अभिलेखों में गणपति के शासन-काल का उल्लेख मिलने लगता है। गणपति ने यादव राजवंश के सामंत के रूप में कई वर्षो तक शासन किया।

जैतुगि की राजनीतिक उपलब्धियों का काव्यात्मक उल्लेख उसके अभिलेखों में मिलता है। मंगोलि अभिलेख में उसे मालव, पाण्ड्य, चोल, मालव, गुर्जर, लाट, पांचाल, तुरुष्क तथा नेपाल देशों के राजाओं को पराजित करने का श्रेय दिया गया है। निश्चयतः इन विजयों के उल्लेख के द्वारा यादव नरेश, जैतुगि, की श्लाघा की गई है। अभी तक इस बात के साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सके हैं कि यादव-सेना ने होयसलों से लोहा लेने के बाद कालान्तर में कृष्णा नदी पारकरने का दुस्साहस किया था। अस्तु, दक्षिण भारत के पाण्ड्य एवं चोल राज्यों पर यादव सेना की विजय की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। लगभग इसी प्रकार की अतिरंजना पांचाल, तुरुष्क तथा नेपाल प्रदेशों की विजयों में भी मिलती है। यह

हो सकता है कि उसने अपने पड़ोसी राज्यों यथा—गंग, परमार तथा चालुक्य आदि से अवश्य संघर्ष किया हो। मंगोलि अभिलेख में जैतुगि के महत्त्वपूर्ण अभियानों में मालव, लाट तथा गुर्जर नरेशों पर विजय का स्पष्ट वर्णन मिलता है। संभवतः उसने गंग नरेश, अनंगभीम द्वितीय अथवा कुलोत्तुंग तृतीय को भी पराजित किया था। 1197 ई० में यादव साम्राज्य पर कुतुबुद्दीन ऐबक ने चढ़ाई की, जिसका मुकाबला जैतुगि ने किया था।

जैतुगि न केवल एक वीर योद्धा था अपितु एक सुविज्ञ राजनीतिज्ञ तथा विद्यानुरागी नरेश भी था। संकम उसका महाप्रधान मंत्री तथा सेनापति था जिसके योग्य नेतृत्व में यादवों ने काकतीयों पर सफलता प्राप्त की थी। जैतुगि ने सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य के पुत्र, लक्ष्मीधर, को परामर्श के लिए दरबार में राजपण्डित नियुक्त किया था।

सिंहण द्वितीय : (लगभग 1210 - 1247 ई० तक)

सिंहण के समय में जारी एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि युवराज के रूप में उसने 1197 ई० के लगभग ही यादव-राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था। 1210 ई० के लगभग उसे अपने पिता जैतुगि के उपरान्त राजसिंहासन प्राप्त हुआ। दशाधिक वर्षों तक युवराज के रूप में सैनिक संगठन एवं अभियानों तथा प्रशासनादिक कार्यों का पूर्ण अनुभव होने के कारण उसका व्यक्तित्व राज्यशासन के लिए परिपक्व हो चुका था। उसे अपने पिता के सैनिक अभियानों में न केवल भाग लेने का अपितु प्रधान सेनापति के रूप में नेतृत्व करने के लिए अनेक अवसर प्राप्त हुए थे। विशेषरूप से काकतीयों एवं होयसलों के विरुद्ध हुए संघर्षों ने उसमें रणकौशल तथा समयोचित निर्णय लेने की दक्षता प्रदान की थी। सिंहण को यादव-राजवंश का सर्वाधिक शक्तिशाली नृपति माना जाता है।

सैन्य अभियान एवं विजय :

1. होयसल राज्य पर आक्रमण—यादव-राजसिंहासन पर आसीन होने के उपरान्त सिंहण द्वितीय ने सर्वप्रथम होयसल नरेश, बल्लाल, द्वारा सोरतुर के युद्ध में अपने दादा की पराजय का बदला लेने के लिए होयसलों के विरुद्ध अभियान संचालित किया।

अपने उक्त अभियान के प्रथम चरण में सिंहण ने कृष्णा-मालप्रभा सीमा को लांघते हुए कुशकाड जनपद के होयसल-सामंत, विक्रमादित्य, को पदाक्रान्त कर अपने पक्ष में मिला लिया। संयोगवश इसी समय, अर्थात् 1211 ई० में हानुंगल, के कदम्ब नरेश कामदेव ने भी होयसल-शासक बल्लाल द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। होयसलों के ऊपर गहराते राजनीतिक संकट का लाभ उठा कर यादव नरेश सिंहण ने अपने सेनापति, बीचण, के साथ होयसल राज्य को रौंद डाला। इस युद्ध के परिणामस्वरूप बनवासी की उत्तरी सीमा तक यादवों का राज्य विस्तृत हो गया जिससे अब होयसलों के सिन्दवंशीय सामन्तों का राज्य असुरक्षित हो

गया। सिंहण ने आगे बढ़कर सिन्दशासित राज्य को आक्रान्त किया जिसकी सुरक्षा में होयसल नरेश, बल्लाल द्वितीय, को भी समरभूमि में उतरना पड़ा। उत्साही यादव सेना सफलतापूर्वक अभियान चलाते हुए 1212 ई० में विजय समुद्र (विजयपुर या हल्लिवूर) की ओर बढ़ती हुई क्रमशः अवन्तपुर, वेल्लारी, चित्तल दुर्ग तथा शिमोगा जनपदों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। बदलिके नामक पुरास्थल पर होयसल राजा, बल्लाल द्वितीय, ने सिंहण की सेना को रोकने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु उसे पुनः इसलिए हार खानी पड़ी क्योंकि यादव-सेना ने उसके रसद-भण्डार पर अधिकार करके सैनिकों को भूखा रहने के लिए विवश कर दिया था। इस प्रकार 1213 ई० तक सिंहण ने सान्तलिगे तथा बनवासी को जीतकर होयसलों को पदाक्रान्त कर दिया। अपने अभियान को बढ़ाते हुए सिंहण होयसल राजधानी, द्वारसमुद्र, को रौंद दिया। यादव सेना सफलतापूर्वक अभियान करती हुई कावेरी नदी के तट तक जा पहुँची तथा वहाँ के श्रीरंगपट्टम राज्य के शासक, जज्जालदेव, को आक्रान्त कर दिया। लगभग 1215 ई० तक संपूर्ण बनवासी-क्षेत्र यादव-साम्राज्य का अंग बन चुका था। 1213 ई० के गदग लेख से ज्ञात होता है कि धारवाड़ तथा उसके आस-पास का क्षेत्र सिंहण के राज्य में समाहित हो चुका था। उसने होयसलों की शक्ति को कुचल दिया था। 1217 ई० के एक लेख में उसे होयसल रूपी पद्मकुलों को नष्ट करनेवाला मदमत्त हाथी कहा गया है। 'शनिवार सिद्धि' उपाधि जिसे पहले होयसल-नरेश, बल्लाल द्वितीय, धारण करता था, को उसके पराजय के बाद सिंहण ने धारण कर होयसलों पर अपनी विजय को मान्यता प्रदान किया था।

कोल्हापुर के शिलाहार राज्य पर आक्रमण—सिंहण ने लगभग 1215 ई० तक होयसलों की शक्ति को पस्त कर दिया था। उसका अगला अभियान कोल्हापुर के शिलाहारवंशीय शासक, भोज द्वितीय, के विरुद्ध संचालित हुआ। शिलाहारवंशीय राजा कल्याणी के चालुक्यों का शक्तिशाली सामन्त था। उसने लगभग दो वर्षों तक संघर्ष करते हुए अपनी राजधानी को बचाने का असफल प्रयत्न किया। लगभग 1217 ई० में पराजित शिलाहार भोज द्वितीय को कोल्हापुर से भागकर पनलि (पनहाला) के दुर्ग में छिपकर अपनी प्राण-रक्षा के लिए विवश होना पड़ा। इसी ऐतिहासिक घटना को लक्ष्य करते हुए धारवाड़ से प्राप्त एक अभिलेख में सिंहण को पनलि के शासक, भोजरूपी सर्प के लिए गरुड़ बताया गया है (**पन्नालनिलयप्रबलभोजभूपालव्यालविद्रावणविहंगराज**)। 1232 ई० के रामचन्द्र के शासनकाल में जारी पुरुषोत्तमपुरी ताम्रपत्रों के अनुसार सिंहण ने भोज द्वितीय को दुर्ग में बन्दी के रूप में कैद कर रखा था। कोल्हापुर के शिलाहार शासित भू-क्षेत्रों को अंततः प्रवर्द्धमान शक्तिशाली यादव साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

मल्लट के हैहय राज्य पर विजय—सिंहण की शक्तिशाली विजयवाहिनी के सम्मुख छोटे-मोटे राज्यों के पास आत्मसमर्पण करने के अतिरिक्त दूसरा कोई

रास्ता नहीं था। मल्लट (रायचूर जनपद) के हैहय राजा ने सिंहण की अधीनता शिरोधार्य करके एक निष्ठावान समान्त के रूप में शासन-कार्य देखते रहने की अनुमति की याचना की।

लाट (गुजरात) राज्य पर आक्रमण—जिस समय सिंहण अपनी सैनिक सफलताओं की बुलन्दी पर था, उस समय मालवा के परमार तथा गुजरात के परमार राजवंशों की शक्ति क्रमशः क्षीणता की ओर उन्मुख थी। ज्ञातव्य है कि तत्कालीन लाट राज्य का शासक चाहमान राजासिंह मालवा-नरेश परमार अर्जुनवर्मन् का सामन्त था। 1220 ई० के सिंहण ने अपने ब्राह्मण सेनापति, खोलेश्वर, को एक सुसज्जित सेना के साथ लाट राज्य को आक्रान्त करने का दायित्व सौंपा। खोलेश्वर ने बड़ी सरलतापूर्वक लाट-सेना पर विजय प्राप्त कर लिया। इस अभियान में लाट शासक राजासिंह तथा उसका भाई सिन्धुराज युद्धभूमि में मारे गये। सिन्धुराज का पुत्र संग्रामसिंह अथवा शंख को बन्दी बना लिया गया तथा भड़ौंच के दुर्ग पर सिंहण का विजयी पताका लहरा दिया गया। यह अभियान लगभग 1223 ई० में इस निर्णय के साथ समाप्त हुआ कि कैदी संग्राम सिंह द्वारा जताई गई यादव- राज्य के प्रति निष्ठा को देखते हुए उसे बन्दीगृह से मुक्त करके भड़ौच पर यादव-सामंत के रूप में शासन करने की अनुमति अंततः प्रदान कर दी गई। संग्रामसिंह ने समय एवं परिस्थितियों, जिसमें परमारों एवं चालुक्यों की स्थिति निरन्तर दयनीय हो चली थी, का आकलन कर सिंहण के प्रति अपनी पूर्ण निष्ठा रखकर लाट-राज्य की स्थिति को सुधारना उचित समझा।

गुजरात के बघेलों पर आक्रमण—संग्रामसिंह तत्कालीन चालुक्य-शासक लवणप्रसाद द्वारा लाट-राज्य के प्रसिद्ध बन्दरगाह, केंबे, पर किए गए आधिपत्य से कुपित हो गया था। चालुक्य नरेश ने उक्त बन्दरगाह पर अपना कब्जा उस समय जमा लिया था जब संग्रामसिंह के पिता तथा चाचा सिंहण के आक्रमणों से जूझ रहे थे। यादवों के कृपापात्र बनने तथा लाट-राज्य के सामन्त-शासक बनने के उपरान्त संग्रामसिंह ने, कूटनीतिक चालें चलना प्रारम्भ कर दिया। उसने अपने अधिराज, सिंहण, एवं मालवा-नरेश, देवपाल, के बीच संधि कराकर गुजरात के लड़खड़ाते बघेल-राज्य पर संयुक्त रूप से आक्रमण करने की योजना बना ली। इस युद्ध में यादव-सेना का नेतृत्व खोलेश्वर ने तथा लाट-राज्य की सेना का नायकत्व उसने स्वयं संभाला। **कीर्ति-कौमुदी** के पंचम सर्ग में आए एक विवरण के अनुसार इस संयुक्त शक्ति के आक्रमण एवं आतंक के फलस्वरूप शत्रुराज्य में भयानक तबाही तथा संकट पैदा हो गया। किन्तु जैसाकि **'हम्मीरमर्दन'** तथा **'लेखापद्धति'** जैसे ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है, लवणप्रसाद की कूटनीति एवं अन्ततः यादव-नरेश सिंहण के साथ संपन्न हुई मैत्रीसंधि के परिणामस्वरूप यादव-सेना गुजरात में और आगे न बढ़कर अपने साम्राज्य में लौट गयी। सिंहण अपनी राजधानी को क्यों लौट गया, यह एक विचारणीय बिन्दु है। **ए० के० मजूमदार** की धारणा है कि संभवतः काकतीयों ने सिंहण की अनुपस्थिति में यादव-साम्राज्य

पर आक्रमण कर दिया, जिसके आलोक में सिंहण को लवणप्रसाद से सन्धि करना पड़ा तथा अभियान को और आगे न बढ़ाकर उसे वापस लौटना पड़ा।

सिंहण ने अपने संपूर्ण शासनकाल में कम से कम चार बार गुर्जरों पर आक्रमण किया था। इनमें उसका अन्तिम अभियान 1239 ई० में संपन्न माना जाता है। इस अभियान का मुख्य नेतृत्व खोलेश्वर का वीर पुत्र, सेनापति राम, ने किया जिसे सामरिक सहायता लाट-सामंत संग्रामसिंह ने भी प्रदान किया। दोनों संयुक्त सेनाएँ बिना किसी विरोध के नर्मदा-तट पर जा पहुँचीं। नदी के दूसरे तट पर इस संयुक्त मोर्चे से लोहा लेने के लिए लवणप्रसाद का नाती तथा वीर धवल का पुत्र, वीसलदेव, पहले से ही सैनिकों के साथ तैयार था। नर्मदा के घाट पर ही दोनों पक्षों के बीच भयंकर संग्राम हुआ। यादव-अभिलेखों के अनुसार सेनापति राम ने अपने अप्रतिम पौरुष से शत्रुसेना को तबाह कर दिया। इसके विपरीत गुजरात के एक अभिलेख में वीसलदेव को यादव-सेनारूपी समुद्र के तल में जाज्वल्यमान बड़वानल के सदृश्य आख्यात किया गया है। अल्तेकर का इस प्रसंग में यह कहना सही प्रतीत होता है कि संभवतः यह युद्ध अनिर्णीत ही रह गया होगा। एक बात और भी प्रतीत होती है कि इस युद्ध में सेनापति राम युद्धभूमि में मारा गया था। फलतः यादव-सेना संभवतः नर्मदा के उस पार बढ़ने का साहस भी न जुटा सकी होगी। यादवों एवं गुर्जरों के बीच लगभग 20 वर्षों के दीर्घकालीन युद्ध में दोनों को कोई लाभ नहीं हुआ। वे अपनी शक्ति ही खोते रहे जिसका लाभ अवान्तरकालीन मुसलमान आक्रान्ताओं को प्राप्त हुआ। मुस्लिमों ने गहड़वालों को परास्त कर लगभग आधे मालवा को जीत लिया था। वे अणहिलपट्टण में प्रवेश करने के लिए तैयार बैठे थे। ऐसे में गुर्जरों एवं परमारों के सामने मुसलमान आक्रान्ताओं का सामना करना प्रधान कार्य था, जिसमें सामरिक सहायता यादवों की भी वाञ्छित थी। किन्तु दक्कन के राजाओं के पारस्परिक अहं, प्रतिद्वन्द्विता तथा साधारण स्वार्थों के चलते वे परस्पर संघर्षरत हो गए थे। इनमें सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्नता यादवों में थी। संयोगवश सिंहण योग्य एवं महा योद्धा भी था। किन्तु अदूरदर्शी होने के कारण उसने अपनी तथा पड़ोसी शक्तियों को व्यर्थ में क्षय करके राजनीतिक भूल की थी। वंशानुगत दलगत संघर्षों के चलते दक्कन के उपर्युक्त शक्तिशाली राज्य कालान्तर में मुसलमान आक्रान्ताओं के समक्ष अधिक समय तक नहीं टिक सके थे।

काकतीयों के साथ संघर्ष—इस बात का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं कि किस प्रकार यादव-नरेश, जैतुगि, ने अपने शासन-काल में काकतीयों को पराजित कर उसके शासक, गणपति, को बन्दी बना लिया था। हम यह भी जानते हैं कि जब यादवों को यह आभास हो गया कि काकतीय-साम्राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना दुष्कर है तो उन्होंने गणपति को कारागृह से मुक्त कर उसे अपना महामण्डलेश्वर बना लिया था। गणपति ने राज्य की प्राप्ति के उपरान्त प्रारंभिक शासकीय वर्षों में यादवों के प्रति अपनी निष्ठा का परिचय दिया तथा सिंहण के

उत्तरी अभियान में, जैसाकि 1228 ई० के लेख में लाट-राज्य पर हुए आक्रमण में उसमें सम्मिलित होने का उल्लेख है, सक्रिय सहयोग भी प्रदान किया था। किन्तु अपने शासन के उत्तरवर्ती वर्षों में गणपति ने संभवतः अपनी शक्ति बढ़ाकर न केवल अपनी स्वतंत्र-सत्ता घोषित करने का यत्न किया अपितु अपने सैन्य अभियानों के फलस्वरूप साम्राज्य को पर्याप्त विस्तृत भी कर लिया था। अस्तु, इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि काकतीयों के विरुद्ध यादवों ने संघर्ष न छेड़ा हो। **अल्तेकर** के अनुसार काकतीयों एवं यादवों के मध्य कोई विशेष महत्वपूर्ण संघर्ष नहीं हुआ था। किन्तु भोज के एकाम्रनाथ अभिलेख में वर्णित है कि काकतीय सेना ने यादव-शासक को सन्त्रस्त किया था। इतना ही नहीं, गणेश्वर अभिलेख का कथन है कि काकतीयों ने यादव-सेना को जीत लिया था। गणेश्वर अभिलेख में उद्धृत तिथि के आलोक में एम० रामाराव ने उक्त काकतीय विजय की तिथि 1230-31 ई० में स्वीकार्य माना है।

अन्य राज्यों पर आक्रमण—कतिपय यादव-अभिलेखों के अनुसार सिंहण के राज्यकाल में यादव-सेना ने सिंध, पांचाल, बंगाल, बिहार, केरल, पाण्ड्य के शासकों को पराजित किया था। परन्तु इस प्रकार के दावे अन्यान्य प्रमाणों के अभाव में निराधार प्रतीत होते हैं। सिंहण ने पश्चिमी समुद्र के नृपतियों पर भी अपनी शक्ति का दबाव डाला था, क्योंकि रट्टशासक, कार्तवीय चतुर्थ, (वेणुग्राम अथवा बेलगांव राज्य) तथा कदम्ब-नरेश, त्रिभुवनमल्ल, ने उसकी शक्ति के समक्ष आत्म-समर्पण किया था। अल्तेकर की धारणा है कि 1238 ई० या इसके कुछ वर्ष पूर्व ही यादव सेनापति, बीचण, के नेतृत्व में तत्कालीन रट्टनरेश, लक्ष्मीदेव, से उसका राज्य अपहृत करके उसे यादव-साम्राज्य में मिला लिया गया था।

कतिपय यादव-अभिलेखों में सिंहण द्वारा पर्णखेट (बरार का एक भाग), वाराणसी और मथुरा आदि को पराजित कर उन्हें अपने अधीन करने का उल्लेख मिलता है। परन्तु अन्य साक्ष्यों से इसकी पुष्टि नहीं होती है। हाँ, यादव-अभिलेखों के प्राप्ति-स्थलों से यह अवश्य समझा जा सकता है कि कम से कम कोंकण, लाट, महाराष्ट्र, विदर्भ, कर्नाटक तथा आन्ध्र राज्य के भू-भागों तक सिंहण का साम्राज्य अवश्य विस्तृत हो गया था। परन्तु सिंहण अपने समकालीन मुस्लिम आक्रान्ताओं से लोहा न लेकर उनसे सर्वथा उदासीन रहा, यह उसके व्यक्तित्व की एक कमी मानी जा सकती है।

मूल्यांकन—सिंहण एक वीर योद्धा तथा महान् साम्राज्य-निर्माता था। उसने 'प्रौढ़ प्रताप चक्रवर्तिन्' तथा 'रायनारायण' जैसे विरुद् धारण किया। उसके व्यक्तित्व में शौर्य के साथ-साथ संगीत की स्वर-माधुरी तथा साहित्य की तरङ्गता के प्रति गहरा अनुराग था। इस दृष्टि से वह साहित्य, संगीत एवं कला का संरक्षक तथा स्वयं सुसंस्कृत शासक था। उसी के शासन-काल में संरक्षित रहकर **सारंगदेव** ने 'संगीत रत्नाकर' जैसी महान् रचना की थी। स्वयं सिंहण ने इस महान् कृति की टीका की थी। उसके राजदरबार के प्रसिद्ध सारस्वत रत्नों में

छंगदेव एवं अनन्तदेव का नाम उल्लेखनीय है। उदार राजकीय संरक्षण को प्राप्त कर छंगदेव ने अपने पितामह भास्कराचार्य की स्मृति में खानदेश (गुजरात) के पाटण नामक स्थान पर एक प्रतिष्ठित ज्योतिष विद्यालय की स्थापना की थी। इसी प्रकार अनन्तदेव ने छठीं सदी के महान् वैज्ञानिक एवं ज्योतिषज्ञ, वराहमिहिर, के ग्रन्थ 'बृहज्जातक' पर एक टीका की रचना की। उनकी ब्रह्मदेवकृत 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' के एक अध्याय की टीका भी विशेष उल्लेखनीय है।

सिंहण ने लगभग 37 वर्षों तक राज्य किया। 1246 ई० में मृत्यु के समय उसकी आयु लगभग 70 वर्ष आंकी जा सकती है।

कृष्ण (1246—1260 ई०)

सिंहण की मृत्यु के उपरान्त उसका वयस्क पौत्र, कृष्ण, 1246 ई० में सिंहासनासीन हुआ। उसने अपने पितामह की 'साम्राज्य-विस्तारवादी नीति' का अनुसरण करते हुए यादव-साम्राज्य को न केवल सुरक्षित रखा अपितु उसमें किञ्चित् विस्तार करने में सफलता भी प्राप्त की। एतदर्थ उसने सर्वप्रथम एक सुसज्जित विशाल सेना का गठन किया।

राज्यारोहण के कुछ समय उपरान्त कृष्ण ने सर्वप्रथम परमार नरेश, जयतुगिदेव पर आक्रमण करके मालवा को जीत लिया। शक् संवत् 1172 में जारी एक यादव-अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस युद्ध में उक्त परमार शासक की हत्या कर दी गई थी क्योंकि अभिलेख में उसे 'मालव राजरूपी कामदेव के लिए शिव' कहा गया है। यह युद्ध 1250 ई० के लगभग सम्पन्न माना जाता है।

कृष्ण का दूसरा अभियान गुजरात के बाघेलों के विरुद्ध हुआ। हेमाद्रि तथा पैठण ताम्रपत्रों से प्राप्त सूचनाओं से ज्ञात होता है कि उसने बघेल नरेश को युद्ध में परास्त कर दिया था लेकिन गुजरात से प्राप्त कतिपय बघेल-अभिलेखों में विजय का श्रेय वहाँ के शासक, वीसलदेव, को दिया गया है। ऐसा लगता है कि यह युद्ध दो पक्षों की आंशिक सफलता तक ही सीमित रहकर अनिर्णायक स्थिति में समाप्त हुआ था। इस युद्ध का मूल कारण दोनों राजकुलों का पुराना झगड़ा तो था ही, साथ ही कृष्ण के समय होयसल राजकुमारी का वीसलदेव के साथ हुए वैवाहिक सम्बन्ध को भी युद्ध को उकसाने का एक प्रमुख कारण माना जा सकता है।

कृष्ण का अभियान त्रिपुरी तथा दक्षिण कोसल (रायचूर एवं बिलासपुर जनपद) राज्यों के विरुद्ध भी हुआ था। शक्तिशाली कल्चुरि नरेशों के पतनोपरान्त उक्त राज्यों की शक्ति न केवल बहुत कमजोर हो गई थी अपितु संपूर्ण राज्य अराजकता का शिकार बन गया था। अतः कृष्ण ने बड़ी सरलतापूर्वक इन राज्यों को पराजित कर उन्हें अपनी प्रभुता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। पुरुषोत्तमपुरी से उपलब्ध यादवकालीन ताम्रपटों में वर्णित है कि उसने दक्षिण कोसलनरेश को भयाक्रान्त कर दिया। मनौली-लेख के अनुसार कृष्ण

'त्रिपुर की सेनाओं के लिए त्रिनेत्र (शिव) के सदृश था। अपने इसी अभियानक्रम में उसने काकतीय गणपति से भी संघर्ष किया था।

कृष्ण की विजिगीषु-नीति साम्राज्य को विस्तार देने-वाली मानी जा सकती है। उसने अपने योग्य सेनापति, चामुण्ड, के अधीन होयसल राजा, सोमेश्वर, के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए भेजा। एक यादव-अभिलेख के अनुसार सेनापति चामुण्ड ने होयसल-नरेश के दर्प का मर्दन किया तथा विजय के परिणामस्वरूप कोंगली और देवनगरी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

कृष्ण के नेतृत्व में यादव-सेना ने शिलाहार (उत्तरी कोंकण) के नृपति, मल्ल, को पराजित कर रत्नगिरि तथा सूरत जनपदों के भू-भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। 1250 ई० के लगभग उसने सुल्तान बलवन की सेना से भी सफलतापूर्वक संघर्ष किया था। **डी० सी० गांगुली** के अनुसार कृष्ण ने पश्चिमी भारत की लड़ाकू आभीर जाति को आक्रान्त कर उन्हें पराजित किया था।

13वीं शताब्दी के मध्यकाल में दक्षिणी भारत में जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के शासनकाल में पाण्ड्य राज्य अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। सुन्दर पाण्ड्य ने अपने समकालीन अधिकांश राज्यों पर आक्रमण किया। अल्तेकर की धारणा है कि पाण्ड्यों ने इसी क्रम में संभवत: यादव के महामण्डलेश्वर काकतीय गणपति पर आक्रमण किया जिसको सैनिक संरक्षण प्रदान करने का दायित्व यादव नरेश कृष्ण का था। फलत: कृष्ण ने अपने योग्य सेनापति बीचण के नेतृत्व में पाण्ड्यों के विरुद्ध लोहा लेने के लिए यादव सेना को नियुक्त किया। एक यादव अभिलेख में बीचण ने 1253 ई० में पाण्ड्यों के विरुद्ध अपनी सफलता का दावा किया है। डी०सी० गांगूली के विचार में कृष्ण के सेनानायक मल्ल ने ही नोलम्बवाड़ी के पाण्ड्य आक्रान्ता को परास्त किया था। यादव शासनकालीन पुरुषोत्तमपुरी ताम्रपटों के विवरणानुसार कृष्ण ने शक्तिशाली चोलों को भी परास्त किया था। मनौली-अभिलेख में उसे चोलराज्य का अधिपति घोषित किया गया है। परन्तु ओ०पी० वर्मा प्रभृति इतिहासकार उक्त आभिलेखिक साक्ष्यों के दावों को असंगत मानते हैं क्योंकि चोलों पर उस समय पाण्ड्यों का आधिपत्य बना हुआ था। जो भी हो, इस बात पर किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता है कि कृष्ण ने अपने बाहुबल से न केवल सिंहण से उत्तराधिकार प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित किया अपितु उसे अनेक क्षेत्रों में विस्तृत भी किया। उसके साम्राज्य में शिमोगा, चित्तल दुर्ग, रायचूर, विलासपुर, बेल्लारी, बेलगांव, धारवाड़, सतारा, पश्चिमी खानदेश तथा विदर्भ आदि क्षेत्र सम्मिलित थे। उसने अपने विशाल साम्राज्य को अच्छी तरह संगठित करने के लिए कन्धारपुर (द्वारावतीपुर) को अपनी दूसरी राजधानी के रूप में बसाया था।

मूल्यांकन—महान् विजेता एवं साम्राज्य-निर्माता होने के साथ-साथ कृष्ण वैदिक धर्म, कला तथा साहित्य का संरक्षक एवं संवर्द्धक था। गुजरात का ब्राह्मण लक्ष्मीदेव, जो उसके मंत्रियों में अग्रगण्य था, का योग्य पुत्र, जह्लण, राजनीतिज्ञ तथा हस्ति-सेना के संयोजन में महारथ प्राप्त था। गंभीर साहित्यानुरागी होने के कारण उसने संस्कृत के प्रसिद्ध रचनाकारों की चुनी हुई श्लोक-पंक्तियों का संकलन करके '**सूक्तिमुक्तावली**' नामक पद्यसंग्रह तैयार कराया था। कृष्ण ने साहित्यिक प्रतिभाओं को राजकीय संरक्षण प्रदान किया था। उसके ही शासन-काल में शंकराचार्य के '**वेदान्तसूत्रभाष्य**' नामक ग्रन्थ की सुप्रसिद्ध '**भामती**', नामक टीका पर '**वेदान्तकल्पतरु**' नामक शास्त्रीय टीका लिखी गई थी। उसका अपने भाई के प्रति अपार प्रेम था। यही कारण है कि 1260 ई० में अपनी आकस्मिक मृत्यु के समय अपना उत्तराधिकार उसने अपने पुत्र, रामचन्द्र, को न सौंपकर अपने अनुज, महादेव, को सौंप कर चिरशान्ति ली थी।

महादेव (1260 ई० से 1270 ई०)

कृष्ण की मृत्यु के उपरान्त उसका अनुज, महादेव, 1260 ई० में देवगिरि के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। ज्ञातव्य है कि 12वीं शताब्दी के अन्त तथा तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कोंकण क्षेत्र में क्रमशः कोल्हापुर तथा थाना केन्द्रों पर दो शिलाहारवंशीय नृपतिगण शासन कर रहे थे। इनमें से प्रथम कोल्हापुर के शिलाहार-शासक, भोज द्वितीय, को सिंहण द्वितीय ने 1215 ई० में ही पराजित कर दिया था। थाना के शिलाहारवंशीय राजागण 1260 ई० तक देवगिरि के यादवों के अधीन सामन्त-शासक की हैसियत बनाए रहे। किन्तु 1240 ई० के पश्चात् सोमेश्वर के थाने के सिंहासन पर बैठने के साथ ही यादवों एवं शिलाहारों के बीच गंभीर वैमनस्य स्थापित हो गया। हेमाद्रिरचित '**चतुर्वर्ग चिन्तामणि**' के व्रतखण्ड के विवरण से पता चलता है कि महादेव ने सोमेश्वर को क्रमशः दो युद्धों में पराजित करके अन्ततः थाना राज्य पर अधिकार स्थापित कर लिया। आभिलेखिक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि 1273 ई० में थाना पर महादेव का शासन विद्यमान था।[1] किन्तु एक अन्य अभिलेख से यह पता चलता है कि 1266 ई० में उत्तरी कोंकण पर चक्रवर्ति जैतुगिदेव का शासन चल रहा था। संभवतः वह शिलाहारवंशीय नृपति था। अस्तु, 1266 ई० के उपरान्त थाना राज्य पर यादव-शासन पर कुछ विद्वान् सन्देह व्यक्त करते हैं।

आन्ध्र प्रदेश के काकतीय नृपति, गणपति, की 1261 ई० में मृत्यु होने के पश्चात् उसकी वीरांगना लाड़ली पुत्री, रुद्राम्बा, वारंगल के राजसिंहासन पर आरुढ़ हुई। नारी होने के कारण सामन्तों ने शासन में उसे वाञ्छित सहयोग प्रदान करने में न केवल कमी कर दी अपितु विद्रोह करके अराजकता पैदा करने का प्रयास भी किया। काकतीय राज्य की इस कमजोर स्थिति को देखकर महादेव ने

---

1. द्रष्टव्य, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द 5, पृ० 178.

आन्ध्रप्रदेश पर आक्रमण कर दिया। हेमाद्रि द्वारा 'व्रतखण्ड' में प्रदत्त विवरणों से ज्ञात होता है कि इस अभियान में यादव-नरेश को पूर्ण सफलता मिली। इसके विपरीत काकतीय स्रोतों, यथा **प्रतापचरित्र** के अनुसार यादव एवं काकतीय युद्ध में विजयश्री साम्राज्ञी रुद्राम्बा को प्राप्त हुई। उसने 15 दिन तक महादेव की विशाल सेना के साथ भीषण संग्राम करके न केवल उसे परास्त किया वरन् भागती हुई यादव-सेना का राजधानी देवगिरि तक पीछा करके अन्ततः महादेव को सन्धि के लिए बाध्य कर दिया। इस विजय की यादगार में साम्राज्ञी ने वारंगल में अपना विजय स्तंभ स्थापित करवाया। कतिपय विद्वान् 'प्रतापचरित्र' के इस वृत्तान्त को विशेष प्रामाणिक नहीं मानते हैं, फिर भी इसे पूर्णतः अस्वीकार करना भी कठिन है। इस युद्ध की तिथि सामान्यतया 1267 ई० तथा 1270 ई० के बीच मानी जाती है। **ओ० पी० वर्मा** इस घटना की तिथि 1265 ई० के बाद किसी समय प्रस्तावित करते हैं।

महादेव ने **गुजरात नरेश** बीसलदेव को भी पराजित किया था। महाराज रामचन्द्र के शासनकाल के पैठन दानपत्र तथा हेमाद्रि के 'व्रतखण्ड' से उक्त विजय की सूचना प्राप्त होती है। ज्ञातव्य है कि होयसल देवगिरि के यादवों के प्रबल शत्रु थे। गुर्जर-नरेश बीसलदेव ने होयसलों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। अस्तु, महादेव ने उत्तर के पड़ोसी शत्रु, बीसलदेव, को पराजित करना अभीष्ट समझा। प्राप्त सूचनाओं से पता चलता है कि बीसलदेव की मृत्यु 1262 ई० में ही हो गई थी, अतः इस तिथि के आधार पर **प्रो० अल्तेकर** की धारणा है कि संभवतः गुजरात पर महादेव का अभियान महाराज **कृष्ण** के शासनकाल में युवराज के रूप में हुआ होगा।

हेमाद्रि के 'व्रतखण्ड' तथा दो होयसल लेखों से ज्ञात होता है कि महादेव तथा उत्तरी होयसल-राज्यों के बीच युद्ध हुआ था। महादेव के इस अभियान के समय उत्तरी होयसल पर नरसिंह द्वितीय का शासन स्थापित था। 1266 ई० के उपरान्त महादेव ने कर्नाटक के होयसल राज्य पर अभियान संचालित किया। हेमाद्रि ने इस युद्ध में महादेव की विजय के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं किया है परन्तु दो होयसल लेखों में स्पष्टरूप से उसकी पराजय का वर्णन मिलता है।

होयसल-नरेश की यादव-सेना पर विजय तथा यादवों की पराजित स्थिति का लाभ **कदम्ब** राज्य ने भी उठाने का प्रयास किया। महादेव ने कदम्बों के इस विद्रोह को शांत करने के लिए अपने सेनापति, बलिगेदेव, को नियुक्त किया। उसने बलपूर्वक कदम्ब विद्रोह को दबाकर 1268 ई० के लगभग उन पर अपने स्वामी महादेव की प्रभुसत्ता पुनः स्थापित कर दिया।

महादेव के समय में भी सेउण प्रदेश तथा राजधानी देवगिरि की प्रतिष्ठा पूर्ववत् विद्यमान रही। हेमाद्रि ने राजधानी देवगिरि को 'त्रैलोक्य सारश्री' कहा है। महादेव के प्रान्तपतियों में तप्परस, देवराज, चट्टराज, कुचराज तथा मैदेव आदि परिगणित किए जा सकते हैं। महान् धर्मशास्त्रज्ञ हेमाद्रि महादेव के

शासनकाल में सचिवालय तथा हस्तिदस्ते का महामंत्री था।

महादेव का शासन संभवतः 1270 ई० तक बना रहा। इस तिथि के उपरान्त उसकी मृत्यु हो जाने पर अम्मण देवगिरि के राजसिंहासन पर आसीन हुआ।

अम्मण (1270 ई० से 1271 ई०)

अम्मण महादेव का पुत्र था। महादेव, जो महाराज कृष्ण का अनुज होने के कारण तथा कृष्ण के पुत्र रामचन्द्र के नाबालिग होने के कारण, राजसत्ता प्राप्त कर लिया था, को वस्तुतः राजसत्ता अम्मण को न सौंपकर रामचन्द्र को ही सौंपनी चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। परिणामतः अधिकांश मंत्री, प्रान्तपति तथा महत्त्वपूर्ण शासनाधिकारी अम्मण के विरोध में रामचन्द्र के साथ हो गए। अन्ततः रामचन्द्र ने 1271 ई० में अम्मण से शासनसत्ता अपहृत करके उसे बन्दी बना लिया। इस प्रकार अम्मण का शासनकाल मात्र एक वर्ष की अल्पावधि का ही रहा।

रामचन्द्र (1271 ई० से 1311 ई०)

सम्भवतः 1271 ई० के उत्तरार्द्ध में देवगिरि के राजसिंहासन पर रामचन्द्र को अभिषिक्त किया गया। महादेव के विश्वासपात्र अधिकांश प्रान्तपति तथा मंत्रीगण अम्मण के पक्ष में न जाकर सिंहासन के वैध उत्तराधिकारी, रामचन्द्र, के पक्षधर बन गये।

मालवा के विरुद्ध अभियान—लगभग 1270 ई० में मालवा के सिंहासन पर परमार नरेश अर्जुनवर्मन् द्वितीय का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। सिंहासन पर बैठते ही उसके मंत्री ने उसके विरुद्ध खूनी संघर्ष छेड़ दिया। **एलियट** के अनुसार संभवतः मालवा-राज्य का कुछ हिस्सा उक्त विद्रोही मंत्री को भी मिल गया था। मालवा-नरेश आन्तरिक अशांति के साथ-साथ दिल्ली के सुल्तान तथा गुजरात के बघेल-शासक से भी आक्रान्त था। इसी बीच दक्षिण देश से रामचन्द्र ने मालवा पर आक्रमण करके मालव सेना को बुरी तरह पराजित कर दिया। रामचन्द्र के **थाना दानपत्र** (शक 1194, 1272 ई०) में उसे 'मालवों के दीपपुंजों को बुझादेनेवाला प्रलयवायु' (मालवप्रदीपशमनप्रलयानिलः) कहा गया है।

गुर्जरों के विरुद्ध अभियान—गुजरात में तत्कालीन शासक बघेल अर्जुनदेव था। रामचन्द्र के **थाना दानपत्र** (1272 ई०) में गुर्जरों पर उसकी विजय का उल्लेख मिलता है। **अल्तेकर** के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि रामचन्द्र ने मालवाभियान के क्रम में ही गुजरात के बघेलों के साथ संघर्ष किया होगा। किन्तु ये संघर्ष प्रायः अनिर्णीत ही रह गए थे, क्योंकि दोनों पक्ष अपनी-अपनी विजय का दावा प्रस्तुत करते हैं।

होयसलों के विरुद्ध अभियान—रामचन्द्र को अपने चाचा महादेव की

होयसलों से मिली पराजय ,यादवकुल के लिए कलङ्क प्रतीत हो रही थी। उसने होयसलों की शक्ति को बुरी तरह कुचलने के लिए व्यापक सैनिक तैयारी शुरू की। इस विस्तृत तैयारी में लगभग दो-तीन वर्ष लग गये। इसे सुनियोजित करने का उत्तरदायित्व सेनापति सलुव तिक्कमरस, जोयिदेव तथा हरपाल को सौंपा गया।

1275 ई० की शरद ऋतु में पूर्ण तैयारी के साथ यादव सेना बनवासी तथा नोलंबवाड़ी से चलकर होयसल-राज्यक्षेत्र आक्रान्त करना प्रारम्भ किया। होयसल-नरेश, नरसिंह, ने अपनी राजधानी, द्वारसमुद्र को सुरक्षित रखने तथा यादव-सेना को भगाने के लिए अपने सुयोग्य सेनापतियों अंक एवं भाइदेव को होयसल-सेना के साथ विदा किया। परन्तु अन्ततः होयसलों की संपूर्ण योजना तथा सामरिक नीति प्रबल यादव सेना के समक्ष विफल रही। यादव-सेना तिकिकमरस के नेतृत्व में 1276 ई० के जनवरी मास के अन्तिम दिनों में आगे बढ़कर राजधानी द्वार समुद्र को घेर लिया। होयसल सेना ने प्रारम्भ में अपने सेनापति नंजेय एवं गुलनय के नेतृत्व में बड़ी वीरता से युद्ध किया, किन्तु अन्ततः उसके पैर उखड़ने लगे। होयसल-लेखों से ज्ञात होता है कि अन्ततः 1276 ई० में अप्रैल माह के अन्तिम पखवारे में होयसल-सेनापति अंकेय ने यादव सेना को पराजित करके उन्हें अपनी राज्य-सीमा से बाहर करने में सफलता प्राप्त कर लिया। होयसल-राजधानी, द्वारसमुद्र, को जीतने में असफल यादव-सेना 1276 ई० की ग्रीष्म-ऋतु में देवगिरि लौट आई। यादवों एवं होयसलों के बीच स्थापित यह बैर-भाव लगभग अगले पन्द्रह वर्षों तक छिटपुट युद्धों के रूप में बना रहा किन्तु दोनों ओर से पुनः कोई बड़ा सैनिक अभियान नहीं छेड़ा जा सका।

उत्तर-पूर्व में स्थित राज्यों के विरुद्ध अभियान—रामचन्द्र के **पुरुषोत्तमपुरि** ताम्रपत्र के गद्यांशों से पता चलता है कि उसने उत्तरपूर्व भारत के कई छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य को विस्तृत करने का प्रयास किया। सर्वप्रथम उसने **वज्राकर** (संभवतः वैरागढ़) तथा **भंडागार** (नागपुर के पास स्थित भंडारा) के नृपतिगणों पर आक्रमण किया तथा उन्हें पराजित करके उनके राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। उत्साहित रामचन्द्र त्रिपुरी (जबलपुर के निकट स्थित) के कलचुरि राज्य को आक्रान्त करके उसे जीत लिया। त्रिपुरी को अपना सैनिक केन्द्र बनाकर उसने मुस्लिम साम्राज्य के विरुद्ध साहसिक अभियान चलाने का संकल्प लिया। अपने सामरिक अभियान के इस क्रम में उसने वाराणसी पर आक्रमण करके वहाँ की मुस्लिम-सेना को पराजित कर दिया तथा संपूर्ण नगर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। वहाँ उसने शारंगधर देव का एक भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया तथा लगभग 1291 ई० तक अपनी प्रभुता को अक्षुण्ण बनाए रखा। **अल्तेकर** के अनुसार रामचन्द्र को इस युद्ध में विजय 1286 ई० में बलवन की मृत्यु के उपरान्त दिल्ली-सल्तनत की उथलपुथलपरक राजनीतिक स्थितियों के चलते भाग्यवश प्राप्त हुई थी।

पुरुषोत्तमपुरि दानपत्र के अनुसार रामचन्द्र ने कान्यकुब्ज राज्य पर विजय स्थापना के अतिरिक्त कैलास पर्वत तक अभियान चलाया था। परन्तु **अल्तेकर**[1] इन विजयों को काव्यात्मक उल्लेखमात्र मानते हैं, वास्तविक नहीं। परन्तु इस बात को इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उसकी मुठभेड़ इलाहाबाद के निकट स्थित कड़ा के सूबेदार से नहीं हुई होगी। 1291 ई० में किसी समय कड़ा के सूबेदार की हैसियत से अलाउद्दीन खिलजी ने यादव सेना को बनारस से भी भगाने में सफलता प्राप्त कर लिया था।

कोंकण तथा माहिम के सामंतों के विद्रोहों का दमन—यादव सेना को उत्तर पूर्वी भारत के गंगा के मैदान में युद्धरत पाकर कोंकण में संगमेश्वर और खेड़ तथा बम्बई के पास स्थित माहिम-राज्य के सामंत-प्रमुखों ने रामचन्द्र के शासन के विरुद्ध विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया। फलत: यादव-नरेश ने उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का दायित्व अपने योग्य पुत्र को सौंपा, जिसने बलपूर्वक विद्रोही सामंतों को कुचल दिया। इस तरह 1291 ई० तक रामचन्द्र की सफलताओं के परिणामस्वरूप यादव-साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में कर्णाटक से लेकर उत्तर में मालवा एवं बनारस तक तथा पश्चिम में पश्चिमी समुद्रतट (कोंकण) से लेकर पूर्व में विदर्भ तक हो चुका था। परन्तु 1294 ई० आते-आते यादव-साम्राज्य अलाउद्दीन के सामरिक अभियानों के कारण क्रमश: जर्जर तथा सिकुड़ने लगा।

अलाउद्दीन का राजधानी देवगिरि के विरुद्ध अभियान—अलाउद्दीन कड़ा-मानिकपुर (उत्तरप्रदेश) में प्रान्तपति के रूप में रहते हुए दिल्ली का शाहंशाह बनने के लिए प्रयत्नशील था। 1294 ई० में उसने देवगिरि पर आक्रमण करके अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए विपुल संप्रत्ति को अपहृत कर लेना आसान समझकर उस पर आक्रमण कर दिया। उसका यह अभियान अत्यन्त नाटकीय तथा चतुराईपूर्ण ढंग से चलाया गया, जिसके चलते उसने लचुर की यादव-सेना की घेराबन्दी को तोड़कर सीधे राजधानी देवगिरि को आक्रान्त कर दिया। यह अभियान रामचन्द्र के विरुद्ध उस समय किया गया जब वह सुदूर दक्षिण भारतीय राज्यों के विरुद्ध सैनिक अभियानों में व्यस्त था। अलाउद्दीन की सेना बड़ी विशाल थी जिसमें 6,000 से 8,000 तक अश्वारोही सम्मिलित थे। इसके विपरीत रामचन्द्र मुकाबले के लिए मात्र 4,000 पैदल सेना ही तैयार कर सका। फलत: रामचन्द्र किले के निकट हुए युद्ध में बड़ी सरलता से पराजित हो गया। भाग कर उसने दुर्ग में शरण ले ली। लेकिन सुरक्षा का कोई रास्ता न देखकर अन्तत: उसने अलाउद्दीन से संधि कर ली। इस संधि के फलस्वरूप अलाउद्दीन ने लगभग 1,500 पौंड सोना, 40 हाथी, मोतियों एवं रत्नों की बड़ी मात्रा के साथ एलिचपुर जिले के राजस्व की बराबर वार्षिक कर-राशि लेकर तथा रामचन्द्र की कन्या से विवाह करके वापस लौटना स्वीकार कर लिया। उसके वापस लौटने के 15 दिनों के बाद

---

1. द्रष्टव्य, जी० याजदानी 'प्राचीन दक्कन का इतिहास, पृ० 533, टिप्पणी सं० 110.

यादव युवराज, शंकरदेव, अलाउद्दीन की सेना से लगभग दोगुनी सेना के साथ देवगिरि लौट आया, लेकिन तब तक राजकोष बहुत कुछ सन्धि के कारण खाली हो चुका था। मुस्लिम इतिहासकार **इमामी** के अनुसार शंकरदेव ने अपने पिता रामचन्द्र की सलाह मानकर अलाउद्दीन से युद्ध नहीं किया। परन्तु **फिरिश्ता** लिखते हैं कि शंकरदेव ने अलाउद्दीन से अपने पिता के मना करने के बावजूद युद्ध किया, जिसमें अन्ततः उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा। इस प्रकार 1304 ई० तक रामचन्द्र अलाउद्दीन को निश्चित कर देता रहा।

1304 ई० में अलाउद्दीन की एक सैनिक टुकड़ी को प्रतापरुद्र ने पराजित कर दिया। युवराज शंकरदेव ने इसे अलाउद्दीन की शक्तिक्षीणता मानकर उसे वार्षिक कर देना बन्द कर दिया। 1307 ई० में अलाउद्दीन ने यादवों को पराजित करने के लिए मलिक काफूर के नेतृत्व में अपनी सेना भेज दिया। **इमामी** के अनुसार यादव-नरेश रामचन्द्र ने सेनापति मलिक काफूर को अपनी मजबूरी से अवगत कराते हुए यह गुप्त सूचना भेज दिया था कि उसका पुत्र, युवराज शंकरदेव, उसकी इच्छा के विरुद्ध विद्रोह कर रहा है। इस युद्ध में मलिक काफूर यादव सेना को पराजित कर रामचन्द्र को बन्दी बनाकर दिल्ली ले आया। अलाउद्दीन ने रामचन्द्र की बात से संतुष्ट होकर उसके साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार किया तथा उसे मुक्त करके उसका राज्य उसे वापस कर दिया।

रामचन्द्र की मृत्यु कब हुई, यह स्पष्ट ज्ञात नहीं तथापि 1311 ई० में उसकी मृत्यु संभावित मानी जा सकती है।

शंकरदेव (1311-1312 ई०)

शंकरदेव एक साहसी, वीर तथा देशभक्त युवक था। उसके शासन सँभालते ही 1312 ई० में अलाउद्दीन ने मलिक काफूर के नेतृत्व में एक सफल सैनिक आक्रमण किया। फलतः इस युद्ध में शंकरदेव मारा गया तथा मलिक काफूर देवगिरि का प्रशासक बन गया।

हरपाल देव (1315-1318 ई०)

1315 ई० में अलाउद्दीन के अस्वस्थ हो जाने पर मलिक काफूर ने देवगिरि के प्रशासन को सँभालने का दायित्व ऐन-उल-मुल्क को सौंपकर स्वयं दिल्ली चला गया। कुछ ही समय बाद ऐन-उल-मुल्क को भी दिल्ली जाना पड़ा। फलतः देवगिरि में मुसलमान सेना बँटती गई। रामचन्द्र के दामाद, हरपालदेव, ने इस परिस्थिति का लाभ उठाकर 1315 ई० में देवगिरि पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अंततः 1318 ई० में कुतुबद्दीन मुबारकशाह ने खिलजी-राज्य पर अधिकार करने के बाद, यादव राजा, हरपालदेव, तथा मंत्री राघव को पराजित करके बन्दी बना लिया और बाद में मार डाला।

इस प्रकार 1318 ई० में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध देवगिरि के यादव राजवंश का अन्त हो गया।

20 काकतीय राजवंश

दक्षिणीपूर्वी दक्कन के आन्ध्रप्रदेश के तेलंगाना-क्षेत्र में कल्याणी के चालुक्यों के शासनकाल में काकतीयों का उदय हुआ। इनकी उत्पत्ति विवादास्पद है। कतिपय इतिहासकार कल्याणी के चालुक्य शासक, **अम्भ द्वितीय** (945-970 ई०), के सामन्त, कार्कत्य गुंड्यन, को काकतीयों का पूर्वज प्रतिपादित करते हैं। परन्तु एतदर्थ बहुत स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

राजवंशीय इतिहास

प्रारम्भिक शासक

बेत प्रथम—बेत प्रथम संभवत: कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों का सामन्त था। इसके द्वारा स्थापित राजवंश का तीसरा शासक बेत द्वितीय हुआ। वह चालुक्य-नरेश, विक्रमादित्य षष्ठ (1076-1126 ई०) का सामन्त था। उसके समय के **अनुम कोंड** (1079 ई०) और **काजीपेट अभिलेख** (1090 ई०) में उसके शासनकाल की ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ही इस राजवंश का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया गया है। **काजीपेट लेख** में बेत प्रथम के लिए कहा गया है कि उसने 'चोल नरेश की सेना के समुद्र को मथा तथा लक्ष्मी (विजयश्री) की प्राप्ति की। इसी प्रकार **पालंपेट अभिलेख** में कहा गया है कि बेत प्रथम के सेनापति, ब्रह्म ने काँची के नगरद्वार को खोल दिया तथा काकतीय नरेश एवं विजयश्री का विवाह सम्पन्न करवाया। यह निश्चयत: काव्यात्मक उल्लेख है। फिर भी, इस संभावना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता है कि बेत प्रथम ने अपने स्वामी सोमेश्वर प्रथम के चोलों के विरुद्ध काँची-विजय अभियान में सम्मिलित रहा होगा।

प्रोल प्रथम—बेत प्रथम के उपरान्त उसका पुत्र, प्रोल प्रथम, राजा हुआ। वह बड़ा वीर था। उसने चालुक्यों के विरोधी अनेक राजाओं को पराजित किया। उसकी वीरता तथा स्वामिभक्ति से प्रसन्न होकर सोमेश्वर प्रथम ने उसे अनुमकोंड राज्य का शासक नियुक्त किया। बेत द्वितीय के काजीपेट अभिलेख के अनुसार प्रोल प्रथम ने चक्रकोट, काड़पर्ति, पुरकूट एवं भद्रंग के शासकों को पराजित करने के अतिरिक्त कोंकणप्रदेश के कुछ भागों को जीत लिया था। संभवत: ये विजय उस क्रम में उसने प्राप्त की थीं, जब वह पश्चिमी चालुक्य-नरेश, विक्रमादित्य षष्ठ, की 1066 ई० के दिग्विजय-अभियान में सहयोग कर रहा था। उसने सोमेश्वर प्रथम के सामरिक अभियानों में भी भरपूर सहयोग किया था। प्रोल प्रथम शैव था तथा उसने शैवाचार्य, गुरु रामेश्वर, को एक ग्राम दान देकर

उसका नामकरण 'शिवपुर' कर दिया था। उसने 'केसरी' उपाधि धारण की तथा इस उपलक्ष्य में 'जगतकेसरी' नामक एक जलाशय का निर्माण करवाया था। उसका देहावसान 1075 ई० में हुआ।

बेत द्वितीय (1075 ई० से 1090 ई०)—चोल प्रथम की मृत्यु के बाद 1075 ई० में उसका पुत्र, युवराज बेत द्वितीय, शासक हुआ। सिंहासन पर बैठने के उपरान्त उसे गंभीर राजनीतिक उथल-पुथल का सामना करना पड़ा। इस विप्लव के कारण का पूर्ण ज्ञान तो नहीं हो सका है किन्तु इतिहासकारों का अनुमान है कि इसका मूल कारण कल्याणी के राजसिंहासन के लिए सोमेश्वर द्वितीय तथा विक्रमादित्य षष्ठ के बीच होनेवाला गृह-युद्ध हो सकता है। संभवतः बेत द्वितीय ने सोमेश्वर द्वितीय को सहयोग प्रदान किया था, जिसकी प्रतिक्रिया विक्रमादित्य षष्ठ के शासक बन जाने पर उसे झेलनी पड़ी होगी। 1079 ई० में जारी **हनुमकोंड अभिलेख** में उसकी 'त्रिभुवन मल्ल' उपाधि अंकित नहीं मिलती। संभवतः यही समय उसके शासन का सबसे अधिक संकटग्रस्त समय था। परन्तु बेत द्वितीय के मित्रों ने संकटकाल में उसका साथ दिया, जिसके फलस्वरूप उसने शत्रुओं को पराजित कर कोरविप्रदेश को जीत लिया। लगभग 1090 ई० में उसके मंत्री, दंडाधीश, ने उसे सम्राट विक्रमादित्य षष्ठ से क्षमा-याचना के लिए कल्याणी भेजा। बेत द्वितीय द्वारा प्रस्तुत स्वामिभक्ति से प्रसन्न होकर उसके सब्बिसदिरक्षेत्र देकर उसकी जागीर में बढ़ोत्तरी कर दी। संभवतः इसी घटना के बाद उसने 'विक्रमचक्री' तथा 'त्रिभुवनमल्ल' विरुदों को धारण किया, जिसका उल्लेख काजीपेट अभिलेख में किया गया है। 1090 ई० में किसी समय उसकी मृत्यु हुई।

दुर्गनृपति (1090 ई० से 1117 ई०)—बेत द्वितीय की मृत्यु के बाद 1090 ई० में उसका ज्येष्ठ पुत्र, दुर्गनृपति, सिंहासन पर बैठा। काजीपेट से मिले उसके शासनकाल के एक अभिलेख में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं है। उसने भी अपने पिता की भाँति 'त्रिभुवनमल्ल' की उपाधि धारण की तथा सम्राट विक्रमादित्य षष्ठ के प्रति अपनी निष्ठा बनाए रखा। 1117 ई० में उसका देहावसान हो गया।

प्रोल द्वितीय (1117 ई० से 1150 ई०)—राजा दुर्ग का अनुज, प्रोल द्वितीय, 1117 ई० में उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह एक वीर शासक था। उसके शासनकाल के अभिलेखों से पता चलता है कि उसने अपने पौरुष से तेलंगाना प्रदेश के कतिपय चालुक्य-सामन्तों के बीच छिड़े युद्ध को शान्त किया। उसके अभियानों के परिणामस्वरूप गोकर्ण का पुत्र पुनः शासक बन सका, मेड़राज पराजित हुआ, पोलवास को हराया गया तथा गंगराज को इस क्षेत्र पर पुनः अधिकार प्रदान कराया गया। उसने हनुमकोंड में केशवदेव का एक भव्य मन्दिर बनवाया। ये सभी विजय उसके शासनकाल के प्रारंभिक वर्षों की मानी जाती हैं।

प्रोल द्वितीय की सामरिक उपलब्धियों का विस्तृत वर्णन रुद्रदेव के हनुमकोंड अभिलेख में किया गया है। इस लेख के अनुसार उसने चालुक्याधिप तैलप तृतीय (विक्रमादित्य) को पराजित कर उसे बन्दी बना लिया, किन्तु शीघ्र ही उसकी विनम्रता, धर्मनिष्ठता एवं सद्भाव से प्रभावित होने के कारण उसे छोड़ दिया। उसने राजा उदय के राज्य में लूटपाट करने तथा उसे पराजित करने के अतिरिक्त गोविन्दराज को भी पराजित किया। किन्तु बाद में उसने अपनी कूटनीतिक सूझ-बूझ से इन विजित राज्यों को पराजित राजाओं को लौटा दिया। प्रोल ने अपनी प्रतिद्वन्द्वी मंत्रकूट के शासक मुण्ड को क्रमशः पराजित करते हुए उसकी राजधानी तक पीछा किया। बाद में उसे बन्दी बनाकर, उसका सिर मुड़वाकर, उसके वक्ष पर सुअर का चिन्ह अंकित कराकर पहले तो अपमानित किया, तत्पश्चात् उसका बध करा दिया। उसकी उल्लेखनीय सफलताओं में जगददेव जिसने उसकी राजधानी तक चढ़ाई की थी, की पराजय को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। इन विजयों की तिथि 1127 ई० के बाद ही जब शक्तिशाली चालुक्य-नरेश, विक्रमादित्य षष्ठ, की मृत्यु हो चुकी थी, स्वीकार करना तर्कसंगत माना जा सकता है। प्रस्तुत संदर्भ में 1135 ई० में चोलों द्वारा पश्चिमी चालुक्यों के पराजय को संदर्भित किया जा सकता है। पश्चिमी चालुक्यों की पराजय से उत्पन्न स्थिति का लाभ उठाते हुए आन्ध्र-तेलंगाना प्रदेश के चालुक्य-पोषित सामंत अपनी शक्ति-विस्तार एवं स्वतंत्रता के लिए परस्पर युद्धरत हुए होंगे। इन सभी सामंतों में अपनी शक्ति एवं योग्यता के बल पर प्रोल द्वितीय को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई। प्रोल द्वितीय ने तैलप तृतीय को, जो कंदूरुनाड़क्षेत्र का शासक तथा चालुक्य नरेश सोमेश्वर तृतीय का पुत्र था, पराजित किया था। इसी क्रम में उसने कोल्लिपाक के सामन्त-शासक, परमार राजा जगद्देव, जो विक्रमादित्य षष्ठ तथा सोमेश्वर तृतीय का प्रिय सामंत था, को पराजित किया था। तैलप तृतीय तथा जगद्देव ने प्रोल द्वितीय को चालुक्य-शासन के अधीन बनाए रखने का भरपूर प्रयास किया लेकिन काकतीय शासक ने उन्हें हर बार शिकस्त दी। प्रोल द्वितीय की इन सफलताओं के फलस्वरूप गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मध्यवर्ती भू-क्षेत्र पर काकतीय राज-ध्वज फहराने लगा। 1150 ई० में युद्धभूमि में उसे वीरगति प्राप्त हुई।

स्वतंत्र काकतीय शासक

रुद्रदेव (1150 ई० से 1195-96 ई०)—प्रोल द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र, रुद्रदेव, उसकी मृत्यु के उपरान्त सिंहासन पर बैठा। उसके चार अनुजों में वरिष्ठ भाई का नाम महादेव था। रुद्रदेव ने अपने पिता के सामरिक अभियानों में बड़ी वीरतापूर्वक भाग लिया था। उसने अपने पिता की राज्य-विस्तारवादी नीति का अनुसरण करते हुए अपने प्रतिद्वन्द्वी शासकों से लोहा लेने का संकल्प लिया। उसके शासनकाल के अनुमकोंड अभिलेख (1162 ई०) में उन विरोधी शासकों का जिन्हें उसने पराजित किया था, नामोल्लेख मिलता है। इन विजित शासकों में

डोम्मराज, मेड़राज तथा मैलिंगदेव नाम मिलते हैं। ये पराजित राज्य आन्ध्रप्रदेश के वर्तमान करीमपुर एवं वारंगल जनपद के उत्तरी क्षेत्र में स्थित थे। इन क्षेत्रों पर विजय-स्थापना के फलस्वरूप काकतीय राज्य की उत्तरी सीमा गोदावरी नदी तक विस्तृत हो गई।

रुद्रदेव के अनुमकोंड अभिलेख में उपर्युक्त उत्तरी अभियानों के साथ-साथ उसके दक्षिणी अभियानों का भी उल्लेख मिलता है। इस अभियान में रुद्रदेव का सामना भीम, गोकर्ण, चोडोदय तथा तैलप से हुआ था। इनमें भीम, गोकर्ण तथा चोड़ोदय तेलुगू चोल-नरेश थे। तैलप पश्चिमी चालुक्य-सम्राट तैलप तृतीय था, जिसका शासनकाल 1165 ई० तक बना रहा। अनुमकोंड अभिलेख के अनुसार राजा कोकर्ण भीम द्वारा पराजित एवं मारा गया तथा चोडोदय काकतीय नरेश रुद्रदेव की सामरिक शक्ति से भयाक्रांत होकर मर गया। पुन: काव्यात्मक वर्णन करते हुए अभिलेखकार कहता है कि तैलप राजा रुद्रदेव की शक्ति से डरकर संग्रहणकी रोग से ग्रसित होकर अंतत: मर गया। भीम, जिसने अपने सौतेले भाई गोकर्ण को मार डाला था, ने अपनी सौतेली माँ को बलात् अपनी पत्नी बना लिया था। उसके इस प्रकार के जघन्य कृत्य से क्रोधित रुद्रदेव ने भीम पर चढ़ाई कर दी तथा राजधानी वर्धमान को चारों ओर से घेर लिया। परन्तु भीम ने किसी तरह अपने परिवार के सदस्यों सहित किले से भागकर प्राण-रक्षा कर ली। इसी अभियान में रुद्रदेव ने कोंडपाल्लि के राजा चोड़ोदय को बुरी तरह पराजित किया, जिसके कारण उसकी मृत्यु हो गई। 1162 ई० के पहले ही रुद्रदेव ने बेंगी राज्य पर आक्रमण करके उसके बहुत से भू-भाग को काकतीय राज्य में मिला लिया था। 1158 ई० के द्राक्षारामम अभिलेख के साक्ष्यानुसार उसका राज्य दक्षिणी समुद्र तक फैल चुका था। 1173 ई० तक चोलों की सामरिक शक्ति पर्याप्त क्षीण हो चुकी थी। फलत: आन्ध्रप्रदेश के बेलनांटि क्षेत्र (वर्त्तमान करनूल, कृष्णा, गंढूर तथा गोदावरी जनपद) के चोल-समर्थित सामंत पर्याप्त जर्जरित हो चुके थे। कमजोर शक्ति का लाभ उठाकर रुद्रदेव ने 1185 ई० के लगभग उन्हें पराजित कर अपना सामन्त बना लिया।

रुद्रदेव के समुद्रतटीय अभियानों में वेलनाडु के शासक कुलोत्तुंग राजेन्द्र चोड तथा उसके समर्थक सामन्त बहुत भारी पड़े। 1172 ई० में राजाधिराज द्वितीय के चोल सम्राट बनने पर वेनाडु के उक्त शासक ने उसकी दुर्बलता का भरपूर लाभ उठाकर विशाखापट्टनम के सिंहाचलम् से लेकर दक्षिण की ओर नेल्लूर तक के समुद्रतटीय क्षेत्र पर अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर लिया। इस क्षेत्र को जीतने की लालसा रुद्रदेव की पूरी न हो सकी थी क्योंकि कुलोतुंग राजेन्द्र चोड तथा उसके सामन्त-शासक पर्याप्त शक्तिशाली थे। संयोगवश 1181 ई० में वेलनाडु के इस प्रतापी राजा राजेन्द्र चोड का आकस्मिक निधन हो गया। रुद्रदेव को अब अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने का अवसर मिल पाया। उसने सर्वप्रथम कृष्णा नदी के तटवर्ती वेलनाडु प्रदेश के कुछ सामन्तों को अपने पक्ष में कर

लिया। तदुपरान्त कृष्णा नदी के उत्तरी एवं दक्षिणी तटों के छोटे-छोटे शत्रु चोड सामन्त-शासकों को जीत लिया। उसके इस क्षेत्र के अभियान में सबसे बड़ी रुकावट कुलोत्तुंग राजेन्द्र चोड का दामाद भीम द्वितीय की प्रतिद्वन्द्वी सेना थी। वह धरणिकोट का कोट-प्रमुख था। रुद्रदेव एवं भीम द्वितीय के बीच धरणिकोट के समरांगण में भीषण युद्ध हुआ, जिसमें अन्ततः काकतीय नरेश रुद्रदेव एवं उसके सहयोगी सामन्तों की विजय हुई। भीम द्वितीय की हत्या कर दी गई तथा कोट-राज्य की शक्ति को समाप्त कर दिया गया। रुद्रदेव ने धरणिकोट राज्य को अपने साम्राज्य का अंग में मिलाकर वेत द्वितीय नामक अपने सामन्त को, जो भीम द्वितीय का पुत्र था, सौंप दिया। रुद्रदेव बेत द्वितीय की सहायता से वेलनाडु नरेश के समर्थक समान्तों से भी भरपूर प्रतिशोध लिया। 1185 ई० में वेंगी का चालुक्य नरेश मल्लपदेव उत्तर-पूर्व में गोदावरी के डेल्टाई क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित करके 'प्रोलनाडु' का शासक बन गया। शक्तिशाली वेलनाडु सामन्त शासकों के विरुद्ध मल्लपदेव की उक्त विजय संभवतः बिना रुद्रदेव की सहायता लिए संभव नहीं थी। परन्तु कुछ समय बाद 1186 ई० में इस क्षेत्र का सबसे प्रतापी शासक वेलनांटि पृथ्वीश्वर मल्लपदेव से लोहा लेने के लिए गोदावरी तक चढ़ आया। द्राक्षाराम् के 1186 ई० के अभिलेख से पता चलता है कि मल्लपदेव की याचना पर रुद्रदेव भी पृथ्वीश्वर से युद्ध करने के लिए पहुँच गया, किन्तु वह अन्ततः युद्ध हार गया। मल्लपदेव को प्रोलनाडु प्रदेश छोड़ना पड़ा। 1186 ई० से रुद्रदेव की मृत्यु के काल तक कोई उल्लेखनीय घटनाक्रम ज्ञात नहीं हो सका है।

रुद्रदेव के जीवनकाल की अंतिम महत्त्वपूर्ण घटना काकतीयों एवं देवगिरि के यादवों के बीच हुए युद्ध को माना जा सकता है। इसमें कौन आक्रान्त था तथा कौन आक्रान्त नहीं यह अद्यावधि स्पष्ट नहीं है। इस युद्ध की सूचना यादव-अभिलेखों से तथा चतुर्वर्ग चिन्तामणि के 'व्रतखण्ड' से ही मिल सकी है। इन साक्ष्यों के आलोक में ऐसा माना जाता है कि 1195-96 ई० में यादव-नरेश जैतुगी ने युद्ध में काकतीय रुद्रदेव की हत्या कर दी थी। रुद्रदेव के शासनकाल की प्रमुख देन औरुगल्लु नगर, जो उसकी राजधानी अनुमकोंड के निकट स्थित थी, की स्थापना थी।

महादेव (1195-96 ई० से 1198-99 ई०)—1195-96 ई० में सन्तानहीन रुद्रदेव की हत्या हो जाने के उपरान्त उसका अनुज महादेव उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासनकाल का मात्र एक खण्डित अभिलेख उपलब्ध हो सका है, जिसमें उसके शासनकाल की कोई महत्वपूर्ण घटना को अंकित नहीं किया गया है। इसी प्रकार उसके अनुवर्ती शासकों के अभिलेखों से भी कोई महत्त्वपूर्ण सूचना नहीं मिलती। **'प्रतापचरित्रम्'** ग्रन्थ में उसे एक वीर योद्धा के रूप में अनुरेखित अवश्य किया गया है। उसका शासनकाल मात्र तीन वर्ष तक रहा। 1198-99 ई० में महादेव देवगिरि के यादवों से युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।

गणपतिदेव (1199 ई० — 1261 ई०)—1199 ई० में सेउण के यादवों से हुए युद्ध में न केवल महादेव मारा गया अपितु उसका उत्तराधिकारी होनेवाला पुत्र

गणपति देव बन्दी बना लिया गया। राजाविहीन काकतीय राज्य को देखकर उसके समान्तों ने विद्रोह तथा पड़ोस के शासकों ने आक्रमण कर दिया। आक्रान्त शासकों में नागति (अज्ञात) एवं चोल-नरेश कुलोत्तुंग तृतीय का नामोल्लेख मिलता है। कुलोत्तुंग ने वेडगुओं (तेलुगुओं) का दमन कर वेंगी मण्डल को अपने अधीन कर लिया। वह साम एवं दाम नीति का अनुसरण करते हुए, वारंगल तक घुस आया। किन्तु काकतीय महान् सेनापति ऐचेर्रल द्वारा विद्रोही समान्तों को परास्तकर तथा उनका सिर काटकर भाले की नोक से लटका देने जैसे उदाहरणों से डरकर कुलोतुंग तृतीय वारंगल से वापस लौट आया। इसी प्रकार उग्र काकतीय सेना के रुख से डरकर नागति भी भागकर अपनी राजधानी पहुँच गया। इस प्रकार राजा के न होते हुए भी काकतीय समर्थ सेना राज्य की स्वतन्त्रता को संजोये रखा।

संभवत: यादव-नरेश जैनपाल की कृश से गणपति 1199 ई० में ही किसी समय यादवों की कैद से छोड़ दिया गया। गणपति यद्यपि विपरीत परिस्थितियों में सिंहासनासीन हुआ परन्तु अपनी योग्यता एवं साहस के बलपर उसने संपूर्ण आन्ध्रप्रदेश पर एक गौरवशाली शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। चोल-साम्राज्य तथा पश्चिमी चालुक्य राज्यों की क्रमश: विघटनकारी परिस्थितियों का लाभ उठाकर गणपति ने काकतीय सत्ता को भरपूर मजबूत कर दिया। इस काल में होयसलों की आक्रामक नीति से सेउण देश के यादव भी सशंकित रहते थे। अत: उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए दक्षिण में काकतीय शक्ति को बनाए रखना आवश्यक समझा।

तटीय प्रदेश पर विजय—गणपति के शासनकाल में तटीय आन्ध्रप्रदेश में अनेक छोटे-बड़े सामन्त-शासक राज्य कर रहे थे। कल्याणी के चालुक्यों एवं चोलों की आन्तरिक अराजक स्थिति का लाभ उठाकर ये शासक सत्ता-विस्तार के लिए परस्पर संघर्षरत थे। इन शासकों में वेलनाडु (वेलनाटि) के सामन्त प्रमुख स्थान रखते थे। गणपति ने 1211 ई० तक यहाँ के शासक, पृथ्वीसेन, की सत्ता को समाप्त करके तटीय आन्ध्रप्रदेश पर काकतीय राज्य-सत्ता स्थापित कर ली।

दक्षिण के राज्यों पर विजय—चोल-नरेश राजराज तृतीय की कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर नल्लसिद्धि ने नेल्लोर में लेलुगुचोड़ स्वतंत्र-राज्य की स्थापना कर लिया। इस राज्य में वर्त्तमान नेल्लोर के अतिरिक्त चिंगलप्रेट तथा कुड्ड्पट्ट जनपद भी सम्मिलित थे। यहाँ के राजाओं के साथ गणपति की बड़ी मित्रता थी तथा काकतीयों की सहायता से ही, तुेलगुवोड, राज्य की स्थापना हो सकी थी। नेल्लोर-नरेश, तिक्रम, को राजसिंहासन पर बैठाने का श्रेय गणपति को ही प्राप्त था। **1231 ई० के गणपतेश्वरम् अभिलेख** से पता चलता है कि गणपति ने दक्षिण में कलिंगों, चोलों, यादवों, लाटों तथा वृहत् कर्णाटियों को परास्त कर द्वीप सहित संपूर्ण वेलनाडु-क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया था। इस अभियान में टिक्क ने भी उसकी सैनिक सहायता की थी। इसी से गणपति ने प्रसन्न होकर उसे

नेल्लोर तथा काँची का शासक बनने में सहायता की थी।

तिक्क एक कुशल योद्धा तथा कूटनीतिज्ञ शासक सिद्ध हुआ। उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी पड़ोसियों से सतत् युद्ध करना पड़ता था। अतः अपने शासन की सुरक्षा हेतु उसने चोल-सम्राट, कुलोत्तुंग तृतीय, की भी समयानुसार प्रभुसत्ता स्वीकार कर लिया। संभवतः यह स्थिति उसके सामने तब आई थी जब वह शक्तिशाली होयसलों से युद्ध करके अपने राज्य की रक्षा की थी।

कलिंग विजय—वीरशैव धर्म से सम्बन्धित 15वीं शताब्दी के एक ग्रन्थ **'शिवयोगसार'** के अनुसार गणपति के एक योद्धा-मंत्री, इंदुलूरि सोम प्रधानि, ने क्रमशः कमलाकरपुरी (सरसी) एवं वारंगल सहित पूर्वी तटीय प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी। परन्तु अभिलेखों से प्राप्त साक्ष्यों से इसकी पुष्टि नहीं होती है। जगतापि गंगदेव के **1322-23 ई० के ताल्लप्रोद्दुटुरु अभिलेख** के अनुसार ऐर्रुप के तेलुगु चोल-प्रमुख, भीम, जो संभवतः गणपति का समकालीन था, ने कलिंग विजय में भाग लिया था। उक्त अभिलेख के अनुसार भीम ने वंगी, उड़ीसा एवं मध्यप्रदेश के बस्तर-राज्य के अनेक क्षेत्रों को जीता। विद्वानों के अनुसार भीम ने इस अभियान में गणपति के साथ काकतीय सेना की भरपूर सहायता की थी। यह विजयाभियान गोदावरी तट से शुरू हुआ होगा। अभियान-क्रम में तेककलि, गोधुमर्राति तथा उड़ीसा के पडियराज आदि सामन्त-शासकों को पराजित किया गया। संभवतः ये विजित राजा पूर्वी गंग नरेश, राजराज तृतीय, के सामन्त रहे होंगे। तत्पश्चात् गणपति ने बस्तर-क्षेत्र में चक्रकोट पर विजय प्राप्त की। अपना अभियान आगे बढ़ाते हुए उसने गोदावरी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित मंथेन को अधिगृहीत कर लिया। इस प्रकार कलिंग-विजय के उपरान्त काकतीय सेना दाक्षारामम् लौट गई।

कम्मनाडु के विरुद्ध अभियान—कम्मनाडु (आन्ध्र प्रदेश का प्राचीन कर्मराष्ट्र) गुण्टूर एवं नेल्लोर जनपदों में विस्तृत था। यहाँ के सामन्त-शासकों ने गणपति के प्रभुत्व को अस्वीकार करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली थी। उन्हें दबाकर कम्मनाडु क्षेत्र पर काकतीय प्रभुता स्थापित करने के लिए गणपति ने तेलुगूचोड वंश की पोत्तलि शाखा में जन्मे ओपलिसिद्धि को नियुक्त किया। उसने बड़ी कुशलतापूर्वक उक्त विद्रोही सामन्तों को जीत लिया। उसकी सफलता से प्रसन्न होकर गणपति ने उसे कम्मनाडु का प्रान्तपति नियुक्त कर दिया। संभवतः 1217-18 ई० के समय इसी अभियान में आद्दंकि के चक्रनारायण कुमारों को भी काकतीय सेना ने परास्त किया होगा।

पूर्वी गंग अतिक्रमण—गणपति के कालिंगाभियान के समय वहाँ का शासक राजराज तृतीय 1211 ई० में दिवंगत हो गया। उसका उत्तराधिकारी पुत्र अंग भीम तृतीय ने अपने पौरुष के बल पर न केवल अपने राज्य को काकतीय प्रभुता से मुक्त करा लिया अपितु 1217 ई० तक काकतीय शासित वेंगी तक बढ़ आया। परन्तु उसे इस क्षेत्र पर शासन स्थापित करने में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी।

कोलनु की विजय—1192 ई० में राजगद्दी पर बैठनेवाले महामण्डलेश्वर कोलनि केशवदेव, ने बेंगी के सरसीपुरी में स्वतंत्रतापूर्वक 1228 ई० तक शासन किया। उसकी मृत्यु के बाद अनंग भीम तृतीय ने बेंगी पर पुनः धावा बोल दिया। परन्तु 1231 ई० में गणपति ने उसको परास्त कर उसकी बेंगी-विजय की अभिलाषा को नष्ट कर दिया। 1238 ई० में अनंगभीम तृतीय की मृत्यु के बाद कलिंग-राज्य के उसके उत्तराधिकारी पुत्र, नरसिंह प्रथम, ने पुनः काकतीयों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। नरसिंह के इस युद्धाभियान के समय गणपति पश्चिमी आन्ध्रप्रदेश के विद्रोहों को दबाने में व्यस्त था। उसने गंग-नरेश के इस अभियान को विफल करने के लिए अनेक सामंतों की सहायता ली। अन्ततः नरसिंह बेंगी पर अधिकार स्थापित न कर सका तथा गणपति अपने जीवनकाल तक गोदावरी की घाटी पर अपना प्रभुत्व बनाए रखा।

गणपति का दक्षिणी अभियान—1248 ई० में तिक्रम की मृत्यु होते ही दक्षिण में पुनः राजनीतिक उथल-पुथल शुरू हो गई। नेल्लोर के सिंहासन के लिए कई दावेदार खड़े हो गये थे। नेल्लोर के राजसिंहासन से पदच्युत मनुम सिद्धि द्वितीय ने अपने कविमंत्री तिक्कन को गणपति के पास सैनिक सहायता के लिए भेजा। गणपति ने एक शक्तिशाली सेना नेल्लोर के लिए रवाना करा दिया, जिसने मनुमासिद्धि द्वितीय की सेना के साथ मिलकर अनेक शक्तिशाली राजाओं को पराजित कर दिया। संभवतः इसी अभियान में काकतीयों ने राजेन्द्र चोल तृतीय को बन्दी बना लिया था।

पाण्ड्यों के साथ संघर्ष—जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य के शासनकाल में (1251 एवं 1257 ई० के मध्य) पाण्ड्यों की शक्ति दक्षिणी भारत में बहुत बढ़ चुकी थी। उसने क्रमशः होयसलों तथा काकतीयों के मित्र-राज्य नेल्लोर के तेलुगूचोड़ों को परास्त कर अपना अभियान जारी रखा। गणपति ने पाण्ड्यों की शक्ति से लोहा लेने के लिए मुद्गूर के मैदान में काकतीय एवं तेलुगूचोड-सेना तैनात की। इस युद्ध में गणपति बुरी तरह पराजित हो गया। परिणामस्वरूप काँची तथा नेल्लोर पर पाण्ड्यों का अधिकार स्थापित हो गया।

गणपति का परिवार—गणपति की दो रानियों के नाम मिलते हैं,**नारम्बा** एवं **परमाम्बा**। उसका कोई पुत्र न था, केवल दो पुत्रियाँ थीं। उनका नाम रुद्राम्बा अथवा रुद्रम देवी तथा गणपाम्बा या गणपम देवी था। बड़ी पुत्री रुद्राम्बा का विवाह पूर्वी चालुक्यवंशीय वीरभद्र से तथा गणपांबा का विवाह कोटवंश के राजा बेत से हुआ था। 1260 ई० या इसके कुछ समय पूर्व गणपति ने रुद्रांबा को अपनी सहशासिका बनाया तथा बाद में उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया।

रुद्राम्बा अथवा रुद्रदेव (1261 ई० से 1295 ई०)—रुद्रांबा को **1269 ई० दुग्गि अभिलेख** में गणपति की पट्टोद्धृति (राजत्व के लिए मनोनीता) बताया गया है। उसने अपने पिता गणपति के उपरान्त 1261 ई० में स्वतंत्र शासिका के

रूप में काकतीय सत्ता संभाली। वह पुरुषवेश में सिंहासन पर बैठती थी तथा युद्धों में भी भाग लेती थी। उसे उसके उच्च अधिकारी गण महाराज गणपति 'रुद्रदेव' नाम से संबोधित किया करते थे। रुद्राम्बा अपने संपूर्ण शासनकाल में आंतरिक एवं बाह्य शत्रुओं से जूझती रही। *'प्रतापचरित'* नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि उसका शासिका बनना परिवारजनों को नहीं भाया। गणपति की दूसरी पत्नी से उत्पन्न मुरारिदेव एवं हरिहर देव नामक पुत्रों ने रुद्राम्बा के सिहासन पर बैठते ही उसके विरुद्ध विद्रोह करके वारंगल पर अधिकार कर लिया तथा उसे सत्ता से अपदस्थ कर दिया। परन्तु वीरांगना रुद्राम्बा ने शीघ्र ही अपने प्रतिद्वन्द्वी भाईयों को पराजित एवं मार कर वारंगल दुर्ग को अपने अधीन कर लिया।

रुद्राम्बा ने अपने प्रबल समर्थक महाप्रधान प्रासादित्य, निशंकमल्ल, मालिकार्जुन तथा कन्नरनायक आदि की सहायता से अपनी आन्तरिक स्थिति तो अवश्य सुदृढ़ कर लिया, लेकिन पड़ोसी पाण्ड्यों एवं सेउण के यादवों का संकट बराबर बना रहा। इसी बीच कलिंग नरेश, गजपति नरसिंह प्रथम, ने गोदावरी के पूर्ववर्ती उड़ीसा के भू-भागों को काकतीयों से अपहरण कर लिया। इसी प्रकार पाण्ड्य नरेश जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य प्रथम ने क्रमशः नेल्लोर तथा पड़ोस के क्षेत्रों को काकतीयों से छीन लिया। इन क्षेत्रों पर उसके समान्त वीर राजेन्द्र चोल (राजेन्द्र तृतीय) का शासन स्थापित करा दिया गया। अम्बदेव महाराज ने भी अवसर प्राप्त कर काकतीयों को अपना स्वामी न मानकर पाण्ड्यनरेश से मैत्री कर लिया तथा वेल्लूरी पट्टन में अपनी स्वतंत्र राजसत्ता स्थापित कर लिया। रुद्राम्बा की कमजोर शक्ति के चलते क्रमशः नेल्लूरपुर के गंगगोपाल तथा कांची में परुजिंग आदि ने भी अपनी स्वतंत्रता घोपित कर ली।

रुद्राम्बा के शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उसके विरुद्ध सेउण के यादवों का अभियान था। यादव-नरेश, कृष्ण एवं महादेव, ने सिंहण के संभूणपाल को राज्य से भगा दिया। उसे काकतीयों ने संरक्षण देकर पानुंगल-क्षेत्र का शासक बना दिया था। काकतीयों का यह संरक्षण-दान यादव-नरेश, महादेव, को अच्छा न लगा। फलतः उसने अवसर पाकर रुद्राम्बा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। पराक्रमी महादेव ने 1260 ई० में काकतीयों को हराकर उनसे कई हाथी तथा पाँच रणवाद्य आदि अपहृत कर लिया। यादव-अभिलेखों में उसे 'तिल्लंगराय' (तेलंगाना का शासक) कहा गया है। हेमाद्रि के अनुसार उसने रुद्राम्बा को नारी समझकर छोड़ दिया। परन्तु 'प्रतापचरित्रम्' के वर्णनानुसार रुद्राम्बा ने महादेव को उसकी विपुल सेना के समक्ष पराजित कर दिया। फलतः वह रणक्षेत्र छोड़कर भाग गया। रुद्राम्बा ने देवगिरि तक उसका पीछा किया। अन्ततः महादेव को विवश होकर रुद्राम्बा की शर्तों पर सन्धि करनी पड़ी तथा हर्जाने के रूप में एक करोड़ सोने का सिक्का देना पड़ा। अपनी इस विजय के यादगार के लिए रुद्राम्बा ने देवगिरि में अपना एक विजय-स्तम्भ स्थापित कराया।

इस प्रकार यादव तथा काकतीय साक्ष्यों में अतिरंजना मिलती है। ऐसा

प्रतीत होता है कि प्रारंभिक युद्धों में महादेव को काकतीयों के विरुद्ध कुछ सफलता अवश्य प्राप्त हुई थी किन्तु बाद में शक्तिशाली रुद्राम्बा ने उसे निर्णायक रूप से पराजित कर दिया था। रुद्राम्बा के शासन के प्रारंभिक वर्ष बड़े संघर्षशील रहे। उसके शासन के 15-16 वर्षों में गोदावरी-घाटी तथा वेंगी-क्षेत्र पर उसकी प्रभुसत्ता के आभिलेखिक साक्ष्यों का अभाव है। फिर भी इसका साक्ष्य है कि, उसने अपने पौरुष से वारंगल में अपनी शक्तिशाली अधिसत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने में सफलता प्राप्त की थी। उसके शासनकाल में मोटुपल्ली नगर एक अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह के रूप में प्रसिद्ध हुआ। **मार्कोपोलो** ने इसे 'मुतफिली' नाम्म से सबोधित किया है। इस बन्दरगाह से चीन के शासक कुवलयखान के दरबार के लिए कीमती पत्थर तथा उत्कृष्ट कोटि के हीरे एवं बकरम का निर्यात होता था। मार्कोपोलो ने यहाँ की शासिका रुद्राम्बा की योग्यता, कुशल शासन तथा शांतिप्रियता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। रुद्राम्बा का शासनकाल लगभग 1295 ई० तक बना रहा।

प्रतापरुद्र (1295 ई० से 1323 ई०)—साम्राज्ञी रुद्राम्बा के उपरान्त 1295 ई० में 35 वर्षीय उसका दौहित्र प्रतापरुद्र सिंहासन पर बैठा। अपनी नानी के शासनकाल में युद्ध तथा प्रशासन में सक्रिय भूमिका निभाने के कारण सत्ता-प्राप्ति के समय उसके सम्मुख आन्तरिक संकट नहीं था। इतना ही नहीं साम्राज्ञी रुद्राम्बा से प्रोत्साहित युवा प्रतापरुद्र ने सिंहासन पर बैठने के पूर्व अपने प्रबल शत्रुओं को युद्ध में परास्त कर दिया था। फलतः राज्य-प्राप्ति के बाद सर्वप्रथम उसने अपनी प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ करना प्रारंभ किया। उसने सर्वप्रथम केवल वेलम जाति से सम्बन्धित 77 नायकों को चुनकर साम्राज्य की सुरक्षा के साथ-साथ प्रत्येक को वारंगल किले के 77 बुर्जों में से एक-एक की सुरक्षा का दायित्व सौंप दिया।

कायस्थ प्रमुखों के विरुद्ध अभियान—रुद्राम्बा के शासनकाल में सह-शासक के रूप में प्रतापरुद्र ने 1293 ई० में कायस्थ-प्रमुख अम्बदेव को पराजित कर उसे त्रिपुरानाक प्रदेश से पीछे हटने को विवश कर दिया। फिर भी, 1304 ई० तक वह अपने मूल शासन-क्षेत्र, मुलिकिनाडु, का शासक बना रहा। किन्तु बाद में, 1309 ई० में, प्रतापरुद्र ने कतिपय नायकों के नेतृत्व में उक्त कायस्थ-राज्य पर आक्रमण करके उस पर अपना अधिकार कर लिया।

अलाउद्दीन खिलजी का तेलंगाना पर आक्रमण—सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने 1303 ई० में मालिक काफूर के सेनापतित्व में तेलंगाना प्रदेश पर आक्रमण किया। **वेलुगोटिवारि वंशावली** के अनुसार काकतीय-सेना ने मलिक काफूर को इस युद्ध में पछाड़ दिया। परन्तु अलाउद्दीन ने इससे हतोत्साहित न होकर 1309 ई० में पुनः तेलंगाना पर आक्रमण कर दिया। यहाँ के सर्वर दुर्ग के रक्षकों ने प्रारम्भ में मुस्लिम-सेना का डटकर मुकाबला किया, किन्तु बाद में अपनी हार को आसन्न समझकर अपने शासक, प्रतापरुद्र, को सेना सहित आह्वान

किया । प्रतापरुद्र अलाउद्दीन के इस अभियान से निपटने के लिए नौ लाख पैदल, २० हजार घुड़सवार तथा एक हजार हाथियों की सेना के साथ प्रस्थान करने के लिए तैयार हुआ । परन्तु इसी बीच मुस्लिम-सेना मलिक नायब के नेतृत्व में वारंगल किले के पास पहुँच गई । 17 जनवरी 1910 ई० से लेकर 13 फरवरी, 1310 ई० तक मुस्लिम-सेना एवं काकतीयों के बीच लगातार युद्ध चलता रहा । अंत में अपने किले को चौतरफा आक्रान्त देखकर प्रतापरुद्र ने दिल्ली सुल्तान के साथ विपुल धनराशि देकर संधि कर लिया ।

अधीनस्थों का विद्रोह-दमन—वारंगल पर हुए मुस्लिम-आक्रमण से विचलित प्रतापरुद्र को उसके अधीनस्थों ने कमजोर शासक समझकर विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया । कुछ वर्ष पूर्व जीते गए कायस्थ-प्रमुखों तथा नेल्लोर के तेलुगूचोड़ काकतीय आधिपत्य से हटकर स्वतंत्र हो गए । मुस्लिम-सेना के वारंगल से बाहर जाते ही प्रतापरुद्र ने कोंकण के नेतृत्व में अपनी सेना गंडिकोट के कायस्थ प्रमुख मल्लिदेव पर आक्रमण के लिए भेजा । मल्लिदेव इस युद्ध में मारा गया तथा गंडिकोट पुनः काकतीय आधिपत्य में सम्मिलित कर लिया गया । प्रतापरुद्र ने इसके बाद नेल्लोर के तुलुगूचोडों को पुनः अपने अधीन करने की योजना बनाई । संयोगवश इसी बीच सुल्तान अलाउद्दीन ने सुन्दरपाण्ड्य की याचना पर वीर पाण्ड्य के विरुद्ध छेड़ेजानेवाले अभियान के लिए प्रतापरुद्र से सैनिक सहायता का फरमान भेज दिया । पाण्ड्यराज से काकतीय राज्य को भी बड़ा खतरा बना रहता था । अतः प्रतापरुद्र ने अपनी सेना के साथ मदुरा के विरुद्ध अभियान किया ।

दक्षिण की युद्ध यात्रा—प्रतापरुद्र सुल्तान द्वारा माँगी गई सैनिक सहायता देने के लिए इसलिए भी तैयार हो गया क्योंकि इस अभियानक्रम में वह क्रमशः नेल्लोर तथा काँची पर पुनः अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर सकता था । उसकी शक्तिशाली सेना के सहयोग से मुस्लिम-सेना ने सर्वप्रथम नेल्लोर पर विजय प्राप्त कर ली । तत्पश्चात् यह सम्मिलित सेना काँची पर आक्रमण करके वहाँ के तत्कालीन होयसल शासक 'बल्लाल तृतीय' को पराजित कर दिया ।

काकतीय सेना द्वारा काँची पर किए गए अधिकार से वीर पाण्ड्य सशंकित हो उठा । इसके फलस्वरूप पाँच पाण्ड्य राजकुमारों ने एक बड़ी सेना के साथ काँची के सन्निकट काकतीय सेना का मुकाबला किया । प्रतापरुद्र के नेतृत्व में काकतीय सेना अन्ततः इस युद्ध में विजयी रही । प्रतापरुद्र ने अपने सेनापति को पाण्ड्य राज्य में प्रवेशकर वीरधाबल में सुन्दरपाण्ड्य को राजसिंहासन पर आसीन कराने में सहायता करने का आदेश दिया । इस वीर पाण्ड्य ने केरल-नरेश, रविवर्मन कुलशेखर, तथा अपने समर्थित पाण्ड्य राजकुमारों की सहायता से काकतीय सेना से कड़ा मुकाबला किया । दोनों सेनाओं में जिंजी तालुका के तिरुवड्डि कुन्नं ग्राम में (अर्काट जनपद) में परस्पर भीषण युद्ध हुआ । अन्ततः काकतीय सेना विजयी हुई । फलतः वीरधावल के राजसिंहासन पर सुन्दर पाण्ड्य

को काकतीयों ने प्रतिष्ठित करा दिया ।

खुसरो खाँ का वारंगल के विरुद्ध युद्ध—सुल्तान अलाउद्दीन की मृत्यु के कुछ वर्ष के उपरान्त उसका पुत्र मुबारकशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा । अपनी आतंरिक स्थिति सुदृढ़ कर लेने के बाद 1318 ई० में उसने दक्षिण की ओर अभियान चलाया । इस अभियान के दो उद्देश्यों में प्रथम था महाराष्ट्र में विद्रोही हरपालदेव को पराजितकर सुल्तान की प्रभुसत्ता को फिर से स्थापित करना तथा दूसरा उद्देश्य था प्रतापरुद्र से कर वसूलना । मुबारकशाह ने काकतीय नरेश को कर जमा करने के लिए बाध्य करने हेतु खुसरो खाँ के नेतृत्व में एक सेना वारंगल भेजा ।

मुबारकशाह के इस दक्षिण-अभियान के परिणामों की सूचना अमीर खुसरो तथा इमामी ने अपने-अपने ग्रन्थों में किञ्चित् भिन्नता के साथ प्रस्तुत किया है । **अमीर खुसरो** लिखता है कि मुस्लिम-सेना से पराजित होनेपर प्रतापरुद्र ने खुसरो खाँ के साथ सन्धि कर लिया । सन्धि की शर्तों के अनुसार प्रतापरुद्र ने अपने राज्य के पाँच जिले, 100 हाथी, 12000 घोड़े तथा वार्षिक-कर देना स्वीकार कर लिया । इसके विपरीत **इमामी** लिखता है कि खुसरो खाँ ने तेलंगाना की सीमा पर पहुँचने पर प्रतापरुद्र को कर की राशि न अदा करने पर भयानक परिणाम भोगने का धमकीपूर्ण पत्र भेजा । काकतीय शासक ने खुसरोखाँ के दूत को सम्मान एवं आदर देते हुए अपने को सुल्तान का निष्ठावान सामन्त घोषित किया । तत्पश्चात् उसने 100 से अधिक हाथियों सहित कर की निश्चित धनराशि खुसरो खाँ के स्कन्धावार में भेंट कर दिया । इससे प्रसन्न होकर खुसरो खाँ ने प्रतापरुद्र को सुल्तान की तरफ से एक छत्र तथा अन्य उपहार देकर दिल्ली लौट गया ।

उलूग खाँ का तेलंगाना अभियान—1320 ई० में गियासुद्दीन तुगलक दिल्ली का सुल्तान बना । उसने 1323 ई० में अपने युवा पुत्र उलूगखाँ को तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिए रवाना किया । **फिरिश्ता** के अनुसार प्रतापरुद्र दिल्ली-शासन को इस बीच कर देना बन्द कर दिया । फलतः तेलंगाना पर आक्रमण किया गया । प्रतापरुद्र ने तुलगक-सेना को परास्त कर काफी पीछे तक खदेड़ दिया । कुछ समय के पश्चात् गियासुद्दीन ने उलूग खाँ को तेलंगाना पर पुनः आक्रमण करने के लिए भेजा । संयोगवश सुल्तान का यह अभियान पूर्ण सफल हुआ । वारंगल के दुर्ग पर अधिकार करने के बाद मुस्लिम-सेना ने प्रतापरुद्र को बन्दी बना लिया । बन्दी प्रतापरुद्र को दिल्ली ले जाते समय मार्ग में ही नर्मदा नदी के तट पर उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गई । कुछ इतिहासकारों का मत है कि संभवतः उसने आत्महत्या कर लिया था ।

प्रतापरुद्र निःसंतान था । अतः 1323 ई० में उसकी मृत्यु के बाद काकतीय राजवंश का पतन हो गया ।

---

21 होयसल राजवंश

होयसल-राजवंश का इतिहास ईसा की दसवीं शताब्दी में उभरकर सामने आता है । उनकी उत्पत्ति सम्बन्धी ऐतिहासिक वृत्तान्त विशेष साक्ष्याधारित नहीं मिल सके हैं । होयसल-अभिलेखों में साल अथवा शाल को इस वंश का प्रथम शक्तिशाली पुरुष कहा गया है । अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि उसने मैसूर (कर्णाटक प्रदेश) के कदूर जनपद में अवस्थित वासन्तिका मन्दिर में तपस्यारत एक जैनमुनि के प्राण की रक्षा एक नरभक्षी व्याघ्र को मारकर की थी । उसी मुनि के आशीष से साल को राजत्वपद प्राप्त हुआ था । होयसलों के मन्दिरों में तथा उनके ध्वज पर साल द्वारा व्याघ्र-वध को अंकित किया जाना निश्चयतः ऐतिहासिक प्रतीक माना जा सकता है ।

होयसल-नरेशों ने अभिलेखों में अपने को यदु का वंशज घोषित करते हुए चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहा है । इस वंश के राजाओं ने अपने को यादव अथवा 'द्वारावती पुरवराधीश्वर' उपाधि से अलंकृत किया है । ऐसा लगता है कि ये यादव वंश की एक शाखा थे । उनके अभिलेखों में 'यादवकुलतिलक' विरुद् अनेकत्र दुहराया गया है । होयसल-राजवंश के प्रारंभिक राजागण काँची के चोल एवं पूर्वी चालुक्य राजवंशों के सामन्त थे । इनकी प्राथमिक राजधानी वेलूर (वेलापुर) थी, जो बाद में द्वारसमुद्र (हालेविड) स्थान्तरित हो गई थी ।

प्रारम्भिक नरेश

साल

साल का एक अन्य नाम नृपकाम था । उसने होयसल राजवंश की नींव डाली । अभिलेखों में उसे 'यदुवंशोज्ज्वलतिलक' कहा गया है । वेलूर के सन्निकट स्थित मारले ग्राम से प्राप्त **एक अभिलेख** से पता चलता है कि अरकेल्ल नामक किसी सामन्त का पौत्र पोयसल (होयसल) मारुग था । संभवतः यही व्यक्ति अनुश्रुतियों में वर्णित शाल या साल होयसल रहा होगा । वह संभवतः राष्ट्रकूट नरेश, कृष्ण तृतीय, का शक्तिशाली सामन्त-शासक था तथा राष्ट्रकूटों की ओर से सिरिकुट के युद्ध में नोलम्बो से लोहा ले चुका था । साल ने 1006 ई० में कावेरी के दक्षिणी तट पर स्थित कलवर में चोलसामंत अपरमेय से युद्ध किया । यद्यपि इस युद्ध में साल विजयी तो नहीं हो सका किन्तु अपरमेय घायल होने के बाद अन्ततः बच न सका । साल के अन्य अभियानों में गंगवाड़ी की विजय विशेष उल्लेखनीय है । उसने लगभग 1047 ई० तक वेलूर पर शासन किया ।

विनयादित्य (1047 ई० से 1098 ई०)

1047 ई० में होयसल-राजगद्दी पर विनयादित्य आसीन हुआ। उसने 'त्रिभुवनमल्ल' उपाधि धारण की। वह महापराक्रमी था। फलतः उसने अपने शौर्य के बल पर होयसलों को एक पहाड़ी लड़ाकू जाति से राजवंशीय गौरव प्रदान कराया। उसने सर्वप्रथम पहाड़ी लड़ाकू जातियों को संगठित करके एक शक्तिशाली सेना का गठन किया। उसके शासनावधि का यद्यपि कोई भी अभिलेख अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका है, परन्तु परवर्ती होयसल नरेश विष्णुवर्धन के **1137 ई० के अभिलेख** से उसके राज्यक्षेत्र का पता चलता है। इस अभिलेख के अनुसार उसके राज्य की सीमा कोंकण, आलवखेड़ा, वैयलनाड़, वयलखेड़ा, तलकाड एवं साविमलै जनपदों द्वारा निर्धारित समझी जा सकती है। ज्ञातव्य है कि यही गंगवाड़ि-राज्य की सही सीमा थी जिस पर अधिकार जमाने के लिए उन दिनों चालुक्यों एवं चोलों में गंभीर युद्ध छिड़ा हुआ था। गंगवाड़ि-प्रदेश पर होयसलों की सत्ता को बचाए रखने में चालुक्यों का भी दूर का हित निहित था क्योंकि तत्कालीन चालुक्य-नरेश, विक्रमादित्य, की दृष्टि में विनयादित्य की हैसियत मात्र एक सामन्त-शासक से अधिक नहीं थी। परन्तु विनयादित्य की शक्ति का विस्तार पड़ोसी कोंकण तथा सान्तर राजवंशों के लिए हानिकारक था। फलतः सान्तरों ने होयसलों के विरुद्ध मोर्चाबन्दी प्रारम्भ कर दी। विनयादित्य ने अपने पौरुष के बल पर 1060 ई० से 1090 ई० के बीच सान्तर-राज्य के कुछ हिस्सों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

विनयादित्य की रानी का नाम केलेयव्वे या केलेपल था। उसने 1048 ई० में एक भूमिदान भी किया था। विनयादित्य की बहन अथवा पुत्री का विवाह चालुक्य-नृपति, सोमेश्वर प्रथम, के साथ सम्पन्न हुआ था तथा वह चालुक्य-रानियों में बड़ी समादृत थी। अतः 1074 ई० तक चालुक्यों की ओर से होयसलों को कोई खतरा नहीं था। परन्तु सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्रों सोमेश्वर द्वितीय तथा विक्रमादित्य षष्ठ के मध्य उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ने के साथ 1076 ई० से होयसलों एवं चालुक्यों के सम्बन्धों में अन्तर आना शुरू हो गया। विनयादित्य ने प्रारम्भ में सोमेश्वर द्वितीय के पक्ष में कन्नड़-सेना भेजकर उसके प्रति अपनी वफादारी का परिचय दिया। किन्तु कुछ समय बाद उसने तथा उसके पुत्र, एरेयंग, ने शक्तिशाली विक्रमादित्य षष्ठ का खुलकर साथ देना प्रारम्भ कर दिया। 1090 ई० के उपरान्त विनयादित्य द्वारा सफलतापूर्वक चलाए गए बलेयपत्तन के दाह, चक्रगोट-विजय, कलिंग-विजय तथा चोलों के विरुद्ध अभियानों से चालुक्य-नरेश, विक्रमादित्य षष्ठ, होयसल-शक्ति से सशंकित होने लगा। फलतः 1093 ई० में परमार-नृपति जगद्देव, ने जब होयसलनाड़ु पर आक्रमण किया तो चालुक्यों ने उसे द्वारसमुद्र को आक्रान्त करने के लिए परोक्षरूप से उत्साहित किया। चालुक्य-सेना ने इस युद्ध में होयसलों की सहायता नहीं की। विनयादित्य के दो पौत्रों, बल्लाल तथा विष्णुवर्धन, ने बड़ी वीरता से

परमार-शक्ति का सामना करते हुए अंततः जगद्देव को होयसल नाडु से बाहर खदेड़ दिया।

1098 ई० में विनयादित्य की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के उपरान्त एरेयंग को राजगद्दी पर बैठाया गया।

एरेयंग (1098 ई० से 1102 ई०)

विनयादित्य की महारानी-केलयव्वे से उत्पन्न एरेयंग 60 वर्ष की अवस्था में होयसल-राज्य की बागडोर संभाली। उसकी सारी सामरिक उपलब्धियाँ पिता विनयादित्य के शासनकाल की ही रहीं, जब वह युवराज के रूप में सैन्य-संचालन कर रहा था। वह चालुक्यों की राजनीतिक उपलब्धियों का महान् कारक था तथा चालुक्य-होयसल संयुक्त सेना का महानायक होने के साथ साथ चालुक्य-नरेश की दाहिनी भुजा समझा जाता था। उसके शासनकाल के एक अभिलेख में आख्यात है कि उसने 1069 ई० से 1076 ई० के बीच सेना-नायक के रूप में पश्चिमी चालुक्यों के परम्परागत शत्रु परमारों की राजधानी धार को नष्ट कर दिया था। इतना ही नहीं, उसने चोलों के विरुद्ध अभियान करके उनके सैनिक-शिविर को भी विनष्ट किया था। इसी प्रकार उसने कलिङ्ग एवं चक्रकोट (चक्रकूट, बस्तर जनपद, मध्यप्रदेश) राज्य को भी जीतने का श्रेय प्राप्त किया था। संभवतः इन अभियानों में उसके साथ चालुक्य-सेना भी सम्मिलित रही होगी।

एरेयंग की पटरानी का नाम एचलादेवी था। उससे तीन पुत्र पैदा हुए। इनका नाम क्रमशः बल्लाल प्रथम, विष्णुवर्धन तथा उदयादित्य मिलता है।

एरेयंग की मृत्यु 1102 ई० में हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् बल्लाल प्रथम को राजगद्दी पाप्त हुई।

बल्लाल प्रथम (1102 — 1108 ई०)

संभवतः 1101 अथवा 1102 में राजसिंहासन पर बैठनेवाले होयसल-नरेश बल्लाल प्रथम भी पश्चिमी चालुक्यों का सामन्त था। उसके शासनकाल के अभिलेखों पर 1076 ई० में अपने राज्यारोहण के उपलक्ष में चालुक्याधिपति विक्रमादित्य षष्ठ द्वारा चलाए गए 'विक्रम संवत्' का प्रयोग किया जाना उक्त तथ्य को संपुष्ट करता है। बल्लाल प्रथम एक महत्त्वाकांक्षी तथा योग्य शासक था। उसे अपने अनुज विष्णुवर्धन का भ्रातृ-प्रेम तथा पूर्ण सहयोग प्राप्त था।

बल्लाल प्रथम ने अपने किशोरावस्था में ही परमार-नरेश उदयादित्य के पुत्र जगद्देव द्वारा होयसलों के विरुद्ध चलाए गए अभियान को विफल कर दिया था। 1104 ई० में उसने अपने अनुज विष्णुवर्धन के सहयोग से छंगालव-राज्य को आक्रान्त किया। उसका सफल अभियान नोलम्बवाड़ि के पाण्ड्यों के विरुद्ध भी संचालित हुआ। पाण्ड्यनरेश द्वारा आत्मसमर्पण करा लेने के बाद बल्लाल प्रथम ने तुंगभद्रा नदी पार कर उत्तरी एवं पश्चिमी भाग में अवस्थित चालुक्य-शासित

जनपदों पर आक्रमण करके वहाँ से विपुल संपत्ति अपहृत कर लिया। परन्तु वहाँ से वापसी के समय मार्ग में ही चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के सामन्त आचुगि द्वितीय ने होयसलों को पराजित कर बल्लाल प्रथम एवं विष्णुवर्धन का मानमर्दन कर दिया। फलतः बल्लाल प्रथम अपने शेष शासनकाल में चालुक्यों के प्रति अपनी निष्ठा बनाए रखने के लिए विवश रहा।

बल्लाल प्रथम निस्संतान था। पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से उसने अधेड़ उम्र में 1103 ई० में अपने द्वितीय दण्डनायक की तीन सुन्दरी कन्याओं, पद्मलि देवी, चावलि देवी तथा बोप्प देवी से एक साथ विवाह किया, फिर भी अतंतः उसे निस्संतान ही रहना पड़ा। 1108 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। पुत्र न होने के कारण उसका अनुज विष्णुवर्धन उपनाम बिट्टिग राजगद्दी पर आसीन हुआ।

विष्णुवर्धन उपनाम बिट्टिग (1108 ई० से 1142 ई०)

विष्णुवर्धन ने अपने अग्रज की नीतियों का पोषण करते हुए चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करता रहा। उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु उन्हीं राज्यों तथा राजाओं के विरुद्ध अभियान चलाया जो चोलों द्वारा समर्थित सामन्त थे अथवा चालुक्य-सत्ता के विरोधी थे।

अपने चौंतीस वर्षीय दीर्घशासन के प्रारंभिक 8 वर्षों में उसने अपनी आन्तरिक स्थिति को सुदृढ़ करने में लगाया। अपनी प्रशासनिक तथा सैनिक शक्ति को सुसंगठित कर लेने के उपरान्त वह लगातार युद्धों में ही दत्तचित्त रहा। 1108 ई० से 1128 ई० के मध्य उसके द्वारा चलाए गए सभी युद्धाभियान पूर्ण सफल रहे। किन्तु इसके बाद के युद्धों में वह सफलता जो पूर्व के युद्धों में मिल चुकी थी, नहीं मिल सकी।

1111 में विष्णुवर्धन की प्रारम्भिक कार्ययोजनाओं एवं उपलब्धियों का किञ्चित् अंकन मिलता है। वह अपने सामरिक अभियान के प्रथम चरण में नङ्गली को जीतकर तलकाड-राज्य की सीमा तक पहुँच गया। तलकाड-राज्य को आक्रान्त करने के पहले उसने मुरुशुनाड एवं कोलार जनपदों को जीत लिया। इन सफलताओं के पीछे एक अन्य कारण गंगों तथा नोलम्बों से मिल रही सैनिक सहायता भी थी। अपना अभियान आगे बढ़ाते हुए विष्णुवर्धन ने चोल-राज्य से समर्थित कोंड जनपद को आक्रान्त कर दिया। इसी बीच चालुक्य-शक्ति से समर्थित तथा उसके द्वारा उकसाये जाने पर नोलम्ब के उच्छङ्गी नरेश ने होयसलों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। होयसलों ने इस राज्य को पहले भी जीता था। विष्णुवर्धन ने एक बार पुनः उच्छङ्गी को जीतकर उसे अपने अधीन कर लिया। इस विजय के उपलक्ष में उसने 'उच्छङ्गीकोण्ड' तथा 'नोलम्बकोण्ड' की उपाधि धारण की। विष्णुवर्धन अपनी सामरिक सफलताओं से उत्साहित होकर और आगे बढ़कर तुङ्गभद्रा नदी को पार किया। उसने हनुङ्गल तथा कदम्ब राज्यों को आक्रान्त कर उन्हें जीत लिया। इसी अभियान में आलवखेड़ा (दक्षिणी कनारा) में आलुप नरेश भी पराजित हुआ। इस प्रकार हर तरफ से स्थिति मजबूर कर लेने

के उपरान्त विष्णुवर्धन ने तलकाड-राज्य पर आक्रमण करना अभीष्ट समझा। उसके महादण्डनायक गङ्गराज ने चालुक्य-आधिपत्य से समर्थित तलकाड-राज्य को आक्रान्त कर उसकी राजधानी दुर्ग को अपने अधीन कर लिया। तलकाड राज्य का चोल समर्थित सामन्त, जो अडिगमान राजवंश का नृपति था, अपनी राजधानी से भागकर काँची में जाकर शरण लिया। होयसल-अभिलेखों में विष्णुवर्धन द्वारा काञ्ची तथा रामेश्वरम् आदि केन्द्रों की विजयों का काव्यात्मक उल्लेख मिलता है। परन्तु यह अतिरंजनापूर्ण प्रशस्ति प्रतीत होती है। विष्णुवर्धन ने तलकाड को पराजित करने के उपरान्त 'तलकाडकोण्ड' की उपाधि धारण किया। संभवतः उसने चोल-सामन्तों से हेज्जेरू तथा सेज्जिर जनपद राज्यों को भी अपहृत कर लिया था।

विष्णुवर्धन की उपर्युक्त विजयों के फलस्वरूप होयसल-राज्य की एक विस्तृत तथा सुनिश्चित सीमा निर्धारित हो गई। इस राज्य के पूर्व में ननगिल्लि (कोलार के सन्निकट स्थित जनपद), पश्चिम में बरकनूर (दक्षिण कनारा जनपद), उत्तर में साविमालै तथा दक्षिण में कोङ्गु (सलेम एवं कोयम्बटूर जनपद) अवस्थित थे। ध्यातव्य है कि विष्णुवर्धन ने अपना संपूर्ण अभियान चोल-राज्य अथवा उसके द्वारा समर्थित सामन्तों के विरुद्ध संचालित किया था। निर्णय लेने में पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी उसने अपने को सदैव शक्तिशाली कल्याणी के चालुक्यों का अधीनस्थ ही घोषित किया। परन्तु उसका सुनियोजित शक्ति विस्तार चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य षष्ठ को विशेष अभीष्ट न था। वह इस बात से सशंकित हो गया कि होयसल-नरेश अपने राज्य के दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में बड़ी तेजी से बढ़कर एक शक्तिशाली राज्य-सत्ता की स्थापना करते जा रहे हैं। फलतः विक्रमादित्य षष्ठ ने 1112 ई० में होयसलों के प्रतिद्वन्द्वी अपने विश्वासपात्र बारह सामन्तों को विद्रोह के लिए उकसा दिया। इन द्वादश सामन्त-शासकों के मोर्चे में गोआ के कदम्ब, हानुङ्गल, उच्छङ्गी के पाण्ड्य, हेज्जेरु के चोल, सौदन्ति के रट्ठ तथा इरमपरज के सिन्द आदि विशेष प्रधान थे। होयसलनाडु की सीमा पर कण्डेगाल के मैदान में विष्णुवर्धन ने इस संयुक्त मोर्चे का सामना किया। उसके वीर महादण्डनायक गङ्गराज ने बड़ी वीरतापूर्वक संयुक्त मोर्चे से लड़ते हुए अन्ततः सबको परास्त कर दिया। इस विजय के फलस्वरूप होयसल-सेना का प्रताप बहुत बढ़ गया। गङ्गराज के योग्य नेतृत्व में होयसलों ने आगे बढ़कर कदम्बों को आक्रान्त कर तथा तैलप को पराजित कर तुङ्गभद्रा नदी तक अभियान संचालित किया। इसी क्रम में उन्होंने विद्रोही हेज्जेरु के चोल तथा उच्छङ्गी के पाण्ड्य शासकों को भी आक्रान्त किया। इन राज्यों पर 1118 ई० तक विजय स्थापित की जा चुकी थी।

1118 ई० से 1120 ई० के मध्य का काल होयसल-राज्य के सुसंगठन तथा सेना के विश्राम का समय रहा होगा क्योंकि इस बीच किसी युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता है। पुनः 1120 ई० से 1128 ई० के बीच विष्णुवर्धन कई अभियानों में

संलग्न रहा। होयसलों की बढ़ती हुई शक्ति से ईर्ष्यालु चालुक्य एवं कदम्ब-राज्यों ने उनके विरुद्ध विद्रोहों को लगातार प्रश्रय दे रहे थे। फलतः चालुक्य समर्थित इरमबरज के परमाडिदेव सिन्धु ने होयसलनाड को आक्रान्त किया, परन्तु विष्णुवर्धन ने उसे परास्त कर दिया। इधर कोलार क्षेत्र में विक्रमचोल ने अपना अभियान चलाकर होयसल-शक्ति को बड़ी क्षति पहुँचायी, किन्तु होयसलनाडु को वह आक्रान्त न कर सका। 1128 ई० तक विष्णुवर्धन अपने विजित क्षेत्रों को बचाए रखने में पूर्ण सफल रहा।

1127 ई० में चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के उपरान्त कुछ समय के लिए अशान्ति एवं अराजकता की स्थिति पैदा हो गई, जिसका लाभ कृष्णा नदी के तटवर्ती माण्डलिकों तथा सामन्तों ने उठाना प्रारम्भ कर दिया। विक्रमादित्य षष्ठ का उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय हुआ। उसने कृष्णा नदी के आस-पास अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए 1129 ई० में सैनिक अभियान चलाया। इस बीच होयसलों ने अपने राज्य पर सोमेश्वर तृतीय द्वारा संभावित सैनिक अभियान को ध्यान में रखकर उसके द्वारा समर्थित तैलप कदम्ब तथा सान्तर राजवंशों पर आक्रमण कर दिया। संयोगवश अभियानक्रम में ही 1130 ई० में कदम्ब-शासक तैलप की मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी मयूरशर्मन कदम्बों की बिगड़ती हुई स्थिति को संभालने में अन्ततः अक्षम सिद्ध हुआ। फलस्वरूप विष्णुवर्धन ने कदम्बों को कृष्णा नदी के तट पर पराजित कर दिया।

संयोगवश, जिस समय विष्णुवर्धन कदम्बों और चालुक्यों से युद्ध करने में संलग्न था, उसी बीच 1132 ई० में उसके योग्य युवराज पुत्र बल्लाल की मृत्यु हो गई। वह विष्णुवर्धन की अनुपस्थिति में बड़ी योग्यतापूर्वक राजकाज संभालता था। उसकी मृत्यु से पैंसठ वर्षीय वृद्ध विष्णुवर्धन बड़ा दुःखी रहने लगा। अब उसे युद्धक्षेत्र के साथ-साथ अपनी राजधानी में भी रहना आवश्यक हो गया। इसी बीच उसकी पटरानी लक्ष्मी महादेवी की कोख से एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम नरसिंह रखा गया। पुत्र-प्राप्ति से प्रसन्न विष्णुवर्धन ने राजधानी पहुँचकर उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए महारानी लक्ष्मी महादेवी की अध्यक्षता में विश्वासपात्र मंत्रियों एवं दण्डनायकों की एक सर्वोच्च प्रशासन-समिति बना दिया।

1135-36 ई० में विष्णुवर्धन को बारंबार तथा कई स्थानों पर कदम्बों के साथ युद्ध करना पड़ा। इस बीच उसे एक समय कदम्बों से पराजित हो जाने के फलस्वरूप अपनी राजधानी बंकापुर भी छोड़ने को मजबूर होना पड़ा था। इधर बल्लाल की मृत्यु के बाद होयसल-राज्य की आन्तरिक स्थिति में भी धीरे-धीरे अशान्ति फैल रही थी। फलतः आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों से अकेले जूझता हुआ विष्णुवर्धन 1142 ई० में दिवंगत हो गया। उसकी मृत्यु के समय युवराज एवं उत्तराधिकारी नरसिंह देव प्रथम की उम्र मात्र 8 वर्ष की थी।

नरसिंह देव प्रथम (1142 ई० से 1173 ई०)

जिन विपरीत परिस्थितियों में बालक नरसिंहदेव प्रथम को 1142 ई० में राजशासन सौंपा गया था, वह उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य से बहुत दुस्साध्य उत्तरदायित्व था। उसकी अयोग्यता तथा लड़कपन का लाभ उठाकर कदम्ब, सिन्द तथा अन्य होयसल-विरोधियों ने होयसल जन एवं धन को अपार क्षति पहुँचाया। उसे आन्तरिक पक्ष से अपने चचाजात भाई इरैमङ्ग का भी विरोध झेलना पड़ रहा था। चालुक्यों ने उसे होयशल राजगद्दी हथियाने के लिए बढ़ावा दे रखा था। कदम्बों द्वारा होयलसल राज्य पर बार-बार किए जारहे आक्रमण से ऊब कर, नरसिंहदेव प्रथम ने उन पर आक्रमण कर दिया। परन्तु चालुक्यों से समर्थित कदम्बों से वह परास्त हो गया। उधर पाण्ड्य-शासक, वीरपाण्ड्य, भी होयसल-राज्य को बार-बार क्षतिग्रस्त कर रहा था। नरसिंहदेव प्रथम को विपरीत परिस्थितियों से घिरा हुआ पाकर विष्णुवर्धन द्वारा पराजित छङ्गालव राजवंश ने भी विद्रोह करना शुरू कर दिया। अंततः अपने पिता नरसिंह देव प्रथम को होयसलराज्य को संभालने में अक्षम पाकर युवराज बल्लाल द्वितीय ने 22 वर्ष की अवस्था में उनसे राजगद्दी अपहृत करके स्वयं शासक बन बैठा।

बल्लाल द्वितीय (1173 ई० से 1223 ई०)

बल्लाल द्वितीय अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी नृपति हुआ। उसने अपना तथा अपने वंश के गौरव को बढ़ाया तथा उसके प्रचुर प्रचार-प्रसार को बढ़ावा दिया। अपनी अलग पहचान बनाने के लिए उसने 'वीर बल्लाल' की उपाधि धारण किया। होयसलों को आत्मगौरव प्रदान करने के उद्देश्य से उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दिया। अपने पूर्वजों द्वारा चालुक्य आधिपत्य के दिखावटी मानक को हटाकर उसने स्वतन्त्र होयसल-साम्राज्य की स्थापना की। उसने अपनी स्वतन्त्र-सत्ता तथा गौरव की स्थापना हेतु अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ही बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण कर लिया।

1173 ई० में राजसिंहासन हथिया लेने के उपरान्त प्रथम तीन वर्षों में उसने आन्तरिक अशान्ति को दूर करने तथा प्रशासनिक ढाँचे को पुनर्गठित करने का कार्य किया। चौथे वर्ष से उसने अपना सैन्य-अभियान प्रारम्भ किया। उसने सर्वप्रथम 1175 ई० में कोलतूर को आक्रान्त किया। 1177 ई० में उसने उच्छंगि-राज्य पर आक्रमण करके वहाँ के शासक पांड्य कामदेव को उसके दुर्ग में ही बन्दी बना लिया। इस अभेद दुर्ग के विजय-प्राप्ति के उलपक्ष में उसने 'गिरिदुर्गमल्ल' की उपाधि धारण किया। बाद में पाण्ड्य कामदेव के समर्पण करने पर उसने उसे अपना सामन्त बना लिया। वीर बल्लाल ने यह सफलता शनिवार के दिन प्राप्त किया था, अस्तु उसने 'शनिवार सिद्धि' का विरुद ग्रहण किया। उसका अभियान सतत् गतिशील रहा। **1178 ई० के एक होयसल-अभिलेख** से ज्ञात होता है कि उसने मल्लिदेव चोल-शासक द्वारा शासित भू-क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

संलग्न रहा । होयसलों की बढ़ती हुई शक्ति से ईर्ष्यालु चालुक्य एवं कदम्ब-राज्यों ने उनके विरुद्ध विद्रोहों को लगातार प्रश्रय दे रहे थे । फलतः चालुक्य समर्थित इरमबरज के परमाडिदेव सिन्धु ने होयसलनाड को आक्रान्त किया, परन्तु विष्णुवर्धन ने उसे परास्त कर दिया । इधर कोलार क्षेत्र में विक्रमचोल ने अपना अभियान चलाकर होयसल-शक्ति को बड़ी क्षति पहुँचायी, किन्तु होयसलनाडु को वह आक्रान्त न कर सका । 1128 ई० तक विष्णुवर्धन अपने विजित क्षेत्रों को बचाए रखने में पूर्ण सफल रहा ।

1127 ई० में चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु हो गई । उसकी मृत्यु के उपरान्त कुछ समय के लिए अशान्ति एवं अराजकता की स्थिति पैदा हो गई, जिसका लाभ कृष्णा नदी के तटवर्ती माण्डलिकों तथा सामन्तों ने उठाना प्रारम्भ कर दिया । विक्रमादित्य षष्ठ का उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय हुआ । उसने कृष्णा नदी के आस-पास अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए 1129 ई० में सैनिक अभियान चलाया । इस बीच होयसलों ने अपने राज्य पर सोमेश्वर तृतीय द्वारा संभावित सैनिक अभियान को ध्यान में रखकर उसके द्वारा समर्थित तैलप कदम्ब तथा सान्तर राजवंशों पर आक्रमण कर दिया । संयोगवश अभियानक्रम में ही 1130 ई० में कदम्ब-शासक तैलप की मृत्यु हो गई । उसका उत्तराधिकारी मयूरशर्मन कदम्बों की बिगड़ती हुई स्थिति को संभालने में अन्ततः अक्षम सिद्ध हुआ । फलस्वरूप विष्णुवर्धन ने कदम्बों को कृष्णा नदी के तट पर पराजित कर दिया ।

संयोगवश, जिस समय विष्णुवर्धन कदम्बों और चालुक्यों से युद्ध करने में संलग्न था, उसी बीच 1132 ई० में उसके योग्य युवराज पुत्र बल्लाल की मृत्यु हो गई । वह विष्णुवर्धन की अनुपस्थिति में बड़ी योग्यतापूर्वक राजकाज संभालता था । उसकी मृत्यु से पैंसठ वर्षीय वृद्ध विष्णुवर्धन बड़ा दुःखी रहने लगा । अब उसे युद्धक्षेत्र के साथ-साथ अपनी राजधानी में भी रहना आवश्यक हो गया । इसी बीच उसकी पटरानी लक्ष्मी महादेवी की कोख से एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम नरसिंह रखा गया । पुत्र-प्राप्ति से प्रसन्न विष्णुवर्धन ने राजधानी पहुँचकर उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए महारानी लक्ष्मी महादेवी की अध्यक्षता में विश्वासपात्र मंत्रियों एवं दण्डनायकों की एक सर्वोच्च प्रशासन-समिति बना दिया ।

1135-36 ई० में विष्णुवर्धन को बारंबार तथा कई स्थानों पर कदम्बों के साथ युद्ध करना पड़ा । इस बीच उसे एक समय कदम्बों से पराजित हो जाने के फलस्वरूप अपनी राजधानी बंकापुर भी छोड़ने को मजबूर होना पड़ा था । इधर बल्लाल की मृत्यु के बाद होयसल-राज्य की आन्तरिक स्थिति में भी धीरे-धीरे अशान्ति फैल रही थी । फलतः आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों से अकेले जूझता हुआ विष्णुवर्धन 1142 ई० में दिवंगत हो गया । उसकी मृत्यु के समय युवराज एवं उत्तराधिकारी नरसिंह देव प्रथम की उम्र मात्र 8 वर्ष की थी ।

नरसिंह देव प्रथम (1142 ई० से 1173 ई०)

जिन विपरीत परिस्थितियों में बालक नरसिंहदेव प्रथम को 1142 ई० में राजशासन सौंपा गया था, वह उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य से बहुत दुस्साध्य उत्तरदायित्व था। उसकी अयोग्यता तथा लड़कपन का लाभ उठाकर कदम्ब, सिन्द तथा अन्य होयसल-विरोधियों ने होयसल जन एवं धन को अपार क्षति पहुँचाया। उसे आन्तरिक पक्ष से अपने चचाजात भाई इरैमङ्ग का भी विरोध झेलना पड़ रहा था। चालुक्यों ने उसे होयशल राजगद्दी हथियाने के लिए बढ़ावा दे रखा था। कदम्बों द्वारा होयलसल राज्य पर बार-बार किए जारहे आक्रमण से ऊब कर, नरसिंहदेव प्रथम ने उन पर आक्रमण कर दिया। परन्तु चालुक्यों से समर्थित कदम्बों से वह परास्त हो गया। उधर पाण्ड्य-शासक, वीरपाण्ड्य, भी होयसल-राज्य को बार-बार क्षतिग्रस्त कर रहा था। नरसिंहदेव प्रथम को विपरीत परिस्थितियों से घिरा हुआ पाकर विष्णुवर्धन द्वारा पराजित छङ्गालव राजवंश ने भी विद्रोह करना शुरू कर दिया। अंततः अपने पिता नरसिंह देव प्रथम को होयसलराज्य को संभालने में अक्षम पाकर युवराज बल्लाल द्वितीय ने 22 वर्ष की अवस्था में उनसे राजगद्दी अपहृत करके स्वयं शासक बन बैठा।

बल्लाल द्वितीय (1173 ई० से 1223 ई०)

बल्लाल द्वितीय अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी नृपति हुआ। उसने अपना तथा अपने वंश के गौरव को बढ़ाया तथा उसके प्रचुर प्रचार-प्रसार को बढ़ावा दिया। अपनी अलग पहचान बनाने के लिए उसने 'वीर बल्लाल' की उपाधि धारण किया। होयसलों को आत्मगौरव प्रदान करने के उद्देश्य से उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दिया। अपने पूर्वजों द्वारा चालुक्य आधिपत्य के दिखावटी मानक को हटाकर उसने स्वतन्त्र होयसल-साम्राज्य की स्थापना की। उसने अपनी स्वतन्त्र-सत्ता तथा गौरव की स्थापना हेतु अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ही बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण कर लिया।

1173 ई० में राजसिंहासन हथिया लेने के उपरान्त प्रथम तीन वर्षों में उसने आन्तरिक अशान्ति को दूर करने तथा प्रशासनिक ढाँचे को पुनर्गठित करने का कार्य किया। चौथे वर्ष से उसने अपना सैन्य-अभियान प्रारम्भ किया। उसने सर्वप्रथम 1175 ई० में कोलतूर को आक्रान्त किया। 1177 ई० में उसने उच्छंगि-राज्य पर आक्रमण करके वहाँ के शासक पांड्य कामदेव को उसके दुर्ग में ही बन्दी बना लिया। इस अभेद दुर्ग के विजय-प्राप्ति के उलपक्ष में उसने 'गिरिदुर्गमल्ल' की उपाधि धारण किया। बाद में पाण्ड्य कामदेव के समर्पण करने पर उसने उसे अपना सामन्त बना लिया। वीर बल्लाल ने यह सफलता शनिवार के दिन प्राप्त किया था, अस्तु उसने 'शनिवार सिद्धि' का विरुद् ग्रहण किया। उसका अभियान सतत् गतिशील रहा। **1178 ई० के एक होयसल-अभिलेख** से ज्ञात होता है कि उसने मल्लिदेव चोल-शासक द्वारा शासित भू-क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

1179 ई० तथा उसके बाद लगभग दस वर्षों का होयसल-इतिहास सामरिक सफलता की दृष्टि से विशेष प्रखर नहीं कहा जा सकता है । इस अवधि में बल्लाल द्वितीय को कलचुरियों तथा नोलम्बों से कड़ा मुकाबला करना पड़ा। होयसल-नरेश को ये राज्य इसलिए भारी पड़ रहे थे कि चालुक्यों के सामन्त होने के कारण उन्हें उनका भी समर्थन प्राप्त था। 1179 **ई० के एक अभिलेख** में कलचुरि शासक शङ्कम ने दावा किया है कि उसने होयसलों को कई युद्धों में पराजित किया था। पराजयों के परिणामस्वरूप वीर बल्लाल ने कलचुरियों से अन्तत: सन्धि कर लिया। भाग्य ने पुन: पलटा खाया, फलत: कलचुरियों को देवगिरि के यादव तथा काकतीलों से लोहा लेना पड़ा और राजसिंहासन पर अधिकार को लेकर गृहयुद्ध भी झेलना पड़ा। 1184 ई० तक कलचुरि-शक्ति समाप्तप्राय हो गई। इसके कारण बल्लाल द्वितीय की शक्ति एक बार पुन: बढ़ गई।

वीर बल्लाल का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी, चालुक्य-नरेश, सोमेश्वर चतुर्थ, पर्याप्त निर्बल था तथा उसे देवगिरि के यादवों से तथा काकतीयों से पर्याप्त खतरा पैदा हो गया था । अपनी कूटनीति के कारण बल्लाल द्वितीय सोमेश्वर चतुर्थ से मैत्री सम्बन्ध बनाए रखा । उधर 1189 ई० में यादव नरेश भिल्लम ने चालुक्य-राज्य पर आक्रमण करके कुन्तल से उत्तर के भू-भाग को अधिगृहीत कर लिया । पराजित सोमेश्वर चतुर्थ अपने साम्राज्य के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में जाकर शरण ले लिया । उत्साहित यादवों ने उसका वहाँ तक पीछा किया तथा एक वर्ष के अन्दर तुङ्गभद्रा नदी के निकट स्थित हलसिंग एवं वेलबोल को भी हड़प लिया । अवसर की ताक में बैठे वीर बल्लाल ने भिल्लम तथा यादव-सेनाओं के विरुद्ध अभियान चलाकर सोरतुर के मैदान में उसे घेर लिया तथा पराजित भिल्लम को तुङ्गभद्रा घाटी से भागने के लिए विवश कर दिया । इस प्रकार वेलवा पर होयसलों का अधिकार हो गया । 1190 ई० में यादवों ने होयसलों के साथ सन्धि कर लिया, जिसके फलस्वरूप द्वारसमुद्र पर यादवों ने होयसलों का आधिपत्य मान लिया । वीर बल्लाल ने तदुपरान्त कदम्बों, सान्तरों तथा उनके सामन्तों को क्रमश: पराजित कर होयसलनाड एवं कृष्णा नदी के बीच सम्पूर्ण भू-क्षेत्र पर अपना शासन स्थापित कर लिया। 1192 ई० तक होयसलों ने क्रमश: वेलबोल, लोक्किगुण्डि तथा इरमबराज के सिन्दों को परास्त कर एक बार अपनी प्रभुसत्ता की धाक जमा दिया ।

वीर बल्लाल की उपर्युक्त विजयों के फलस्वरूप दक्षिण-भारत में उसकी राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ हो गई । तत्कालीन एक बड़ी सत्ता, कल्याणी के चालुक्यों, की शक्ति पर्याप्त क्षीण हो चुकी थी । चालुक्य-नरेश सोमेश्वर चतुर्थ 1189-90 ई० में यादव-नृपति भिल्लम के भय से राजधानी कल्याणी से पलायित हो गया था । उसे पुन: अपनी राजसत्ता संभालने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था । सुदूर-दक्षिण में चोलों की शक्ति भी क्रमश: क्षीण होती जा रही थी । वीर बल्लाल ने चोल समर्थित मैसूर (कर्नाटक) के लगभग सभी सामन्तों

को परास्त कर उनके राज्यों पर अपनी अधिसत्ता स्थापित कर लिया था। ऐसी स्थिति में तत्कालीन दक्षिण भारतीय राजनीति में होयसल-नरेश वीर बल्लाल सर्वाधिक शक्तिशाली नृपति बन चुका था। उसने अपनी सामरिक शक्ति का आंकलन करते हुए चालुक्यों के पारम्परिक एवं औपचारिक सामन्तत्व का परित्याग करके स्वयं को पूर्ण स्वतन्त्र सार्वभौम सत्तासम्पन्न राजा घोषित कर दिया। 1192 ई० में अपने साम्राज्य को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित करने के उपलक्ष्य में उसने 'समस्त भुवनाश्रय' की उपाधि धारण किया। अब वह तुङ्गभद्रा नदी के समस्त पश्चिमी भू-क्षेत्र का स्वामी हो चुका था तथा उसके राज्य-क्षेत्र में हानुङ्गल, वनवासी, हुलिंगिरी, हलसिंग, वेलपोल, नोलपम्बाड़ि, उच्छङ्गी, इरमबरज, वागडगे, कुदेरि, बल्ल, किशुकाड़, ऐयणवाड़ि, कलवाड़ि, मासवाड़ि, सिन्दरिजी, लोकिकगुण्डि तथा तट्टवाड़ि आदि सम्मिलित हो चुके थे। इन नामों का उल्लेख बल्लाल द्वितीय के चारणों द्वारा प्रस्तुत सूची में अंकित मिलते हैं। उसकी यह राजनीतिक स्थिति 1192 ई० से 1200 ई० तक यथावत् स्थापित रही। किन्तु 1202 ई० से 1204 ई० के मध्य वीर बल्लाल को तुङ्गभद्रा नदी की उत्तरी घाटी में कदम्बों तथा यादवों के उग्र प्रतिशोध को झेलना पड़ा। होयसल-नरेश ने क्रमश: कदम्ब-शासक कामदेव तथा यादव-नरेश जयतुगि द्वारा चलाए गए अभियानों को बड़ी वीरतापूर्वक शान्त कर दिया।

होयसलों की बढ़ती हुई शक्ति से चोल-सम्राट् अत्यन्त कुपित हुआ किन्तु अन्तत: दोनों राज्यों में वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना के साथ 1207 ई० के उपरान्त मैत्रीपूर्ण सहभाव स्थापित होने लगा। ऐसा लगता है कि इस प्रकार की पहल वीर बल्लाल ने किसी चोल-राजकुमारी के साथ विवाह सम्पन्न करके शुरू किया होगा। बाद में उसने अपनी पुत्री सोमला का विवाह वृद्ध चोल-नरेश कुलोत्तुंग से करके मैत्री को और भी सुदृढ़ कर दिया। अवान्तरकाल में चोल एवं होयसल सम्बन्ध क्रमश: घनिष्ठतर होता गया।

वीर बल्लाल के साथ चोलों की घनिष्ठता का एक प्रमुख कारण पाण्ड्यों का चोलों पर लगातार आक्रमण भी माना जा सकता है। दक्षिण भारत में उस समय होयसलों में ही वह शक्ति थी, जिससे चोल-नरेश सामरिक सहायता तथा मैत्री का हाथ बढ़ा सकते थे। होयसल-नरेश ने कुलोत्तुंग के उत्तराधिकारी चोल-नरेश राजराज तृतीय द्वारा पाण्ड्यों के विरुद्ध चलाए गए अभियान में अपने वीरपुत्र युवराज नरसिंह द्वितीय के नेतृत्व में होयसल-सेना देकर भरपूर सहायता किया था। इसमें होयसल तथा चोल-सेनाओं ने पाण्ड्य समर्थित अडिगमान तथा बाण राज्यों को आक्रान्त करने में सफलता प्राप्त किया था। वीर बल्लाल ने इस विजय के उपलक्ष में 1217-18 ई० में 'चोलराज्यप्रतिष्ठाचार्यम्' तथा 'पाण्ड्यगजकेशरी' विरुद् तथा उसके पुत्र वीर नरसिंह द्वितीय ने 'चोलकुलैकरक्षक मगधो-र्विपालनिर्मूलक', 'चोलस्थापक' तथा 'पाण्ड्यखण्डन' आदि उपाधि धारण किया।

वीर बल्लाल द्वितीय ने अपनी मृत्यु के पूर्व ही अपने योग्य पुत्र नरसिंह

द्वितीय को 1220 ई० में राजगद्दी प्रदान कर दिया।

नरसिंह द्वितीय (1220 ई० 1235 ई०)

युवराज के रूप में नरसिंह द्वितीय ने अपने योग्य पिता के कार्यों में हाथ बँटाकर शासन एवं सैन्य-संचालन का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया था। राजसिंहासन पर आसीन होने के पश्चात् उसने अपने पिता की नीतियों का अनुसरण किया। युवराज के रूप में ही 1217-18 ई० में चोल-पाण्ड्य संघर्ष में उसने जिस साहस एवं सेनानायकत्व का परिचय दिया था उससे उसके पौरुष की धाक पहले ही स्थापित हो चुकी थी।

राजगद्दी-प्राप्ति के बाद 1220-21 ई० में नरसिंह द्वितीय ने सर्वप्रथम शक्तिशाली देवगिरि के यादवों के विरुद्ध अभियान किया। इस युद्ध के परिणाम के दावे दोनों पक्षों ने अपने-अपने गौरव के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। **हेमाद्रि** ने अपने ग्रन्थ **'चतुर्वर्गचिन्तामणि'** के **'व्रतखण्ड'** में लिखा है कि नरसिंह द्वितीय को यादव-नरेश रामचन्द्र ने पराजित कर दिया। परन्तु होयसल-अभिलेखों के अनुसार यादव राजा महादेव रणभूमि से रात्रि के अन्धकार में घोड़े पर चढ़कर भाग गया। **अनन्त सदाशिव अल्तेकर** ने होयसलों के दावे को अधिक प्रामाणिक स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इस युद्ध के फलस्वरूप नरसिंह द्वितीय ने वर्त्तमान धारवाड़ पर अपनी सत्ता स्थापित कर लिया था। इसके विपरीत **एन० सुब्रह्मण्यम तथा टी० के० रवीन्द्रन्** प्रभृति विद्वानों के अनुसार हेमाद्रि का कथन बहुत कुछ तथ्यसंगत है तथा इस युद्ध में पराजय-प्राप्ति के कारण नरसिंह द्वितीय को कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों के मध्यवर्ती भू-भाग से हटना पड़ा था।

नरसिंह द्वितीय चोलों के साथ बड़ा आत्मीय सम्बन्ध रखता था। फलत: पाण्ड्य-चोल संघर्षों के समय वह पूरी जिम्मेदारी के साथ चोलों का साथ देने में संलग्न रहता था। इसी बीच शक्तिशाली मारवर्मन सुन्दरपाण्ड्य ने तंजोर एवं उरैयूर को आक्रान्त कर चोल-नरेश राजराज तृतीय को पराजित कर दिया। इस विषम परिस्थिति का लाभ उठाकर विद्रोही चोल-सामन्त कोप्पेरुजिंग ने काँची एवं कडुलोर जनपदों को अपने अधीन कर लिया तथा युद्ध-क्षेत्र में राजराज तृतीय को बन्दी बना लिया। ऐसे कठिन समय में होयसल-नरेश नरसिंह द्वितीय ने सर्वप्रथम मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य के विरुद्ध अभियान करके उसे कावेरी नदी के तट पर महेन्द्र मंगलम् के समरांगण में पराजित कर दिया। उसने चोल-शासित कण्णनूर को अधिकृत करके अपने पुत्र सोमेश्वर को वहाँ का प्रान्तपति बना दिया तथा पाण्ड्यों के कतिपय दुर्गों से विपुल सम्पत्ति अपहृत कर लिया। तत्पश्चात् नरसिंह द्वितीय ने अमृतैया तथा समुद्रगोपय्या प्रभृति सेनानायकों के नेतृत्व में काँची के शासक कोप्पेरुजिंग को आक्रान्त करने के लिए भेजा। होयसलों ने कोप्पेरुजिंग को पराजित कर काँची के राजकोष को अपहृत कर लिया।

इस प्रकार अपने पौरुष के बल पर नरसिंह द्वितीय ने 1231 ई० में राजराज

तृतीय को पुनः चोलराज-सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। उसने पाण्ड्यों को पराजित करके उरैयूर एवं तंजोर को तो उनसे मुक्त कराया ही, साथ ही साथ श्रीरङ्गम् तक उन्हें खदेड़कर उनसे कर एवं भेंट भी प्राप्त किया। उसने चोलों के कण्णनूर-क्षेत्र को जीतकर अपने अधीन कर लिया तथा वहाँ से चोल-राजसिंहासन को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। कण्णनूर पर होयसलों के आधिपत्य के कारण चोल, पाण्ड्य, अडिगमान तथा बाण आदि विरोधी शक्तियों को नियंत्रित करने में नरसिंह द्वितीय को बड़ी सुविधा प्राप्त हुई।

वीर नरसिंह द्वितीय ने संभवतः 1235 ई० तक राज्य किया क्योंकि 1236 ई० में उसका पुत्र सोमेश्वर होयसल-राजगद्दी पर आसीन हो चुका था।

सोमेश्वर उपनाम **सोविदेव** (1236 ई० 1262 ई०)

सोमेश्वर का शासनकाल कुल मिलाकर अतिशय संकटापन्न रहा। उसने कण्णनूर के शासक के रूप में तथा बाद में होयसलेश्वर के रूप में अधिकांश समय चोल-पाण्ड्य राजनीति को सुलझाने में व्यतीत किया। फलतः होयसलनाडु की आन्तरिक स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गई। उधर राज्य के उत्तरी भाग पर पारम्परिक शत्रुओं का दबाव बढ़ता गया। इधर तुङ्गभद्रा की घाटी में देवगिरि के यादवों ने पुनः आतंक मचाना प्रारम्भ कर दिया।

राजराज तृतीय के पश्चात् उसका पुत्र युवराज राजेन्द्र तृतीय चोल-सिंहासन पर बैठा। वह महत्त्वाकांक्षी तथा योग्य शासक था। उसने चोलों की पारम्परिक नीति में परिवर्तन करते हुए पाण्ड्यों तथा समसामयिक अन्य बड़ी शक्तियों से चोल-साम्राज्य को सुरक्षित करने का यत्न शुरू किया। इधर पाण्ड्य-नरेश मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य के 1238-39 ई० में दिवंगत हो जाने के कारण पाण्ड्यों की आन्तरिक स्थिति गड़बड़ा गई थी। राजेन्द्र तृतीय चोल ने उनकी इस परिस्थिति का लाभ उठाते हुए पाण्ड्यों को आक्रान्त कर दिया।

राजेन्द्र तृतीय ने कण्णनूर-क्षेत्र, जो मूलतया चोल-साम्राज्य का अभिन्न एवं महत्त्वपूर्ण अंग था, पर होयसलों के आधिपत्य को अपनी शान के विपरीत समझा। **तिरुनेवेलि दानपत्र** में उसकी होयसल-विरोधी नीति का उल्लेख किया गया है। इसमें कहा गया है कि राजेन्द्र तृतीय ने पाण्ड्यों के प्रति नम्रता की नीति का परित्याग करने के साथ ही साथ कण्णनूर-क्षेत्र को होयसलों के स्थान पर चोलों का क्षेत्र समझा। उसने होयसलों की शक्ति को कमजोर करने के लिए अपने राजवंश के पारम्परिक मित्र-राज्यों तथा सामन्तों की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। उसकी यह नीति बड़ी सफल सिद्ध हुई क्योंकि चोलों द्वारा पूर्ण समर्थित नेल्लोर के तेलुगुचोड एवं काडव आदि काँची एवं कण्णनूर में पैर जमाए हुए होयसल-प्रतिद्वन्द्वियों को वहाँ से अपदस्थ करना चाहते थे।

चोल नरेश राजेन्द्र तृतीय की नीतियों में आ रहे इन बदलाओं से सोमेश्वर भी पर्याप्त चौकन्ना हो चुका था। उसने भी समय का आंकलन करते हुए चोलों

द्वारा पाण्ड्यों को आक्रान्त किए जाने पर, चोलों के विरुद्ध पाण्ड्यों का साथ दिया। मैसूर से प्राप्त कतिपय **होयसल-अभिलेखों** में सोमेश्वर को 'पाण्ड्यकुल संरक्षण दक्षदक्षिणभुजा' विरुद् से अलंकृत कहा गया है। होयसलों द्वारा पाण्ड्यों के आकस्मिक समर्थन करने के कारण राजेन्द्र तृतीय पाण्ड्यों का कुछ भी बिगाड़ न सका।

होयसल एवं चोल के पारम्परिक मित्रता में आए दुर्भाव का प्रतिफल बाद में दोनों को ही भोगना पड़ा। 1251 ई० में जटावर्मन सुन्दरपाण्ड्य के राजा बनते ही पाण्ड्य-होयसल मैत्री-सम्बन्ध टूट गया। अब सोमेश्वर चोलों से पुनः मैत्री-सम्बन्ध बनाना अवश्य चाहता था लेकिन अब तक चोल-राज्यशक्ति पर्याप्त क्षीण हो चुकी थी। पाण्ड्यों ने होयसलों पर आक्रमण करके न केवल उनसे कावेरी-घाटी को मुक्त करा लिया अपितु उनके महान् सेनानायक सिङ्गण की तदुपरान्त होयसलेश्वर सोमेश्वर की भी हत्या कर दिया।

नरसिंह तृतीय (1262 ई० से 1291 ई०)

सोमेश्वर ने अपने जीवनकाल 1254 ई० में ही अपने साम्राज्य को दो हिस्सों में बाँटकर उसे अपने दोनों पुत्रों नरसिंह तृतीय तथा रामनाथ को बाँट दिया था। इस बँटवारे से कर्नाटक-प्रदेश के राज्यक्षेत्र का शासक नरसिंह तृतीय को और तमिलनाडु में विस्तृत होयसल-राज्य-क्षेत्र का शासक रामनाथ को घोषित किया गया। इस प्रकार रामनाथ द्वारा शासित राज्य की राजधानी कण्णनूर तथा नरसिंह तृतीय की राजधानी द्वारसमुद्र बनी।

1279 ई० में मारवर्मन् कुलशेखर पाण्ड्य ने कण्णनूर पर आक्रमण करके रामनाथ को वहाँ से मार भगाया तथा तमिल-क्षेत्र से होयसल-प्रभुसत्ता को समाप्त कर दिया। पराजित रामनाथ सत्ता के लोभ में 1279 ई० में अपने सौतेले बड़े भाई नरसिंह तृतीय को आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया। उसने होयसलनाड को बड़ी क्षति पहुँचायी। अन्ततः उसे कुछ सफलता हाथ लग गई। इसके फलस्वरूप होयसल-राज्य के कुनडाणी (बंगलोर जनपद) को जीतकर वहाँ उसने अपना एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया। नरसिंह तृतीय को अब एक साथ तीन-तीन प्रबल शत्रुओं से जूझना पड़ रहा था। गृह-पक्ष से रामनाथ तथा वाह्य-पक्ष से सान्तर तथा देवगिरि के यादव राजवंशों से वह 1291-92 ई० तक जूझता रहा। 1291-92 ई० में उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पराक्रमी पुत्र बल्लाल तृतीय राजगद्दी पर बैठा।

बल्लाल तृतीय (1291 ई० से 1343 ई०)

होयसलनाडु पर जिस समय चारों ओर से विपत्ति के बादल छाए हुए थे, उस समय बल्लाल तृतीय का राज्याभिषेक हुआ। वह महापराक्रमी तथा योग्य शासक था परन्तु उसकी संपूर्ण ऊर्जा समसामयिक छोटी-छोटी विपत्तियों को दूर करने में होती रही। 1295 ई० में उसके प्रतिद्वन्द्वी चाचा रामनाथ ने कुणिगल पर

आक्रमण किया, जिसमें आक्रान्ता रामनाथ को अन्ततः पराजय का मुँह देखना पड़ा। इस पराभव के कुछ वर्ष बाद रामनाथ की मृत्यु हो गई। उसके पुत्र विश्वनाथ में विशेष पौरुष एवं क्षमता नहीं थी। फलतः 1297-98 ई० में बल्लाल तृतीय ने उसे मारकर विभाजित होयसलनाड को पुनः अपने साम्राज्य में मिला लिया।

बल्लाल तृतीय के शासनकाल में दक्षिण भारत में राजनीतिक गतिविधियाँ बड़ी तेजी से पटाक्षेप कर रही थीं। उसने 1303 में तुलुप राज्य को जीत लिया तथा देवगिरि के यादवों को आक्रान्त करने की योजना बनाया। सिरिसि के मैदान में गंगेयसाहणि सेनानायक के नेतृत्व में होयसलों ने यादव-नरेश रामचन्द्र को पराजित कर दिया। इस प्रकार होयसलों की सामरिक उपलब्धियों के फलस्वरूप 1305 ई० तक बनवासी, शिमोगा, सान्तलिंग तथा कोगलि आदि क्षेत्रों पर बल्लाल तृतीय का अधिकार हो गया। बल्लाल तृतीय ने अपना अभियान क्रमशः नक्किगुंडि, नेल्लोर तथा काड़प प्रभृति राज्यों के विरुद्ध संचालित करके उन्हें जीत लिया।

दक्षिण में कावेरी घाटी में कुलशेखर पाण्ड्य के निधन के पश्चात् उसके पुत्रों वीरपाण्ड्य तथा सुन्दरपाण्ड्य के बीच राजसिंहासन को लेकर गृहयुद्ध छिड़ गया था। बल्लाल तृतीय ने प्रतिशोध लेने का यही उचित अवसर समझा। उसने पाण्ड्यों पर आक्रमण करके उनसे किंग, होंडयनाड एवं मुगद्व क्षेत्रों को अपहृत कर लिया। उसने तिरुवनमलय तथा काँची को जीतकर काँची को अपनी उपराजधानी बनाया। इन विजयों के कारण 1310 ई० तक एक बार होयसलों की राज्यशक्ति पुनः अपना पूर्व-गौरव प्राप्त करने में सफल हो गयी।

परन्तु 1310 ई० में ही अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने मावर तथा द्वारसमुद्र पर आक्रमण कर दिया। बल्लाल तृतीय उन दिनों पाण्ड्यों के विपरीत युद्धाभियान के लिए निकला था। मलिक काफूर ने द्वारसमुद्र को अन्ततः जीत लिया। इस युद्ध में बल्लाल तृतीय को अन्ततः उससे सन्धि करना पड़ा। 1311 ई० से 1313 ई० के बीच का काल बल्लाल तृतीय के जीवन का कष्टमय एवं अनुपलब्धियों का काल रहा। किन्तु 1315 ई० में अलाउद्दीन खिलजी के मरणोपरान्त बल्लाल ने पुनः अपनी खोयी हुई शक्ति को संचयित करना शुरू किया। इस बीच वह विष्णुवर्धन के विरुदों को पुनः धारण करने लगा तथा 1316 ई० तक अपनी राजकीय सत्ता पुनः स्थापित कर लिया। 1316 ई० से 1318 ई० के बीच बल्लाल तमिल-प्रदेश में अपनी सत्ता-स्थापना में लगा रहा। उसने अपनी विजयों के फलस्वरूप तिरुवण्णमलै-क्षेत्र के अरुण-समुद्रपट्टण पर अधिकार स्थापित कर लिया। पुनः 1320 ई० में बल्लाल तृतीय ने सान्तरों की सहायता से कम्पिलदेव को युद्ध में पराजित करके तुंगभद्रा के दक्षिण के पठारी भू-भाग को जीत लिया। परन्तु 1321-22 ई० में कम्पिलदेव ने पुनः अपने खोए भू-क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए होयसलों के विरुद्ध अभियान चलाया। इस बार

पुनः उसे पराजय का ही मुँह देखना पड़ा। उसके तथा बल्लाल तृतीय के बीच सीमा-विवाद को तत्समय समाप्त करने सम्बन्धी एक सन्धि हुई। 1326-27 ई० में मलिकबहादुर गुशीस्प ने सुल्तान मुहम्मद-बिन-तुगलक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। शाही सेना उसका पीछा करती हुई दक्षिण तक चली आई। कम्पिलदेव ने विद्रोही गुर्शास्प को अपने यहाँ शरण दे दिया। शाहीसेना ने कम्पिलदेव के कुम्मट के गिरिदुर्ग को चारों ओर से घेर लिया। गुर्शास्प तो गुप्त मार्ग से द्वारसमुद्र की ओर भाग गया लेकिन कुपित सेना ने अन्ततः कम्पिलदेव की हत्या कर दी। गुर्शास्प बल्लाल तृतीय से शरण देने की याचना की। लेकिन उसने शरण देने के बजाय उसे बन्दी बनाकर मुस्लिम शाही-सेनापति को सौंप दिया। कम्पिलदेव की मृत्यु के बाद तुंगभद्रा के दक्षिण के इस भू-भाग में कुछ ही समय बाद 1336 ई० में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हुई। मुस्लिम-सेना दक्षिण के दुर्गों को लूटने के साथ-साथ यहाँ अपनी अधिसत्ता की स्थापना का प्रयास करने लगी।

1338-39 ई० में सैय्यद हसन किथली को सुल्तान मुहम्मद-बिन-तुगलक ने मदुरा के पाण्ड्यों को आक्रान्त करने के लिए रवाना किया। उसने पाण्ड्यों को पराजित करने के उपरान्त 1341-42 ई० में मदुरा में अपनी स्वतंत्र सल्तनत की स्थापना कर लिया। इस नवोदित मुस्लिम-सल्तनत से अपने राज्य की सुरक्षा के लिए बल्लाल तृतीय तिरुवण्णमलै में जाकर रहने लगा। उसने अपने पुत्र बल्लाल चतुर्थ का राज्याभिषेक भी यहीं रहकर किया था।

1340 ई० में नवोदित विजयनगर-राज्य के शासक हरिहर ने होयसलनाडु के नेलमंगल तालुका पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उसे अपने अभियानों में सफलता नहीं मिल सकी। 1343 ई० में त्रिचनापल्ली के निकट सुल्तान गयासुद्दीन की सेना के साथ युद्ध करते हुए वीर बल्लाल तृतीय अन्ततः वीरगति को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार बल्लाल तृतीय के बाद बल्लाल चतुर्थ बिखरे होयसल-साम्राज्य के भू-क्षेत्रों को सुरक्षित रखने में समर्थ नहीं हो सका। फलतः लगभग 400 वर्षों पुराना इस राजवंश का इतिहास समाप्त हो गया।

---

22 कदम्ब राजवंश

450 ई० के लगभग कुन्तल-प्रदेश (कर्नाटक प्रान्त) में आन्ध्र-सातवाहन शासनोपरान्त राज्य करने वाले चुटुओं एवं पल्लवों के बाद कदम्ब राजवंश का अवतरण हुआ। इनके प्रारंभिक अभिलेखों में उन्हें कदम्ब-वृक्ष से सम्बन्धित तथा कुन्तल प्रदेश का मूल निवासी बताया गया है। इस राजवंश के शासक शान्तिवर्मन् के **तालकुंड अभिलेख** में आख्यात है कि वे मनव्य गोत्र के ब्राह्मण तथा हारीति के पुत्र थे। उनके आवासीय भूमि के समीप एक कदम्ब-वृक्ष स्थित था जिसे 'कदम्ब-वनवासिनी'[1] नाम से पुकारा जाता था। कदम्ब-राजवंश की उत्पत्ति इसीलिए कदम्ब-वृक्ष से मानी जाती है। वे मूलतः ब्राह्मण थे परन्तु कालान्तर में जब वे राज्यशासक हो गए तो अपने को क्षत्रिय मानने लगे। परवर्ती कदम्ब-शासकों ने अपने आदि कुल-पुरुष का नाम कदम्ब घोषित किया है, जो बहुत कुछ कपोलकल्पित-सा प्रतीत होता है। उनके कुल-देवता मधुकेश्वर (शिव) थे, यद्यपि वे महासेन (कार्तिकेय) की भी उपासना करते थे। सुप्रसिद्ध **'कावेरी पुराणम्'** में इस राजवंश के प्रारम्भिक शासकों का नाम त्रिनेत्र मधुकेश्वर, मल्लिनाथ एवं चन्द्रवर्मन् आदि मिलता है। कदम्ब राजवंश का 'वास्तविक संस्थापक तथा सर्वाधिक उल्लेखनीय एवं ऐतिहासिक नरेश मुयरशर्मन् संभवतः चन्द्रवर्मन् का पौत्र था।

बनवासी के कदम्ब

राजवंशीय इतिहास

मयूरशर्मन्

कदम्ब-राजवंश की प्रारम्भिक राजनीतिक परिस्थितियों की अद्यावधि ठीक-ठीक सूचना ज्ञात नहीं हो सकी है। फिर भी जैसा **तालगुंड प्रशस्ति** से पता चलता है मयूरशर्मन्, जो द्विजोत्तम था तथा ब्राह्मणोचित कर्मों का निष्ठावान् प्रतिपालक था, वेदाध्ययन के लिए पल्लवेन्द्रपुरी (काँची) जाकर वहाँ के एक वैदिक विद्याकेन्द्र (घटिका) में भर्ती हो गया था। काँची में संयोगवश एक पल्लव घुड़सवार-सैनिक ने उसे अपमानित कर दिया। इसके विरोध में वह पल्लवाधिपति के दरबार में न्याय माँगने पहुँच गया। तत्कालीन पल्लव-नरेश ने उसे दुत्कारते हुए अपने सैनिक का अन्यायपूर्वक पक्ष लिया। इस घटना ने

1. तालगुण्ड प्रशस्ति

ब्राह्मणकुमार मयूरशर्मन् के व्यक्तित्व में रोष भर दिया । आक्रोशित मयूरशर्मन् काँची से कुन्तल लौट आया । यहाँ आकर उसने कुशग्रास, यज्ञ-सामग्री तथा समिधा आदि का परित्याग कर अपनी फड़कती भुजाओं में राज्य-शासन स्थापित करने के लिए तलवार धारण कर लिया :

"तत्र पल्लवाश्वस्थेन कलहेण तीव्रेणरोषितः ।
कुशसमिधदृषत्स्त्रगाज्य चरुगृह्णादि दक्षिणे पाणिना ।।"

मयूरशर्मन् ने चौथी शती ई० के मध्य में कुन्तल (कर्णाटक) में **'बनवासी'** को राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित कर लिया । संभवतः यह घटना उन दिनों घटित हुई होगी, जब समुद्रगुप्त ने पल्लव तथा दक्षिण-भारत के कई राज्यों को आक्रान्त कर दिया था । मयूरशर्मन् ने संभवतः पहला अभियान पल्लवों के अन्तपालों (सीमारक्षकों) के विरुद्ध चलाया । इसमें उसे बड़ी सफलता मिली तथा वह **श्रीपर्वत** (करनूल जनपद, आन्ध्र प्रदेश का श्रीशैलम्) के पठारी जंगली-क्षेत्र को अधिगृहीत कर लिया :

'योऽन्तपालान्पल्लबेन्द्राणां सहसा विनिजित्य संयुगे ।
अध्युपास दुर्गमाटवी-श्रीपर्वत द्वारसंश्रितम् ।।

श्रीपर्वत-क्षेत्र में रहकर उसने धीरे-धीरे एक शक्तिशाली कदम्ब-सेना का गठन कर लिया । उसने पल्लवपोषित बाण आदि अनेक पड़ोसी सामन्त-शासकों को जीतकर उनसे विपुल धन एवं कर अपहृत कर लिया । मयूरशर्मन के शक्ति-विस्तार को देखते हुए अन्ततः पल्लव-नरेश ने उससे सन्धि करने का प्रस्ताव प्रेषित किया, जिसे स्वीकार कर लेना यथोचित समझा । इस संधि के फलस्वरूप मयूरशर्मन ने पल्लवाधिप के विश्वासपात्र सामन्त के रूप में शासन करना स्वीकार कर लिया । पल्लवनरेश ने इससे प्रसन्न होकर मयूरशर्मन को एक राजमुकुट भेंट कर पश्चिमी समुद्रतट से प्रेहरा (मलप्रभा-घाटी) तक विस्तृत विशाल भू-क्षेत्र का उसे शासक बना दिया । **कीलहार्न** के अनुसार पल्लव-नरेश ने संभवतः उसे अपना प्रमुख दण्डनायक बना दिया था । जो भी हो, मयूरशर्मन अब एक शक्तिशाली राजा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया ।

मयूरशर्मन् की उपलब्धियों का काव्यात्मक उल्लेख उसके **चन्द्रवल्लि अभिलेख** में मिलता है । इस अभिलेख के अुसार उसने पारियात्र (**विन्ध्य एवं** अरावली की पहाड़ियों का मध्यवर्ती क्षेत्र), शकस्थान, मौखरिराज्य, सेन्द्रक राज्य (शिमोगा जनपद), पुण्णाट-राज्य (कावेरी-राज्य एवं कपिनि नदियों का डेल्टाई भाग), पल्लव-राज्य, त्रैकूटक एवं आभीर राज्यों के विरुद्ध सफलताएँ प्राप्त किया था । **एच० वी० श्रीनिवासमूर्ति** प्रभृति विद्वानों की धारणा है कि **चन्द्रवलि लेख** में वर्णित उपर्युक्त विजयों को तब तक पूर्णप्रामाणिक नहीं माना जा सकता है जब तक इसकी पुष्टि किसी दूसरे साक्ष्य से नहीं हो जाती । कतिपय विद्वान् यथा के०पी० जायसवाल आदि उक्त अभिलेख के पाठों में मिलने वाली भिन्नता के आलोक में मयूरशर्मन् की विजयों एवं राज्य-सीमा को केवल कर्नाटक तक ही केन्द्रित स्वीकार

किया है।

मयूरशर्मन् के राज्य की सीमाओं का भले ही सही ज्ञान नहीं हो सका है, परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं माना जा सकता है कि वह एक शक्तिशाली एवं महान् शासक था। इस राज्यवंश के परवर्ती अभिलेखों में मयूरशर्मन् द्वारा 18 अश्वमेध यज्ञों तथा 144 ग्राम्य दानों को सम्पन्न किए जाने का उल्लेख मिलता है। परन्तु तालगुंड अभिलेख में इस प्रकार की सूचनाओं का पूर्ण अभाव है। अस्तु, उसके द्वारा अश्वमेध यज्ञादि सम्पन्न करने की सूचना संदिग्ध मानी जा सकती है। उसके शासनकाल की अवधि पर बड़ा विवाद है। फिर भी, अधिकांश विद्वान् उसके शासनकाल को 340 ई० से 370 ई० के मध्य स्वीकार करते हैं।

कंगवर्मन् (लगभग 370 ई० से 395 ई०)

मयूरशर्मन का पुत्र कंगवर्मन् उसका उत्तराधिकारी कदम्ब-शासक हुआ। उसने अपने नाम से 'शर्मन्' शब्द को हटाकर 'वर्मन्' लिखवाना शुरू किया। इससे यह पता चलता है कि मयूरशर्मन् के बाद के कदम्ब-शासक अपने को ब्राह्मण कहलाने के बजाय क्षत्रिय कहा जाना अधिक पसन्द करते थे। कंगवर्मन् भी बड़ा शक्तिशाली शासक हुआ। उसने पल्लव-नरेशों की भाँति स्वयं 'धर्ममहाराजाधिराज' की उपाधि धारण किया। इस उपाधि से पता चलता है कि वह स्वतंत्र शासक बन चुका था। वह वाकाटकों की वत्सलगुल्म-शाखा के प्रतापी नरेश विन्ध्यशक्ति द्वितीय का समकालीन था, जिसने संभवतः उसे पराजित कर दिया था। इस घटना की किञ्चित पुष्टि अजन्ता की गुफा से मिले एक खण्डित **वाकाटक अभिलेख** से होती है। ऐसा लगता है कि दोनों राज्यों की सीमाओं पर होने वाले युद्धों के फलस्वरूप कदम्बों को पराजय का मुँह देखना पड़ा था। उसने लगभग 395 ई० तक शासन किया।

भगीरथ (395 ई० से 420 ई०)

कंगवर्मन् का पुत्र भगीरथ उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसे तालगुण्ड अभिलेख में ऐक्ष्वाकु नृपति भगीरथ के समान तेजस्वी कहा गया है। संभवतः वह वही कुन्तलेश्वर रहा होगा, जिससे राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने महाकवि कालिदास को अपना राजदूत बनाकर कर्णाटक भेजा था। कालिदास ने अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता प्राप्त किया था क्योंकि बाद में कदम्ब-नरेश ने अपनी पुत्री का विवाह कुमारगुप्त प्रथम से करके अपनी मैत्री को वैवाहिक सम्बन्ध में परिणत कर दिया था। भगीरथ के पुत्र काकुस्थवर्मन् के सुप्रसिद्ध **तालगुण्ड अभिलेख** में इस वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है।

रघु (420 ई० — 430 ई०)

भगीरथ के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रघु कदम्ब-राजगद्दी पर बैठा। उसने अपने अनुज काकुस्थवर्मन् को अपना युवराज बनाया। रघु एवं

काकुस्थवर्मन् ने पल्लवों तथा अन्य प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध अनेक युद्ध किया, जिसकी चर्चा **हलसी अभिलेख** में की गई है। रघु ने 'रघुपार्थिव' विरुद् धारण किया। तालगुण्ड अभिलेख में उसे महान् प्रजापालक तथा शत्रुओं का दमन करने वाला कहा गया है। उसका शासन-काल लगभग 430 ई० तक बना रहा।

काकुस्थवर्मन् (430 ई० से 450 ई०)

रघु ने उपरान्त उसका अनुज युवराज काकुस्थल वर्मन् 430 ई० के लगभग कदम्ब-राजसिंहासन पर आसीन हुआ। वह महापराक्रमी तथा संयत स्वभाव का नृपति हुआ। **तालगुण्ड अभिलेख** में उसे राजाओं में सूर्य, कदम्ब-कुल अलंकार, महान् विजेता, यशस्वी, प्रजारक्षक तथा उदारमना शासक घोषित किया गया है। इस अभिलेख के अनुसार उसका शासनकाल शान्ति एवं सुव्यवस्था का काल था।

काकुस्थवर्मन् का तत्कालीन भारतीय राजवंशों में बड़ा सम्मान था। उसकी बहन का विवाह पहले ही गुप्त-शासक कुमारगुप्त के साथ हो चुका था। उसकी कम से कम चार पुत्रियों में प्रथम पुत्री अजित भट्टारिका का विवाह वाकाटक-शासक नरेन्द्रसेन के साथ, दूसरी पुत्री का विवाह आलुप नरेश पशुपति के साथ, तीसरी पुत्री का विवाह गंग-शासक माधव द्वितीय के साथ, तथा चौथी पुत्री का विवाह संभवतः किसी गुप्त-राज्यवंशी राजकुमार के साथ सम्पन्न हुआ था। इन वैवाहिक सम्बन्धों के चलते काकुस्थवर्मन् की राजनीतिक स्थिति बड़ी मजबूत हो गई थी।

काकुस्थवर्मन् की वीरता तथा कला एवं काव्यप्रियता का वर्णन **तालगुण्ड अभिलेख** में किया गया है। इस लेख के अनुसार वह एक सफल कवि तथा महान् योद्धा था। उसने 'धर्ममहाराज' तथा 'धर्मराज' जैसी श्रेष्ठ उपाधियाँ धारण किया था। इससे उसकी न्यायप्रियता का परिचय मिलता है। उसने तालगुण्ड में एक बड़ा तालाब तथा प्राणवेश्वर महादेव के विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसने संभवतः 450 ई० तक शासन किया।

शान्तिवर्मन् (450 ई० - 475 ई०)

काकुस्थवर्मन् के उपरान्त उसका यशस्वी ज्येष्ठ पुत्र शान्तिवर्मन् राजगद्दी पर बैठा। उसे 'कदम्बकुल द्वितीय सूर्य' कहा गया है। उसने अपने शासन-काल में कई विजय प्राप्त कीं। **तालगुण्ड अभिलेख** में उसको 'त्रिराजमुकुट अपहर्त्ता' तथा उनसे 'शोभायमान नृपति' कहा गया है। उसने पड़ोसी राज्यों के अतिरिक्त संभवतः पल्लव-नरेश विष्णुवर्मन् के साथ भी युद्ध किया था। विष्णुवर्मन् के **वीरुर ताम्राभिलेख** के अनुसार शान्तिवर्मन् उस कुन्तल-राज्य का नृपति था, जिसकी शोभा वैजयन्ती (वनवासी) नगर के साथ-साथ अष्टादश अधीनस्थ शासकों के समर्पण से बनी हुई थी। उसको अपने युद्धाभियानों से विपुल संपत्ति प्राप्त हुई, जिसकी चर्चा कतिपय अभिलेखों में की गई है। अपने पिता की भाँति उसने भी 'धर्मराज' की उपाधि धारण किया।

शान्तिवर्मन् पराक्रमी होने के साथ-साथ महादानी, उदार तथा साहित्य एवं कला का महान् संरक्षक था। लगभग 475 ई० में मृत्यु हो जाने के कारण उसका शासनकाल समाप्त हो गया।

मृगेशवर्मन् (475 ई० - 490 ई०)

मृगेशवर्मन् अथवा विजयशिवमृगेशवर्मन् शान्तिवर्मन् का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासनकाल में कदम्ब साम्राज्य का दक्षिणी हिस्सा विभाजित करके उसके अनुज कृष्णवर्मन् को दे दिया गया। कृष्णवर्मन् ने **त्रिपर्वत** को अपनी राजधानी बनाकर अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना कर लिया।

मृगेशवर्मन् ने कदम्ब राजवंश के पारम्परिक शत्रुओं के साथ कई युद्ध किया तथा उनमें सफलता प्राप्त किया। **कदम्ब अभिलेखों एवं हलसी ताम्रपत्रों** से ज्ञात होता है कि उसने अपने शत्रुभकुलों को भयभीत किया तथा तुंवगगों एवं पल्लवों को परास्त करके उनसे अपार धन-सम्पत्ति अपहृत कर लिया।

मृगेशवर्मन् एक कुशल, पराक्रमी तथा उदार शासक सिद्ध हुआ। न्याय के क्षेत्र में उसकी तुलना युधिष्ठिर से की गई है। उसने कवियों, कलाकारों, साधु-सन्तों तथा ब्राह्मणों को पूर्ण संरक्षण प्रदान किया। उसका विश्वास ब्राह्मण एवं जैन धर्मों पर था। उसने 'धर्ममहाराज' विरुद् धारण किया था। संभवतः उसने 490 ई० तक शासन किया।

रविवर्मन् (490 ई० - 538 ई०)

मृगेशवर्मन् का ज्येष्ठ पुत्र रविवर्मन् अपने पराक्रम एवं पौरुष के बल पर कदम्ब-राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसे उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए अनेक प्रतिद्वन्द्वियों से लोहा लेना पड़ा। बनवासी के कदम्बों के प्रबल शत्रु-राजवंशों में पल्लवों के अतिरिक्त त्रिपर्वत के कदम्ब भी जुड़ गए थे। उधर रविवर्मन् का चाचा मान्धातृवर्मन् ने भी उच्छंगी राज्य पर अधिकार कर लिया था। **कदम्ब अभिलेखों** से पता चलता है कि उसने कांची-पति चण्ड दण्डेश को युद्ध में पराजित कर मार डाला तथा आगे बढ़कर अपने चाचा त्रिपर्वत कदम्ब-शासक विष्णुवर्मन् को भी आक्रान्त किया। कांचीपति चण्डदण्डेश संभवतः कोई शक्तिशाली पल्लव-सामन्त रहा होगा, जिसकी हत्या रविवर्मन् ने किया था।

रविवर्मन् महापराक्रमी शासक था। उसने उच्छंगी राज्य को अपने चाचा मान्धातृवर्मन् से अपहृत कर लिया। उसका सफल अभियान पाण्ड्यों, कोंगाल्वों तथा आलुपों के विरुद्ध हुआ। **गुडनापुर अभिलेख** में उसे उक्त राज्यों का विजेता कहा गया है। उसके राज्य की सीमा उत्तर में नर्मदा नदी तक विस्तृत हो गई। उत्तर में यह राज्य विस्तार उसने वाकाटकों को पराजित करने के बाद किया था। उसकी एक विशेष उल्लेखनीय विजय गंगों पर मानी जाती है। उससे पराजित

होने के उपरान्त गंग-नरेश हरिर्वमन् को अपनी राजधानी कोलार से हटाकर तलकाड को बनाना पड़ा। **श्रीनिवासमूर्ति** तथा अन्य कई विद्वान् पराजित गंगनरेश का नाम अविनीत मानते हैं।

रविवर्मन् एक सफल प्रशासक एवं योद्धा होने के अतिरिक्त महान् प्रजापालक, दानी तथा साहित्य-कला एवं धर्म का संरक्षक था। उसने प्रशासन की सुविधा के लिए उच्छंगी राज्य को अपने साम्राज्य में मिलाने के बाद प्रशासन की सुविधा के लिए **हलसी पलाशिका** को अपनी उपराजधानी बनाया। रविवर्मन् लम्बी अवधि तक शासन किया। श्रीनिवासमूर्ति के अनुसार उसका शासनकाल 538 ई० तक बना रहा।

हरिवर्मन् (530 ई० - 560 ई०)

हरिवर्मन् अपने पिता रविवर्मन् के पश्चात् बनवासी के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। वह नितान्त निर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल में कदम्बों के सामन्त चालुक्य जयसिंह तथा बाद में रणराग ने अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया। आगे चलकर राजराज के पुत्र पुलकेशिन् प्रथम ने वातापी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। आगे चलकर वाकाटकों ने भी उसकी दुर्बलता का लाभ उठाकर अपनी सीमाएँ विस्तृत कर लिया। सेन्दरक-राजवंश के लोग लगातार हरिवर्मन् के स्वामिभक्त सामन्त शासक के रूप में प्रतिष्ठित रहे। हरिवर्मन् वनवासी के मूल कदम्ब-राजवंश का अंतिम शासक हुआ क्योंकि उसकी मृत्यु के बाद त्रिपर्वत के कदम्बों ने बनवासी के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया।

त्रिपर्वत हलेविड शाखा के कदम्ब

कृष्णवर्मन् प्रथम (445 ई० - 470 ई०)

कृष्णवर्मन् प्रथम काकुस्थवर्मन् की दूसरी पत्नी से उत्पन्न पुत्र तथा शान्तिवर्मन् का सौतेला भाई था। साक्ष्यों के अभाव में यह कहना तो कठिन है कि उसे दक्षिणी कुन्तल-राज्य पिता द्वारा प्रदान किया गया था अथवा उसने इसे बलपूर्वक अपहृत कर लिया था। जो भी हो, उसने 445 ई० के लगभग अपना स्वतंत्र कदम्ब-राज्य अर्जित करके कर्नाटक के वर्तमान हसन जनपद में स्थित त्रिपर्वत (हलेविड) को इस राज्य की राजधानी बनाया।

कृष्णवर्मन् प्रथम की उपलब्धियों का उल्लेख उसके अनुवर्ती शासकों के अभिलेखों में किया गया है। उसने सेन्द्रक-सामन्तों पर विजय प्राप्त किया। उसका संघर्ष पल्लवों से भी हुआ। संभवत: ऐसे ही एक युद्ध में कैकेय-नरेश शिवस्कन्द वर्मन्, जो कृष्णवर्मन् प्रथम का श्वसुर था, मारा गया था। क्योंकि उसकी महारानी कैकेय-कन्या थी। अपने शासन के अन्तिम वर्षों में वह पल्लवों द्वारा पराजित होने के कारण उनका सामन्त बन गया था।

कृष्णवर्मन् प्रथम की बहन का विवाह गंग नरेश माधव तृतीय के साथ हुआ

था, जिनसे गंगराजकुमार अविनीत का जन्म हुआ था। कृष्णवर्मन् के दो पुत्र थे, जिनका नाम विष्णुवर्मन् तथा देववर्मन् मिलता है। कृष्णवर्मन् प्रथम ने अपने कनिष्ठ पुत्र देववर्मन् को ही युवराज बनाया था। परन्तु अपमानित विष्णुवर्मन् ने अन्ततः देववर्मन् को अपदस्थ करके 470 ई० के लगभग राजगद्दी को अपहृत कर लिया।

कृष्णवर्मन् प्रथम के उत्तराधिकारी नृपतिगण—कृष्णवर्मन् प्रथम के अनन्तर क्रमशः **विष्णुवर्मन्** (लगभग 470-490 ई०), **सिंहवर्मन्** (लगभग 490-520 ई०), तथा **कृष्णवर्मन् द्वितीय** (लगभग 520-565 ई०) तक शासन किया। 540 ई० के लगभग वातापी के चालुक्य-नरेश पुलकेशिन प्रथम ने बनवासी के कदम्बों को बुरी तरह पराजित करके उनको अपने अधीन कर लिया। फलतः कृष्णवर्मन् द्वितीय के बाद उसका पुत्र अजयवर्मन्, भोगगिवर्मन् तथा ऐसे ही अन्य पाँच कदम्ब नृपतिगण वातापी के चालुक्यों के करद तथा सामन्त बनकर शासन करते रहे। आगे चलकर पुलकेशिन् द्वितीय ने 610-11 ई० में बनवासी के कदम्ब राजवंश की सत्ता का अन्त करके उस पर अपनी अधिसत्ता स्थापित कर लिया।

परवर्ती कदम्ब राजवंश

ईसा की छठी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कदम्बों की राज्यशक्ति क्रमशः क्षीण हो चुकी थी। वातापी के चालुक्यों के उत्कर्ष के फलस्वरूप कदम्बों का राज्य क्रमशः सिकुड़ते-सिकुड़ते नितान्त शक्तिहीन हो गया। सर्वप्रथम पुलकेशिन प्रथम ने उनसे उत्तरी प्रदेश अपहृत कर लिया। बाद में पुलकेशिन द्वितीय ने कदम्बों को पराजित कर उनके राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसी प्रकार कदम्बों के दक्षिणी भू-भाग पर गंगों का आधिपत्य स्थापित हो गया। इस प्रकार कदम्ब-राज्यकुल संकुचित होकर कई शताब्दियों तक अपना स्वत्व बनाए रखा। दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, जब राष्ट्रकूटों की शक्ति कर्नाटक में क्षीण हो चली थी, तब इस संकुचित कदम्ब-राज्यकुल ने पुनः अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया। फलतः उन्होंने दक्कन के कुछ भू-भागों तथा कोंकण के कई भागों पर 10वीं से 13वीं शताब्दी तक शासन किया। इन शताब्दियों में इनके कई राज्यकुल प्रसिद्धि प्राप्त किये, जिनमें मुख्यतः हांगल के कदम्ब तथा गोआ के कदम्ब राज्यकुलों का इतिहास उल्लेखनीय है। हांगल के कदम्बों ने सिरसी हांगल-क्षेत्र पर तथा गोआ के कदम्बों ने गोआ, धारवाड़, तथा बेलगाँव आदि क्षेत्रों पर शासन किया। इस राज्यवंश के कतिपय परवर्ती शासकगण रायचूर एवं धारवाड़ जनपदों पर पश्चिमी चालुक्यों के अधीन तथा बाद में देवगिरि के यादवों के अधीन राज्य किया।

23 पश्चिमी गंग राजवंश

गंगों का मूल इतिहास लगभग अज्ञात है। अनुश्रुतियाँ उन्हें मूलत: गंगा नदी से सम्बन्धित मानती हैं। गंगों ने स्वयं को इक्ष्वाकुवंशीय स्वीकार किया है। अनुश्रुतियों में उन्हें महर्षि कण्व का वंशज कहा गया है।

गंग-राज्य कर्णाटक प्रदेश के दक्षिणी भाग में स्थित था। इस राज्य-क्षेत्र को 'गंगवाड़ी' कहा जाता था। यह राज्य कदम्ब एवं पल्लव राज्यों के मध्य में अवस्थित था। इस राजवंश को सर्वप्रथम राजनीतिक महत्त्व प्रदान करने का श्रेय माधव प्रथम एवं कोंगनिवर्मन् उपनाम दिदिग को दिया जाता है जिसने ईसा की चौथी शताब्दी में इसको स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिलाया था। इस राज्य की प्रारम्भिक राजधानी कुलवुल (कोलार) थी। बाद में 5वीं शताब्दी में हरिवर्मन् गंग ने मैसूर जनपद में कावेरी के तट पर स्थित तलवनपुर अथवा **तलकाड** को राजधानी केन्द्र के रूप में बसाया। गंग संभवत: यदुवंशी क्षत्रिय थे। एक अनुश्रुति में उन्हें श्रीकृष्ण का वंशज कहा गया है। अभिलेखों में गंगों को जाह्नक (गंगा का पुत्र) तथा काण्वायन गोत्रीय ब्राह्मण बतलाया गया है। इस प्रकार गंगों की उत्पत्ति एवं जाति आदि विषयों पर एकरूपता का अभाव है। वे ब्राह्मण तथा जैन धर्मों के अनुयायी थे तथा संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के ज्ञाता थे। इसी राज्य के संरक्षकत्व में कन्नड़-भाषा की नींव पड़ी तथा इस भाषा का विकास संभव हुआ।

प्रारम्भिक शासक

कोंगुणिवर्मन् (325 ई० - 350 ई०)

गंग-अभिलेखों के अनुसार राजकुमार कोंगुणिवर्मन् जो उत्तरी भारत की गंगा घाटी का निवासी था, कर्नाटक में जाकर गंग राजवंश की नींव डाली। उसके शासनकाल की घटनाओं के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। वह जैन धर्मावलम्बी था तथा उसे जैन आचार्य सिंह नन्दि का आशीर्वाद प्राप्त था। उसने संभवत: 325 ई० से 350 ई० तक कोल्लार में शासन किया।

माधव प्रथम (350 ई० - 375 ई०)

कोगुणिवर्मन् के बाद उसका पुत्र माधव प्रथम गंग राजगद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल का **शासनकोट ताम्रपत्र**, जिसमें उसके शासनकाल की कुछ सूचनाएँ मिलती हैं उपलब्ध हैं। उसका शासनकाल 375 ई० तक बना रहा।

हरिवर्मन् (375 ई० - 400 ई०)

हरिवर्मन् माधव प्रथम का उत्तराधिकारी हुआ। उसके अन्य नाम थे कृष्णवर्मन् एवं आर्यवर्मन्। हरिवर्मन् ने 400 ई० तक शासन किया।

माधव द्वितीय (400 ई० - 420 ई०)

हरिवर्मन् के उपरान्त उसका पुत्र माधव द्वितीय राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसके राज्याभिषेक के समय पल्लव-नृपति स्कन्दवर्मन् उपस्थित हुआ था। उसका उपनाम सिंहवर्मन् भी मिलता है। माधव द्वितीय ने 420 ई० तक शासन किया।

विष्णुगोप (420 ई० - 440 ई०)

विष्णुगोप माधव द्वितीय का अनुज तथा उत्तराधिकारी था। उसका शासनकाल 440 ई० तक बना रहा।

माधव तृतीय (440 ई० - 469 ई०)

माधव तृतीय विष्णुगोप का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। उसने 469 ई० तक शासन किया। उसके शासनकाल में गंगों एवं कदम्बों में गंभीर संघर्ष शुरू हो गया था तथा इसका लाभ पल्लव-नृपति उठाने लगा था। अन्ततः कदम्ब-नरेश कृष्णवर्मन् प्रथम ने माधव तृतीय के साथ अपनी बहन की शादी करके दोनों राजवंशों के वैमनस्य को समाप्त कर दिया।

अविनीत (469 ई० - 529 ई०)

माधव तृतीय का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अविनीत हुआ। उसने लगभग 60 वर्ष की दीर्घावधि तक शासन किया। वह अल्पवय में ही शासन की बागडोर संभालने लगा था। उसने अपने विद्रोही सामन्तों को परास्त कर गंग-राज्य को सुदृढ़ता प्रदान किया। उसने पल्लव-शासक सिंह विष्णु की राजमाता द्वारा एक जैन मन्दिर के निर्माण हेतु भूमि-दान लिया था।

दुर्विनीत (529 ई० - 579 ई०)

अविनीत के उपरान्त गंग-राज सिंहासन पर दुर्विनीत आसीन हुआ। उसका एक अन्य नाम निर्विनीत था। ऐसा लगता है है कि कीर्तिपुर के पुन्नाट राज्य पर भी उसका ही अधिकार हो गया था। उसने पेरनगर, आलत्तूर तथा पोरुलेर के अभियानों में अपने शत्रुओं को परास्त कर उनकी हत्या कर दी थी।

दुर्विनीत वीर एवं साहसी होने के साथ-साथ महान् रचनाकार एवं विद्वान् था। उसने गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' का 'बड्डकथा' के नाम से अनुवाद किया। उसने महाकवि भारवि को अपना संरक्षण तो प्रदान किया ही, साथ ही उसकी कृति- 'किरातार्जुनीयम्' पर भाष्य भी तैयार किया। उसका शासन 579 ई० तक चलता रहा।

मुष्कर (579 ई० - 604 ई०)

दुर्विनीत के बाद उसका पुत्र मुष्कर उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसकी उपलब्धियों के विषय में बहुत ही अल्पज्ञान हो सका है।

पोलवीर (604 ई० - 629 ई०)

काडुवेट्टी (पल्लव नरेश) तथा बल्लपरस (वातापी के चालुक्य नृपति) की सहायता से मुष्कर के अनुज पोलवीर को 604 ई० में राजगद्दी प्राप्त हो सकी थी। उसका शासन 629 ई० तक बना रहा।

विक्रम (629 ई० - 654 ई०)

विक्रम, जिसे उसके चाचा पोलवीर के बाद राजसिंहासन पर बैठाया गया, मुष्कर का पुत्र था।

भूविक्रम (654 ई० - 679 ई०)

विक्रम के उपरान्त उसका पुत्र भूविक्रम राजगद्दी पर बैठा। उसने चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य प्रथम के साथ पल्लव-नरेश परेमश्वरवर्मन् के विरुद्ध संघर्ष किया था।

शिवमार प्रथम (679 ई० - 725 ई०)

शिवमार भूविक्रम का अनुज तथा उत्तराधिकारी था। उसके शासनकाल का **हल्लीमेरी दानपत्र** उपलब्ध है। उसने 'अवनिमहेन्द्र', 'स्थिरविनीत' एवं 'शिष्टप्रिय' आदि विरुदों को धारण किया था।

श्रीपुरुष

श्रीपुरुष शिवमार प्रथम का पौत्र एवं उसका उत्तराधिकारी था। उसने भी चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य द्वितीय के साथ नन्दिवर्मन् पल्लव के विरुद्ध तुण्डाक के युद्ध में भाग लिया था। इस युद्ध में नन्दिवर्मन् पराजित हो गया। परन्तु उसने इस पराजय के प्रतिशोध में 754 ई० में गंग-राजधानी कुवलाल पर भीषण आक्रमण करके श्रीपुरुष से उग्रोदय रत्नजटित प्रसिद्ध हार को अपहृत कर लिया था। पल्लव-नरेश गंगराज्य को इस युद्ध में विशेष क्षति नहीं पहुँचा सके थे। इसी प्रकार 757 ई० में राष्ट्रकूटों ने चालुक्यों के पतनोपरान्त गंगों को अपने अधीन करने के लिए अभियान चलाया। राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण प्रथम द्वारा गंगों के विरुद्ध किए गए 778 ई० के युद्ध का प्रबल प्रतिरोध गंग-नरेश श्रीपुरुष ने करके अपनी राज्यसीमा को पूर्ववत् सुरक्षित रखने का सफल प्रयत्न किया। यहाँ तक कि गंगों के दबाव के कारण अन्ततः राष्ट्रकूटों को कुछ समय के लिए पीछे हटना पड़ा। कुछ समय पश्चात् गंगों के सामन्त नोलम्बों ने राष्ट्रकूटों के उत्साह देने पर विद्रोह कर दिया। नोलम्ब कुछ समय के लिए गंगों के आधिपत्य से मुक्त होकर राष्ट्रकूटों के सामन्त बन गए। बाद में गंगों ने पुनः नोलम्बों को जीतकर अपने अधीन कर लिया।

गंग-अभिलेखों से पता चलता है कि तत्कालीन पाण्ड्य-नरेश तेरमार ने एक सुन्दरी गंग राजकन्या का अपहरण कर उससे राक्षस विवाह कर लिया। इससे क्षुब्ध श्रीपुरुष ने पांड्यों पर धावा बोल दिया। उसके इस अभियान में चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन् द्वितीय ने भी सैनिक सहायता प्रदान की। परन्तु वेनपे के मैदान में श्रीपुरुष अन्ततः पाण्ड्यों से पराजित हो गया। श्रीपुरुष ने 788 ई० तक शासन किया।

शिवमार द्वितीय (788 ई० - 796 ई०)

श्रीपुरुष के उपरान्त उसका पुत्र शिवमार द्वितीय उसका उत्तराधिकारी हुआ। श्रीपुरुष ने अपने पौरुष के बल पर किसी भी राष्ट्रकूट की दाल गंग क्षेत्र में गलने नहीं दिया। किन्तु उसके मरते ही राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव धारावर्ष ने गंगराज्य पर आक्रमण करके शिवमार द्वितीय को राजगद्दी से अपदस्थ करके बन्दी बना लिया तथा वहाँ अपने बड़े पुत्र स्तंभ को शासक नियुक्त किया। यद्यपि शिवमार ने राष्ट्रकूटों के साथ हुए इस युद्ध में अपनी विजय का उल्लेख करता है लेकिन यह तथ्यपरक नहीं माना जा सकता है।

ध्रुव धारावर्ष की मृत्यु के उपरान्त राष्ट्रकूट-नरेश गोविन्द तृतीय के शासनकाल में विद्रोही स्तंभ को कमजोर बनाने की नीयत से गोविन्द तृतीय ने शिवमार को गंगवाड़ी का पुनः शासक बना दिया। परन्तु शिवमार ने गोविन्द तृतीय को धोखा देना शुरू कर दिया। फलस्वरूप वह पुनः बन्दीगृह में डाल दिया गया। वहाँ संभवतः उसकी मृत्यु हो गई।

मारसिंह (796 ई० - 799 ई०)

गंग-युवराज मारसिंह, जो शिवमार द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र था, को गोविन्द तृतीय ने अपने अधीन गंगवाड़ी का शासक मनोनीत किया था। कुछ समय के पश्चात् 799 ई० में स्तंभ को पुनः गंगवाड़ी का राज्य देकर गोविन्द तृतीय ने अपना गृह युद्ध शान्त किया। स्तम्भ ने संभवतः 812 ई० तक गंगवाड़ी पर राज्य किया। कालान्तर में गोविन्द तृतीय के अवयस्क पुत्र एवं उत्तराधिकारी अमोघवर्ष के प्रारंभिक अराजकता के काल में शिवमार द्वितीय के अनुज विजयादित्य ने गंगराज्य पर पुनः अधिकार स्थापित कर लिया। उसने अपने पुत्र **राजमल्ल प्रथम** को विजित गंगराज्य के शासन का उत्तरदायित्व सौंप दिया।

राजमल्ल प्रथम (816 ई० - 843 ई०)

राजमल्ल प्रथम ने गंगराज्य शक्ति को पुनर्गठित किया। उसने नोलम्बों के साथ वैवाहिक एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य को सुरक्षित रखने का सफल प्रयास किया।

नीतिमार्ग एरेगंग (843 ई० - 870 ई०)

राजमल्ल प्रथम का उत्तराधिकारी एरेगंग हुआ। उसने अपने पिता की नीतियों का अनुसरण करते हुए गंगशक्ति को नवजीवन प्रदान किया। उसकी

बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर राष्ट्रकूट दण्डनायक वंकेश ने राजारामडू के मैदान में गंगों के विरुद्ध संघर्ष किया। परन्तु इस युद्ध में राष्ट्रकूटों को कोई विशेष उपलब्धि हाथ नहीं लग पायी। तत्कालीन राष्ट्रकूट नृपति अमोघवर्ष ने अन्ततः गंगों से मैत्रीभाव बढ़ाने के लिए अपनी पुत्री चन्द्रोबलव्वे का विवाह एरेगंग के पुत्र बूतुग प्रथम के साथ कर दिया। तदुपरान्त गंग-राज्य स्वतंत्र होकर राष्ट्रकूटों का हितैषी हो गया।

राजमल्ल द्वितीय (870 ई० 919 ई०)

नीतिमार्ज एरेगंग के कनिष्ठ किन्तु युवराज पुत्र बुतुगु प्रथम की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के फलस्वरूप उसका उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीय हुआ। उसको गंगराज्य के शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वियों यथा-बाणों, नोलम्बों तथा वैदुम्बों के साथ युद्ध करना पड़ा। उसे पृथ्वीपति के पुत्र नखियगंग के विद्रोह का भी शमन करना पड़ा, क्योंकि वह अपने को वैध शासक मानता था। बाणों की मैत्री का लाभ उठाने के लिए नखियगंग ने अपनी बहन कुन्दव्वे का विवाह बाण-शासक विद्याधर के साथ सम्पन्न किया। इसी प्रकार उसने वैदुम्बों से मित्रता करके उनके साथ राजमल्ल पर आक्रमण कर दिया। बाणों ने सर्वप्रथम गंगों के सामन्त नोलम्बों को पराजित कर क्रमशः मण्णे, पुलिनाडु तथा गंग राज्य के अन्य कतिपय हिस्सों को जीतकर तलकाड को आक्रान्त कर दिया। नन्नियगंग का पुत्र पृथ्वीपति द्वितीय को पल्लवों का प्रबल समर्थन प्राप्त था तथा उसे बाणों द्वारा शासित कुछ भू-क्षेत्र का शासक भी बनाया गया था।

राजमल्ल द्वितीय ने बाद में स्वतन्त्रता घोषित करने वाले अपने पूर्व मित्र नोलम्ब-शासक महेन्द्र को अपने भाई बुतुगु प्रथम की सहायता से कई युद्धों में परास्त किया। राचमल्ल द्वितीय ने 919 ई० तक शासन किया। पुत्रहीन होने के कारण उसने अपने भ्रातृज एरेगंग उपनाम एरेयप्प को 886 ई० में अपना उत्तराधिकारी मानते हुए सह-शासक मनोनीत किया। दोनों ने मिलकर लगभग तैंतीस वर्ष तक शासन किया। **एरेयप्पगंग** की 920 ई० में मृत्यु हो गई।

एरेयप्प गंग के उत्तराधिकारी—एरेयप्प गंग के आत्मज नरसिंह ने 920 ई० से 993 ई० तक राज्य किया। उसके विषय में साक्ष्याभाव है। उसका छोटा भाई राजमल्ल तृतीय 933 ई० में राजगद्दी पर बैठा। उसने नोलम्बों तथा राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण तृतीय के साथ संघर्ष किया। अन्ततः गंग राजकुमार बुतुगु द्वितीय ने राष्ट्रकूट-शासक कृष्ण तृतीय की सहायता से 936 ई० में राजमल्ल तृतीय को युद्ध में पराजित करने के बाद हत्या कर दिया।

बूतुग द्वितीय (936 ई० - 961 ई०)

बूतुग द्वितीय राजमल्ल का विद्रोही अनुज था। राष्ट्रकूट-शासक अमोघवर्ष की पुत्री रेवकम्मिड़ी के साथ उसका ब्याह हुआ था। उसने अमोघवर्ष के पुत्र कृष्ण तृतीय को कई युद्धों में बड़ी सहायता प्रदान किया था। कृष्ण तृतीय ने

उसकी निष्ठा को देखकर उसे गंगवाड़ी का शासक बनवाने में बड़ी मदद किया। चोलों पर विजय-प्राप्ति के लिए राष्ट्रकूटों को गंगराज्य की सैनिक सहायता की महती आवश्यकता थी। अत: वूतुग द्वितीय को अपना समान्त शासक बनाकर राष्ट्रकूटों ने अपनी कूटनीति का परिचय प्रस्तुत किया। वूतुग द्वितीय ने राष्ट्रकूटों के साथ चोलों के साथ, युद्ध करके चोल राजकुमार राजादित्य का वध कर दिया था। उसकी इन्हीं सेवाओं के बदले राष्ट्रकूटों ने उसे बनवासी का राज्य सौंप दिया था।

वूतुग द्वितीय के उत्तराधिकारी—वूतुग द्वितीय के उपरान्त उसका पुत्र मरुल गंग शासक हुआ। परन्तु दो वर्ष की अल्पावधि में ही वह दिवंगत हो गया। मरुल के उपरान्त उसका सौतेला भाई मारसिंह द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। उसका विवाह राष्ट्रकूट-शासक कृष्ण तृतीय की पुत्री के साथ हुआ। उसने राष्ट्रकूटों के कई अभियानों में उनका साथ दिया। 972-73 ई० में कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य-नरेश तैलप द्वितीय ने अपनी शक्ति बढ़ाकर तत्कालीन राष्ट्रकूट-शासक कृष्ण तृतीय को पराजित कर उसके राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। मारसिंह द्वितीय गंग ने पश्चिमी चालुक्यों के आधिपत्य को चुनौती देते हुए राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय के पौत्र इन्द्र चतुर्थ का बंकाकुद में राज्याभिषेक करवा दिया। उसने नोलम्बों की शक्ति को नष्ट करके 'नोलम्बान्तक' विरुद् धारण किया। मारसिंह द्वितीय परम जैन-धर्मावलम्बी था। उसने श्रवण वेलगोला में सल्लेखन क्रिया-विधि से शरीर त्याग किया।

तलवाड के गंगराज्य का पतन—मारसिंह द्वितीय की मृत्यु के साथ ही गंगराज्य तेजी से पतनोन्मुख हो गया। राजसिंहासन पर अधिकार-स्थापना को लेकर उसके पुत्र राजमल्ल चतुर्थ तथा नरसिंह के अनुज नीतिमार्ज गोविन्दरस के बीच घोर संघर्ष छिड़ गया। अन्तत: मारसिंह के यशस्वी सेनापति चामुण्डराय की सहायता से राजमल्ल चतुर्थ ने 799 ई० में राजसिंहासन को हस्तगत कर लिया। किन्तु कुछ ही समय के बाद तत्कालीन शक्तिशाली पश्चिमी चालुक्य-नरेश तैलप ने गंगवाड़ी पर आक्रमण करके गंग-शासक को परास्त कर दिया एवं गंगवाड़ी के उत्तरी भू-भाग को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। अब राजमल्ल चतुर्थ का राज्यक्षेत्र केवल दक्षिणी भाग में ही सिमट कर रह गया। उसे कोल्हापुर एवं नन्दगिरि का शासक बताया गया है।

राजमल्ल चतुर्थ के उपरान्त उसका भ्राता रक्कस गंग 985 ई० में उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासन-काल में दक्षिण से चोलों ने तथा उत्तर से चालुक्यों ने गंगों को आक्रान्त कर दिया। फलत: 1004 ई० में राजेन्द्र चोल ने तलकाड पर अधिकार स्थापित कर लिया। रक्कस ने विपरीत परिस्थितियों में 1024 ई० तक राज्य किया। उसके उपरान्त गंगसत्ता को क्रमश: कंचनरस एवं उदयादित्य आदि छोटे-छोटे नृपतियों ने अवश्य संभाला लेकिन वे सब के सब राजनीतिक दृष्टि से अपनी महत्ता खो चुके थे।

कलिंग के पूर्वी गंग—छठीं से नवीं शताब्दियों के मध्य कलिंग पर पूर्वी-गंग राजवंश का प्रभुत्व स्थापित था । इस राजवंश का पश्चिमी-गंग राजवंश के साथ सीधा कोई संपर्क अथवा सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है । इनकी ऐतिहासिकता ईसा की पाँचवीं शताब्दी से कुछ-कुछ ज्ञात होने लगती है । इनके अभिलेखों पर इनके द्वारा प्रयुक्त अपने संवत् का अंकन मिलता है, जो संभवतः 498 ई० से प्रारम्भ होता है । यह शान्तिप्रिय राजवंश था तथा अन्य क्षेत्रों पर इनकी विजयाभिलाषा नहीं रहती थी । फिर भी, वेंगी के चालुक्यों, तेलुगू के चोड राज्यों, राष्ट्रकूटों के साथ इनके छिट-पुट संघर्ष का ऐतिहासिक वृत्तान्त मिलता है । पुलकेशिन द्वितीय तथा बाद में राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने इस राज्य को जीतकर पूर्वी-गंग राजवंश के शासकों को अपना सामन्त शासक बनाया था ।

---

24 | विजयनगर साम्राज्य

उदय एवं समसामयिक परिस्थितियाँ

चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में दिल्ली सल्तनत के शिकंजे में द्वार-समुद्र के होयसलों को छोड़कर शेष सभी दक्षिणी राज्य जकड़ दिए गए थे। मुहम्मद-बिन-तुगलक ने इन विजित राज्यों को अपने नियंत्रण में बनाए रखने के लिए दौलताबाद को अपनी राजधानी बनाया। फिर भी, दक्षिण भारतीय छोटे-छोटे राज्य, जो कभी परतन्त्र नहीं रहे थे, तुगलक की अधीनता से मुक्त होने के लिए निरन्तर विद्रोह करते रहे। इस अस्थिर राजनीतिक परिस्थिति का लाभ धीरे-धीरे उसके समर्थ सेनानायकों ने भी उठाना शुरू किया। इसी क्रम में एक महत्त्वपूर्ण विद्रोह 1325 ई० में बहाउद्दीन गुर्शप ने किया था, जो सुल्तान मुहम्मद-बिन-तुगलक का चचेरा भाई तथा सरदार था। फलत: सुलतान बहादुर ने स्वयं उसके विद्रोह को दबाने के लिए दक्षिण-भारत की ओर अभियान किया। इससे भयाक्रान्त बहाउद्दीन गुर्शप भागकर कर्नाटक के कम्पिल शासक कम्पिलदेव से शरण माँगा। कम्पिल-नरेश ने उसे अपने दुर्ग में छिपा लिया। इस कार्य से कुपित मुहम्मद-बिन-तुगलक ने कम्पिल राज्य को जीतकर उसे अपने अधीन कर लिया। कम्पिल-दुर्ग से भागकर गुर्शप होयसल-नरेश बल्लाल तृतीय के दरबार में पहुँचा। बल्लाल तृतीय ने उसे बन्दी बनाकर सुल्तान को सौंप दिया। उधर कम्पिलदेव जैसे वीर शासक की मृत्यु के उपरान्त तुंगभद्रा-घाटी में एक शक्ति-रिक्तता व्याप्त हो गई। सुल्तान मुहम्मद-बिन-तुगलक के अधिकारियों के दुराचार तथा दबाव से यहाँ की जनता कराहने लगी। बल्लाल तृतीय इस क्षेत्र पर अपना अधिकार करने की इच्छा तो रखता था लेकिन मुस्लिम-सत्ता के भय से वह प्रयास नहीं कर सका।

काम्पिली पर विजय स्थापित करने के दरम्यान मुहम्मद-बिन-तुगलक ने वहाँ के दो वीर सेनानायकों **हरिहर** एवं **बुक्का** को बन्दी बना लिया। बाद में इन दोनों भाइयों को दिल्ली के बन्दीगृह में लाकर रखा गया। उधर सुल्तान द्वारा गुर्शफ के विरुद्ध चलाए गए अभियानों से दक्षिण-भारतीय राज्यों में मुस्लिम-सत्ता के विरोध की एक लहर-सी आ गई थी। फलत: इन विद्रोहों से आतंकित होकर मुहम्मद-बिन-तुलगक ने अपनी आक्रामक नीति में एक नया प्रयोग किया। उसने हरिहर एवं बुक्का, जो अब तक उसके विश्वासपात्र बन चुके थे, को बन्दीगृह से मुक्त कर अपना सेनानायक बनाकर कम्पिली के विद्रोहों को शान्त करने के लिए दक्षिण की ओर भेज दिया। दोनों भाईयों ने बलपूर्वक काम्पिली के विद्रोह को

शांत कर दिया। विद्रोहों के दमन हो जाने के उपरान्त संयोगवश उनका संपर्क **विद्यारण्य** नामक एक तेजस्वी संत से हुआ। उसके प्रभाव एवं मंत्रणा के अनुसार हरिहर एवं बुक्का बन्धुओं ने 'विजयनगर साम्राज्य' की स्थापना करके अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दिया। हरिहर एवं बुक्का ने अपने पिता 'संगम' के नाम पर 1336 ई० में 'संगम राजवंश' की नींव डाली। ये दोनों बन्धु काकतीय राजवंश के, होयसल-राजवंश के अथवा काम्पिली राजवंश के या तो अधिकारी अथवा वंशज थे, यह विवादास्पद है। सच्चाई जो भी हो, 1336 ई० से लेकर 1565 ई० के मध्य विजयनगर में तीन प्रमुख राजकुलों ने शासन किया—संगमवंश, सालुंबवंश तथा तुलुकवंश।

संगमवंश (1336 ई०—1485 ई०)

हरिहर (1336 ई० - 1356 ई०)

1336 ई० में हरिहर एवं बुक्का बंधुओं ने विजयनगर साम्राज्य की नींव डाली। दोनों बड़े ही पराक्रमी थे। अतः उन्होंने क्रमशः अपने साम्राज्य का विस्तार किया। 1346 ई० में मदुरा के सुल्तान के विरुद्ध छिड़े युद्ध में होयसल-नरेश बल्लाल चतुर्थ मार डाला गया। हरिहर ने होयसल-राज्य पर आक्रमण करके उस पर अपना अधिकार कर लिया। 1346 ई० में स्थापित बहमनी साम्राज्य के सुल्तान अलाउद्दीन हसन शाह ने विजयनगर-राज्य पर आक्रमण करके कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों के मध्य स्थित रायचूर के किले पर अधिकार कर लिया। हरिहर-बन्धुओं ने अपनी शक्ति बढ़ाकर 1356 ई० में मदुरा के सुलतान को परास्त कर बहमनी आक्रमण से हुईअपने साम्राज्य की कुछ क्षतिपूर्ति कर लिया।

बुक्का (1354 ई० - 1377 ई०)

बुक्का भी हरिहर ही की तरह पराक्रमी, राजनीतिज्ञ तथा विद्यानुरागी शासक हुआ। उसने मदुरा पर विजय करके उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। बहमनी के सुल्तान के विरोधों को बुक्का ने भी भरपूर जवाब दिया। उसके समय में तेलुगू-साहित्य का विशेष विकास हुआ।

हरिहर द्वितीय (1377 ई० - 1404 ई०)

हरिहर द्वितीय ने 1377 ई० में राजसिंहासन प्राप्त किया। उसने मैसूर, कनारा, कांची, त्रिचनापल्ली एवं चिंगलपुर आदि क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की तथा 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण किया। उसने बहमनी-राज्य के साथ भी कई युद्ध किया। उसके अन्य सफल अभियानों में गोआ, कोंकण तथा कर्नाटक की विजय विशेष उल्लेखनीय हैं। 1404 ई० में हरिहर द्वितीय की मृत्यु हो गई।

1404 ई० से 1430 ई० के बीच क्रमशः **देवराय प्रथम** (1404 ई० -1422 ई०), **वीर विजय एवं रामचन्द्र** विजयनगर साम्राज्य के शासक हुए। इस

कालखण्ड में इस राज्य की आन्तरिक स्थिति डांवाँडोल हो रही थी। इसी बीच बहमनी के सुल्तान ने इस राज्य पर पुन: आक्रमण कर दिया। लेकिन उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। इसी समयान्तर में इटली का सुप्रसिद्ध यात्री **निकोलो कोंटी** विजयनगर-साम्राज्य की यात्रा पर आया था।

देवराय द्वितीय (1430 ई० - 1446 ई०)

देवराय संगम-वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक हुआ। उसने आन्ध्र में कोंडविन्दु को परास्त करके कृष्णा नदी तक अपने राज्य की सीमा का विस्तार कर लिया। उसने वेलेम-नरेश को अपनी अधिसत्ता स्वीकार करने को विवश कर दिया। देवराय ने बहमनी के सुल्तान को अपने विरुद्ध किसी भी युद्ध में सफल नहीं होने दिया। उसने उड़ीसा के शासक गजपति के दक्षिणी अभियानों को विफल कर दिया। उसने सांस्कृतिक एवं आर्थिक कार्यों में गहरी रुचि ली। उसी के शासनकाल में फारस का राजदूत **अब्दुर्रज्जाक** ने विजयनगर साम्राज्य की यात्रा की थी। उसने देवराय के शासन की बड़ी प्रशंसा की है। 1446 ई० में देवराय द्वितीय की मृत्यु हुई।

मल्लिकार्जुन (1446 ई० - 1465 ई०)

1446 ई० से 1485 ई० के मध्य विजयनगर के राजसिंहासन पर क्रमश: कमजोर शासकों का आगमन होता रहा। 1446 ई० में देवराय द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त मल्लिकार्जुन राजगद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में उत्तरी-पूर्वी सीमा पर उड़ीसा के गजपति नरेश कपिलेश्वर काक तथा उत्तर सीमा की ओर बहमनी सुलतान का आक्रमण हुआ। कपिलेश्वर ने विजयनगर-साम्राज्य के आन्ध्र प्रदेश के तटवर्ती कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। प्रारम्भ में मल्लिकार्जुन ने कपिलेश्वर के आक्रमणों का प्रतिरोध अवश्य किया किन्तु बाद में वह अपने साम्राज्य की उत्तरी-पूर्वी सीमा की सुरक्षा करने में अक्षम सिद्ध हुआ। गजपति कपिलेश्वर विजयनगर-साम्राज्य पर विजय करता हुआ रामेश्वर तक पहुँच गया। अपनी गहरी पराजय से क्षुब्ध होकर 1465 ई० में दिवंगत हो गया।

विरुपाक्ष द्वितीय (1465 ई० - 1485 ई०)

मल्लिकार्जुन द्वितीय संगम-वंश का वस्तुत: अंतिम शासक था। उसके शासनकाल में साम्राज्य के विघटन की प्रवृत्तियों में और तेजी आ गई। कपिलेश्वर गजपति ने इस साम्राज्य के तटवर्ती अनेक इलाकों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसके और आगे चलाये जाने वाले अभियानों को चन्द्रगिरि के शक्तिशाली सामन्त-शासक, सालुव नरसिंह, ने रोकने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। उसने विजयनगर-साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए उड़ीसा की सेनाओं से लगभग 24 लड़ाईयाँ लड़ी। इधर बहमनी के सुल्तानों ने विरुपाक्ष की अयोग्यता का लाभ उठाते हुए नेल्लोर एवं काँची तक बढ़ आए। उन्होंने तेलगाना में अनेक

क्षेत्रों को जीतकर उन्हें बहमनी-साम्राज्य में मिला लिया । विरुपाक्ष आन्तरिक एवं वाह्य उपद्रवों से ग्रस्त रहकर 1485 ई० तक जीवित रहा । उसकी अक्षमता से रुष्ट होकर 1485 ई० में उसके बड़े बेटे ने उसकी हत्या कर दिया । इस प्रकार शक्तिशाली संगम-वंश का समापन हो गया ।

सालुव वंश (1485 ई० - 1506 ई०)

विरुपाक्ष की हत्या के कुछ समय के उपरान्त पौढ़ देवराय विजयनगर के राजसिंहासन पर आसीन हुआ । किन्तु संपूर्ण साम्राज्य में आन्तरिक एवं बाह्य अस्थिरता का वातावरण अनियन्त्रित हो चुका था । ऐसी परिस्थिति में शक्तिशाली सालुव नरसिंह ने, तत्कालीन अन्य नायकों से मिलकर, विजयनगर की राजगद्दी को हथियाकर सालुव-वंश की स्थापना कर ली ।

सालुव नरसिंह (1485 ई० - 1490 ई०)

नरसिंह ने अत्यन्त विषम परिस्थितियों में विजयनगर-साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में लिया था । उसने सर्वप्रथम विद्रोही सामन्तों के दमन पर ध्यान दिया । परन्तु अभी वह संभल ही रहा था कि गजपति पुरुषोत्तम ने विजयनगर एवं उदयगिरि पर अधिकार कर नरसिंह को बन्दी बना लिया । उदयगिरि का दुर्ग दे देने पर प्रसन्न होकर अन्ततः पुरुषोत्तम ने नरसिंह को मुक्त कर दिया । कालान्तर में नरसिंह ने कर्नाटक के तुलु क्षेत्र को जीत कर अरब से अपनी सेना के लिए घोड़ों को आयात कराया । जो भी भी हो, नरसिंह ने विजय साम्राज्य को पूर्णपतन होने से बचा लिया था ।

इम्मड़ि नरसिंह (1490 ई० - 1505 ई०)

1490 ई० में सालुव नरसिंह की मृत्यु होने के उपरान्त उसका पुत्र इम्मड़ि नरसिंह राजगद्दी पर बैठा । अल्पायु होने के कारण नरसिंह के महादण्डनायक नरसा नायक को इम्मड़ि का संरक्षक नियुक्त किया गया । नरसा नायक बड़ा महत्त्वाकांक्षी था । फलतः धीरे-धीरे उसने राज्य की संपूर्ण शक्ति अपने नियंत्रण में कर लिया । उसने इम्मड़ि नरसिंह को एक किले में नजरबन्द करवा कर स्वयं को वास्तविक शासक घोषित कर दिया । वह तुल्लुव वंश का था । बाद में उसने वीरद, बीजापुर, मदुरा, चोल, पाण्ड्य तथा चेर राज्यों के साथ युद्ध करके उनको अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया । उसने उड़ीसा के गजपति प्रतापरुद्र के विरुद्ध अभियान चलाकर उसके बढ़ाव को रोक दिया । बाद में उसके अति महत्त्वाकांक्षी पुत्र वीर नरसिंह ने बन्दी इम्मड़ि नरसिंह की हत्या करके राजसत्ता स्वयं हस्तगत कर लिया । इस प्रकार विजयनगर साम्राज्य पर तुलुव-वंश का शासन स्थापित हो गया ।

तुलुव-वंश (1505 ई० - 1529 ई०)

वीर नरसिंह (1505 — 1509 ई०)

वीर नरसिंह द्वारा सम्राट् इम्मड़ि की नृशंस हत्या किए जाने के कारण

उसके विरुद्ध असंतोष एवं विद्रोहों की चिनगारी फूट पड़ी। फलतः वह विद्रोहों के दमन करने में ही उलझ कर रह गया तथा 1509 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

कृष्णदेव राय (1505 ई० - 1529 ई०)

कृष्ण देवराय वीर नरसिंह का कनिष्ठ भ्राता था। 1509 ई० में अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में उसे राजगद्दी प्राप्त हुई। उसने अपनी योग्यता, वीरता तथा कार्यकुशलता का प्रदर्शन करते हुए विजयनगर-साम्राज्य की प्रतिष्ठा को शिखर पर पहुँचा दिया। वह इस महान् साम्राज्य का श्रेष्ठतम शासक सिद्ध हुआ।

कृष्णदेव राय ने अपने साम्राज्य की लड़खड़ाती एवं अशांत स्थिति को सफलतापूर्वक चलाए गए सैन्य-अभियानों तथा प्रशासनिक सुधारों द्वारा नियंत्रित करना प्रारम्भ किया। उसके सामने चारों ओर से एक से बढ़कर एक अनेक शक्तियाँ विजयनगर-साम्राज्य के ऊपर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए उद्यत दिखाई दे रही थीं। प्रतापरुद्र गजपति लगातार अपनी साम्राज्य-विस्तारवादी लिप्सा में संलग्न था। उधर बीजापुर का सुल्तान उत्तर में अपनी सीमाओं को बढ़ाने में जुटा हुआ था। उम्मत्तूर का सामन्त लगभग स्वतंत्र हो चुका था। पश्चिमी समुद्रतटवर्ती-क्षेत्रों में पुर्तगालियों ने अपनी शक्ति बढ़ाना शुरू कर दिया था। ऐसे में कृष्णदेव राय ने अपनी सामरिक शक्ति को विस्तृत एवं संगठित कर सैन्य अभियानों का सुचिन्तित क्रियान्वयन प्रारम्भ किया।

कृष्णदेव राय के सैन्य अभियानों की सूचना **पुर्तगाली विवरणों** तथा **उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों** से प्राप्त होती है। साक्ष्यों से पता चलता है कि 1509-10 ई० में बीदर के सुल्तान **महमूदशाह** ने विजयनगर को आक्रान्त कर दिया था। कृष्णदेवराय ने इसका करारा जवाब देते हुए बीजापुर के सुल्तान यूसुफ आदिल की हत्या करने के अतिरिक्त पराजित सेना को कोविल कोंड तक पीछा करते हुए उसे भगा दिया। बीदर सुल्तान तथा उसके अमीरखाँ समर्थकों की गहरी पराजय हुई। बीजापुर में मृत सुल्तान का पुत्र अभी नाबालिग था। फलतः सुलतान के मरते ही बीजापुर-राज्य में अशांति एवं अव्यवस्था फैल गई। कृष्णदेव राय ने मौके का लाभ उठाते हुए 1512 ई० में रायचूर पर अधिकार कर लिया। बाद में गुलबर्गा को भी अधिगृहीत करके उसने संपूर्ण बीजापुर को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

कृष्णदेव राय ने बीदरपुर पर आक्रमण करके बहमनी के सुल्तान को पराजित कर दिया। तदुपरान्त उसने बहमनी सुलतान को सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित कराया तथा इस अवसर पर 'यवन-राज्य स्थापनाचार्य' की उपाधि धारण किया।

कृष्णदेव राय ने उम्मत्तूर के सामंत-शासक गंगराज को आक्रान्त कर शिवसुन्दरम् तथा श्रीरंगम् को उनसे अपहृत कर लिया। अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ कर लेने के बाद उसने उड़ीसा के गजपति शासक की शक्ति से लोहा लेने की

योजना बनाई।

1513-18 ई० के बीच कृष्ण देवराय ने उड़ीसा के गजपति-नरेश प्रतापरुद्र से कम से कम चार बार संघर्ष किया, जिनमें प्रत्येक बार उसकी विजय हुई। विजयनगर-साम्राज्य के सैनिक उड़ीसा में घुसते हुए कटक तक पहुँच गए। हर तरफ से पराजित एवं परिवृत्त गजपति ने अंततः कृष्णदेवराय से संधि की याचना की तथा अपनी पुत्री का उससे विवाह करके मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। उसके इस व्यवहार से प्रसन्न होकर कृष्णदेवराय ने उसे कृष्णा नदी के उत्तर के विजित भू-भाग को उसे सौंप दिया।

जिन दिनों कृष्णदेवराय उड़ीसा में व्यस्त था, उन दिनों गोलकुण्डा के सुल्तान कुली कुतुब शाह ने अपनी सेना के साथ आगे बढ़कर विजयनगर-साम्राज्य में अवस्थित गंटूर एवं पांगल के दुर्गों को जीत लिया। इतना ही नहीं, सुल्तान का अभियान आगे बढ़ते हुए कोंडविन्दु के दुर्ग तक आ पहुँचा। कुतुबशाह के इस प्रकार बुलन्द सामरिक हौसले को रौंदने के लिए कृष्णदेवराय ने अपने दण्डनायक सालुव तिम्म को भेजा। उसने सुल्तान कुतुबशाह एवं उसकी सेना को बुरी तरह पराजित करके उसके द्वारा अपहृत भूमि एवं दुर्गों को उनसे छीन लिया।

अभी गोलकुण्डा के विरुद्ध युद्ध चल ही रहा था कि बीजापुर के सुल्तान इस्माइल आदिल ने रायचूर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। कृष्णदेवराय ने आर्यत को कई युद्धों में परास्त करते हुए बीजापुर में प्रवेश किया। बीजापुर को जीतने के बाद लौटती हुई उसकी सेना ने गोलकुण्डा को पुनः आक्रान्त किया। इस प्रकार गोलकुण्डा पर अधिकार करने के बाद उसमें बन्दी तीन बहमनी शहजादों को मुक्त कराकर वह अपनी राजधानी लौट आया।

1520 ई० तक कृष्णदेवराय ने विजयनगर-साम्राज्य के सभी शत्रुओं को परास्त कर सुदूर दक्षिण भारत में अपनी अधिसत्ता को अजेय बना लिया था। उसने प्रारम्भ में पुर्तगालियों के प्रति तटस्थ भाव बनाये रखा। परन्तु जब पुर्तगालियों ने गोआ पर अधिकार कर लिया तब उनके प्रति उदार दृष्टिकोण रखना ही समयानुकूल रह गया था। पुर्तगालियों ने फारस की खाड़ी के महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों पर पहले ही कब्जा कर रखा था। इन्हीं बन्दरगाहों से अरबी एवं फारसी घोड़ों को आयात किया जाता था। उधर पुर्तगाली भी अपने व्यापारिक हित को देखते हुए विजयनगर-राज्य के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने के लिए उत्सुक रहते थे। अतः कृष्णदेवराय ने पुर्तगालियों के प्रति सहानुभूति एवं उदारतापूर्ण व्यवहार बनाए रखना उचित समझा।

मूल्यांकन

कृष्णदेवराय की गणना भारत के श्रेष्ठतम शासकों में की जाती है। वह एक महान योद्धा होने के साथ-साथ सफलतम सेनानायक भी था। उसने अनेक सफल सैनिक अभियानों द्वारा अपने पौरुष एवं नीतियों का परिचय प्रस्तुत किया। वह एक नीतिज्ञ तथा महान् प्रशासक था। सुप्रसिद्ध तेलगु ग्रन्थ

'आमुक्तमाल्यद' से उसकी प्रशासकीय क्षमता का ज्ञान मिलता है। उसने अपने शासनकाल में साहित्य एवं कला के विकास को प्रश्रय दिया। उसका शासनकाल तेलगू-साहित्य के विकास का श्रेष्ठ काल माना जा सकता है। उसके राजदरबार में 'अष्ट दिग्गज' विद्यमान रहते थे। वह धर्मसहिष्णु सम्राट् था तथा जनहित के कार्यों को करना पुण्य-कर्म समझता था। पुर्तगाली लेखक **पेईज** उसकी उपलब्धियों तथा उसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। कृष्णदेवराय की मृत्यु 1529 ई० में हुई तथा उसकी मृत्यु के साथ ही साम्राज्य के अच्छे दिन भी क्रमशः क्षीण होने लगे।

अच्युतदेव राय (1529 ई०)

कृष्णदेव राय ने अपने चचेरे भाई अच्युत देवराय को बहुत पहले ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था क्योंकि उसका पुत्र बहुत ही कम उम्र का था। फिर भी उसका उत्तराधिकार निरापद नहीं रहा। उसका प्रबल विरोध कृष्णदेव के जामाता रामराय ने किया। फिलहाल, गृहयुद्ध को टालने के लिए अच्युतदेव राय ने रामराय को भी अपने शासन में सहभागी बना दिया।

विजयनगर साम्राज्य में उत्पन्न उपर्युक्त अशांतिकर स्थितियों का लाभ उठाकर विद्रोही राज्यशक्तियाँ एक बार पुनः सक्रिय हो उठीं। उड़ीसा के गजपति प्रतापरुद्र ने उत्तरी-पूर्वी सीमा पर आक्रमण कर दिया, जिसे विजयनगर-साम्राज्य के सैनिकों ने निष्फल कर दिया। परन्तु बीजापुर के सुल्तान, इस्माइल आदिल, ने अपने अभियानों के फलस्वरूप रायचूर तथा मुद्गल जैसे महत्त्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार कर लिया। कुछ समय बाद 1530 ई० में गोलकुण्डा के सुल्तान ने कोण्डविन्दु दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का प्रतिकार स्वयं सम्राट् अच्युत देवराय ने किया तथा सुल्तान युद्ध का मैदान छोड़कर भाग गया। 1534 ई० में अच्युत बीजापुर पर अभियान करके रायचूर तथा मुदगल के किलों को वहाँ के सुल्तान से अपहृत कर लिया।

रामराय, अच्युत देवराय की अनुपस्थिति में, एक बार पुनः सत्ता को हथियाने में सक्रिय हो गया। उसने अपने प्रिय पात्रों को राज्यशासन के उच्च पदों पर नियुक्त करके राजा अच्युत देवराय के समर्थकों को बहिष्कृत कर दिया। अच्युत देवराय जब अपनी राजधानी में लौटकर प्रवेश कर ही रहा था कि रामराय ने उसे वन्दी बना लिया तथा स्वयं विजयनगर का सम्राट् बन बैठा। परन्तु उसके इस कृत्य का बड़ा प्रबल विरोध हुआ। फलतः तीव्र विरोध के शमन के लिए उसने अच्युत देवराय के भतीजे सदाशिवराय को राजसिंहासन पर बैठाकर स्वयं उसका संरक्षक बन गया। इसी बीच सुदूर दक्षिण में उठे विद्रोहों को दबाने के लिए रामराय को वहाँ जाना पड़ा। मौका पाकर अच्युत बन्दीगृह से भाग निकला। रामराय दक्षिण से जिस समय अपनी राजधानी लौटा तो वहाँ बीजापुर के सुल्तान इब्राहिम आदिल की सेना विजयनगर को आक्रान्त करने के लिए पहुँच चुकी थी। अच्युत ने रामराय को सुल्तान से लड़ने का अन्त तक इन्तजार किया, क्योंकि उसे

आशंका थी कि वह सुलतान से समझौता करके अच्युत देवराय को अपदस्थ कर सकता था। परन्तु इसी दरम्यान बीजापुर में आन्तरिक अशांति तथा पड़ोसी सुल्तानों के आक्रमण हो जाने के कारण वह बिना युद्ध किए ही अपने राज्य में लौट गया। उसने जाते-जाते अच्युत एवं रामराय के बीच समझौता करा दिया।

अच्युत देवराय ने शासन-कार्य का महत्त्वपूर्ण दायित्व अपने साले, सलकराज तिरुमल, को दे रखा था। वह नितान्त भ्रष्ट था। उसके अनाचार तथा कराधान से सारा साम्राज्य पीड़ित हो चुका था। धीरे-धीरे जिंजी, मदुरा, तंजावुर आदि राज्य स्वतंत्र होते जा रहे थे तथा पुर्तगालियों ने भी टूटीकोरिन के सुप्रसिद्ध मोती-उत्पादक क्षेत्र पर अपना अधिकार बढ़ा लिया था। इन्हीं दुर्व्यवस्थाओं में पड़कर अच्युतदेवराय 1542 ई० में दिवगंत हो गया।

अच्युतदेवराय की मृत्यु के उपरान्त सलकराज तिरुमल ने सत्ता को अपने हाथ में रखने के उद्देश्य से उसके अल्पायु पुत्र, वेंकट प्रथम, को राजगद्दी पर बैठाया था। परन्तु राजमाता वरदेवी को अपने भाई की यह कुटिल चाल पसन्द न आई। उसने बीजापुर के सुल्तान, इब्राहिम आदिल, से तिरुमल को अपदस्थ करने के लिए सहायता माँगी। उसी समय रामराय सुल्तान से मिल गया तथा सलकराज से तिरुमल को परास्त कर अच्युत देवराय के भतीजे सदाशिव को राजगद्दी पर बैठा दिया।

सदाशिव (1542 ई० - 1572 ई०)

सदाशिव तुलुव-वंश का अन्तिम राजा हुआ। उसके समय में राज्य की वास्तविक शक्ति रामराय के ही हाथों में केन्द्रित थी। फलतः उसकी नीतियों के चलते विजयनगर-साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया। रामराय ने गोलकुण्डा, बीजापुर, अहमदनगर, बीदर तथा अन्य पड़ोसी राज्यों के आन्तरिक मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। फलतः इन सभी राज्यों ने एकजुट होकर विजयनगर-राज्य के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बना लिया। इस संयुक्त मोर्चे ने 23, जनवरी, 1565 ई० को राक्षसी-तंगड़ी (तातलीकोट) के युद्ध में विजयनगर राज्य के सैनिकों को बुरी तरह पराजित करके रामराय का बध कर दिया। विजयी सेना ने राजधानी में घुसकर भयंकर विनाश-लीला सम्पन्न किया। एक इतिहासकार का यह कथन ध्यातव्य है कि "संसार के इतिहास में कभी इतने वैभवशाली नगर का एकाएक इस प्रकार सर्वनाश नहीं किया गया, जैसा कि विजयनगर का हुआ।" अंततः विजयनगर (हांपी) का नमोनिशान मिटा दिया गया।

राक्षसी-तंगड़ी युद्ध के उपरान्त सदाशिव ने पेनुकोंडा को केन्द्र बनाकर नए सिरे से अपना शासन शुरू किया। 1570 ई० में सलकराज तिरुमल ने सदाशिव को परास्त कर पेनुकोंड पर अधिकार कर लिया तथा अंडविदु-राजवंश की नींव डाली।

अंडविदु-वंश (1565 ई० - 1615 ई०)

सलकराज तिरुमल ने पेनुकोंड को अपनी राजधानी बनाकर एक बार विजयनगर-राज्य की सीमाओं को विस्तृत करने का प्रयास किया। उस समय इस्लामी शासकों में आपसी खींचतान बहुत अधिक बढ़ चुकी थी। इसका लाभ तिरुमल को मिला। उसने अपने राज्य को फिर से शक्तिशाली बना लिया। अंडविदु-वंश के शासकगण किसी तरह 1615 ई० तक एक संकुचित राज्य के शासक अवश्य बने रहे लेकिन वे अन्त तक पूर्व-गौरव को अर्जित करने में असफल ही रह गए। इस वंश के अंतिम शासक रंग तृतीय को परास्त कर विजयनगर साम्राज्य के विभिन्न भू-भागों पर श्रीरंगपट्टम्, मदुरा, वेदनूर, तंजौर आदि कई छोटे-छोटे राज्यों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार 1615 ई० में इस महान् साम्राज्य का अन्त हो गया।

विजयनगर साम्राज्य : शासन-प्रबन्ध, समाज एवं संस्कृति

सामाजिक व्यवस्था :

विजयनगर साम्राज्य में सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम-धर्म की शास्त्रीय परम्परा पर आधारित थी। इस राजवंश के अभिलेखों में हमें दो ऐसे वाक्यांश, यथा, **'सकलवर्णाश्रमधर्म मंगलानुपालिसुत्त'** तथा **'वर्णाश्रमधर्म मंगलानुपालिसुत्त'** मिलते हैं, जिनसे तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। इन वाक्यों से ज्ञात होता है कि इस राजवंश के नृपतिगण सभी वर्णों, जातियों तथा वर्गों के मंगल एवं कल्याण में विश्वास करते थे। तत्कालीन भारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रचलित थी, जिनमें ब्राह्मणों का प्रमुख स्थान था। पारम्परिक क्षत्रिय वर्ण का तत्कालीन समाज में क्या स्थान था—इस बात की कोई जानकारी हमें नहीं हो सकी है। लेकिन तृतीय वर्ण, चेट्टी अथवा शेट्टी, जो संभवतः पारम्परिक वैश्य वर्ण तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु लगभग वैसा ही रहा होगा, तत्कालीन समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता था। विजयनगर साम्राज्य की व्यापारजन्य आर्थिक व्यवस्था में उनकी अहं भूमिका थी, जिसकी चर्चा तत्युगीन पुर्तगाली पर्यटक **बार्बोसा** ने विस्तारपूर्वक किया है। चेट्टियों ने व्यापारतन्त्र को अपने अधीन कर रखा था तथा वे समाज में अत्यन्त धनी-मानी, सुशिक्षित तथा सम्भ्रान्त नागरिक समझे जाते थे। शेट्टियों की ही तरह सामाजिक महत्त्व रखने वाला दूसरा प्रमुख वर्ग **'वीर पञ्चालों'** का था, जो मूलतः दस्तकार व्यापारी थे। इस काल के अन्य सामाजिक वर्गों में **कैकोल्लार'** (जुलाहे), **नाई, रेड्डी** (कृषक) तथा **कंबलत्तर** (सेवक) आदि प्रमुख थे। विजयनगर साम्राज्य-शासनकाल में उत्तर भारत से एक बहुत बड़ा समुदाय दक्षिण भारत में जाकर बस गया था, जिन्हें **'बडवा'** कहा जाता था। 'बडवा' वर्ग के लोग पेशे से मुख्यतः व्यापारी थे। फलतः शेट्टिय तथा अन्य व्यापारिक समूहों के साथ बडवा वर्ग के व्यापारियों के बीच हर प्रकार की प्रतिस्पर्धा बनी रहती थी। इतना ही नहीं, तत्कालीन समाज में कतिपय निम्नवर्गीय जातियों ने संगठित होकर उच्चवर्गीय जातियों से अनेक

विशेषाधिकार अपहृत करने का भी प्रयास किया था। फलतः तत्युगीन सामाजिक जीवन में किञ्चित् तनाव की स्थिति सदैव बनी रहती थी।

विजयनगर साम्राज्य में ब्राह्मणों को सर्वाधिक सामाजिक समादर प्राप्त था। वे शास्त्रज्ञ, धर्मनिष्ठ तथा शासन एवं समाज के प्रति विशेष उत्तरदायी समझे जाते थे। उन्हें राज्यशासन के अनेक उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था। तत्कालीन अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों में अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण सेना-नायकों का उल्लेख मिलता है। शासन की ओर से उनकी सेवाओं के लिए बहुत अधिक भूमि तथा अन्य दान प्रदान किया जाता था। इसी वर्ग के लोग राजा के मंत्री तथा दूसरे साम्राज्य में राजनयिक भी नियुक्त किये जाते थे। इस काल के अन्य महत्त्वपूर्ण सामाजिक समूहों में **स्वर्णकार, लोहकार, पीतल कामकार, बढ़ई, मूर्तिकार** तथा **जुलाहे** आदि उल्लेखनीय हैं। जुलाहों को तत्युगीन स्थानीय प्रशासन में कर-निर्धारण तथा मन्दिर परिसर में व्यवस्था एवं निवास आदि के क्षेत्रों में विशेष सुविधा एवं महत्त्व दिया जाता था।

दास प्रथा :

विजयनगर साम्राज्य के समय समाज में नारी एवं पुरुष दोनों कोटियों के दासों की अवस्थिति का पता चलता है। तत्युगीन पुर्तगाली लेखकों तथा अभिलेखों से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारतीय समाज में दास प्रथा प्रचलित थी, जिसे चोल-काल से ही सामाजिक मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। दास-दासी क्रय-विक्रय-प्रथा को **'बेस-वग'** नाम से पुकारा जाता था। इस वर्ग में प्रायः उन्हें भी सम्मिलित करने की प्रथा थी, जो ऋणदाता को दिवालिया हो जाने के कारण ऋण नहीं दे पाते थे।

स्त्रियों की दशा :

मध्ययुगीन भारतीय अन्य राज्यों की ही तरह विजयनगर साम्राज्य में भी स्त्रियों की सामाजिक स्थिति निम्न थी। उन्हें न केवल पुरुषों की अपेक्षा हेय बल्कि केवल भोग्या समझा जाता था। किन्तु राजवंशीय कन्याओं एवं स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अपेक्षाकृत संतोषजनक थी। उन्हें साहित्य, संगीत तथा शिल्पादि की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। कतिपय राजमहिषियाँ संस्कृत साहित्य की भी विशेष जानकार थीं। कन्याओं को अपने माता-पिता के संरक्षकत्व में रहना पड़ता था। प्रायः अल्पायु में ही उनका विवाह कर दिया जाता था। सामान्य स्तरीय पुरुषों में एक विवाह की प्रथा थी किन्तु राजवंशों में बहु-विवाह की प्रथा के अतिरिक्त रखैलों से संपर्क रखने को भी बुरा नहीं समझा जाता था। राजा की अंगरक्षा तथा सेवा-कार्य में भी स्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी। मन्दिरों में देवार्चन में प्रयुक्त नृत्य-संगीत प्रदर्शन हेतु **'देवदासियाँ'** नियुक्त की जाती थीं, जिन्हें भरण-पोषण के लिए या तो भूमि अथवा वेतन प्रदान किया जाता था। समाज में पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था। नारी गृहकार्य में बड़ी उपयोगी मानी जाती थी। किन्तु इस काल के समाज में विधवाओं की स्थिति अत्यन्त

शोचनीय तथा हेय थी।

गणिका-प्रथा :

विजयनगर साम्राज्य-शासन में **गणिका-प्रथा** को सामाजिक मान्यता तथा समादर प्राप्त था। तत्कालीन साहित्यिक उल्लेखों से पता चलता है कि गणिकाओं की दो श्रेणियाँ थीं—प्रथम वर्ग में वे गणिकाएँ थीं, जो मन्दिरों से जुड़ी हुई थीं तथा जिन्हें **'देवदासी'** कहा जाता था। दूसरे वर्ग में वे गणिकाएँ थीं, जो स्वतंत्र पेशा अपनाकर अपना भरण-पोषण किया करती थीं। ये गणिकाएँ सुशिक्षित एवं नृत्य-गान कला में बड़ी प्रवीण होती थीं। इनमें से कुछ को सम्पन्नता तथा सुशिक्षिता होने के कारण समाज में विशेष सम्मान प्राप्त था। समाज में इन्हें अच्छी दृष्टि से देखा जाता था तथा वे भी अन्य वर्गों की भाँति सामाजिक उत्सवों में खुलकर भाग लेती थीं। समाज के सभी संभ्रान्त वर्ग के पुरुष गणिकाओं से खुलकर संपर्क रख सकते थे यही कारण है कि इस काल के साहित्य में गणिकाओं का एक स्वतन्त्र वर्ग के रूप में उदय अनेकत्र वर्णित किया गया है।

सती-प्रथा :

विजयनगर साम्राज्य के शासन-काल में **सती-प्रथा** को सामाजिक दृष्टि से हेय नहीं समझा जाता था। इस काल के एक अभिलेख में **माला गौडा** नामक एक नारी का उल्लेख मिलता है, जो अपने पति की मृत्यु के उपरान्त सती हो गई थी। इतना ही नहीं, तत्युगीन पुर्तगाली तथा अन्य विदेशी लेखकों ने भी तत्युगीन उच्च कुलों में सती-प्रथा की लोकप्रिय क्रूरता का बहुशः उल्लेख किया है। सती-प्रथा राजपरिवारों, ब्राह्मणों, चेट्टियों, लिंगायतों तथा राजकीय अधिकारियों के परिवारों में विशेष मान्य हो चुकी थी, क्योंकि तत्कालीन साहित्य, अभिलेखों तथा विदेशी विवरणों में प्राप्त सतियों के उल्लेखों को इन्हीं कुलों से सम्बद्ध बताया गया है। सामान्य एवं निम्न कुलों में सती-प्रथा विशेष प्रचलित नहीं थी। उच्च कुलों में सती-प्रथा को इस काल में विशेष मान्यता प्राप्त होने का एक प्रमुख संभावित कारण विधवाओं की पारिवारिक एवं सामाजिक अपमानजनक स्थिति तथा तिरस्कृत जीवनयापन भी माना जा सकता है।

वेशभूषा :

विजयनगर साम्राज्य के पुरुषों एवं नारियों के वस्त्राभूषणों में बड़ी विविधता मिलती है। पुरुष सिर पर **टोपी** अथवा **पगड़ी**, तन पर **कमीज** जैसा परिधान तथा नीचे **धोती** पहनते थे। राजवंशीय नर-नारियों के कपड़ों में सोने-चाँदी अथवा अन्य धातु की जरी का काम अवश्य रहता था। वे रोमन शैली के जूतों को पहनना अधिक पसन्द करते थे। पुरुषों में कंधों पर दुपट्टा-धारण करने की प्रथा सर्व-सामान्य थी। सामान्य वर्गीय नारियाँ साड़ी तथा चोली पहनती थीं किन्तु राजपरिवार की नारियाँ साड़ी के साथ-साथ पापड़ (पेटीकोट) तथा चोली के ऊपर दुपट्टा भी धारण करती थीं। राज परिवार की महिलाओं के कपड़ों पर जरी का सुन्दर काम अवश्य रहता था। तत्कालीन समाज में पुरुष एवं

स्त्री दोनों आभूषण धारण करते थे। पैरों में कड़े, भुजबन्ध तथा हार स्त्री तथा पुरुष दोनों धारण करते थे। उस युग में युद्धवीर पुरुषों को सम्मान-प्रतीक के रूप में पैर के आभूषणार्थ कड़े, 'गंडपेद्र' को धारण किया जाना विशेष लोकप्रिय था। प्रायः 'गंडपेद्र' देकर मंत्रियों, सामंतों, सेनानायकों को सम्मानित किया जाता था। जहाँ तक नारियों के आभूषण का सम्बन्ध है, वे अनेक कलात्मक आभूषण धारण करती थीं। केशाभूषण के रूप में सुगन्धित पुष्पों की माला धारण करना भी नारियों को विशेष प्रिय था।

शिक्षा-व्यवस्था तथा मनोरंजन :

विजयनगर साम्राज्य के नृपतिगण शिक्षा के प्रति उतने सजग नहीं थे, जितना कि उनके पूर्ववर्ती पल्लव तथा चोल नरेश थे। इस राजवंश के राजागण मठों एवं मन्दिरों के विकास पर अधिक रुचि ले रहे थे, जो तत्कालीन शिक्षण-व्यवस्था को भी देखा करते थे। इस प्रकार तत्युगीन समाज में स्थापित मठों, मन्दिरों तथा अग्रहारों (ब्राह्मण-शिक्षकों के गाँव) की स्थापना के फलस्वरूप शिक्षा-व्यवस्था विकसित एवं नियन्त्रित की गई थी। शिक्षक तथा विद्वान् ब्राह्मणों को करमुक्त-भूमि प्रदान की जाती थी। अग्रहार-विद्या केन्द्रों में मुख्य रूप से वेदों की शिक्षा तथा गौण रूप से काव्य, नाटक, इतिहास, पुराण, आयुर्वेद एवं अन्यान्य शास्त्रों का अध्यापन किया जाता था। इस काल के कतिपय अग्रहार, मन्दिर तथा मठ विद्या के श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध केन्द्र बन चुके थे। राजकीय सेवा में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को उपर्युक्त विषयों की शिक्षा के अतिरिक्त गणित तथा जनभाषा की भी शिक्षा दी जाती थी।

सामाजिक समस्याएँ एवं उनका निदान :

प्रो० टी० वी० महालिंगम् ने विजयनगर साम्राज्य के शासनकाल में उत्पन्न अनेक सामाजिक समस्याओं तथा उन्हें दूर करने के संदर्भ में राजाओं द्वारा समय-समय पर लिए गए महत्त्वपूर्ण निर्णयों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय समस्या बाल-विवाह तथा दहेज-प्रथा थी। दहेज-प्रथा से परेशान ब्राह्मण समुदाय के लोगों ने सम्राट् से इस प्रथा को रोकने के लिए राज्यादेश जारी करने के लिए विवश किया, जिसकी संपुष्टि 1424-25 ई० के एक अभिलेख से होती है। दहेज देने एवं लेने वालों को जाति से बहिष्कृत किये जाने की बात भी उठायी गई। सामाजिक जीवन में विभिन्न जातियों के बीच उठने वाले विवादों को पंचों के मध्य समझौते की रीति-नीति से सुलझाये जाने सम्बन्धी राज्यादेश शासकों ने समय-समय पर नायकों तथा गौड़ों जैसे उच्चाधिकारियों के लिए जारी किया था, जिसकी संपुष्टि 1379 ई० में एक अभिलेख से होती है। नायक तथा गौड़ शासनाधिकारीगण ऐसे विवादों में पंच के रूप में उस स्थान के विद्वान् ब्राह्मणों, नगरश्रेष्ठियों तथा गाँव के वृद्ध तथा सम्मानित व्यक्ति को चयनित किया करते थे। इसी प्रकार साम्राज्य शासन ने तत्कालीन शिल्पियों यथा, लोहकार, बढ़ई तथा स्वर्णकार आदि समुदायों के बीच

उत्पन्न होने वाले आपसी विवादों को आपस में मिल-जुलकर निपटाने की छूट दे दी थी तथा राजकीय अधिकारियों को ऐसे विवादों में हस्तक्षेप न करने की आज्ञा जारी की थी। तत्कालीन समाज में ऐसे लोगों को जो जातिविरोधी कार्यों अथवा अपराधों में जुड़े होते थे, उनका जाति अथवा सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था। कभी-कभी इस प्रकार के अपराधी की भूमि अथवा संपत्ति राज्य द्वारा अपहृत कर ली जाती थी। इसी प्रकार मन्दिरों की भूमि, प्रतिबंधित भूमि, दान-संपत्ति अथवा अवैध ढंग से किसी स्त्री से विवाह करने, गुरु, ब्राह्मण, पत्नी की हत्या आदि कृत्यों को घोर सामाजिक अपराध माना जाता था। ऐसे कुकृत्य करने वाले व्यक्ति को कठोर शारीरिक दण्ड के साथ-साथ कभी-कभी उसकी सम्पत्ति से भी वंचित कर दिया जाता था। वस्तुतः विजयनगर साम्राज्य के राजागण जातीय, सामुदायिक तथा साम्प्रदायिक एकता तथा सद्भाव के पोषक थे। इसीलिए इनकी सुरक्षा हेतु उन्होंने कड़े कानूनों एवं राज्यादेशों को जारी किया था।

आर्थिक व्यवस्था

काश्तकारी एवं भू-स्वामित्व :

विजयनगर साम्राज्य के शासनकाल में कृषि-व्यवस्था में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते हैं। साम्राज्य की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर आधारित थी। इस काल में जनसंख्या-वृद्धि के साथ-साथ गाँवों की संख्या भी काफी बढ़ गई थी। आवश्यकतानुसार कृषियोग्य भूमि का विपुल विस्तार होता जा रहा था। साम्राज्य-शासन ने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप भूमि-सम्बन्धी काननू एवं अधिकारों में अनेक परिवर्तन कर दिया था। चोलों के समय से चली आ रही काश्तकारी-कानून में परिवर्तन कर दिया गया। 'नाडु' की भौगोलिक सीमा घटाकर उसे ग्राम के रूप में लघु इकाई का रूप दे दिया गया। तेलुगू तथा अन्य बाहरी प्रदेशों से उक्त राज्य में आकर बसने वालों को भू-स्वामित्व का अधिकार दिया जाने लगा। कृषि-व्यवस्था को विकसित करने में मठों एवं मन्दिरों को और अधिकार दिए गए। प्रभावशाली कृषकों को भू-स्वामित्व दिये जाने लगा तथा समाज में उन्हें सम्मानित दृष्टि से देखा जाने लगा। जिन गाँवों की भूमि सीधे राज्य-शासन से नियन्त्रित होती थी, ऐसे गाँवों को **'भण्डारवाद ग्राम'** नाम से पुकारा जाता था। इन गाँवों के काश्तकार सीधे राज्यशासन को कर अदा करते थे। इतना ही नहीं, धार्मिक सेवा तथा शिक्षा-सेवा आदि के लिए राज्य की ओर से मन्दिरों, मठों तथा योग्य ब्राह्मणों को भूमिदान किया जाता था। इस प्रकार की भूमि को **'देवदेय'** ब्रह्मदेय अथवा **'मठापुर-भूमि'** नाम से संबोधित किया जाता था। इस प्रकार की भूमि पर कोई कर नहीं लगाया जाता था। विजयनगर राज्य के नृपतियों ने भू-काश्तकारी की एक नयी पद्धति, **'नायंकर व्यवस्था'** को भी संचालित किया था। इस व्यवस्था के अनुसार सैनिक एवं असैनिक राजकीय सेवाओं के बदले कर्मचारियों को कृषियोग्य भूमि प्रदान की

जाती थी। ऐसी भूमि **'अमरम्'** कही जाती थी तथा इसके प्राप्तकर्त्ता को 'अमरनायक' कहा जाता था। यह 'नायंकर व्यवस्था' शुरू में तो राजकीय सेवा के बदले दी जाती थी लेकिन कालान्तर में यह आनुवंशिक हो गई तथा इस प्रकार की व्यवस्था सामन्तवादी व्यवस्था के समतुल्य बन गई। 'अमरम्' भूमि-धारकों को उपज का मात्र एक अंश राज्य को कर के रूप में देना पड़ता था। युद्ध में विशेष वीरता प्रदर्शित करने वालों को अथवा युद्ध-भूमि में मृत सैनिकों को दी गई भूमि **'रत्तकोडगे'** कही जाती थी। इसी प्रकार गाँव की कुछ भूमि कुछ अतिविशिष्ट लोगों को उनकी विशेष सेवाओं के बदले दी जाती थी। इस भूमि को **'उंबलि'** कहा जाता था। मन्दिरों, मठों तथा बड़े भू-स्वामी काशकारों को राज्य की ओर से पट्टे पर भूमि दी जाती थी, जिसे **'कुट्टगि'** कहा जाता था। 'कुट्टगि' के अन्तर्गत उपज का एक निर्धारित भाग अथवा नकद धनराशि राजशासन को देना निश्चित किया जाता था। पट्टेदार भू-स्वामी से पूछ कर ही फसल उगा सकता था तथा दोनों के बीच की हिस्सेदारी को 'वारम्' व्यवस्था कहा जाता था। राज्य भूमि पर स्थापित व्यक्तिगत भू-स्वामित्व को स्वीकार कर लेता था। कभी-कभी जब राज्य ऐसी व्यक्तिगत भूमि को मठ या मन्दिर को दान करता था, तो उस व्यक्तिगत भू-स्वामी को राज्य की ओर से उस भूमि का उचित मूल्य दिया जाता था। ज्ञातव्य है कि विजयनगर साम्राज्य के समय बड़े-बड़े भू-स्वामी बन चुके थे तथा वे सामन्तों की तरह रैयत का भरपूर शोषण कर रहे थे। कृषि-कर्म में लगे श्रमिकों को **'कुदि'** कहा जाता था। भूमि के क्रय-विक्रय के साथ प्रायः उस पर विद्यमान कृषक मजदूर भी हस्तान्तरित होते रहते थे।

विजयनगर साम्राज्य के शासन में सिंचाई की व्यवस्था का दायित्व भू-स्वामियों का होता था। शासन की ओर से सिंचाई के साधनों की व्यवस्था नहीं की जाती थी। सिंचाई के साधनों को तैयार करना पुण्य कर्म समझा जाता था। नहर, बाँध, तड़ाग, नदी एवं नाले तत्कालीन कृषि की सिंचाई के प्रमुख साधन थे।

राज्य प्रशासन कृषि-योग्य भूमि की नियमित नाप-जोख करवाता था तथा समय-समय पर सीमांकन-हेतु पत्थर की पटिया लगवाया करता था। भूमि की दो कोटियाँ थीं— सिंचित भूमि तथा असिंचित भूमि। सिंचित भूमि से नील, कपास, चावल, जौ, दालें, चना, तिलहन, गन्ना आदि की वर्ष में दो फसलें उगाई जाती थीं। पश्चिमी तटवर्ती भू-भागों में अदरक, कालीमिर्च तथा मशाले आदि की खेती होती थी। तटवर्ती कर्नाटक में इलायची तथा नारियल की खेती विशेष लाभप्रद थी।

शासन-व्यवस्था

विजयनगर साम्राज्य के प्रशासन-व्यवस्था का ज्ञान तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों, राजकीय अभिलेखों तथा विदेशी विद्वान् पर्यटकों द्वारा प्रदत्त विवरणों से होता है। इस साम्राज्य के नरेशों में कतिपय शासक यथा, संगमवंशीय हरिहर प्रथम, बुक्का प्रथम, देवराय प्रथम, देवराय द्वितीय, सालुववंशीय नरसिंह तथा तुलुववंशीय कृष्णदेव राय, अच्युत देवराय एवं रामराय आदि ने अपने पूर्ववर्ती

चोल एवं चालुक्यकालीन शासनपद्धतियों को नवीन सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं के आलोक में सुधार दिया था। पूर्व प्रशासनों में ग्राम-प्रशासन के क्षेत्र में मिली स्वायत्तता में कटौती करके विजयनगर प्रशासन में सामंती व्यवस्था तथा नौकरशाही को शक्तिशाली बना दिया गया था। भूमि-प्रशासन में **नायंकर-व्यवस्था** ने काश्तकारों तथा कृषक-मजदूरों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को कमजोर बना दिया था।

केन्द्रीय प्रशासन-व्यवस्था :

'राय' अर्थात् राजा केन्द्रीय शासन का प्रधान केन्द्र बिन्दु होता था। राजा को सार्वभौम सम्राट् माना जाता था। प्राचीन भारतीय राज्य के सप्तांग-सिद्धान्त को एक बार पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया गया। राजा का चयन किया जाता था, जिसमें मंत्रियों एवं नायकों की निर्णायक भूमिका होती थी। राजा का विधिवत् राज्याभिषेक किया जाता था तथा उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करे तथा राज्य-शासन को कड़ाई के साथ संचालित करे। राजा केन्द्रीय प्रशासन के समस्त आदेशों एवं निर्णय का अंतिम निर्णायक केन्द्र-बिन्दु था। वही युद्ध के समय शांति एवं संधि तथा समस्त उच्चपदों पर अधिकारियों की नियुक्ति का आदेश देता था। राजा की सहायता 'युवराज' करता था, जो सामान्यतः राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता था। राजा द्वारा नियुक्त युवराज का वैदिक रीति से 'युवराज पट्टाभिषेकम्' होता था। युवराज के रूप में उसे साहित्य, कला, युद्धविद्या तथा कूटनीति आदि विद्याओं से सुशिक्षित किया जाता था।

पाण्ड्य शासकों की भाँति विजयनगर के शासकों ने भी एक साथ दो बंधु-राजाओं के संयुक्त शासन को संचालित किया था। उदाहरणार्थ, हरिहर एवं बुक्का भाईयों ने मिलकर विजयनगर साम्राज्य को संगठित किया। ऐसे ही विजयराय और देवराय ने भी मिलकर शासन किया। युवराज यदि अभिषेक के समय कम उम्र का होता था तो राजा अपने विश्वसनीय तथा योग्य मन्त्री को उसका संरक्षक नियुक्त कर देता था। इन योग्य संरक्षक मंत्रियों में रामराय, वीर नरसिंह तथा नरसा नायक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन संरक्षक मन्त्रिगणों ने अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए विजयनगर साम्राज्य की शक्ति को समय-समय पर बहुत क्षीण कर दिया था, जिसके कारण इस साम्राज्य का पतन भी अवश्यंभावी हो गया।

विजयनगर साम्राज्य के नृपतिगण धर्म के अनुकूल न्याय एवं कानून में समता का अनुपालन करते थे। वे कृषकों, शिल्पियों तथा व्यापारिक वर्गों के बीच उठने वाले विवादों को आपस में समझौते के सिद्धान्त पर तय कराने के पक्षधर थे। काश्तकारों के शोषण को रोकने के लिए उन्होंने अनेक राज्याज्ञाओं को जारी किया था, जिनकी संपुष्टि तत्कालीन अभिलेखों से होती है। राजा न्यायव्यवस्था का सर्वोच्च न्यायाधीश था। राजा समग्र रूप में सर्वाधिकारी होते हुए भी

निरंकुश नहीं था। वह शास्त्रों में, जन-समितियों में तथा न्यायोचित शासन में विश्वास रखता था और उसका यही विश्वास उसे निरंकुश शासक बनने से रोकता था। कृष्णदेव राय के ग्रन्थ **'आमुक्त-माल्यद'** में उक्त आदर्शों की रक्षा को ही राजा का मुख्य लक्ष्य बताया गया है। राजा की शक्ति को तत्कालीन राजपरिषद् नियंत्रित करती रहती थी, क्योंकि राजा इसके सदस्यों की राय से ही राजाज्ञा जारी करता था। यही परिषद् राजा का चयन, अभिषेक तथा राज्य-प्रशासन-व्यवस्था को संचालित करती थी। इसके अतिरिक्त राजा को परामर्श देने वाली उच्च पदाधिकारियों की तथा सामुदायिक समितियों द्वारा चयनित समितियाँ भी होती थीं। उक्त परिषदों के केन्द्र में एक मन्त्रिपरिषद् होती थी जिसका प्रधान **'महाप्रधानी'** अथवा **'प्रधानी'** होता था। इस मन्त्रिपरिषद् में कुल 20 सदस्य होते थे, जिनमें महाप्रधानी के अतिरिक्त सभानायक, मन्त्री, उपमंत्री तथा विभिन्न समितियों के अध्यक्ष होते थे। 50 वर्ष से 70 वर्ष के बीच के विद्वान् एवं कर्मठ ब्राह्मणों को भी कभी-कभी मन्त्रि-परिषद् का सदस्य नियुक्त किया जाता था। विजयनगर राज्य के नृपतिगण इसी केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् से गंभीर मामलों में मन्त्रणा करके स्व-विवेक से न्यायोचित निर्णय लिया करते थे। केन्द्रीय प्रशासन में मन्त्रिपरिद् के अतिरिक्त **'दण्डनायक'** नामक उच्चाधिकारी होते थे, जो सेनापति, प्रान्तपति, न्यायाधीश अथवा अन्य उच्च पदों पर नियुक्त किए जाते थे। केन्द्रीय अधिकारियों की तीसरी श्रेणी **'कार्यकर्त्ता'** कहलाती थी, जिसके अधिकारीगण साम्राज्य-प्रशासन को नियन्त्रित करने में बड़े सहायक थे।

केन्द्रीय प्रशासन एवं उसके दस्तावेजों के रख-रखाव हेतु विजयनगर राज्य में एक सचिवालय की स्थापना की गई थी। इसके अनेक विभाग थे, जिसे **'रायसम'** (अथवा सचिव) तथा **'कर्णिकम्'** अथवा **'लेखाकार'** जैसे अधिकारीगण संभालते थे। जो अधिकारी शाही मुद्रा को संग्रहीत करता एवं संभालता था, उसे **'मुद्राकर्त्ता'** कहा जाता था।

प्रान्तीय प्रशासन :

विजयनगर के विशाल साम्राज्य को शासन की सुविधा की दृष्टि से कई प्रान्तों अथवा मण्डलों में विभक्त किया गया था। इन प्रान्तों की संख्या प्रायः घटती-बढ़ती रहती थी, फिर भी कृष्णदेव राय के शासनकाल में इनकी संख्या सर्वाधिक बढ़ गई थी। प्रान्त को मण्डल में और मण्डल को **'कोट्टम'** (जनपद) अथवा 'वलनाडु' में बाँटा गया था। मण्डल की भौगोलिक तथा राजनीतिक परिसीमा को लेकर कुछ इतिहासकारों में मतभेद रहा है, क्योंकि कतिपय इतिहासविदों ने मण्डल को प्रान्त से बड़ी इकाई माना है। वस्तुतः प्रान्तों का स्वरूप मण्डल जैसा ही रहा होगा। **'कोट्टम'** (जिला) को **'नाडुओं'** (परगना) में तथा **'नाडुओं'** को **'मेलाग्रामों'** (ग्राम समूहों) में विभाजित किया गया था। एक 'मेलाग्राम' में कम से कम 50 ग्राम सम्मिलित रहते थे। 'मेलाग्राम' को **'स्थल'** (छोटे ग्राम-समूह) तथा **'सीमा'** (उससे भी छोटे ग्राम-समूह) में बाँटा गया था।

साम्राज्य-शासन की सबसे छोटी इकाई **'ऊर'** अथवा **'ग्राम'** होता था। प्रत्येक प्रान्त की परिसीमा-निर्धारण में उसमें उपस्थित महत्त्वपूर्ण दुर्गों तथा सामरिक स्थितियों पर सर्वाधिक ध्यान रखा जाता था। प्रान्तों का प्रशासन प्रान्तपति अथवा गवर्नर के अधीन रखा जाता था, जो या तो राजपरिषद् का योग्य सदस्य होता था अथवा राजा का परम विश्वासपात्र दण्डनायक। प्रान्तपतियों को केन्द्र प्रशासन की ओर से अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। वे अपना सिक्का प्रचलित कर सकते थे, आवश्यकतानुसार नए कानून बना सकते थे, नया कर लगा सकते थे, भूमि-दान कर सकते थे, अधिकारियों की नियुक्ति कर सकते थे तथा पुराने करों को समाप्त कर सकते थे। प्रान्तपतियों का कार्यकाल उनकी राजा के प्रति स्वामिभक्ति, सामरिक दक्षता तथा प्रशासकीय योग्यता पर निर्भर करता था। प्रान्त में जनता के हित तथा न्याय एवं कानून व्यवस्था को सुदृढ़ बनाए रखना प्रान्तपति का प्रमुख दायित्व होता था। प्रान्त के राजकोष में वसूले गए राजस्व का एक निर्धारित हिस्सा केन्द्रीय राजकोष में जमा किया जाता था। प्रान्तपति कभी-कभी केन्द्र में कमजोर शासक पाकर स्वयं अपनी शक्ति-विस्तार में सक्रिय भी हो जाते थे, जिससे उनका विद्रोही रूप भी सामने आ जाता था।

विजय नगर साम्राज्य-प्रशासन में प्रान्तपति के समान अथवा उससे किञ्चित् कम, किन्तु महत्त्वपूर्ण राज्याधिकार **'नायंकरों'** को प्राप्त था। 'नायक' अर्थात् 'सेनानायक' की नियुक्ति स्वयं राजा करता था, जिसका प्रमुख दायित्व सेना का संगठन करना, आवश्यकता पड़ने पर सेना सहित राजा के साथ युद्ध में सम्मिलित होना तथा अपने सैन्य-क्षेत्र में रहने वाली जनता की सुरक्षा करना आदि था। इस कार्य के लिए नायकों को शासकगण लम्बी-लम्बी जोत के भू-खण्ड प्रदान करते थे, जिसे **'अमरम्'** कहा जाता था। नायकों को **'अमरम्'** भूमि से प्राप्त राजस्व के एक अंश को केन्द्रीय राजकोष में जमा करना पड़ता था। **'अमरम्'** से प्राप्त लम्बी राजस्वराशि से नायक अपना तथा अधीनस्थ सैनिकों का खर्च चलाता था। इस तरह नायकगण अपने-अपने 'अमरम्' पर सामंत की भाँति शासन करते थे। किन्तु यदि वे राजा की इच्छा के विपरीत अथवा अपने दायित्व से विमुख होते थे तो उन्हें 'अमरम्' के अधिकार से हटा दिया जाता था। फिर भी, नायंकरों को केन्द्रीय प्रशासन की ओर से अनेक स्वतन्त्र तथा विशेषाधिकार प्राप्त थे। यही कारण है कि कतिपय इतिहासकारों ने विजयनगर राज्य की नायंकर-व्यवस्था को 'प्रान्तीय शासन-व्यवस्था' के समतुल्य घोषित किया है। परन्तु नायंकर-व्यवस्था प्रान्तीय व्यवस्था से भिन्न रही होगी क्योंकि इनके प्रतिनिधि दो उच्च अधिकारी राजधानी विजयनगर में नियुक्त किए जाते थे, जो केन्द्रीय प्रशासन तथा नायंकर व्यवस्था के बीच संपर्क अधिकारी का कार्य करते थे। इनमें से एक अधिकारी नायंकरों की सेना का प्रतिनिधित्व करते हुए सेनापति का दायित्व निभाता था तथा दूसरा अधिकारी 'अमरम्' के राजस्व का लेखा-जोखा तथा केन्द्र-नायंकर राज्य संपर्क का दायित्व निभाता था। कालान्तर में केन्द्रीय प्रशासन के कमजोर पड़ने पर इन नायकों ने विद्रोह करना शुरू कर दिया था तथा अन्ततः साम्राज्य को

पतनोन्मुख बनाने में अहं भूमिका भी प्रस्तुत की थी । यही कारण है कि विद्रोही नायकों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए **'महामण्डलेश्वर'** नायक जैसे शक्तिसम्पन्न अधिकारियों की नियुक्ति की गई थी। महामण्डलेश्वरों की नियुक्ति अच्युतदेव राय के शासनकाल में की गई, क्योंकि कृष्णदेव राय की मृत्यु के उपरान्त नायकगण अत्यन्त उच्छृंखल हो गए थे ।

स्थानीय शासन-व्यवस्था :

चालुक्यों तथा चोलों द्वारा स्थापित स्थानीय स्वायत्त शासन-प्रणाली दक्षिण भारत में दीर्घकाल तक न्यूनाधिक समादृत बनी रही । ग्राम-शासन के संदर्भ में **'सभा'** तथा **'ऊर'** पहले की ही तरह प्रभावशाली बने रहे । विजय नगर राज्य के कतिपय प्रदेशों में **'सभा'** को **'महासभा'** तथा **'ऊर'** को **'महाजन'** नाम से भी संबोधित किया जाता था । इसी प्रकार **'नाडु'** (गाँवों की सबसे बड़ी शासकीय इकाई) प्रशासन भी संचालित होता था । तत्कालीन आभिलेखिक साक्ष्यों से भी स्थानीय स्वशासन- प्रणाली की संपुष्टि होती है। परन्तु विजयनगर साम्राज्य-शासन-काल में धीरे-धीरे पारम्परिक स्थानीय स्वशासन-व्यवस्था क्षीण होती गई । नायंकर व्यवस्था, आयगार-व्यवस्था तथा विभिन्न मन्दिरों, मठों, ब्रह्मदेयों एवं अग्रहारों आदि के भूमि तथा स्थानीय शासन में बढ़ते हुए अधिकारों. के चलते चोलों के समय स्थापित स्थानीय स्वायत्त शासन का ढाँचा लगभग टूट चुका था । ग्राम-संस्थाएँ यथा, 'नाडु' 'सभा' तथा 'ऊर' के अधिकारों में कालान्तर में बड़ी कमी आ गई थी तथा ग्रामीण जन नवोदित भू-पतियों के शोषण के शिकार हो चुके थे ।

विजयनगर के स्थानीय स्वशासन तन्त्र को सर्वाधिक नुकसान **'आयगार-व्यवस्था'** से हुआ । इस नवोदित शासकीय व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव को एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में संगठित किया गया । इस ग्राम इकाई पर शासकीय व्यवस्था की देख-रेख के लिए 12सदस्यों के शासकीय अधिकारियों का एक समूह बनाया गया था, जिसे **'आयगार'** कहा जाता था । इन आयगार अधिकारियों की नियुक्ति केन्द्रीय शासन की ओर से की जाती थी । इनके पद बाद में आनुवंशिक हो गए थे । ये आयगार अधिकारी अपने पद को स्वयं बेच अथवा गिरवी भी रख सकते थे । उन्हें अपनी सेवाओं के बदले राज्य की ओर से करमुक्त भूमि दी जाती थी । वे राजस्व वसूली के अतिरिक्त ग्रामीण भूमि के क्रय-विक्रय, दान तथा स्थानान्तरण आदि पर पूर्ण नियन्त्रण रखते थे। वे भूमि-सम्बन्धी दस्तावेजों को अपने पास सुरक्षित रखते थे तथा उनकी आज्ञा के बिना कोई भी काश्तकार अपनी भूमि न तो दान कर सकता था और न ही बेच सकता था। आयगार अधिकारियों का दूसरा प्रमुख दायित्व अपने क्षेत्र में शांति एवं सुरक्षा की देख-रेख करना भी था।

राजस्व-व्यवस्था :

विजयनगर राज्य बहुत विशाल था तथा राज्य की आय के अनेक स्रोत थे । भू-लगान के अतिरिक्त राज्य को व्यापार-कर, संपत्ति-कर, उद्योग कर, व्यवसाय

कर, सामाजिक तथा सामुदायिक कर तथा विभिन्न न्यायालयों द्वारा लगाए जाने वाले अर्थदण्ड आदि से राजस्व की प्राप्ति होती थी।

भूमि पर लगाए जाने वाला लगान-कर राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था। भूमि को उसकी प्रकृति, उर्वराशक्ति के आधार पर अनेक वर्गों में विभाजित किया गया था। इस प्रकार सभी वर्ग की भूमि पर, जिसका मनुष्य किसी भी रूप में उपयोग करता था, उत्पादकता के आधार पर लगान की राशि तय की जाती थी। भूमि के वर्गीकरण के अतिरिक्त फसलों के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया जाता था। कृषि-कार्य से परे चरागाह वाली भूमि पर भी चरवाही कर लगाया जाता था। लगान का निर्धारण मुख्यतः भूमि की उत्पादकता के आधार पर अथवा कृषि-उत्पादन के आधार पर किया जाता था। खेती पर लगान की दरें पूरे साम्राज्य में भिन्न-भिन्न थीं। फिर भी, सामान्यतया ब्राह्मण-भू-स्वामियों से उनकी उपज का बीसवाँ भाग तथा मन्दिरों के अधीन भूमि की उपज का तीसवाँ भाग लगान के रूप में लिया जाता था। लगान की दरों में प्राप्य वैविध्य का प्रमुख कारण विभिन्न प्रकार का भू-स्वामित्व था।

भू-राजस्व के अतिरिक्त राज्य की आय के स्रोत विभिन्न प्रकार के अन्य कर थे। राज्य की ओर से व्यवसाय कर, मनोरंजन कर, औद्योगिक कर, मकान कर, पशु कर एवं संपत्ति कर आदि वसूला जाता था। इस काल के प्रचलित करों में **'विवाह-कर'** एक सामाजिक एवं सामुदायिक कर था, जो वर एवं कन्या दोनों पक्षों से उनके द्वारा विवाह-कार्य में किए जाने वाले कुल खर्चे के अनुसार कम-ज्यादा वसूल किया जाता था। परन्तु विधवा-विवाह में यह कर किसी भी पक्ष से वसूल नहीं किया जाता था। इस काल में करों की संख्या अधिक अवश्य थी परन्तु उनकी दर या मात्रा अधिक नहीं थी। साथ ही साथ इन करों को जनता के कल्याणार्थ यथासंभव सही ढंग से खर्च भी किया जाता था। आपत्काल में राज्य की ओर से लगे करों को बहुत कुछ माफ भी कर दिया जाता था। विजयनगर राज्य द्वारा प्रजापालन एवं जनकल्याणकारी राजस्व-व्यवस्था अत्यन्त सराहनीय मानी जा सकती है। उनके द्वारा संचालित आयगार-व्यवस्था तथा राजस्व-व्यवस्था अंग्रेजों के शासनकाल तक थोड़े-बहुत संशोधन के साथ दक्षिण भारतीय प्रशासन में मान्य बनी रही।

परिशिष्ट—I

श्री आद्य शङ्कराचार्य

श्री आद्य शंकराचार्य भारतवर्ष की एक अप्रतिम दिव्य विभूति थे। आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व जन्में इस महापुरुष की कीर्ति-कौमुदी अद्यावधि सर्वथा अक्षुण्ण है तथा संपूर्ण विश्व को आलोकित कर रही है। उनका आविर्भाव किस समय हुआ—यह आज भी विवाद का विषय है। उनकी जन्म-तिथि के विषय में अब तक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने निम्न तिथियों की छानबीन प्रस्तुत की है। कोलब्रुक के अनुसार उनका आविर्भाव 800 ई० से लेकर 900 ई० के मध्य प्रतिपादित किया जा सकता है। टेलर ने 900 ई०, हागसन् ने 800 ई० विल्सन ने 800-900 ई० मैक्समूलर, कृष्णस्वामी और पाठक ने 78 ई०, तेलङ्ग तथा तिलक ने 688 ई०, राजेन्द्र नाथ घोष ने 686 ई०, तक रामावतार शर्मा ने 701 शक-संवत् से 765 शक-संवत् के मध्य शंकराचार्य के जन्म-तिथि का प्रस्ताव प्रस्तुत किया है। उपलब्ध साहित्यिक साक्ष्यों को संक्षिप्त करते हुए उपर्युक्त मतों के सार तत्व को आधार मानकर आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है कि शंकराचार्य का जन्म संभवत: 7वीं शती के अन्तिम काल में मानना सर्वथा प्रमाण-सङ्गत प्रतीत होता है। अधिकांश विद्वान् इनकी तिथि 788 तथा 820 ई० के मध्य ही स्वीकार करते है।

जन्म और बाल्यकाल—भारत के सुदूर दक्षिण में स्थित केरल प्रान्त में पूर्णा नदी के तटवर्ती कालटी ग्राम में शंकराचार्य का जन्म हुआ था। इसी प्रकार आनन्दगिरि के अनुसार उनका जन्म तमिलनाडु में चिदम्बरम् में हुआ। साहित्यिक साक्ष्यों के आकलन के आधार पर उनका आविर्भाव वैशाख-शुक्ल-पंचमी को हुआ। उनके पिता का नाम शिवगुरु तथा माता का नाम सती, सुभद्रा अथवा विशिष्टा था जो नम्बूदरी ब्राह्मण कन्या थीं।

शंकराचार्य का अवतरण महान् विभूति के रूप में हुआ—इसका प्रमाण उनके बचपन से ही मिलने लगा था। वे विलक्षण प्रतिभा के धनी शिशु थे। तीन वर्ष की आयु में ही उन्होंने अपनी मातृभाषा मलयालम की भलीभाँति सीख ली थी। पिता की बड़ी अभिलाषा थी कि बालक शंकर का उपनयन-संस्कार शीघ्र करा दिया जाय तथा गुरुकुल में उसे संस्कृत-भाषा का सम्यक् ज्ञान कराया जाय। परन्तु इसी बीच वे दिवंगत हो गए। तब शंकर की माता ने पांचवे वर्ष की आयु में अपने पति की अभिलाषा की संपूर्ति हेतु बालक का यज्ञोपवीत-संस्कार संपन्न कराया। गुरुकुल में पहुँचकर बालक शंकर ने शास्त्र-अनुशीलन तथा अपनी कुशाग्र मेधा से आश्रमवासियों को चमत्कृत कर दिया। मात्र दो वर्षों में उन्होंने सकलशास्त्रों को पारंगत कर लिया तथा सातवर्ष की आयु में अपने घर लौटकर स्वयं विद्यादान करने लगे। शंकर की अद्‌भुत् विद्वत्ता तथा अध्यापन-कुशलता की चर्चा दूर-दूर तक फैल गई। तत्कालीन केरल-नरेश राजशेखर ने अपने मंत्री को सोने की अशर्फियों के उपहारों के साथ उन्हें राजदरबार में आमंत्रित करने

के लिए भेजा। परन्तु पूर्ण विरक्त शंकर ने उपहार सहित राजा के आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया। फलतः राजशेखर ने उनका दर्शन करने कालटी ग्राम की यात्रा स्वयं की थी। शंकर की मातृ-भक्ति भी अप्रतिम थी। आठ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने माता की अनुमति से पूर्ण सन्यास ग्रहण कर लिया। सन्यास-मार्ग में प्रवेश करते समय मातृभक्त शंकर ने अपनी माता की इच्छा के अनुसार उन्हें यह वचन दे दिया था कि मै तुम्हारी मृत्यु के समय घर पर अवश्य उपस्थित रहूँगा तथा सन्यासधर्म को अल्पकाल के लिए एक तरफ रखकर अन्तिम संस्कार भी अवश्य पूरा करूँगा। उन्होंने सन्यास-धर्म के विपरीत ऐसा ही करके अपनी मातृ-भक्ति को चरितार्थ भी किया।

अपने जन्मस्थल केरल देश से चलकर शंकर मध्यभारत में नर्मदा नदी के तट पर आए और यहीं उन्होंने स्वामी गोविन्द भगवत्पाद से सन्यास-दीक्षा ग्रहण की। गुरोंपदिष्ट योग-मार्ग से साधना आरम्भ कर शंकर अल्पकाल में ही पूर्ण सिद्ध महात्मा हो गए। अपने गुरु की आज्ञा से वे काशी चले आए तथा भगवान् शंकर की उपासना में लग गए। वे महान् सारस्वत-आचार्य थे। काशी में उनके पाण्डित्य एवं अप्रतिम तेज की ख्याति दिनोदिन बढ़ने लगी तथा लोग उनका शिष्यत्व ग्रहण करने लगे। उस समय उनकी अवस्था मात्र 12 वर्ष की थी। कहा जाता है कि एक दिन मध्यान्हकृत्य के निमित्त गंगा-तट पर जाते समय स्वयं भगवान शंकर ने चाण्डाल के भेश में आचार्य शंकर की परीक्षा ली तथा उन्हें अद्वैत तत्त्व का वास्तविक बोध कराया—

'ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्र-विस्तारितं।
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयशेषं मया कल्पितम्॥
इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले।
चाण्डालोऽस्तु सतु द्विजोऽस्तुगुरुरित्येषा मनीषा मम॥"

परम्परानुसार चाण्डाल-वेशधारी शिव ने शंकर को अपना दर्शन देकर उन्हें वादरायण कृत 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखने तथा अद्वैत ब्रह्म के प्रतिपादन के लिए प्रेरित किया। शंकर ने अपने प्रमुख शिष्य सनन्दन, जिन्हें पश्चात् पद्मपादाचार्य नाम से जाना गया तथा अन्य सन्यासी शिष्यों के साथ बदरिकाश्रम के लिये प्रस्थान किया जो भगवान वेदव्यास की तपोभूमि तथा नर-नारायण का निवासक्षेत्र था। काशी से बदरिकाश्रम तक की यात्रा में उन्होंने नर-बलि, तन्त्र-साधना तथा अन्य साधनाओं की प्रथा से हटकर स्थान-स्थान पर लोगों को एकात्मवाद का मर्म समझाया तथा बदरिकाश्रम पहुँच कर वहाँ यज्ञ-ब्रह्म की चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा की स्थापना करके ज्योतिर्मठ की स्थापना की। उन्होंने अपने शिष्यों को अद्वैत तत्त्व को समझाते हुए उन्होंने अनेक भाष्य-ग्रन्थ लिखे। कहा जाता है कि जब भाष्यलेखन का काम पूरा हो गया तो एक दिन एक ब्राह्मण ने उनके समीप आकर गंगातट पर उनसे एक सूत्र का अर्थ पूछा। इस सूत्र पर दोनों के बीच आठ दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। तत्पश्चात् शंकर को ज्ञात हुआ कि शास्त्रार्थरत ब्राह्मण स्वयं भगवान वेदव्यास हैं। वेदव्यास ने उन्हें अद्वैतवेदान्त का प्रचार करने की आज्ञा दी तथा अपने तप-बल से उनकी 16 वर्ष की विधि-नियत आयु को एतत्कार्य को संपादित करने हेतु बढ़ाकर 32 वर्ष कर दी। फलतः शंकराचार्य अद्वैतमत के प्रचारार्थ धर्म दिग्विजय के लिए निकल पड़े।

वदरिकाश्रम से कुरुक्षेत्र होते हुए शंकराचार्य कश्मीर की राजधानी श्रीनगर पहुँचे और शारदा देवी के सिद्ध-पीठ में आचार्यों के वीच अपने भाष्य को प्रमाणित कराया। पुन: वदरिकाश्रम लौटकर अन्य ग्रन्थों पर भाष्यलेखन का कार्य पूरा किया। इस प्रकार 12 वर्ष से 15 वर्ष की अवस्था के भीतर उन्होंने अनेक ग्रंथ तैयार कर दिया। पुन: वे प्रयाग के संगम-तट पर आये जहाँ उनकी भेंट आचार्य कुमारिल भट्ट से हुई। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में उपर्युक्त आचार्यों की भेंट अतीव महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है क्योंकि दोनों ही आचार्य अपने समय के युगान्तर उपस्थित करने वाले महापुरुष थे। कुमारिल भट्ट ने अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथों के द्वारा नास्तिक वौद्ध-धर्माचार्यों द्वारा आर्य धर्म के कर्मकाण्ड पर आरोपित आक्षेपों का मुहतोड़ उत्तर देकर उसकी देश में पुन: प्राण-प्रतिष्ठा की थी। इसी प्रकार आचार्य शंकर ने भी वैदिक-धर्म के ज्ञानकाण्ड के ऊपर नास्तिक जैनों एवं वौद्ध-धर्माचार्यों के खण्डनों का तार्किक उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया था। अत: उपर्युक्त दोनों मनीषियों ने भारतवर्ष में एकवार पुन: वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड की महत्ता स्थापित कर दी तथा नास्तिकों से पारम्परिक वैदिक धर्म की रक्षा की। कुमारिल भट्ट परम्परा के अनुसार दाक्षिणात्य तिव्वती (चूड़ामणि राज्य अथवा चोल देश के थे परन्तु आनन्दगिरि की शङ्कर-दिग्विजय नामक ग्रन्थ में उन्हें उत्तर भारतीय (उदग् देश) क्षेत्र का निवासी वताया गया है (भट्टाचार्योद्विजप्रवर कश्चित् उदग् देशात् समागत्य दुष्टमतावलम्विनो वौद्धान जैनान् असंख्यातान् निर्जित्य निर्भयो वर्तते)। कुमारिल के कई परम विद्वान् शिष्य हुये जिन्होंने मीमांसा-शास्त्र का विशेष प्रचार करके भारत में धार्मिक क्रान्ति पैदा कर दी। इनमें प्रमुखत: तीन-प्रभाकर, मण्डन मिश्र तथा उम्वेक (अथवा भवभूति) विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रयाग में संगम के तट पर कुमारिल भट्ट तुषानल में अपने ही पातकों के प्रायश्चित् हेतु शरीर जला रहे थे। संयोगत: इसी समय शङ्कराचार्य अपने शिष्यों के साथ वहाँ पहुँचे। शांकर भाष्य से प्रसन्न कुमारिल ने उन्हें मण्डन मिश्र से सम्पर्क करने तथा उन्हें वेदान्त-मार्ग में दीक्षित करने की सलाह दी मण्डन मिश्र सम्भवत: मिथिला के दरभंगा अथवा माहिष्मती नगरी के निवासी थे। मण्डन मिश्र उस समय अद्वैत से भिन्न वैदिक-मतावलम्वियों के शीर्षस्थ विद्वान् एवं आचार्य थे। उनकी पत्नी भारती (अम्वा अथवा उम्वा) भी शीर्षस्थ विदुषी थीं। शास्त्रों में अत्यन्त निष्णात होने के कारण उसे भारती, उभय भारती तथा शारदा आदि सम्बोधन प्राप्त थे। मण्डन मिश्र को व्रह्मा का तथा उनकी पत्नी भारती को सरस्वती का अवतार समझा जाता था। विद्वानों ने मण्डन मिश्र एवं शंकराचार्य के मध्य हुए शास्त्रार्थ के समय अपना निर्णय देने के लिए चोटी की विदुषी भारती को मध्यस्थ नियुक्त किया। शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र को पराजित होते देखकर भारती ने शंकर को अपने साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आमंत्रित किया तथा कामशास्त्र के ऊपर गूढ़तम् प्रश्नों से उन्हें निरुत्तर कर दिया। शङ्कराचार्य ने भारती से उक्त विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए एक माह की अवधि मांगी। इसी बीच वे राजा अमरुक के शरीर में अपना लिङ्ग-शरीर प्रविष्ट कर कामशास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। पश्चात् भारती ने आचार्य शंकर से शास्त्रार्थ होने पर अपनी पराजय स्वीकार कर ली। फलत: मण्डन मिश्र ने अपनी प्रतिज्ञानुसार शंकर से सन्यास धर्म ग्रहण कर लिया तथा आचार्य ने उन्हें 'सुरेश्वराचार्य' नाम दे दिया।

सपत्नीक मण्डन मिश्र को सन्यास-धर्म में दीक्षित करने के उपरान्त शंकराचार्य महाराष्ट्र गये तथा वहाँ शैवों तथा कापालिक आचार्यों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। दक्षिण की ओर बढ़ते हुये उन्होंने तुंगभद्रा नदी के तट पर एक भव्य मन्दिर का निर्माण कराया तथा उसमें शारदा देवी की प्रतिमा स्थापित कराई। वहाँ पर उन्होंने अपना एक मठ भी स्थापित किया, जिसे शृंगगिरि अथवा शृंगेरी-मठ नाम से जाना जाता है। इस मठ के अध्यक्ष मण्डन मिश्र नियुक्त किये गये।

शृंगेरी-मठ से उन्होंने अपने जन्म-स्थान की ओर प्रस्थान किया क्योंकि उनकी माता के स्वर्गवास के दिन समीप आ चुके थे। सन्यास-धर्म के विरुद्ध उन्होंने अपनी संपूज्या माता की अन्त्येष्टि-क्रिया-सम्पन्न कर उड़ीसा में जगन्नाथ पुरी की ओर प्रस्थान किया। यहाँ पहुँचकर उन्होंने गोवर्द्धन-मठ की स्थापना की तथा पद्मपादाचार्य को इसका अध्यक्ष बना दिया।

दक्षिणी भारत में उस समय वैष्णव-आलवारों तथा शैव-नायनारों के प्रभाव में हिन्दू धर्म का पुनर्जागरण हो रहा था। शंकराचार्य ने तत्कालीन चोल तथा पाण्ड्य राज्यों की सहायता प्राप्त कर दाक्षिणात्य जैन, बौद्ध, शाक्त, गाणपत्य तथा कापालिक सम्प्रदायों में बढ़ रहे अनाचार को नष्ट किया। तदुपरान्त वे मध्य भारत की ओर निकल पड़े तथा गुजरात प्रदेश में स्थित द्वारकापुरी में शारदामठ की नींव डाली। उत्तर भारत के तीर्थों की पुनर्यात्रा करते हुये वे आसाम के कामरूप-क्षेत्र में प्रविष्ट हुये। वहाँ उन्होंने शाक्तों तथा तान्त्रिकों से शास्त्रार्थ किया तथा उन्हें अद्वैत वेदान्त से अवगत कराया। आसाम से चलकर वे हिमालय पर्वत के बदरिकाश्रम पहुँचे तथा वहाँ ज्योतिर्मठ की स्थापना की। इस मठ के प्रथम अध्यक्ष के रूप में उन्होंने त्रोटकाचार्य को नियुक्त किया। उनकी अन्तिम यात्रा केदार-क्षेत्र की थी जहाँ पर रह कर कुछ समय पश्चात् वे ब्रह्मलीन हो गये।

शंकराचार्य विरचित प्रधान-ग्रन्थ—आदि शंकराचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का निर्णय करना सम्प्रति अति दुष्कर कार्य है क्योंकि अब तक ऐसे लगभग दो सौ ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं, जिनके प्रणयन का श्रेय आचार्य को दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित विभिन्न मठाधीश शंकराचार्यों ने भी अपने अनेक ग्रन्थ प्रतिष्ठाता-आचार्य की परम्परा में ही निर्मित किये। फलतः आदि शंकराचार्य द्वारा लिखित ग्रन्थो का ठीक-ठीक आकलन कठिन हो गया है। इन कठिनाइयों के होते हुये भी विद्वानों ने निम्नलिखित प्रधान ग्रन्थों को आदि शंकराचार्य की कृति स्वीकार किया है—

1. ब्रह्मसूत्र (शारीरक) भाष्य।
2. उपनिषद्-भाष्य (ईश, केन, कठ, प्रश्न, माण्डूक्य, मुण्डक, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, नृसिंह पूर्वतापनीय, श्वेताश्वर उपनिषद् आदि।
3. गीता-भाष्य
4. विवेक-चूड़ामणि
5. प्रबोध-सुधारक
6. उपदेश-साहसी

7. अपरोक्षानुभूति
8. पञ्चीकरण
9. प्रपञ्चसारतन्त्र
10. मनीषापञ्चम
11. आनन्द लहरी स्तोत्र आदि।

शंकराचार्य एवं अद्वैत वेदान्त—आदि शंकराचार्य के आविर्भाव काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष नाना साम्प्रदायिक मतवादों में दिग्भ्रमित था। जैन, बौद्ध, शाक्त तथा कापालिकों के प्रभाव से सारा देश प्रभावित था। फलतः वैदिक धर्म जिसका प्रतिपादन वेदान्त अथवा उपनिषदों में किया गया है, प्रायः लुप्तप्राय हो रहा था। कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड दोनों पर नाना सम्प्रदायों के गहरे आरोप विकसित किये जा रहे थे। ऐसे कठिन सांस्कृतिक संक्रमण काल में शंकराचार्य ने वैदिक धर्म एवं वेदान्त दर्शन को पुनः प्रतिष्ठित किया। उन्होंने जिस दार्शनिक सिद्धान्त 'अद्वैत वेदान्त' की स्थापना की उस पर चिरकाल से विश्व की मनीषा अद्यावधि मन्त्रमुग्ध है।

अद्वैत सिद्धान्त : आत्मा एवं अनात्मा—शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य लिखते समय सर्वप्रथम आत्मा और अनात्मा की सम्यक् विवेचना की है तथा सम्पूर्ण प्रपञ्च को दो भागों में बाँटा है—द्रष्टा और दृश्य। द्रष्टा वस्तुतः वह तत्व है जो सम्पूर्ण प्रतीतियों का अनुभव करता है तथा दृश्य वह तत्व है, जो अनुभव का विषय है। इनमें सम्पूर्ण प्रतीतियों का साक्षी तत्व आत्मा है तथा जो कुछ उसके अनुभव का विषय है वह अनात्मा है। आत्मा नित्य, निर्विकार, असंग कूटस्थ, निश्चल, निर्विशेष तथा एक है जबकि बुद्धि सहित भूतपर्यन्त सभी प्रपञ्च अनात्मा है तथा उसका आत्मा से सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान और अज्ञान—शंकराचार्य के अनुसार संसार की सम्पूर्ण प्रतीतियों के स्थान में एक अखण्ड ब्रह्म (सच्चिदानन्दघन) का अनुभव करना ही ज्ञान है। इसके विपरीत उस सर्वाधिष्ठान पर दृष्टि न रखकर भेद में सातत्य-बुद्धि रखना ही अज्ञान है।

साधन—परमसत् अथवा ब्रह्म-ज्ञान के लिए शंकराचार्य ने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को साक्षात् साधन बताया है, किन्तु इनकी सफलता ब्रह्मतत्व की तीव्र जिज्ञासा होने पर ही सम्भव है। इस जिज्ञासा की उत्पत्ति में प्रधान सहायक दैवी-सम्पत्ति है। उनके अनुसार जो मनुष्य विवेक, वैराग्य, शम आदि षट्-संपत्ति तथा मुमुक्षा आदि साधनों से सम्पन्न है, उसी को चित्त शुद्धि होने पर ब्रह्म जिज्ञासा हो सकती है। इस प्रकार की चित्त शुद्धि के लिए निष्काम कर्मानुष्ठान नितान्त उपयोगी साधन है।

भक्ति—शंकराचार्य ने भक्ति को ज्ञानोत्पत्ति का प्रधान साधन बताया है। 'विवेकचूडामणि' में उनका कथन है कि अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही भक्ति है (स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते) इस प्रकार उन्होंने सगुणोपासना की अपेक्षा नहीं की है।

कर्म और सन्यास—शंकराचार्य के मत के अनुकूल आचार के पद्धति की मीमांसा करते हुए पद्मपादाचार्य ने 'विज्ञानदीपिकाता' में कर्म के स्वरूप की गंभीर मीमांसा की है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्यों में स्थान-स्थान पर कर्मों के स्वरूप से त्याग करने पर

बल दिया है। कर्म की प्रबलता सर्वतोभावेन ग्राह्य है। यह भी सच है कि कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से ही यह संसार उत्पन्न होता है। वासना के ही कारण जीवों का सांसारिक आवागमन बना रहता है। अतः सांसारिक आवागमन से मुक्ति पाने के लिए कर्म का विनाश करना (निर्हरण) परमावश्यक है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—संचित, क्रियमाण तथा प्रारब्ध। संचित और क्रियमाण कर्म को तो ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है परन्तु प्रारब्ध कर्म को तो भोग के द्वारा ही क्षीण किया जाता है (प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षयः)। पद्मपादाचार्य ने विज्ञानदीपिका में लिखा है कि कर्म का क्षय कर्मयोग, ध्यान, सत्संग, जप, अर्थ और परिणाम के अवलोकन से किया जा सकता है—

> **"कर्मतो योगतो ध्यानत् सत्संगाज्जपतोऽर्थतः।**
> **परिपाकावलोच्च कर्मनिर्हरण जगुः॥"**

शंकराचार्य की धारणा है कि जीव की न तो कर्म से, न ही ज्ञान और कर्म के समुच्चय से, प्रत्युत केवल ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः)। अस्तु वे जिज्ञासु तथा बोधवान् दोनों के ही लिए कर्मसन्यास की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार निष्काम कर्म मात्र चित्त शुद्धि का हेतु है।

स्मृतिमत—शंकराचार्य ने भारतवर्ष में वर्णाश्रम धर्म-परम्परा को एक बार पुनरुज्जीवित कर दिया था। उन्होंने पञ्चदेवोपासना की परम्परा पर बल दिया जिसमें विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश तथा देवी परमात्मा के इन पांचों रूपों में से किसी को भी प्रधान मानकर और शेष को उसका अङ्गीभूत समझकर उपासना की जाती है। पञ्चदेवोपासना का मत स्मृति धर्म कहा जाता है क्योंकि स्मृतियों के अनुसार यह सभी के लिए ग्राह्य है। उन्हीं के प्रयास के फलस्वरूप भारतवर्ष में जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, संस्कार, उत्सव, प्रायश्चित् आदि परम्पराओं का उद्धार हुआ है।

दशनामी शिष्य-परम्परा—शंकराचार्य उनके जीवनकाल में ही चार प्रधान विद्वान् शिष्य हुए—पद्मपाद (सनन्दन), हस्तामलक, सुरेश्वर (मन्डनमिश्र) तथा त्रोटक। इनमें पद्मपाद के शिष्य हुए—तीर्थ और आश्रम। हस्तामलक के शिष्य थे वतन और अरण्य। सुरेश्वर के शिष्य हुए—गिरि, सागर तथा पर्वत। इसी प्रकार त्रोटकाचार्य के भी तीन शिष्य हुए—पुरी, भारती और सरस्वती। इस प्रकार इन्हीं दस शिष्यों के नाम से अवान्तर काल में शंकरानुगत सन्यासियों के दश सम्प्रदाय चले, जिन्हें 'दशनामी-सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। शंकराचार्य द्वारा भारत के चारों दिशाओं में स्थापित चार मठों में इन दश प्रशिष्यों की दशनामी परम्परा आज तक चली आ रही है। इनमें पुरी, भारती और सरस्वती की परम्परा शृंगेरीमठ की, तीर्थ और आश्रय शारदामठ (द्वारका) की, वन और अरण्य गोवर्द्धन-मठ (रीपु) की तथा गिरी, पर्वत और सागर ज्योतिमठ (बद्रिकाश्रम) के अन्तर्गत आते हैं। प्रत्येक दशनामी सन्यासी आज भी इन्हीं मठों में से किसी न किसी से सम्बद्ध है। सनातन धर्म की रक्षा में इन मठों तथा सन्यासियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उपर्युक्त चार मठों के अध्यक्ष परम्परया 'शंङ्कराचार्य' ही कहे जाते रहे हैं। प्रायः मठाधीश, शंङ्कराचार्य की नियुक्ति उनकी विद्वता तथा पूर्ण सन्यासी-वृत्ति के आधार पर होती आई है।

परिशिष्ट—II

शिलप्पदिकारम्

अधिकांश इतिहासकार अब यह मानने लगे हैं कि संगमयुग की साहित्यिक परम्परा ईसा की 7वीं 8वीं शताब्दियों तक प्रवहमान रही है। इसी परम्परा में **'शिलप्पदिकारम्'** तथा अन्य चार महाकाव्यों, यथा, **मणिमेकलै, जीवकचिन्तामणि, वलयपति और कुण्डलकेशि** को रखा जाता है। इन्हें 'ठेठ संगम-साहित्य' तो नहीं कहा जा सकता है, परन्तु इनमें संगमकालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन परम्परा को आलोकित अवश्य किया गया है।

'शिलप्पदिकारम्' का तात्पर्य है 'नूपुर की कहानी'। एक परम्परा के अनुसार इस महाकाव्य की रचना राजा सेनगुट्टवन के भाई **इलांगो 'आदिगल'** ने किया था। वह ईसा की दूसरी शताब्दी का महान् तमिल काव्यकार था। परन्तु **'शिलप्पदिकारम्'** की रचना-तिथि बड़ी विवादास्पद है। कुछ विद्वान् इसमें वर्णित विषयवस्तु के आधार इसे संगम युग (100-300 ई०) की रचना मानते हैं। किन्तु अधिकांश लोग इसे 7वीं अथवा 8वीं शताब्दी की ही रचना स्वीकार करते हैं। तिथि जो भी रही हो, इस महाकाव्य के आन्तरिक स्वरूप में संगमयुगीन सामाजिक संस्कृति का पूर्ण दर्शन होता है।

'शिलप्पदिकारम्' महाकाव्य की कथावस्तु बड़ी रोचक तथा मार्मिक है। इम्सें कोवलन एवं कणक्कि के दु:खद जीवन की कारुणिक जीवनवृत्ति को दर्शाया गया है। कथा कुछ इस प्रकार की है। पुहार (कावेरी पट्टिनम्) के एक धनी मानी व्यापारी का पुत्र कोवलन रूप एवं यौवन-सम्पन्न था। उसका विवाह प्रारंभिक तमिल सामाजिक परम्परा के अनुसार **'कणक्कि'** नामक एक सुन्दर कन्या के साथ सम्पन्न हुआ था। विवाहोपरान्त दोनों युवा-दम्पति कुछ समय तक प्रमुदित होकर जीवन व्यतीत करते रहे। कोवलन श्रेष्ठीपुत्र होने के साथ ही आकर्षक युवक भी था। संयोगवश एक दिन उसकी भेंट एक नृत्य समारोह में माधव नाम की एक परमसुन्दरी नर्तकी से हो गई। दोनों धीरे-धीरे एक दूसरे के प्रेमपाश में बँधकर परस्पर संयुत हो जाते हैं। रूप एवं यौवन से विलसित माधवी नामक प्रेयसी नृत्यांगना को प्राप्त करने के चक्कर मे कोवलन अपनी विवाहिता पत्नी कणक्कि, माँ-बाप तथा संपत्ति आदि की उपेक्षा करने लगता है। प्रेयसी माधवी पर निछावर कोवलन ने धीरे-धीरे अपनी सारी संपत्ति, यहाँ तक कि अपनी पत्नी के आभूषणों तक को उसे देकर कर अन्ततः कंगाल हो जाता है। संपत्तिहीन हो जाने पर प्रेयसी माधवी उसकी गंभीर उपेक्षा करने लगती है। उसके बदले हुए व्यवहार से अतिशय दु:खी होकर कोवलन पुनः अपनी पत्नी कणक्कि की शरण में

आकर अपने किए हुए अमर्यादित व्यवहार का प्रायश्चित्त करता है। कणक्कि एक आदर्श पत्नी-चरित्र का परिचय देते हुए उसे फिर से सही जीवन जीने के लिए सान्त्वना देती है। कणक्कि ने कोवलन के माँगने पर अपने सारे आभूषण पहले ही उसे दे दिया था। उसके पास मात्र सुहाग की एक निशानी नूपुर भर बचा था। वह बड़ी प्रसन्नता के साथ अपना नूपुर उतारकर अपने पति को दे देती है। इस नूपुर को बेंचकर उससे प्राप्त होने वाले धन को व्यापार में लगाकर अपनी संपत्ति को बढ़ाने के उद्देश्य से दोनों पति-पत्नी कावेरीपट्टिनम् नगर का परित्याग कर मदुरा चले जाते हैं। मदुरा में पहुँचकर कोवलन अपनी पत्नी कणक्कि को एक स्थान पर बैठाकर एक नूपुर को बेचने के लिए एक आभूषण-विक्रेता की दुकान पर जाता है। उधर बाजार में उसी समय इस बात का ऐलान किया जा रहा था कि पाण्ड्य-नरेश नेडुञ्जेलियन की रानी का नूपुर चोरी चला गया है, अस्तु, जिस किसी को वह नूपुर मिले वह उसे तथा चुराने वाले को राजा के हवाले कर दे। जौहरी दूकानदार कोवलन को नूपुर के साथ देखते ही उस पर रानी के नूपुर चुराने का आरोप लगाकर उसे राजा के रक्षकों को सौंप देता है। राजा नेडुञ्जेलियन जौहरी द्वारा लगाए गए इल्जाम को एकतरफा सुनकर बिना पूरी जाँच पड़ताल किए ही बन्दी कोवलन को मौत की सजा दे देता है। दुर्भाग्य की मारी कणक्कि को अपने प्यारे पति के मरने का समाचार मिलते ही वह सबसे पहले तो गहरे शोक में डूबकर मूर्च्छित हो जाती है। बाद में जौहरी तथा पाण्ड्य-नरेश द्वारा बिना जाँच-पड़ताल के ही कोवलन के मौत की सजा को राजा के दरबार में जाकर वह गलत सिद्ध कर देती है। वह अपने पास बचे उस एक नूपुर को राजा को दिखाती है, जिसका दूसरा हिस्सा कोवलन जौहरी की दूकान पर बेंचने के लिये गया हुआ था। राजा को वह अपनी पूर्व-कहानी सुना देती है, जिसके कारण उसे मदुरा आना पड़ा था। राजा ने अवशिष्ट नूपुर को देखकर यह समझ लिया कि यह रानीवाला नूपुर नहीं है। उसे अपने अन्यायपूर्ण निर्णय पर बड़ी ग्लानि होती है। उसने भरे दरबार में यह स्वीकार किया कि मैं राजा कहलाने का हकदार नहीं रह गया हूँ क्योंकि मैंने एक झूठे जौहरी की बातों पर विश्वास किया तथा एक निर्दोष तथा दुखियारे युवक को मरवा डाला। उसने सभासदों से कहा कि मैं अपनी प्रजा की रक्षा नहीं कर सका हूँ ।अतः मुझे मरने दिया जाय। ग्लानि से भरा राजा यह कहकर अन्ततः भूमि पर गिर पड़ता है तथा मर जाता है। उसके मरने के बाद कणक्कि के श्राप से संपूर्ण मदुरा नगरी जलने लगती है। अन्ततः मदुरा नगरी की संरक्षिका देवी की प्रार्थना कर कणक्कि अपने श्राप को वापस ले लेती है। इसके फलस्वरूप मदुरा नगर में धधकनेवाली ज्वाला धीरे-धीरे बुझ जाती है। कणक्कि नगर के बाहर अवस्थित पहाड़ी पर जाकर रहने लगती है। बाद में वहीं उसकी मृत्यु हो जाती है। वह मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में पहुँचकर पुनः अपने प्यारे पति कोवलन को प्राप्त कर लेती है। तमिल-प्रदेश में कणक्कि को सतीत्व की देवी के रूप में तभी से पूजा जाने लगा। उसके लिए मन्दिर का निर्माण कराया जाने लगा।

'शिलप्पदिकारम्' महाकाव्य में प्राचीन तमिल-समाज की लोक-संवेदना तथा संचेतना को नितान्त सहजता के साथ प्रस्तुत किया गया है। **नीलकंठ शास्त्री इसे अनुपमेय तमिल रचना मानते हैं। ए० एल० बाशम** इसको तमिल कवियों का एक प्रतिनिधि काव्य मानते हैं।

'शिलप्पदिकारम्' को तमिल भाषा का प्रथम एवं अनुपमेय काव्यग्रन्थ कहा जाता है। इसमें संगमकालीन चेर, चोल तथा पाण्ड्य-राज्यों के राजनीतिक केन्द्रों यथा वञ्जि, पुहार (कावेरीपट्टनम्) तथा मदुरा नगरियों का एक साथ उल्लेख मिलता है। इसमें कुल तीन सर्ग तथा तीस अध्याय हैं। यह कथा तत्कालीन लोकजीवन के मानक को एक बहुमूल्य नूपुर (शिलाम्बु) को केन्द्र में रखकर रची गई है।

परिशिष्ट—III

मणिमेकलै

'शिलप्पदिकारम्' की ही भाँति 'मणिमेकलै' भी एक अनुपम तमिल महाकाव्य माना जाता है। इसका प्रणयन **सीतलै सत्तनार** ने किया था। मणिमेकलै की रचना-तिथि भी 'शिलप्पदिकारम्' की ही तरह विवादास्पद है। कुछ विद्वान् इसे 'शिलप्पदिकारम्' से भी पहले की रचना मानते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वान् यह प्रतिपादित करते हैं कि दोनों महाकाव्यों की रचना लगभग एक काल में हुई होगी तथा दोनों के रचयिता भी एक दूसरे से भली-भाँति परिचित रहे होंगे। **सीतलै सत्तनार** ने 'शिलप्पदिकारम्' के कथानक को आगे बढ़ाने का स्तुत्य प्रयास किया है। कुछ लोग यद्यपि इलांगो आदिल तथा सत्तनार को समकालीन मानने पर बल देते हैं। लेकिन दोनों काव्यों की सामाजिक संस्कृतियों के प्राप्त भिन्नता के आलोक में यह समीचीन नहीं प्रतीत होता है। 'शिलप्पदिकारम्' को यदि चौथी-पाँचवीं शताब्दी की रचना मान ली जाय तो 'मणिमेकलै' की रचना तिथि छठीं शताब्दी में प्रस्तावित की जा सकती है। हालाँकि कुछ विद्वान् इसे 7वीं-8वीं शताब्दी का ग्रन्थ मानते हैं। **नीलकंठ शास्त्री** ने इस तथ्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है कि सीतलै सत्तनार कवि होने के साथ ही मदुरा नगर का एक अन्न का व्यापारी भी था। मणिमेकलै एक बौद्ध कविता-संग्रह है। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—

कोवलन तथा उसकी उपपत्नी अथवा प्रेयसी माधवी (नर्तकी) से एक कन्या का जन्म हुआ था, जिसका नाम 'मणिमेकलै' था। कोवलन को निर्धन करके उपेक्षा द्वारा माधवी उसे अपने पास से भगा देती है। किन्तु कोवलन से उसे धीरे-धीरे प्यार भी हो चुका था। उसी के गर्भ से उसे 'मणिमेकलै' नामक एक कन्या पैदा हुई। माधवी को जब इस बात की सूचना मिलती है कि कोवलन को निर्दयतापूर्वक मदुरा नरेश ने मरवा डाला, तब वह बड़ी दुःखी हुई। इस दुःखद घटना के पश्चात् उसका मन संसार से विरक्त हो गया। उसने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करना शुरू कर दिया। इसी बीच उसकी कन्या मणिमेकलै युवा होने लगी तथा एक राजकुमार जिसका नाम उदयकुमार था, उसके प्रति आकर्षित होकर उसे अपने प्रेमपाश में बाँधने तथा पथभ्रष्ट का प्रयास करने लगा। परन्तु युवती मणिमेकलै ने युक्तिपूर्वक उससे बचकर अपने सतीत्व की रक्षा की। नाना प्रकार के सांसारिक दबाओं से तंग आकर अन्ततः उसने भी अपनी माता की तरह भिक्षुणी-जीवन को वरण कर लिया।

मणिमेकलै-काव्य में तत्कालीन धार्मिक एवं दार्शनिक मतों का, उनके बीच

छिड़े वाद-विवादों का विशद् उल्लेख मिलता है। इसमें अनेकत्र सदाचारपरक उपदेशों को आलोकित किया गया है। काव्यकार ने हिन्दूधर्म के विविध दार्शनिक पक्षों को बौद्ध-दर्शन के साथ परितुलन करते हुए उनकी गंभीर विवेचना प्रस्तुत की है। **नीलकण्ठशास्त्री** का कथन है कि इस काव्य की रचना न्याय-प्रवेश पर आधृत प्रतीत होती है, जिसका प्रणयन दिङ्नाग ने पाँचवीं शताब्दी में किया था।

परिशिष्ट—IV

मत्तविलास

'मत्तविलास' को संस्कृत का प्राचीनतम प्रहसन माना जाता है। इसके रचनाकार पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् प्रथम थे, जिन्होंने लगभग 600 ई० से 640 ई० तक शासन किय था। वह सफल शासक, विजेता, कलाविद्, संगीतज्ञ होने के साथ-साथ एक महान् काव्यकार भी था। उसने 'विचित्रचित्त' की उपाधि धारण किया था, जिससे उसमें निहित उपर्युक्त गुणों की बहुलता परिपुष्ट होती है। उसके द्वारा लिखवाए गए अभिलेखों में, 'अवनि भाजन', 'गुणभर', 'शत्रुमल्ल' जैसे विरुदों से भी उसका रचनात्मक व्यक्तित्व आलोकित होता है। उक्त विरुदों को प्रकारान्तर से उसके प्रहसन-काव्यों में भी यत्र-तत्र निर्देशित किया गया है। उसने भारतीय इतिहास के उस कालखण्ड की सामाजिक संस्कृति को अपने प्रहसनों में दर्शाने का प्रयत्न किया है, जबकि दक्षिण-भारत में बौद्ध-धर्म का बोलबाला था तथा नवोदित पौराणिक हिन्दू-धर्म तेजी से फैल रहा था। उसके समकालीन शक्तिशाली नरेशों में उत्तरी-भारत के सकल उत्तरापथेश्वर सम्राट् हर्षवर्द्धन तथा दक्षिणापथेश्वर पुलकेशिन् द्वितीय का उल्लेख किया जा सकता है।

'मत्तविलास' एक छोटा प्रहसन-ग्रन्थ है। इसमें कथानक को कुछ इस प्रकार बुना गया है। किसी युवती के साथ एक कापालिक साधक मदिरा पीता है। उसके पास मांसपिण्ड से युक्त कपाल भी था, जिसको वह मदिरोन्मत्त अवस्था में सुरक्षित नहीं रख पाता है। मदिरा पीते समय उसके मांसयुक्त कपाल को कुत्ता लेकर दूर भाग जाता है। इसी बीच उसके पास एक बौद्ध-भिक्षु घूमता-फिरता आ पहुँचता है। जब कापालिक को अपने पास रखे मांसयुक्त कपाल का ध्यान आया तो वह उसे गायब पाता है। शराब के नशे में धुत्त कापालिक पास खड़े उस बौद्ध-भिक्षु को कपालचोर समझकर उससे झगड़ा करने पर उतर आता है। दोनों के बीच छिड़े इस झगड़े को निपटाने का कार्य एक पाशुपत करता है। अभी यह विवाद चल ही रहा था कि गायब कपाल की प्राप्ति एक पागल के पास से हो जाती है। पागल पुरुष ने उस कपाल को कुत्ते से छीनकर अपने पास रख लिया था। बस इतनी सी लघु कथा को कवि ने प्रहसन का अमर ग्रन्थ बना दिया है। इसमें विभिन्न पात्रों के मध्य बड़ा ही रोचक संवाद प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित मत-मतान्तरों की गंभीर व्याख्या इतनी संयत तथा आह्लादकारी भाषा में प्रस्तुत की गई है कि पाठक हँसने तथा सोचने के लिए विवश हो उठता है। निम्नोक्त श्लोक में आए एक ऐसे ही महत्त्वपूर्ण भाव का अवलोकन किया जा सकता है। इसमें कापालिक मोक्ष-प्राप्ति के लिए नारी-समागम तथा मदिरा-पान

को साधन मानता है तथा इसके लिए तर्क यह देता है कि इस मत का प्रवर्त्तन स्वयं भगवान शंकर ने ही तो किया है :

"पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं,
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः ।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः ।।"

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मूलग्रन्थ

अथर्ववेद — वर्लिन, 1956

अर्थशास्त्र, कौटिल्य कृत (सम्पादक, आर० शामशास्त्री), मैसूर, 1929

अपरार्ककृत, याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका — एस० एस० एस० पूना, 1903-1904

अष्टाध्यायी-पाणिनिकृत

अपराजितपृच्छा, भुवनदेवकृत — पी० ए० मन्कट द्वारा संपादित, वड़ौदा, 1950

आपस्तम्ब-धर्मसूत्र — वाराणसी, 1969

अभिधानचिन्तामणि-हेमचन्द्रकृत — निर्णयसागर प्रेस, वम्वई

ऐतरेय आरण्यक — पूना, 1940

ऐतरेय ब्राह्मण — कैम्ब्रिज, 1920

ऋग्वेद — कलकत्ता, 1906

कथासरित्सागर-सोमदेव कृत — लन्दन, 1924

काव्यमीमांसा-राजशेखर कृत — वड़ौदा, 1934

कामसूत्र-वात्स्ययायन कृत — वम्वई, 1900

कामन्दकीयनीतिसार — कलकत्ता, 1875

काव्यमीमांसा-राजशेखर कृत — वड़ौदा, 1934

गौतम धर्मसूत्र — वाराणसी, 1966

चतुर्वर्गचिन्तामणि-हेमद्रि कृत

जैनहरिवंशपुराण-जिनसेन कृत — भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७८

प्रवन्धचिन्तामणि-मेरुतुंग कृत — ए० के० वी० रंगस्वामी द्वारा संपादित;

वृहस्पतिस्मृति — वड़ौदा, 1941

वुद्धचरित-अश्वघोष कृत — आक्सफोर्ड, 1993

वृहत्कथाकोष-हरिषेण कृत — ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित, वम्वई, 1943

वौधायन-धर्मसूत्र — वाराणसी, 1972

व्रह्माण्ड पुराण — वम्वई, 1906

वृहत्संहिता-वाराहमिहिर कृत — कलकत्ता, 1880

मणिमेखले — मद्रास, 1928

मत्स्यपुराण — वरेली, 1970

मेधातिथि — कलकत्ता, १९३२भ३९

मनुस्मृति — वाराणसी, 1965

महाभारत इण्डेक्स, (एस० सौरेंसन) — दिल्ली, 1963

महावीरचरित-भवभूति कृत — वाराणसी, वि० सं०, 2012

रघुवंश-कालिदास कृत — वाराणसी, 1961

वायुपुराण	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1987
वाल्मीकि-रामायण	वाराणसी, वि० सं०-2008
वैजयन्ती-यादव प्रकाश कृत	मद्रास, 1893
विक्रमाकदेवचरित-विल्हण कृत	
विक्रमाकाभ्युदय-सोमेश्वर कृत	
विष्णु पुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
स्मृतिचन्द्रिका	श्रीनिवासाचार्य द्वारा सम्पादित, मैसूर, 1914-21
शिलप्पदिकारम्	प्रयाग, 1914
शुक्रनीतिसार	ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1939
हर्षचरित-वाणभट्ट कृत	वाराणसी, 1964

सहायक ग्रन्थ

(अ) हिन्दी ग्रन्थ

अ० कोरोत्सकाय	भारत के नगर
अग्रवाल, ध० पा० तथा धर्मनारायण	पुरैतिहासिक पुरातत्त्व, लखनऊ 1975
अग्रवाल, वासुदेवशरण	हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन (1964)
आचार्य-दीपंकर	कौटिल्य कालीन भारत, 1968
उपाध्याय, वासुदेव	गुप्त साम्राज्य का इतिहास (2 खण्ड) 1952-57
उपाध्याय, वासुदेव	भारतीय सिक्के, 1948 प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, 1970
उपाध्याय-भगवतशरण	गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, 1969 भारतीय कला का इतिहास, 1981
आनन्द रामप्रकाश	उत्तरी भारतीय अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन (ई० पू० 232 से 161 ई० तक), 1973
ओमप्रकाश	प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1986
को० अ० अंतोनोवा, ग्रि० म०, वोंगर्द-लेविन एवं ग्रि० ग्रि० कोतोव्स्की	भारत का इतिहास, मास्को प्रगति प्रकाशन, 1981
कपूर, यदुनन्दन	हर्ष, 1957
कोसम्बी, दामोदर धर्मानन्द	प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, एक ऐतिहासिक रूपरेखा, द्वितीय संस्करण, 1977
गुप्त, परमेश्वरी लाल	गुप्त साम्राज्य

जायसवाल, प्रशान्त कुमार	शककालीन भारत (1963)
झा, द्विजेन्द्र नारायण एवं श्रीमाली कृष्ण मोहन (सम्पादक)	प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1986
दुबे, हरिनारायण	पुराण समीक्षा, इलाहाबाद, 1984
पाण्डेय, रामनिहोर	संगम युग, इलाहाबाद, 1986
पाण्डेय, जयनारायण	पुरातत्त्व विमर्श, इलाहाबाद, 1988
	भारतीय कला एवं पुरातत्त्व, 1988
पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र	बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1963
पांथरी, भगवती प्रसाद	अशोक, 1961
पाण्डेय, चन्द्रभान	आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, 1963
पाठक, विशुद्धानन्द	उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, 1973
मजूमदार, रमेशचन्द्र	प्राचीन भारत में संघटित जीवन
मुकर्जी, राधाकुमुद	हिन्दू-सभ्यता
मिश्र, श्याम मनोहर	दक्षिण भारत का राजनैतिक इतिहास (प्रारम्भ से लेकर 14वीं शताब्दी तक), लखनऊ, 1985
मजूमदार, डी० एन० तथा गोपालशरण	प्रागितिहास, 1964
मिश्र, शिवनन्दन	गुप्तकालीन अभिलेखों से ज्ञात तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक दशा, 1973
मोतीचन्द्र	सार्थवाह, 1953
मिराशी, वासुदेव विष्णु	सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख, 1982
	वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, 1964
मिश्र, रमानाथ	भारतीय मूर्तिकला, दिल्ली, 1978
याजदानी, जी०	दक्कन का प्राचीन इतिहास, नई दिल्ली 1977
राय, उदय नारायण	प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन इलाहाबाद, 1985
	गुप्तराजवंश तथा उसका युग, इलाहाबाद, 1986
	हमारे पुराने नगर, इलाहाबाद
	शालभंजिका, इलाहाबाद, 1992
राय, सिद्धेश्वरी नारायण	पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद 1968

राय, शशिकान्त — प्राचीन भारत में व्यावसायिक समुदाय, नई दिल्ली, 1986

लाहा, विमलचरण — प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल (हिन्दी अनुवाद), लखनऊ, 1972

वर्मा राधाकान्त — भारतीय प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ, इलाहाबाद, 1977

व्यास, लक्ष्मी शंकर — चालुक्य कुमार पाल, काशी, 1962

विद्यालंकार, सत्यकेतु — मौर्य साम्राज्य का इतिहास, 1971

शर्मा, राम शरण — पूर्व मध्यकालीन भारत में सामाजिक, परिवर्तन, दिल्ली, 1975
भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1965

शास्त्री, नीलकण्ठ — दक्षिण भारत का इतिहास, पटना (हिन्दी अनुवाद) 1972

श्रीवास्तव, बलराम — पल्लव इतिहास और उसकी आधार सामग्री, वाराणसी, 1969
दक्षिण भारत का इतिहास, 1882

शुक्ल, द्विजेन्द्र नाथ — भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, 1968

अंग्रेजी-ग्रन्थ

Agrawal, D. P. and A. Gholsh (Editors) — Radio-Carban and Indian Archaeology, Bombay, 1973

Agrawal, D. P. — Archaeology of India, London, 1982

Altekar, A. S. — Rashtrakutas and their Times, Poona, 1934.

Allchin Bridget and Raymond. — Rise of civilization in India and Pakistan, New Delhi, 1982.

Ali, S. M. — Geography of the Puranas, Delhi, 1966.

Aravamuthan, T. G. — The Kaveri, The Maukharis and the Sangam age, Madras, 1925.

Aiyar, K. V. S. — Historical Sketches of Ancient Deccan, Coimbatore, 1967.
Chera Kings of the Sangam Age, 1937

Aiyangar, S. K. — Beginnigs of South Indian History, Madras, 1918.
Ancient India and South I..-

	dian History and Culture, Vol. 1, Poona, 1941.
	South India and her Mohammadan Invaders, Madras, 1921.
Aiyangar, S. K. (Editor)	Historical Inscriptions of South India and outlines of Political History, Madras, 1932.
Aiyangar, Srivas,	Tamil Stadies, Madras, 1914.
Aigangar, P.T.S.	History of the Tamils.
Banerji, N. R.	Iron Age in India, Delhi, 1965.
Banerji, R. D.	History of Orissa, Vol. 1, Culcutta, 1930
	Palas of Bengal, Varanasi, 1973.
Balasubrahmanyam, S. R.	Early Chola Temples,
Baden, Pawell	Indian Village Community.
Beal, S.	Buddhist Records of the Western World, Vol. 2.
Bhandarkar J. R. G.	Early Historys of the Deccan Bombay, 1984.
Bhattacharya, S. C.	Some Aspects of Indian Society, Calcutta, 1978
Burton, Stein	Essays of South India, New Delhi, 1976
	Peasant State and Society in Medieval South India, Delhi, 1980
Chanda, R. P.	Indo-Aryan Races.
Chattopadhyay, S.	Some early dynasties of South India, Delhi, 1974.
Chhabra, B. C.	Expansion of Indo-Aryan Culture, Delhi, 1965
Chopra, P. N. Ravindran, T. K. and Subrahmanyam, N. (Editors)	Histroy of South India, Vol. 1, New Delhi, 1979

Coedes, G. — Hoysalavamsha, Bombay, 1950.

Das, D. N. — Early History of Kalinga, 1977.

Dave, J. H. — Immortal India. Parts-1—4 Bombay.

Derrett, J. D. M. — Hoysalas, Oxford, 1957

Desai, P. B. (Editor) — History of Karnataka, Dharwar, 1970

Dikshit, D. P. — Chalukyas of Badami, New Delhi, 1980

Dikshitar, R. — Studies in Tamil Leterature and History, Madras, 1936.

Diwakar, R. R. (Editor) — Karnataka through the Ages, Bangalore, 1968.

Dabreuil, G. J. — Deccan, 1920

Elliot, H M. and Dowson, J. — History of India as told by its own Historians, Vol. 1.

Elliot, W. — Coins of Suthern India, London, 1886.

Fleet, J. F. — Dynasties of the Kanarese Districts, Bombay, 1896.

Ganguly, D. C. — Eastern Chalukyas, Varanasi, 1937

Gopalachari, K. — Early History of the Andhra Country, Madras, 1941.

Gopalan, R. — History of the Pallawas of kanchi, Madras, 1928

Gupta, P. L. — Coins, New Delhi, 1969

Jaiswal, K. P. — History of India, Lahore, 1933

Keith, A. B. Macdonell, A. A. — Vedic Index, Vols. 1—2, Varanasi, 1958.

Krishna Murari — Chalukyas of Kalyani, Delhi, 1977

Krishnaswamy, V. D. — Megalith-typas of South India.

Law, B. C. — Historical Geography of An-

cient India, Paris, 1954.

Longhurst — Pallava Architecture.

Mahalingam, T. V. — Kanchipuram in Early South Indian History, Madras, 1989.

Banas in South Indian History, Madras, 1952

Majumdar, R. C. — Ancient Indian Coloneis in South-East Asia, 1963.

Classical Account of India, Calcutta, 1960.

Majumdar R. C. (Editor) — History of Bengal, Vol. 1, Reprint, 1971.

Majumdar, R.C. & Altekar, A.S.

Majumdar, R. C. and Pusalker, — Vedic Age, Bombay, 1965.

Bharatiya Viday Bhavan Publications, Bombay. — Age of Imperial Unity, Bombay, 1968.

Classical Age, Bombay, 1962

Age of Imperial Kanauj, Bombay, 1968.

Struggle for Empire Bombay, 1964.

Delhi Sultanet, Bambay, 1960.

Mc. Crindle, J. W. — Ancient India as described by Megasthenese and Arrian

Minakshi, C — Administration and Social life under the Pallavas, Madras, 1938.

Mishra, Vidya Dhar — Some Aspects of Indian Archaeology, Prabhat Prakashan, Allahabad, 1977.

Moraes, G. M. — Kadambakula, Bombay, 1931.

Mukerji, B. N. — Kushanas and the Deccan, Calcutta. 1968

Om Prakash	Political Ideas in the Puranas, Panchnada Publishers, Allahabad, 1977
	Early Indian Land Grants and States Economy, Allahabad, 1988
	Conceptulisation, Allahabad, 1992
Pillai, K.	Tamils 1800 years Ago, Madras, 1952.
Ramachandran, K. S.	Archaeology of South India, Tamilnadu, Delhi, 1980.
Raman, K. V.	New light on Pandyan History.
Ramesh, K. V.	Chalukyas of Vatapi, Delhi, 1984.
Ramanappa, M. N. V.	Outlines of South Indian History
Rao, B. V. Krishna.	History of early Dynastics of Andhra desh, Madras, 1962.
Rao, M. R.	Post Andhra dynasties in the Puranas, Culcutta, 1969.
Rao, M. V. K.	Gangas of Talakad, Madras, 1936
Rapson, E.J.	Catalogue of Coins of the Andhra Dynasties, 1908.
Rice, B. L.	Mysore and Coorg from Inscriptions, London, 1909.
Roy, U. N.	Studies in Ancient Indian History and Culture, Allahabad, 1969.
	Shilabhanjika, Allahabad.
Roy, S. N.	Historical and Cultural Studies in the Puranas, Allahabad, 1978
Saletore, B. A.	Ancient Karnataka, Vol. 1, Poona, 1636.

	Indian Pre-History, 1978,
Sankalia, H. D.	Pre-history and Proto-history in India and Pakistan, Second Edition.
Sankaranarayanan, S.	Vishnukundis and their Times, Delhi, 1977.
Sastri, K. A. N.	Aspects of India's History and Culture, Poona, 1974.
	History of South India, Oxfrod, 1966.
	Cholas, Madras, 1935.
	Pandyan Kigdoms. (Reprint).
	Sources of Indian History, Bombay, 1964
	Foreign Notices of South India, Madras, 1939.
Sathianathaier, R.	Studies in the Ancient History of Tondamandalam, Madras, 1934.
Sheikh Ali, B. (Editor)	Hoysala Dynasty.
Sharma, Ram Sharan (Ed.)	Indian Society, Historical Probings (in memory of D. D. Kosambi), New Delhi, 1974.
	Ancient India, N. C. E.R.T., New Delhi, 1977
Sircar, D. C.	Successors of the Satavahanas in Lower Deccan, Culcutta, 1939.
	Early Pallavas, Lahore, 1935.
	Studies in the Geography of Ancient and Medieval India Delhi, 1160.
Srivastava, Om Prakash	An Article entitled "Role of Interest During the Early Medieval India" published in a Journal New Delhi, 1987
Thapar, Romila	Ancient Indian Social History, Some Interpretations, 1978.

Tripathi, R.P. — Studies in Political and Socio-Economic Life of Early India, Neeraj Prakashan, Alld, 1981

Vaidya, C.V. — History of Medieval Hindu India, Vols. 1—3

Venkataraman, K.R. — Hoyasalas in the Tamil Country.

Venkataramanayya, N. — Ealy Muslim expansion in South India, Madras, 1942.

Verma, O. P. — Yadavas of Devagiri, 1979

Vidya Prakash — Coinage of South India, Varanasi, 1968

Virji, J. — Ancient history of Saurashtra, Bombaly, 1952

Warmington, E. H. — Commerce between the Roman Empire and India, Delhi, 1974.

Watters, T. — On Yuang Chwang's Travels in India, Vols. 1—2

Yazdani, G. (Editor) — Early history of the Deccan, Vol. 1, London, 1960

Yadava B.N.S. — Society and Culture in Northern India (in the twelth Century), Allahabad, 1973.

(ग) शोध-पत्रिकाएँ—

Annals of Bhandarkar Oreintal Research Institute.
Annual Report of South Indian Epigraphy.
Adyar Library Bulletin.
Archaeological Survey of India, Annual Report.
Bambay Gazetter.
Bulletin of the Deccon Collage, Poona.
Bulletin of the School of Oriental and African Studies.
Corpus Inscriptionum Indicarum.
East And west
Epigraphia India.
Indian Culture.
Indian Historical Quarterly.

Indian Historical Review,
Economic History Review.
Epigraphia Carnatica.
Journal of Anndhra-Historical Research Society.
Journal of Bihar and Orissa Researh Society.
Journal of the Bombay Branch of Royals
Asiatic Society.
Journal of Bombay University.
Journal of the Epigraphical Society.
Journal of Indian History.
Journal of Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapith.
Journal of Karnataka University.
Journal of Literature and Science.
Journal of the Oriental Research, Madras.
Journal of the Department of Letters.
Journal of the Nagpur University.
Journal of the Numismatic Society of India.
Mysore Archaeological Reports.
Quarterly Journal of Mythological Society.
Proceedings of the Indian History Congress.
Proceedings of All India Oriantal Confrence.
Vishvesharanand Indological Journal.
Ceylone Journal of Historical And Social Studies.
Puratatva.
Puranam.
Bhartiya Vidya.